मुद्रा एवं अधिकोषण
(MONEY & BANKING)

[विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों के त्रिवर्षीय पाठ्यक्रमानुसार
प्रथम वर्ष एवं माध्यमिक परीक्षाओं के हेतु
एक विश्लेषणात्मक अध्ययन],

लेखक
एस० सी०, मित्तल
एम० कॉम०,

रचयिता
अर्थशास्त्र के सिद्धान्त, वित्त व्यवस्था, आर्थिक विचार का इतिहास, लोक अर्थशास्त्र, ग्रामीण एवं नागरिक अर्थशास्त्र, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं विदेशी विनिमय, आर्थिक नियोजन—भारत एवं विदेशों में, कृषि अर्थशास्त्र, आर्थिक विश्लेषण एवं नीति भारतीय अर्थशास्त्र, मुद्रा एवं बैंकिंग, राजस्व, इन्टरमीडियेट अर्थशास्त्र, व्यापारिक सन्नियम, आदि आदि

साहित्य भवन
शिक्षा सम्बन्धी साहित्य के प्रकाशक
आगरा

अन्य प्रकाशन :

- मुद्रा एवं बैंकिंग (प्रश्नोत्तर रूप में)

एस० सी० मीतल एम० कॉम

प्रथम संस्करण : १९६३

मूल्य : रु० ५·६२

प्रकाशक : साहित्य भवन, २७३२, सुई कटरा, आगरा।

: आगरा प्रिंटिंग प्रेस, आगरा।

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक 'मुद्रा एवं अधिकोषण' भारत के विभिन्न शिक्षा बोर्डों के नवीनतम पाठ्यक्रमानुसार लिखी गई है। इसे छः खंडों में बांटा गया है—(१) मुद्रा, (२) भारतीय मुद्रा प्रणाली, (३) विदेशी विनिमय, (४) साख, (५) बैंकिंग, एवं (६) भारतीय बैंकिंग एवं मुद्रा बाजार। विद्यार्थियों को नवीन से नवीन सामग्री प्रस्तुत करने की चेष्ठा की गई है, क्योंकि स्वतन्त्र भारत में बैंकिंग-व्यवस्था का भी पुनर्गठन हो रहा है। पुस्तक की भाषा सरल रोचक मुहाविरेदार रखी गई है। टेक्नीकल शब्द हिन्दी और अंग्रेजी दोनों में दिये गये हैं। विषय को उपयुक्त शीर्षकों एवं उप-शीर्षकों में बांटा गया है तथा संक्षिप्त तालिकायें भी दी गई हैं जिनसे विषय को समझने मे सरलता होगी। विद्वानो के कथन हिन्दी में देने के साथ-साथ फुट-नोट (Footnote) के रूप मे अंग्रेजी भाषा मे भी दिये गये हैं। पुस्तक के प्रारम्भ में नवीनतम पाठ्यक्रम दिये गये हैं और पाठ्यक्रम सम्बन्धी एक संक्षिप्त तालिका भी दी गई है। इससे विद्यार्थीगण अपना पाठ्यक्रम को सहज ही जान सकते हैं। परिशिष्ट में विद्यार्थियों के लिये विविध उपयोगी सूचनायें तथा प्रश्न-पत्र भी दिये गये हैं। प्रत्येक अध्याय के अन्त में विद्यार्थियों द्वारा विशिष्ट अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण प्रश्न दिये गये हैं जिनका चुनाव प्रश्न-पत्रों में से सावधानी के साथ किया गया है।

लेखक को Economic Times, Reserve Bank of India Annual Report, Report of Currency and Finance आदि में प्रकाशित लेखों, सांख्यिकी सूचना व समाचारो से अपूर्व सहायता मिली है। इसके लिये वह इनके स्वामियों का कृतज्ञ है। श्री नित्यानन्द चतुर्वेदी एम० ए० मैनपुरी निवासी ने पुस्तक के लेखन कार्य में अपार सहयोग दिया है, जिसके लिये उन्हे धन्यवाद देना अनावश्यक है, क्योंकि यह तो लेखक के प्रति शिष्य होने के नाते उनका कर्तव्य ही था। साहित्य भवन के उत्साही प्रोपराइटर श्री कन्हैयालाल बंसल ने नई से नई सामग्री संकलित करने में लेखक का बहुत हाथ बंटाया है। अत: लेखक इनका भी आभारी है। आशा है कि यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिये उपयोगी प्रमाणित होगी।

सुझाव के हेतु सबको सानुरोध निमंत्रण है।

३३१, बेलनगंज,
आगरा।

—एस० सी० मित्तल

Syllabi of Various Universities

BHAGALPUR UNIVERSITY

(I) Money :—

Its importance, origin and early history.

(i) Definition, functions and kinds.

(ii) Monetary Standards

(a) Bimetallism and monometallism.

(b) Gold Standard—Kinds of Gold Standard.

(c) Managed Currency Standard.

(iii) Value of money : meaning, effects of fluctuations in the value of money ; measurement of the value of money. Index Number—Simple and weighted. Causes of changes in the value of money. Quantity theory of Money.

(II) Banking :—

(i) Definition, functions and kinds of banks.

(ii) Creation of Credit.

(iii) Balance Sheet of a Commercial Bank—resources and their employment by Commercial banks.

(iv) Systems of note issue—Right principle of note issue.

(v) Need and functions of Central Bank.

JABBALPUR UNIVERSITY

(I) Money and Credit :—

Definition of money ; Functions of modern society ; qualities of good money material ; Classification of money ; coins and coinage ; Standard and token coins. Paper-money its uses and dangers. Gresham's Law.

Monetary Systems : Gold standards and its types; Bimetallism; Present currency system of India ; Value of money ; Rise and fall *in the value of money ; Inflation* and deflation.

Nature and characteristics of credit, kinds of credits, Standard and token coins ; Paper money, its uses and dangers. Gresham's Law.

Monetary System ; Gold Standards and its types ; Bimetallism; Present currency system of India ; Value of money ; Rise and fall in the value of money ; Inflation and deflation.

Nature and characteristics of credit, kinds of credit, credit instruments ; Promissory notes ; Bill of exchange and cheques, advantages of credit, development to modern commerce.

(II) Banking :—

Meaning and origin of a Bank, kinds of banks—function of a Commercial Bank, organisation of banking business—Kinds of loans and deposits, Banker's Clearing House, meaning of Central Bank ; difference between Central Banking and Commercial Banking, Reserve Bank of India, Banking Organisation in India.

RANCHI UNIVERSITY

(I) Money :—

Money, its functions, meaning and evolution, value of money, its meaning—measurement of the value of money—Construction of index numbers—weighted index number limitation—Quantity Theory of money ; Interpretation of Fisher's Equation, criticism.

(II) Banking :—

Commercial banks—their functions—banking resources and their *investments.* Central Bank—its *difference from commercial* banks, aims and objectives—Credit control measures.

Money market in India and the United Kingdom.

BIHAR UNIVERSITY

Money and Banking

Meaning and evolution of money—Theories of value of money —Measurement of the value of money—Credit and its control—Creation of money and credit instruments—Different kinds, of Banks and their *functions*—Banking *resources* and their employment.

विषय-सूची

अध्याय | पृष्ठ

पांचवां खण्ड-बैंकिंग १—७८

छठा खण्ड-भारतीय बैंकिंग १—१४२

प्रथम खण्ड

मुद्रा
(MONEY)

"जिसके पास ६ पैसे हैं, वह
सब मनुष्यों का सार्वभौम
है।"

ग्रेस्टन

THE GREAT MEN & THEIR WORDS

(1) Marshall : "Money includes all those things which are (at any given time or place) general current without doubt or special enquiry as a means of purchasing commodities or services and of defraying expenses."

(2) Chapman : "All paper for the redemption of which in bullion on demand no arrangements are made, is called 'Inconvertible' or 'Irredeemable' Paper Money."

(3) Robertson : "Gold standard is a state of affairs in which a country keeps the value of its monetary unit and value of a defined weight of gold at an equality with one another."

(4) Gresham : "Bad money tends to derive Good money out of Circulation."

(5) Taussig : "Double the quantity of money, and other things being equal, prices will be twice as high as before and the value of money half. Halve the quantity of Money, and, other things being equal, prices will be one half of what they were before and the value of money double."

अध्याय 1.

मुद्रा का प्रचलन

[Introduction of Money]

प्रारम्भिक

प्रातः उठने से लेकर रात को पुनः शयन करने तक मनुष्य मात्र अनेक प्रकार की क्रियाओं में संलग्न रहता है। इन समस्त क्रियाओं में आर्थिक क्रियाओं की प्रमुखता होती है। सुविधा के लिए आर्थिक क्रियाओं को निम्न श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—उपभोग सम्बन्धी आर्थिक क्रियायें, उत्पादन सम्बन्धी आर्थिक क्रियायें, विनिमय सम्बन्धी आर्थिक क्रियायें एवं वितरण सम्बन्धी आर्थिक-क्रियायें। उपभोग एवं उत्पादन सम्बन्धी क्रियायें सृष्टि के आरम्भ से ही की जाती रही हैं अतः ये अति प्राचीन हैं लेकिन विनिमय एवं वितरण सम्बन्धी क्रियायें सर्वथा नवीन हैं। नवीन होते हुए भी ये बहुत महत्वपूर्ण बन गई हैं। आर्थिक क्रियाओं के चक्र में विनिमय सम्बन्धी क्रियाओं का तो आगमन दो बार होता है—एक बार वितरण के पूर्व और दूसरी बार वितरण के बाद में। विनिमय सम्बन्धी क्रियाओं के विकास में सबसे अधिक योग मुद्रा एवं बैंकिंग संस्थाओं (जैसे बैंक) ने दिया है। प्रस्तुत पुस्तक में मुद्रा एवं बैंकों की इस भूमिका पर ही विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

विनिमय का अर्थ एवं इसके स्वरूप

विनिमय का अर्थ

दो पक्षों के बीच में होने वाले ऐच्छिक, वैधानिक और पारस्परिक धन के हस्तांतरण को "विनिमय" (Exchange) कहते हैं। प्रत्येक विनिमय कार्य में निम्न तीन लक्षणों का होना आवश्यक है—

(१) धन का हस्तांतरण—यदि विनिमय कार्य में धन का हस्तांतरण नहीं होता है, तो उसे आर्थिक दृष्टि से विनिमय नहीं कह सकते हैं। उदाहरण के लिए, जब किसी गोष्ठी में कुछ मित्र विचारों का आदान-प्रदान करते हैं, तो इनका यह कार्य आर्थिक दृष्टि से विनिमय नहीं है, क्योंकि उसमें किसी 'धन' का हस्तांतरण नहीं हुआ है।

(२) ऐच्छिक हस्तांतरण—*विनिमय कहलाने के लिये यह भी आवश्यक है कि* धन का हस्तांतरण ऐच्छिक हो, किसी दबाव के कारण नहीं। उदाहरण के लिए, मोहन ने पीटने की धमकी देकर सोहन से उसकी साइकिल केवल ५) देकर ले ली। यह विनिमय नहीं है क्योंकि यहाँ धन का हस्तांतरण दबाव से हुआ है; ऐच्छिक नहीं है।

(३) वैधानिक एवं पारस्परिक हस्तांतरण—यह भी आवश्यक है कि धन का हस्तांतरण पारस्परिक और वैधानिक हो। यदि मोहन ने सोहन की साईकिल चुराली है तो इसे विनिमय नही कहेंगे क्योंकि यह अवैध है और एक तरफा है।

विनिमय के स्वरूप

विनिमय के दो मुख्य रूप हैं :—

(१) वस्तु विनिमय—अदल-बदल या वस्तु विनिमय (Barter) का अभिप्राय एक व्यक्ति द्वारा अपनी अतिरिक्त वस्तु देकर दूसरे मनुष्य से अपनी आवश्यकता की वस्तु लेने से है। उदाहरण के लिए यदि राम अपना कलम देकर मोहन से कापी ले लेता है तो यह 'अदल-बदल या वस्तु विनिमय' हुआ। इसे 'प्रत्यक्ष विनिमय' (Direct Exchange) भी कहते हैं क्योंकि इसमे वस्तुओ की प्रत्यक्ष अदला बदली होती है *द्रव्य के द्वारा नहीं।*

(२) क्रय-विक्रय—जब कोई वस्तु (या सेवा) द्रव्य के बदले दी या ली जाती है, तो इसे 'क्रय-विक्रय' (Purchase and Sale) कहते हैं। उदाहरण के लिए २० रु० देकर १ मन गेहूँ मोल लेना 'क्रय' और १ मन गेहूँ २० रु० के बदले देना विक्रय है। चूँकि यहाँ वस्तुओ का विनिमय द्रव्य की सहायता से या द्रव्य के द्वारा होता है, इसलिए इसे 'अप्रत्यक्ष विनिमय' (Indirect Exchange) भी कहते हैं।

विनिमय का प्रारम्भ—वस्तु विनिमय

प्राचीन काल में लोग आत्म-निर्भर हुआ करते थे और अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुयें स्वयं ही बना लेते थे। लेकिन जब उनकी आवश्यकतायें बहुत बढ़ गई तथा उनको अधिक वस्तुओ की आवश्यकता पड़ने लगी, तो उन्हे बहुत असुविधा का अनुभव हुआ। सब प्रकार की वस्तुयें स्वयं ही बना सकने के लिए न तो उनके पास इतना समय था और न उनको इतना ज्ञान ही था। परिणाम यह हुआ कि *उनकी आवश्यकतायें अपूर्ण रहने लगी और उन्हे असन्तोष होने लगा।* **'आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है"** (Necessity is the Mother of Invention)—**अतः जब मनुष्य को अपनी आवश्यकतायें पूरी करने में कठिनाइयों का अनुभव हुआ हो, तो उसने इन्हें दूर करने का उपाय भी खोज निकाला। यह उपाय था श्रम-विभाजन** (Division of Labour) **का।** उन्होने यह अनुभव किया कि प्रत्येक व्यक्ति कुछ वस्तुयें अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक और अच्छी बना सकता है। अतः यदि प्रत्येक व्यक्ति केवल उन्ही वस्तुओ को बनाये जिनके निर्माण मे वह निपुण है, तो इससे कुल समाज का उत्पादन बढ़ जायगा। इसलिए लोग केवल ऐसी वस्तुयें बनाने लगे जिनमें उन्हें विशेष क्षमता प्राप्त थी। **किन्तु श्रम-विभाजन के साथ-साथ एक और युक्ति करना भी आवश्यक हो गया।** यदि कोई व्यक्ति केवल अनाज पैदा करता है तो इससे ही न उसके जीवन का निर्वाह होगा। जैसे पहनने के लिए उसे कपड़े आदि की भी आवश्यकता होगी। कपड़ा प्राप्त करने के लिए वह अपना पैदा किया हुआ कुछ अनाज (जो कि उसके पास अपनी तृप्ति के बाद बच रहता था) दूसरे व्यक्तियों को देने लगा। **इस प्रकार "अदल-बदल" या "वस्तु-विनिमय"** (Barter) **का आरम्भ हुआ।**

वस्तु-विनिमय को सम्भव बनाने वाली दशायें

वस्तु-विनिमय प्रणाली द्वारा वस्तुओ का आदान-प्रदान बहुत समय तक होता ... भी कुछ पिछड़ी हुई जातियो एवं अर्ध-विकसित क्षेत्रों में इसका चलन ... प्रणाली की सफलता के लिए निम्न बातें आवश्यक हैं :—

(१) **दो पक्ष होना**—वस्तु-विनिमय के लिये दो पक्षों का होना अत्यन्त जरूरी है। अकेला व्यक्ति वस्तुओं की अदल-बदल नहीं कर सकता। इच्छित वस्तु प्राप्त करने के लिये उसे किसी दूसरे पक्ष को ढूँढ़ना पड़ता है। उदाहरण के लिये, किसान अनाज देता है तथा बदले में जुलाहे से कपड़ा लेता है। इससे स्पष्ट है कि दो पक्षों के बिना वस्तु-विनिमय सम्भव नहीं है।

(२) **आवश्यकताओं का दुहरा संयोग होना**—वस्तु-विनिमय होने के लिये यह भी नितान्त आवश्यक है कि प्रत्येक पक्ष के पास बदले में देने के लिये कोई न कोई वस्तु हो और साथ ही उसे उस वस्तु की आवश्यकता हो जिसके बदले में वह अपनी वस्तु देना चाहता है। उदाहरण के लिये, यदि सतीश अपना पैन देकर अर्थ-शास्त्र की पुस्तक प्राप्त करना चाहता है, तो दूसरा पक्ष ऐसा होना चाहिए, जिसके पास अर्थशास्त्र की पुस्तक देने के लिए है और जिसे पैन की भी आवश्यकता है। यदि ऐसा नहीं है, तो सतीश वस्तु-विनिमय के द्वारा अर्थशास्त्र की पुस्तक प्राप्त नहीं कर सकेगा। प्रोफेसर बैनहम (Benham) के शब्दों में "वस्तु विनिमय के लिए एक मनुष्य को अवश्य ही किसी ऐसे दूसरे मनुष्य को खोजना होगा, जिसके पास इच्छित वस्तु हो और जिसे इसकी वस्तु की इच्छा हो।"

वस्तु-विनिमय से लाभ

वस्तु विनिमय से दोनों पक्षों को लाभ होता है। यदि ऐसा न हो तो वे वस्तु विनिमय करें ही क्यों? अतः जब दो पक्ष परस्पर वस्तु विनिमय करते हैं तो इससे यह माना जा सकता है कि उन्हें लाभ हुआ। लेकिन यहाँ प्रश्न उठता है कि इस लाभ का स्वरूप क्या है? बात यह है कि दोनों पक्ष अपने पास की कम आवश्यक (फालतू) वस्तु देते हैं और बदले में अपनी अधिक आवश्यक वस्तु प्राप्त करते हैं। कम आवश्यक वस्तु चली जाने से तथा अधिक आवश्यक वस्तु आ जाने से दोनों पक्ष वस्तु के प्रयोग से अधिक संतुष्टि या उपयोगिता प्राप्त करते हैं। यही उनका लाभ है।

वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ

वस्तु-विनिमय की ४ कठिनाइयाँ

१—दो व्यक्तियों के समझौते पर निर्भरता।

२—वस्तु की अदल-बदल का पारस्परिक अनुपात निश्चित करने में कठिनाई।

३—कुछ वस्तुयें ऐसी भी होती हैं जिन्हें छोटी-छोटी इकाइयों में नहीं बाँटा जा सकता।

४—भावी उपयोग के लिए धन के संग्रह करने की उपयुक्त व्यवस्था न थी।

प्रारम्भ में तो वस्तु-विनिमय प्रथा से कार्य ठीक-ठीक हुआ लेकिन जैसे-जैसे दशायें बदलती गईं (अर्थात् जब जनसंख्या बहुत बढ़ गई, आवागमन के साधनों में वृद्धि होने से लोग दूर-दूर बसने लगे और मानवीय आवश्यकतायें भी बहुत बढ़ गईं), वैसे-वैसे वस्तु-विनिमय का कार्य कठिन होता गया। वस्तु-विनिमय की प्रमुख कठिनाइयाँ निम्न थीं :—

(१) वस्तु-विनिमय में विनिमय-कार्य दो व्यक्तियों के समझौते पर निर्भर है और इसके लिये दो व्यक्तियों की आवश्यकताओं तथा वस्तुओं का दोहरा संयोग (Doublecoin cidence of wants) होना बहुत आवश्यक है। परन्तु केवल

दो व्यक्तियों और दो वस्तुओं की उपस्थिति से ही काम नहीं बनता, वरन् ये दो व्यक्ति ऐसे होने चाहिए जिनमे से प्रत्येक के पास वह वस्तु फालतू हो, जिसकी आवश्यकता दूसरे को है। मनुष्य के प्रारम्भिक आर्थिक जीवनकाल मे जबकि उसकी आवश्यकतायें कम थी और थोड़ी सी वस्तुओं के उत्पादन द्वारा ही सन्तुष्ट हो जाया करती थी, ऐसा संयोग अधिकतर सम्भव हो जाया करता था, लेकिन आजकल ऐसा संयोग बड़ा दुर्लभ हो गया है।

(२) **वस्तु-विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत वस्तुओं की अदल-बदल का पारस्परिक अनुपात निश्चित करने में कठिनाई अनुभव की गई।** बात यह थी कि उन दिनों मूल्य निर्धारित करने का कोई सर्वमान्य मापदण्ड (Common Measure of Value) न था जिससे न तो वस्तुओं का मूल्य ही मालूम हो पाता और न विभिन्न वस्तुओं के *मूल्य की तुलना करना सम्भव था। वास्तव मे यह तय करना कि एक वस्तु विशेष* की मात्रा विशेष के बदले में दूसरी वस्तु की कितनी मात्रा मिलनी चाहिए, विनिमय के कार्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, चूंकि मनुष्य को दसियों-बीसियों वस्तुएँ लेनी-देनी होती है इसलिए विनिमय करने वालों को केवल दो ही वस्तुओं की नहीं, वरन् समाज मे प्रचलित लगभग सभी वस्तुओं की विनिमय-दरों का ज्ञान होना चाहिए। यह स्पष्टतः एक कठिन बात है।

(३) **विनिमय होने वाली वस्तुओं में कुछ वस्तुयें ऐसी भी होती हैं (जैसे कि गाय, बकरी आदि) जिनको छोटी-छोटी इकाइयों में नहीं बाँटा जा सकता और** यदि बाँटा जाय तो वस्तु की उपयोगिता (एवं मूल्य) कम हो जायगी या बिल्कुल ही नष्ट हो जायगी। अतः जब कभी किसी व्यक्ति के पास इस प्रकार की अविभाज्य वस्तु होती थी तो इसके बदले मे उसे अन्य कई वस्तुयें प्राप्त करने में बहुत कठिनाई उठानी पड़ती थी।

(४) **वस्तु-विनिमय के अन्तर्गत भावी उपभोग के लिए धन का संचय करने की उपयुक्त व्यवस्था न थी।** अधिकांश साधारण वस्तुयें (जैसे कि अनाज) बहुत चलने वाली नहीं होतीं और समय के साथ खराब होने लगती हैं। अतः मनुष्य भावी प्रयोग के हेतु अपनी कुछ कमाई सुरक्षित रखने की कल्पना भी नहीं कर सकता था। उदाहरण के लिए, यदि धन को साग-सब्जी के रूप मे या गेहूँ के रूप में संचित करके रखा जाय *तो वह एक दो वर्ष से अधिक सुरक्षित नहीं रह सकता।*

मुद्रा का जन्म—सभ्यता के इतिहास की एक महान् घटना

जैसे-जैसे सामाजिक संगठन अधिक जटिल होता गया, वैसे-वैसे वस्तु-विनिमय की उक्त कठिनाइयों ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि मनुष्य को पग-पग पर परेशानी अनुभव होने लगी और उसे यह प्रतीत हुआ कि वस्तु-विनिमय के द्वारा *विनिमय करना एक बीती हुई बात हो गई तथा अब समय आ गया है* जबकि उसके स्थान पर कोई ऐसी प्रणाली निश्चित की जाय, जो कि वस्तु-विनिमय की कठिनाइयों को बचाते हुए समाज की आर्थिक एवं सामूहिक प्रगति मे सहायक हो। **किसी विलक्षण बुद्धि वाले मनुष्यों की समझ में यह आया कि यदि कोई एक प्रधान वस्तु निश्चित कर दें और फिर अन्य सब वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य उसके आधार पर निर्धारित कर दिए जायें तो बहुत सी कठिनाइयाँ जाती रहेंगी। अतः एक ऐसी वस्तु छाँट ली गई और उसके आधार पर अन्य वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य निर्धारित किए जाने लगे। यही प्रधान वस्तु आगे चलकर "मुद्रा" (Money) के नाम से कही जाने लगी।**

वस्तु-विनिमय की कठिनाइयों पर मुद्रा की विजय

मुद्रा के प्रचलन से वस्तु-विनिमय की सभी कठिनाइयाँ दूर हो गई हैं तथा

विनिमय-कार्य बहुत सुगम हो गया है। यह बात निम्न विवरण से अधिक स्पष्ट हो जाती है :—

(१) इस प्रकार मुद्रा का प्रयोग सबसे पहले मूल्य के एक सामान्य मापक (Standard measure of Value) के रूप में किया गया। जब सभी वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य एक प्रधान वस्तु (मुद्रा) में नापे जाने लगे तो विभिन्न वस्तुओं के पारस्परिक विनिमय-अनुपात अनिश्चित नहीं रह गये वरन् उन्हें एक आदर्श वस्तु के संदर्भ में स्थिर किया जाने लगा। उदाहरण के लिये, यदि एक "बकरी" को प्रधान वस्तु निश्चित किया गया है, तो किन्हीं वस्तुओं के बीच विनिमय का अनुपात बड़ी सरलता से निम्न प्रकार मालूम किया जा सकता है—यदि एक गाय बराबर है १० बकरियों के और पचास आम बराबर हैं एक बकरी के तो एक गाय पाँच सौ आमों से बदली जा सकती है। इसके अतिरिक्त, एक लाभ और भी हुआ—याद रखे जाने वाले विनिमय-अनुपातों में भी कमी हो गई। यदि दस वस्तुयें हैं तो मुद्रा के अभाव में उनके ४५ विनियम-अनुपात याद रखने पड़ेंगे जबकि मुद्रा की उपस्थिति में केवल दस ही।

(२) लेकिन मूल्य का एक सामान्य मापक निर्धारित करने से वस्तु-विनिमय की सभी कठिनाइयाँ दूर नहीं हुई क्योंकि दोनों पक्षों की आवश्यकताओं का पारस्परिक संयोग होना अब भी आवश्यक था। इस कठिनाई को दूर करने के लिए मुद्रा को विनिमय का माध्यम (Medium of Exchange) भी बना दिया गया। इससे विनिमय के ढंग में एक और अन्तर पड़ गया। पहले वस्तु-विनिमय की अवस्था में एक ही सौदे के द्वारा दो व्यक्तियों की आवश्यकताएँ एक साथ पूरी हो जाती थीं, जैसे—एक व्यक्ति ने एक बर्तन देकर दूसरे आदमी से १० सेर गेहूँ ले लिया तो दोनों की आवश्यकताएँ एक साथ एक ही सौदे में पूरी हो गईं। परन्तु मुद्रा के विनिमय का माध्यम हो जाने पर दो सौदों की आवश्यकता पड़ने लगी, अर्थात् पहले अपनी वस्तु को मुद्रा के बदले में बेचना, फिर इस प्राप्त की हुई मुद्रा से अपनी आवश्यकता के अनुसार अन्य वस्तु या वस्तुएँ खरीदना। इस प्रकार वस्तु-विनिमय की जगह अब "क्रय-विक्रय" (Purchase and Sale) की प्रथा चल पड़ी, जो यद्यपि पुरानी प्रथा की तुलना में अधिक चक्करदार दिखाई देती है तथापि इससे (मुद्रा के बीच में पड़ने से) विनिमय और व्यापार में बहुत ही सरलता और सुगमता आ गई है।

(३) मुद्रा के आविष्कार ने मूल्य के मापक और विनिमय के माध्यम का कार्य करने के साथ-साथ "मूल्य संचक" (Store of Value) का कार्य सम्पादन करके धन के संग्रह में भी सुविधा पहुँचाई। अदल-बदल या वस्तु-विनिमय की अवस्था में एक धनी व्यक्ति उसे समझा जाता था, जिसके पास खेती के लिये बहुत सारी भूमि हो, शिकार खेलने के लिए वन हों, बोझा ढोने व दूध देने के लिये अपार पशु समुदाय हो। लेकिन इन सबका प्रबन्ध करना सरल न था। किन्तु अब धनी होने के लिए इतनी वस्तुएँ संग्रह करके रखना आवश्यक नहीं रहा, केवल मुद्रा को संग्रह करके रखना ही पर्याप्त है, क्योंकि मुद्रा की सहायता से मनुष्य कोई भी वस्तु कहीं भी खरीद सकता है।

वस्तु-विनिमय को सफल बनाने वाली परिस्थितियाँ

वस्तु-विनिमय के मार्ग में जो विभिन्न कठिनाइयाँ आई हैं उनके विवेचन से यह स्पष्ट है कि वस्तु-विनिमय तब ही सफल हो सकता है जबकि निम्न परिस्थितियाँ विद्यमान हों :—

(१) आवश्यकताएँ सीमित होना—जब मनुष्यों की आवश्यकताएँ सीमित होती हैं तथा उनके भेद कम होते हैं, तो ऐसा व्यक्ति खोजना सरल हो जाता है,

जिसके पास दूसरे व्यक्ति की इच्छित वस्तु हो और जिसे उसकी अनावश्यक वस्तु की आवश्यकता हो।

(२) विनिमय के क्षेत्र का संकुचित होना—यदि विनिमय का क्षेत्र सीमित है (जैसे एक गाँव में ही आवश्यकता की सब वस्तुएँ बनाई जाती हैं), तो वस्तुओं की अदला-बदली करने के इच्छुक लोगों को यह ज्ञात करना सरल होता है कि कौन क्या वस्तु बनाता है और उसे किस वस्तु की आवश्यकता है। यह जानकारी होने से वस्तु-विनिमय एक सरल कार्य बन जाता है। आवश्यकताओं के दोहरे संयोग के लिए बहुत नहीं भटकना पड़ता।

(३) समाज का पिछड़ा होना—पिछड़े हुए समाजों में ही विनिमय के एक सर्व-स्वीकार्य माध्यम (अर्थात् मुद्रा) का अभाव होता है। यदि यह होता भी है तो लोग इसके अधिक प्रयोग के आदी नहीं होते, जिससे वे अपना काम वस्तु विनिमय के द्वारा ही पूरा किया करते हैं। लेकिन जब मुद्रा का चलन हो जाता है, तो इसकी सहायता से विनिमय में बड़ी सरलता रहती है। फलतः लोग वस्तु विनिमय छोड़ कर मुद्रा-विनिमय करने लगते हैं।

आधुनिक युग में वस्तु-विनिमय प्रथा का स्थान

*ऊपर जो कुछ भी कहा गया है उससे यह नहीं समझना चाहिये कि वस्तु-विनि*मय प्रथा आज दुनियाँ से पूर्णतः मिट चुकी है। वास्तव में वस्तु-विनिमय प्रथा अब विश्व के उन भागों में प्रचलित है जहाँ सभ्यता के सूर्य का प्रकाश अभी नहीं फैला है, लोग सीधा-साधा जीवन व्यतीत करते हैं। उनकी आवश्यकताएँ थोड़ी हैं और आवागमन के साधनों की कमी के कारण विनिमय का क्षेत्र केवल गाँव की चहारदीवारी तक ही सीमित है। *अनेक भारतीय गाँवों में अब भी नाई, कुम्हार आदि को उनकी* सेवा के बदले में मुद्रा न देकर फसल के समय पर पैदावार में से कुछ भाग दे दिया जाता है। स्वर्णमान का अन्त होने के बाद विश्व के विभिन्न देशों में भी वस्तु परिवर्तन प्रथा के आधार पर ही व्यापार होने लगता है। जैसे—अमेरिका भारत से चीनी खरीदता है और बदले में मशीनें इत्यादि देता है। [हाल ही में भारत ने इस प्रकार के अनेक *द्विपक्षीय व्यापार समझौते (Bilateral Trade Agreements) विभिन्न* देशों से किये हैं] इसका कारण यह है कि एक देश की मुद्रा दूसरे देश में स्वीकार नहीं की जाती तथा स्वर्ण जो कि सब स्थानों में स्वीकार किया जाता है, केवल कुछ ही देशों के पास पर्याप्त मात्रा में है। संसार के देशों में इसका बहुत असमान वितरण हुआ है।

परीक्षा प्रश्न

(१) वस्तु-विनिमय प्रणाली के दोषों की व्याख्या कीजिये। मुद्रा के प्रयोग से ये कैसे दूर हुये?

(२) 'वस्तु परिवर्तन प्रथा' (Barter) की परिभाषा कीजिए तथा इसकी असुविधाओं को समझाइये। द्रव्य के प्रयोग द्वारा ये असुविधाएँ कैसे हटाई जा सकती हैं? *क्या वस्तु परिवर्तन प्रथा अब पूर्णतः मिट चुकी है?*

(३) वस्तु विनिमय को संभव बनाने वाली दशाओं का उल्लेख कीजिये। *किन परिस्थितियों में यह प्रथा सफल हो सकती है?*

(४) विनिमय से क्या अभिप्राय है? इसके दो स्वरूप कौन-कौन से हैं? वस्तु विनिमय से क्या लाभ है?

अध्याय २.

मुद्रा की परिभाषा, कार्य एवं महत्व

[Money—Its Definition, Functions & Importance]

प्रारम्भिक—मुद्रा का एक विशेष गुण 'सर्वमान्यता'

जब हमें किसी वस्तु की आवश्यकता होती है तो हम बाजार जाते हैं और दुकानदार से वस्तु खरीद लेते है तथा बदले में उसे मुद्रा दे देते हैं। दुकानदार हर्षपूर्वक अपनी वस्तु हमें मुद्रा के बदले में दे देता है। इसी प्रकार बीमार पड़ने पर डाक्टर बुलाया जाता है, वह इलाज करता है और हम स्वस्थ हो जाते हैं। डाक्टर अपनी सेवाओं के भुगतान मे हमसे 'मुद्रा' ले लेता है। न्यायालय में वकील हमारे मुकदमे की पैरवी मे बहुत परिश्रम करता है और इसके बदले में मुद्रा प्राप्त करके सन्तुष्ट हो जाता है। आखिर ये सब लोग मुद्रा को इतना क्यों पसन्द करते हैं ? वे अपनी सेवाओं और वस्तुओं के बदले में मुद्रा को लेने में संकोच क्यों नही करते ? अपनी सेवाओं के बदले मे अन्य वस्तुएँ (जैसे शाक-भाजी, फल, अनाज) क्यों नही लेते ? मुद्रा को ही सर्वमान्यता क्यों प्राप्त है ?

इन प्रश्नो का उत्तर देना कठिन नही है। दुकानदार, डाक्टर, वकील आदि अपनी वस्तुओं और सेवाओं के बदले में मुद्रा को हर्षपूर्वक एवं निस्संकोच स्वीकार कर लेते है, क्योंकि वे यह जानते हैं कि जब उनको किसी वस्तु या सेवा की आवश्यकता होगी, तो इसे वे मुद्रा देकर अन्य लोगों से सरलतापूर्वक खरीद सकेंगे। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि मुद्रा को सब स्वीकार कर लेंगे और इसके बदले में अपनी वस्तुयें देने में संकोच नहीं करेंगे। उदाहरण के लिये, किसान खेतो में अनाज उत्पन्न करता है, जिसे वह बाजार में मुद्रा के बदले बेच देता है क्योंकि वह जानता है कि अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिये वह मुद्रा होने से समर्थ बन जायेगा। जब वह कपड़े की दुकान पर जायेगा, तो मुद्रा देने से उसे कपड़ा मिल सकेगा; इसी प्रकार अन्य दुकानों से भी वह मुद्रा देकर अपनी इच्छित वस्तुयें खरीद सकेगा।

उक्त तथ्य को हम अन्य शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते है कि मुद्रा में वह शक्ति है जिसे देकर आप अभी या भविष्य में कभी भी किसी वस्तु या सेवा का क्रय कर सकते है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति मुद्रा केवल इसलिये स्वीकार नहीं करता कि मुद्रा प्राप्त करके वह अन्य वस्तुयें खरीदने की क्षमता प्राप्त कर लेता है वरन् इसलिये भी प्राप्त करता है कि इसके द्वारा वह आर्थिक लेन-देन का अन्तिम निपटारा कर सकेगा। यदि हमें किसी व्यक्ति का ऋण चुकाना है तो उसे मुद्रा देकर दायित्व से मुक्त हो सकते है।

अनाज, फल आदि वस्तुओं में उपरोक्त गुण नहीं होते। अतः लोग इनके बदले मे अपनी वस्तुयें और सेवायें देने मे सकुचाते है और कठिनता से ही तैयार होते हैं। कपड़े का व्यापारी किसान को अनाज के बदले में अपना कपड़ा देने को तैयार नही होता, क्योंकि उसे भय है कि इसके बदले में अन्य लोगों से उसकी इच्छित वस्तु (जैसे बर्तन) नही मिल सकेंगे। इसके अतिरिक्त, ऋण के शोधन मे भी अनाज को स्वीकार करने से लोग मना कर सकते हैं, क्योंकि मूल्यो मे उतार-चढ़ाव होते रहते हैं, जिससे उन्हे हानि की आशंका रहती है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मुद्रा (Money) का आधार उसकी सर्व-मान्यता (General Acceptability) है अर्थात् समाज के प्रत्येक व्यक्ति को मुद्रा स्वीकार होनी चाहिए। सतीश के लिए मुद्रा इसलिए उपयोगी है क्योंकि वह जानता है कि वह सुरेश के प्रति अपने ऋणो को उसकी सहायता से चुका सकता है और सुरेश के लिए मुद्रा इसलिए उपयोगी है कि वह इसकी सहायता से रमेश को मजदूरी दे सकता है। इस प्रकार की सार्वमान्यता कोई भौतिक गुण नही है, जो कि कुछ वस्तुओं में स्वाभाविक रूप से पाया जाता हो और अन्य वस्तुओं मे न पाया जाता हो। वरन् यह तो एक सामाजिक समझौते की बात है अर्थात् समाज ही इस बात का निर्णय करता है कि कौन वस्तु मुद्रा होगी और कौन वस्तु नहीं। सच तो यह है कि इस सामाजिक गुण के प्राप्त कर लेने के कारण ही अनेक वस्तुओं ने समय-समय पर मुद्रा का कार्य किया है।

मुद्रा के बारे मे यह भी उल्लेखनीय है कि इसके लिए वैधानिक स्वीकृति का होना अनिवार्य नहीं है। यदि चैक को कानूनी मान्यता प्राप्त नही है और इसलिए कुछ लोग इन्हें लेने से इन्कार कर सकते हैं, तो कानूनी मान्यता प्राप्त वस्तुयें भी तो कभी-कभी मुद्रा का कार्य करने मे असमर्थ हो जाती है जैसा कि जर्मनी में सन् १९२० के मुद्रा प्रसार के अवसर पर हुआ भी था। अतः यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण से वैधानिक स्वीकृति का गुण अब इतना महत्वपूर्ण नहीं है।

इसी प्रकार, कुछ लोगो के मन मे यह धारणा बसी हुई है कि मुद्रा के पीछे किसी न किसी प्रकार 'सोने' (Gold) की आड़ होती है। लेकिन अनेक देशों मे अब ऐसा नहीं है। प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे ही स्वर्ण का महत्व देखा जाता है। देश के अन्दर क्रेडिट (साख) का 'महल' खड़ा करने के लिए "स्वर्ण की बुनियाद" रखना आवश्यक नहीं होता। बहुत कम देश अब अपने नोटो के लिए एक निश्चित अनुपात मे स्वर्ण का संचय रखते हैं। इस प्रकार साख-व्यवस्था का परम्परागत आधार हटा लिया गया है किन्तु साख व्यवस्था ज्यों की त्यो सुरक्षित है। सच तो यह है कि लोगों ने इस बात की चिन्ता करना ही छोड़ दिया है कि नोटो के पीछे स्वर्ण की आड़ रखी गई है या नही। अब तो मुद्रा के लिए सर्वमान्यता का आधार होना ही आवश्यक है।

मुद्रा की परिभाषा
(Definition of Money)

'मुद्रा' शब्द की इतनी अधिक परिभाषायें हुई हैं और उनमें इतना अधिक अन्तर पाया जाता है कि एक साधारण व्यक्ति तो बड़ी उलझन में पड़ जाता है।

फिर भी विभिन्न परिभाषाओं को उनकी विचारधारा के आधार पर तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है :—

(१) संकुचित विचारधारा वाली परिभाषायें

संकुचित विचारधारा वाले अर्थशास्त्री मुद्रा की परिभाषा मे केवल धात्विक मुद्रा (Metallic Money) को ही सम्मिलित करते हैं। उदाहरण के लिए, रावर्टसन की परिभाषा को लीजिए। उनके मतानुसार "मुद्रा एक ऐसी वस्तु है जो वस्तुओं के भुगतान में या दूसरे व्यापारिक दायित्वों को निपटाने में व्यापक रूप से ग्रहण की जा सकती हो।"[1]

चूंकि सोने चांदी की मुद्रा ही व्यापक रूप से ग्रहण की जाती है, इसलिए रावर्टसन की परिभाषा उक्त विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है।

(२) विस्तृत विचारधारा वाली परिभाषायें

विस्तृत विचारधारा रखने वाले अर्थशास्त्री सभी प्रकार के विनिमय-माध्यमों को (यहां तक कि हस्तांतरित होने वाले साख पत्रों को भी, जैसे कि चैक, हुन्डी, बिल वैक, ड्राफ्ट आदि) 'मुद्रा' के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं। कोल एवं हार्टले विदर्स इसी वर्ग की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते है। कोल के अनुसार, "मुद्रा केवल क्रय शक्ति है जो दूसरी वस्तुयें खरीदती है।" (Money is simply purchasing power, something which buys things.) हार्टले विदर्स ने भी कहा है कि "मुद्रा वही है जो मुद्रा का कार्य करती है" (Money is what money does.) इस तरह हार्टले विदर्स के अनुसार कोई भी वस्तु किसी भी रूप में यदि वस्तुयें व सेवायें खरीद सकती है तो वह मुद्रा है चाहे वह नोटों, सिक्कों या बैंक डिपोजिटों के रूप में ही क्यों न हो।

(३) आधुनिक विचारधारा की परिभाषायें

आधुनिक अर्थशास्त्री मुद्रा की परिभाषा न संकुचित भाव से देते हैं और न अति उदार भाव से। उन्होंने इन दोनों के बीच का मार्ग अपनाया है। ऐली तथा मार्शल जैसे अर्थशास्त्री इस विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऐली के मतानुसार "मुद्रा कोई भी वस्तु है जो विनिमय के माध्यम के रूप में स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तातरित की जाती है और जो सामान्य रूप से ऋणों के अन्तिम भुगतान में स्वीकार होती है।"[2] प्रोफेसर मार्शल ने भी कहा है कि "मुद्रा में वे सब वस्तुयें सम्मिलित होती है जो किसी समय विशेष या स्थान विशेष में बिना सन्देह या विशेष जांच के वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने तथा खर्चों को चुकाने के साधन के रूप में साधारणतः प्रचलित होती हैं।"[3] चूंकि चैक, हुन्डी, बिल आदि को सामान्य स्वीकृति प्राप्त नही है,

---

1. "Money is a commodity which is sued to denote anything which is widely accepted in payment of goods, or in discharge of other business obligations." —*Robertson*
2. "Anything that passes freely from hand to hand as a medium of exchange and is *generally received in final discharge of* debts." —*Elley*
3. "Money includes all those things which are (at any given time or place) general current without doubt or special enquiry as a means of purchasing commodities or services and of defraying expenses." —*Marshall*

इनका स्वीकार करना या न करना व्यक्ति विशेष की इच्छा पर निर्भर होता है और स्वीकार करते समय देने वाले की साख देख ली जाती है, इसलिए उक्त परिभाषाओं के अनुसार इन्हें 'मुद्रा' के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

निष्कर्ष

चूँकि सामान्य स्वीकृति या सर्वमान्यता मुद्रा का विशेष गुण है, इसलिए इसके आधार पर आधुनिक अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषायें ही ठीक प्रतीत होती हैं। मुद्रा की एक सरल परिभाषा यह है—"कोई भी वस्तु जो विनिमय के माध्यम, मूल्य के सामान्य मापक, ऋण के भावी भुगतान के आधार तथा अर्थ संचय के साधन के रूप में सामान्यतः, स्वतन्त्र और विस्तृत रूप से सर्वग्राह्य हो, मुद्रा कहलाती है।"

जैसा कि प्रसिद्ध अर्थशास्त्री थाध ने बताया है, कोई एक वस्तु विश्व में ऐसी नहीं है जिसे कि प्रत्येक देश में स्वीकृति-प्राप्त हो। प्रायः एक देश की मुद्रा दूसरे देश में मान्य नहीं होती। अत सामान्य स्वीकृति का संकुचित अर्थ लगाना उचित है अर्थात् मुद्रा के लिए यह आवश्यक है कि किसी क्षेत्र विशेष में उसे सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो। किन्तु यह क्षेत्र बहुत छोटा भी नहीं होना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि कुछ व्यापारी किसी एक वस्तु को मुद्रा के रूप में परस्पर स्वीकार करने लगें तो वह वस्तु मुद्रा नहीं कहलाने लगेगी।

मुद्रा के कार्य
(Functions of Money)

आधुनिक युग में मुद्रा अनेक कार्य करती है। किन्तु अर्थशास्त्र में साधारणतः मुद्रा के चार कार्यों पर ही अधिक बल डाला गया है—*विनिमय का माध्यम मूल्य का मापक, स्थगित भुगतान का मान एवं अर्थ का संचय*।[1] किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इन चार कार्यों के अतिरिक्त मुद्रा के अन्य बहुत से कार्य भी बताये हैं। विस्तृत रूप से अध्ययन करने के लिए प्रो० किनले (Kinley) इन्हें दो भागों में बाँटा है—(i) मुख्य कार्य (Primary Functions), (ii) सहायक कार्य (Subsidiary Functions) एवं (iii) आकस्मिक कार्य (Contingent Functions)। इन कार्यों पर नीचे विस्तार से प्रकाश डाला गया है :—

(i) मुद्रा के कार्य जिन्हें उसने प्रत्येक अवस्था में किया है

इस वर्ग में उन अति महत्वपूर्ण कार्यों को ही सम्मिलित किया गया है जो कि मुद्रा ने हर काल, हर देश और आर्थिक उन्नति की हर अवस्था में सम्पन्न किए हैं। समय-समय पर विभिन्न वस्तुयें मुद्रा के रूप में उपयोग की गई हैं किन्तु उन सभी वस्तुओं ने कम से कम इन कार्यों को अवश्य किया है। ये कार्य निम्नलिखित है :—

(१) **विनिमय का माध्यम (A Medium of Exchange)**—यह मुद्रा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है क्योंकि सम्पूर्ण आर्थिक जीवन विनिमय पर ही आधारित है।

---

(१) "मुद्रा के हैं कार्य चार।
माध्यम मापक संचय आधार ॥"

(Money is a matter of functions four,
A Medium, A Measure, A Standard and A Store.")

प्रत्यक्ष विनिमय या वस्तु विनिमय में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं। मुद्रा का प्रयोग इन सब कठिनाइयों को दूर करके विनिमय कार्य को सुगम बना देता है। वस्तु-विनिमय के अन्तर्गत वस्तुओं का आदान-प्रदान तभी हो सकता है जबकि दो व्यक्तियों की पारस्परिक आवश्यकताओं में मिलान हो परन्तु मुद्रा के प्रयोग के अन्तर्गत ऐसे मिलान की आवश्यकता नहीं रहती। मुद्रा के प्रयोग से विनिमय कार्य दो भागों में बँट जाता है :—पहले वस्तु या सेवा को मुद्रा में बदला जाता है जिसे विक्रय (Sale) कहते हैं और फिर मुद्रा के बदले में वस्तुएँ या सेवाएँ प्राप्त की जाती है जिसे क्रय (Purchase) कहते हैं। इस तरह वस्तु को सीधे वस्तु से न बदल कर पहले वस्तु से मुद्रा को और फिर मुद्रा से वस्तु को बदला करते हैं अर्थात् विनिमय में द्रव्य एक मध्यस्थ का कार्य करता है। मुद्रा एक मध्यस्थ का कार्य इसलिए सम्पन्न कर लेती है कि इसमें सर्वमान्यता का गुण होना है। प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि मुद्रा को हर कोई बिना हिचकिचाहट स्वीकार कर लेगा अतः इस बात की चिंता किये बिना कि बदले में उसे उसकी आवश्यक वस्तु प्राप्त हो रही है या नहीं, वह अपनी फालतू वस्तु दूसरे व्यक्ति को मुद्रा के बदले में दे देता है।

> मुद्रा के प्रमुख-प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं :
>
> (I) मुद्रा के मुख्य कार्य जिन्हें उसने प्रत्येक अवस्था में किया है :—
> १. विनिमय का माध्यम।
> २. मूल्यांकन का साधन।
>
> (II) मुद्रा के सहायक कार्य जिन्हें उसने आर्थिक जीवन का विकास होने पर किया :—
> १. स्थगित भुगतानों का मान।
> २. क्रय-शक्ति का संचय।
> ३. मूल्य का हस्तांतरण।
>
> (III) आकस्मिक कार्य जो मुद्रा द्वारा अविकसित अर्थ-व्यवस्था में किये जाते हैं :—
> १. सामाजिक आय का वितरण।
> २. खर्चों की सीमान्त उपयोगिता एवं सीमान्त उत्पादकता में समानता लाना।
> ३. साख का आधार।
> ४. धन के रूपों को तरलता प्रदान करना।

(२) मूल्यांकन का साधन (A Measure of Value) :—चूँकि मुद्रा-प्रणाली के अन्तर्गत विनिमय मुद्रा के माध्यम से होता है इसलिए यह स्वाभाविक था कि मुद्रा से ही विभिन्न वस्तुओं की विनिमय-शक्ति को नापने का काम लिया गया। मुद्रा द्वारा वस्तु की जो विनिमय शक्ति निर्धारित होती है उसे वस्तु का मूल्य (Price) कहते है। चूँकि सब वस्तुओं के मूल्य मुद्रा में ही व्यक्त किये जाते है इसलिए विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के बीच विनिमय अनुपात सरलता से ज्ञात किया जा सकता है। इस तरह वस्तु-विनिमय की दूसरी कठिनाई—विनिमय की जाने वाली वस्तुओं के विनिमय का अनुपात मालूम करना स्वतः दूर हो जाती है। इस सम्बन्ध में एक दुर्बलता अवश्य है—चूँकि समय-

समय पर स्वयं मुद्रा की कीमत मे भी परिवर्तन होते रहते हैं इसलिए एक गज या एक मन की भाँति मुद्रा मूल्य नापने का पूर्णतया निश्चित मान नही है।

(II) मुद्रा के सहायक कार्य जिन्हें उसने आर्थिक जीवन का विकास होने पर किया है

इस वर्ग मे उन कार्यों को सम्मिलित किया गया है जो कि मुद्रा द्वारा उसी अवस्था मे सम्पन्न किए जाते हैं जबकि समाज मे आर्थिक जीवन का एक अंश तक विकास हो चुकता है। ये कार्य मुद्रा के मुख्य कार्यों से उत्पन्न होते हैं इसलिये इनको "सहायक" (Secondary) या कभी-कभी "व्युत्पादित" (Derived) कार्य भी कहा जाता है। मुद्रा के सहायक कार्य इस प्रकार हैं :—

(१) स्थगित भुगतानों का मान (A Standard of Deferred Payments)—मुद्रा का प्रयोग केवल तुरन्त भुगतान वाले लेन-देनो में ही नहीं किया जाता वरन् उन लेन-देनों मे भी किया जाता है, जिनमे कि भुगतान स्थगित कर दिया गया हो। वस्तु-विनिमय के दिनों मे ऋणी को अपना ऋण उसी वस्तु मे चुकाना पड़ता था जो कि ऋणदाता को मान्य होती थी लेकिन अब ऐसी बात नही है। अब ऋणी मुद्रा के रूप मे अपना ऋण चुका सकता है। स्थगित भुगतानों के मान का कार्य मुद्रा भली प्रकार सम्पन्न कर सकती है, क्योंकि इसमें तीन विशेष गुण है :—(i) अन्य वस्तुओं की तुलना मे मुद्रा की कीमत अधिक स्थायी रहती है। अतः यदि स्थगित भुगतानो का हिसाब मुद्रा मे रखा जाय तो लेने वाले और देने वाले दोनों को ही हानि होने का डर कम रहता है। (ii) मुद्रा मे सर्वस्वीकारता का गुण है, जिससे कि उसकी आवश्यकता हर समय रहती है। (iii) अन्य वस्तुओं की अपेक्षा मुद्रा अधिक टिकाऊ होती है। इन्ही गुणो के कारण मुद्रा स्थगित भुगतानो को चुकाने का एक अच्छा साधन है।

(२) क्रय-शक्ति का संचय (A Store of Value)—मुद्रा को प्राप्त करने का उद्देश्य यह होता है कि उसके बदले मे अन्य वस्तुयें खरीदी जा सकें। यह भी सम्भव है कि मुद्रा को तुरन्त व्यय न करके उसे कुछ समय तक रोक लिया जाय ऐसी दशा मे मुद्रा क्रय-शक्ति के संचय का कार्य करती है। प्राचीन काल मे मनुष्य के पास अपनी बचत को संचय करने का कोई साधन नही था, क्योंकि वस्तुओं के रूप में संचय करने से इनके शीघ्र खराब होने का भय रहता था। जब पशु, पक्षियों, खाल और हड्डी का मुद्रा के रूप मे प्रयोग होने लगा तब भी संचय का उपयुक्त साधन न था, क्योंकि ये वस्तुयें भी जल्द नष्ट होने वाली थी और फिर इनके संचय के लिए स्थान भी बहुत [illegible] था। लेकिन जब से धात्विक या पत्र-मुद्रा का चलन हो गया तब से क्रय-शक्ति [illegible] करना बड़ा सुगम हो गया है, क्योंकि (i) उसकी उपयोगिता बहुत काल तक नहीं होती, (ii) जगह भी बहुत कम घेरती है तथा (iii) हर समय इनकी [illegible] आवश्यक वस्तुयें खरीदी जा सकती हैं।

(३) मूल्य का हस्तांतरण—जैसे-जैसे आर्थिक जीवन का विकास होता गया वस्तुओं का क्रय-विक्रय दूर-दूर तक होने लगा, जिसमे मूल्य या क्रय-शक्ति को [illegible]दूर के स्थानों में भेजने की आवश्यकता अनुभव हुई। मुद्रा ने इस कार्य को भी [illegible]धा से करना आरम्भ कर दिया। मुद्रा एक ऐसी वस्तु है जो देश के सभी भागों [illegible] स्वीकार की जाती है, अतः इसकी सहायता से एक व्यक्ति किसी नई जगह जाकर [illegible] भी वस्तु खरीद सकता है। यही कारण है कि जब कोई व्यक्ति एक नगर को छोड़कर सदा के लिये दूसरे नगर को जाता है तो वह अपनी सम्पत्ति को बेचकर

अपने साथ मुद्रा ले जाता है। इसी प्रकार दो व्यक्तियों के बीच भी शक्ति का हस्तांतरण सम्भव हो गया है क्योंकि आजकल सब लेन-देन के रूप में ही होते हैं।

(III) आकस्मिक कार्य जो अविकसित अर्थ-व्यवस्था में किए जाते हैं

उल्लिखित कार्यों के अतिरिक्त उन्नत देशों में जहाँ आर्थिक जीवन का विकास बहुत अधिक हो जाता है मुद्रा कुछ और भी कार्य करती है जिन्हें मुद्रा के 'आकस्मिक कार्य' (Contingent functions) कहते हैं। किनले ने मुद्रा के चार कार्य बताये हैं जो कि इस प्रकार हैं :—

(१) सामाजिक आय का वितरण—वर्तमान उत्पादन केवल एक व्यक्ति द्वारा नहीं होता बल्कि सामूहिक रूप से होता है अतः उत्पादित वस्तु को बाजार में बेचने के पश्चात् जो धन प्राप्त होता है उसको उत्पादन में सहायता देने वालों में बाँटना आवश्यक है। मुद्रा ने संयुक्त आय के इस वितरण को बहुत सुलभ बना दिया है क्योंकि मुद्रा के रूप में प्रत्येक व्यक्ति की सेवा का सही-सही मूल्यांकन किया जा सकता है और फिर उनका भाग मुद्रा के रूप में ही दिया जाता है जिसकी सहायता से वे अपनी आवश्यकता के अनुसार मनोवांछित वस्तुएं और सेवायें खरीद सकते है।

(२) खर्चों की सीमान्त उपयोगिता एवं सीमान्त उत्पादकता में समानता लाना—मुद्रा का प्रयोग उपभोक्ता को यह अवसर प्रदान करता है कि वह व्यय की प्रत्येक मद से समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करके अधिकतम सन्तोष उठावें। यदि कोई अन्य वस्तु प्रयोग में लाई जाये तो अधिकतम लाभ कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि मुद्रा क्रय-शक्ति है और उसका इच्छित अंशों में विभाजन सम्भव होता है इसलिये मनुष्य को इसकी सहायता से अपने व्यय पर, उचित नियंत्रण रखने में सुविधा होती है। उपभोक्ताओं की तरह उत्पादकों के लिए भी मुद्रा के कारण यह सम्भव हो गया है कि वे उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को सीमान्त उत्पादकता समान करके अधिकतम उत्पादन करलें, उत्पादक प्रत्येक साधन की उपज को मुद्रा द्वारा नाप सकता है।

(३) साख का आधार—आधुनिक अर्थ-व्यवस्था साख की आधारशिला पर टिकी हुई है। साख के अभाव में किसी भी प्रकार की आर्थिक उन्नति सम्भव नहीं है। इस साख का आधार मुद्रा ही है। जब कोई व्यक्ति अपना रुपया बैंक में जमा कर देता है तो उसे चैक काटने का अधिकार मिल जाता है और यह चैक एक तरह से मुद्रा का कार्य करता है। चैक जैसे साख-पत्रों को भुगतान करने के लिए बैंक अपने पास कुछ नकद मुद्रा कोष में रखता है क्योंकि यदि वह समय पर चैकों का भुगतान नहीं कर सका तो जनता के विश्वास को बड़ा धक्का लगेगा और जनता चैकों का प्रयोग करना समाप्त कर देगी। इसी प्रकार नोट छपते समय बैंक एक निश्चित अनुपात में नकद कोष रखते हैं जिससे कि मांग होने पर नोटों के बदले मुद्रा दे सकें। इस प्रकार मुद्रा वर्तमान युग में मुद्रा साख-निर्माण के आधार का कार्य करती है।

(४) धन के रूपों को एक सामान्य रूप व तरलता प्रदान करना—मुद्रा धन के विभिन्न रूपों को समानता और तरलता प्रदान करती है। जब कोई व्यक्ति अपनी विभिन्न प्रकार की सम्पत्तियों को मुद्रा में परिणत कर लेता है, तो वे सब एक ही रूप को हो जाती हैं। जिस प्रकार किसी द्रव को जिस बर्तन में रखते हैं उसी का रूप वह धारण कर लेता है ठीक उसी प्रकार मुद्रा के रूप में रखी गई

सम्पत्ति अपने स्वामी की इच्छानुसार किसी भी वस्तु के रूप में बदली जा सकती है अर्थात् सम्पत्ति के मुद्रा रूप में होने पर उससे कोई भी वस्तु खरीद सकते हैं। इस गुण के कारण ही पूंजी को पुराने और अलाभपूर्ण उद्योगों से निकाल कर नये व लाभप्रद उद्योगों में लगाना सम्भव हो गया है और पूंजी की उत्पादकता बढ़ गई है।

मुद्रा का स्वभाव
(Nature of Money)

मुद्रा के कार्यों का विश्लेषण करने से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि कोई भी व्यक्ति मुद्रा को मुद्रा के लिए नहीं चाहता है अर्थात् जैसा कि प्रसिद्ध भारतीय अर्थशास्त्री प्रोफेसर जे० के० मेहता ने कहा है। मुद्रा स्वयं 'ध्येय' नहीं, वरन् ध्येय की प्राप्ति का एक साधन है। हम मुद्रा इसलिये प्राप्त करना चाहते हैं क्योंकि इसके द्वारा अपनी आवश्यक वस्तुयें खरीद कर हम आवश्यकताओं की संतुष्टि कर सकते हैं। कुछ व्यक्तियों का कहना है कि एक कंजूस धन को केवल धन के लिए चाहता है अर्थात् वह मुद्रा को 'ध्येय' समझकर उसका संचय करता रहता है। लेकिन यदि कंजूस व्यक्ति के मानसिक व्यवहार का सावधानी से विश्लेषण करें, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुचेंगे कि उसके भी मन में अन्तिम उद्देश्य मुद्रा को खर्च कर अपनी आवश्यकताओं को संतुष्ट करना है। इस प्रकार, मुद्रा को मुद्रा के कार्यों के लिये पसन्द किया जाता है। कोई भी वस्तु, जो मुद्रा के कार्यों को संतोषजनक ढंग से कर सकती है, मुद्रा के रूप में स्वीकार की जायगी चाहे उसका रूप कुछ भी हो।

द्रव्य की पहचान द्रव्य के कार्यों से
(Money is What Money Does)

'मुद्रा' की परिभाषा अनेक प्रकार से की गई है और उनमें काफी भिन्नता भी पाई जाती है। परिभाषाओं की अधिकता का एक कारण यह है कि विभिन्न विद्वानों ने मुद्रा के विभिन्न कार्यों पर बल दिया है। उपरोक्त कथन श्री विदर्स द्वारा मुद्रा की परिभाषा के सम्बन्ध में दिया गया है। विदर्स ने प्रत्यक्ष रूप के मुद्रा की परिभाषा न करते हुए यह संकेत किया है कि मुद्रा वही है जो मुद्रा का कार्य करे अर्थात् कोई वस्तु द्रव्य है या नहीं इसकी पहचान उसके कार्यों से की जानी चाहिए। जो वस्तुएँ द्रव्य का कार्य कर सकती हैं उन्हें द्रव्य की श्रेणी में रखा जायगा, अन्यथा नहीं। अनाज, गाय, बैल, सब्जी, इत्यादि इन सब कार्यों को नहीं कर सकते, अतः उन्हें मुद्रा नहीं कहा जा सकता।

मुद्रा का महत्व
(Importance of Money)

मुद्रा का आर्थिक एवं सामाजिक महत्व

वर्तमान युग की विनिमय प्रणाली के लाभों एवं सुविधाओं के हम इतने आदी हो गये हैं कि हमारा ध्यान उसके ऐतिहासिक एवं सामाजिक महत्व की ओर नहीं जाने पाता। वास्तव में मुद्रा की प्रणाली 'सभ्यता के इतिहास का स्वर्ण-युग है। जीवन

का ऐसा कोई क्षेत्र नही है जिसे विनिमय प्रणाली या मौद्रिक व्यवस्था ने प्रभावित न किया हो; व्यक्ति के या समाज के जीवन का ऐसा कोई पहलू नहीं है जिसमें मुद्रा के प्रभाव ने प्रवेश न किया हो। चाहे यह साहित्य हो या कला, विज्ञान हो या उद्योग प्रत्येक क्षेत्र में इस युग का पथ-प्रदर्शक नक्षत्र 'मुद्रा' ही है। मनुष्य की सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक प्रगति और वित्तीय उन्नति मुद्रा के साथ घनिष्ट रूप में सम्बन्धित हैं। यदि संसार की तुलना एक विशाल मशीन से की जाय, तो यह कहना अनुचित न होगा कि जिस तेल से यह मशीन चालू है वह मुद्रा ही है। मुद्रा के बिना हमारा सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन समुचित रूप से नही चल सकता। जब कभी किसी देश की मुद्रा-प्रणाली बिगड़ गई, तो उस देश का सब प्रकार का जीवन चौपट होने लगा। इसी कारण प्रत्येक देश यथासम्भव अपनी मुद्रा-प्रणाली को व्यवस्थित रखने का प्रयत्न करता है। वर्तमान संसार में मुद्रा का महत्त्व या उसके लाभ निम्नलिखित हैं :—

(१) मुद्रा वह धुरी है जिसके चारों ओर अर्थ-विज्ञान चक्कर लगाता है— आज सारे आर्थिक कार्य मुद्रा के द्वारा होते हैं। हम अपनी वस्तुयें मुद्रा के बदले बेचते है, मुद्रा देकर दूसरों की वस्तुयें खरीदते हैं, दूसरों की सेवायें मुद्रा के बदले प्राप्त करते है और अपनी सेवायें मुद्रा लेकर प्रदान करते हैं। मुद्रा के द्वारा ही ऋणों का लेन-देन होता है। आन्तरिक व्यापार विदेशी व्यापार मुद्रा से ही किये जाते हैं। बिना मुद्रा के न तो सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियाँ बन सकती हैं और न सरकार ही अपने कार्यों को चला सकती है।

मुद्रा के सामाजिक महत्व की दस मुख्य बातें :

(१) मुद्रा वह धुरी है जिसके चारों ओर अर्थ विज्ञान चक्कर लगाता है।
(२) मुद्रा देश की आर्थिक प्रगति की सूचक होती है।
(३) वस्तु विनिमय प्रणाली के दोषों में मुक्ति।
(४) विशिष्टीकरण को बढ़ावा।
(५) पूँजी की गतिशीलता में वृद्धि।
(६) सामाजिक सुधारों को प्रेरणा।
(७) राजनैतिक चेतना को बढ़ावा।
(८) राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि।
(९) उपभोक्ताओं के लिए मुद्रा के लाभ।
(१०) उत्पादकों के लिए लाभ।

(२) मुद्रा देश की आर्थिक प्रगति की सूचक होती है—जिस प्रकार एक बैरोमीटर किसी स्थान का तापक्रम और थर्मामीटर शरीर का तापक्रम सूचित कर देता है उसी प्रकार मुद्रा किसी भी देश की आर्थिक प्रगति की सूचक है। किसी देश ने कितनी आर्थिक प्रगति की है, इसका अनुमान उसकी मौद्रिक प्रणाली से लगाया जा सकता है। जहाँ व्यापार सीमित होता है, उद्योग प्रारम्भिक अवस्था मे और बाजार मूल्य नीचे होते हैं वहाँ हमें एक सरल एवं मितव्ययी मुद्रा देखने को मिलेगी। लेकिन जहाँ उद्योग और व्यापार का संगठन उच्चकोटि का होता है, जहाँ व्यापार अपेक्षतः अधिक जटिल एवं खर्चीला है और

मूल्यों का स्तर तथा आय-स्तर ऊँचा होता है, वहाँ हमें एक अधिक लागत वाली मुद्रा देखने को मिलती है।

(३) **वस्तु-विनिमय प्रणाली के दोषों से मुक्ति**—मुद्रा के प्रयोग ने वस्तु-विनिमय की सारी कठिनाइयों को दूर कर दिया है। 'मुद्रा सबको स्वीकार होती है और वह एक सामान्य मूल्य मापक का कार्य करती है जिससे अब वस्तु-विनिमय प्रणाली की तरह न तो आवश्यकताओं का पारस्परिक संयोग देखने की आवश्यकता पड़ती है, न तो वस्तुओं को छोटी-छोटी इकाइयों मे बाँटने की कठिनाई सामने आती है और न ही मूल्य का संचय करने मे ही किसी असुविधा का सामना करना पड़ता है।

(४) **विशिष्टीकरण को बढ़ावा**—मुद्रा ने समाज में विशिष्टीकरण व विनिमय की सुविधा के द्वारा धन के उत्पादन मे वृद्धि कर दी है। किसी ने इस विषय में ठीक ही कहा है कि, "विश्व का वर्तमान उत्पादन 'श्रम-विभाजन' की प्रगति के बिना असम्भव था और 'श्रम-विभाजन' की वर्तमान प्रगति 'विनिमय के एक माध्यम' के अभाव मे कदापि सम्भव नहीं हो सकती थी।"

(५) **पूँजी की गतिशीलता में वृद्धि**—मुद्रा से बचत को प्रोत्साहन मिलता है और बचत के एक बड़े अंश को पूँजी के रूप मे परिणित होने का अवसर मिलता है। मुद्रा पूँजी को गतिशीलता भी प्रदान करती है। मुद्रा की सहायता से पूँजी उन लोगों के हाथों में पहुँचने लगती है जो उसका अधिक अच्छा उपयोग कर सकते हैं। ज्वाइंट-स्टॉक कम्पनियाँ और बैंकर विनियोगकों से पूँजी आकर्षित कर सकते हैं और उसे अधिक धन के उत्पादन मे लगाते हैं।

(६) **सामाजिक सुधारों को प्रेरणा**—मुद्रा ने समाज सुधार के रूप में अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया है। इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी यह जानता है कि जब लगान और मजदूरी वस्तुओं के रूप मे दी जाती थी, तो किसानों और मजदूरों को बड़ी हानि सहनी पड़ती थी और वे भूमिपतियों एवं व्यापारी-पूँजीपतियों के दासो का जीवन व्यतीत करते थे। लेकिन अब, जबकि उन्हें मुद्रा के रूप मे लगान देना पड़ता है तथा मुद्रा के रूप मे ही मजदूरी प्राप्त होती है वे इस दासता से मुक्त हो गये हैं और अपने श्रम का पूरा-पूरा लाभ प्राप्त कर रहे हैं।

(७) **राजनैतिक चेतना को बढ़ावा**—मुद्रा ने राजनैतिक स्वतन्त्रता को भी प्रोत्साहन दिया है, क्योंकि जब लोगों को अपनी जेब से कर देना पड़ता है तो वे उनका प्रयोग करने वाली राजनैतिक व्यवस्था मे अधिक दिलचस्पी लेने लगते हैं और वे इस बात पर निगाह रखते हैं कि उनके सार्वजनिक धन का दुरुपयोग न हो। जनतन्त्र का तो यह एक नारा-सा बन गया है कि *'बिना प्रतिनिधित्व कोई कर नहीं'* (No taxation without representation)। यह मुद्रा ही है, जिसके आविष्कार ने आधुनिक जनतन्त्रीय संस्थाओं की स्थापना करना सम्भव बना दिया है।

(८) **राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि**—मुद्रा प्रणाली के अन्तर्गत आत्म-निर्भरता का स्थान विशिष्टीकरण और विनिमय ले लेता है, जिससे लोग परस्पर निर्भर हो जाते हैं। गाँव वाले, शहर वालों के सम्पर्क मे आते हैं। एक प्रान्त के निवासी दूसरे प्रान्त के निवासियों के साथ और इसी प्रकार एक देश के निवासी विश्व के अन्य देशों के निवासियों के साथ सम्पर्क और सहयोग रखने के लिए प्रेरित होते हैं ताकि उनकी विभिन्न आर्थिक आवश्यकताएँ पूरी होती रहें। आर्थिक क्षेत्र मे

यह सहयोग अन्य क्षेत्रों में भी आपसी सहयोग को बढ़ावा देता है, जिससे तनाव समाप्त होकर एकता और सौहार्द की धारा बहने लगती है।

(६) उपभोक्ताओं के लिए मुद्रा के लाभ—मुद्रा के माप-दण्ड द्वारा ही व्यय की प्रत्येक इकाई की सीमान्त उपयोगिता, आवश्यकताओं की तीव्रता, किसी वस्तु के उपभोग से प्राप्त होने वाली संतुष्टि और ऐसी अन्य बातें नापी जा सकती हैं। वास्तव में मुद्रा मनुष्य की अपनी 'क्रय-शक्ति' (Purchasing Power) एक सामान्य रूप में रखने में सहायता देती है अर्थात् मुद्रा रखने वाले व्यक्ति को मुद्रा के मूल्य की किसी भी वस्तु या सेवा के लिए समाज पर माँग करने का अधिकार मिल जाता है।

(१०) उत्पादकों के लिए लाभ—उपभोक्ताओं की भाँति उत्पादकों को भी मुद्रा के आविष्कार से बहुत लाभ होते हैं। इससे उन्हें उत्पत्ति के साधनों को जुटाने में सहायता मिलती है। उत्पादन की विशिष्ट रीतियों का प्रयोग मुद्रा-प्रयोग के अन्तर्गत ही सम्भव हो सकता है। मुद्रा के आधार पर मजदूरों को पारिश्रमिक देने की प्रेरणात्मक पद्धतियों का प्रयोग होने लगता है जिससे मजदूरों की कार्य-कुशलता में पर्याप्त वृद्धि हो गई है। मुद्रा की सहायता से ही उत्पादक भी उत्पादन में प्रयोग किए जाने वाले साधनों से अधिक से अधिक उत्पादन करने का प्रयत्न करता है और इस तरह लाभ को अधिकतम करने में समर्थ होता है।

मुद्रा के दोष

मुद्रा के अनेक लाभों के वर्णन को पढ़ते हुए हमें यह न भूलना चाहिए कि इस चित्र का दूसरा पहलू भी है। जहाँ मुद्रा के इतने लाभ हैं वहाँ इसमें कुछ बुराइयाँ भी हैं। कोई विद्वान तो यहाँ तक कह बैठे हैं कि मुद्रा की बुराइयाँ इतनी अधिक हैं कि मुद्रा के लाभों का प्रभाव ही जाता रहता है। मुद्रा के दोषों का अध्ययन दो दृष्टिकोणों से किया जा सकता है—(१) आर्थिक और (२) नैतिक।

मुद्रा के दोष

(अ) आर्थिक दृष्टि से मुद्रा के दोष :
- (१) मुद्रा के उपयोग से ऋण-ग्रस्तता में वृद्धि।
- (२) सम्पत्ति के वितरण में असमानता।
- (३) मुद्रा तथा क्रय-शक्ति में अन्तर।
- (४) मुद्रा के मूल्य में स्थिरता का अभाव।

(ब) नैतिक दृष्टिकोण से मुद्रा के दोष :
- (१) भ्रष्टाचार को बढ़ावा।
- (२) चोरी डकैतियों को बढ़ावा।
- (३) पारस्परिक संघर्षों को बढ़ावा।

(१) आर्थिक दृष्टिकोण से मुद्रा के दोष :

(१) मुद्रा के उपयोग से ऋण-ग्रस्तता में वृद्धि—मुद्रा ने उधार लेने और उधार देने की क्रियाओं को सरल बना दिया है। इससे मनुष्य को ऋण लेने में प्रोत्साहन मिला है और वह बड़ा अपव्ययी हो गया है। उद्योग-धन्धों पर भी इस कुप्रवृत्ति का प्रभाव पड़ा है। उद्योगपतियों को पूँजी (अर्थात् ऋण) सरलता से मिल जाती है जिससे कभी-कभी उद्योगों में अति-पूँजियन (Over-

capitalisation) हो जाता है, और अति उत्पादन (Over-production) होने लगता है। इससे समाज की अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है।

(२) सम्पत्ति के वितरण में असमानता—चूँकि मुद्रा का मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय मापक है, उसे संग्रह करके रखा जाता है और जिन लोगों के पास मुद्रा का संग्रह है वे देश के उत्पादित धन मे अधिक हिस्सा पाने की माँग करते है जिसके फलस्वरूप धन का वितरण देश मे असमान हो जाता है।

(३) मुद्रा तथा क्रय-शक्ति में अन्तर—मुद्रा और क्रय-शक्ति एक ही वस्तु के दो नाम नही है। अतः यह सम्भव है कि मुद्रा पास मे होते हुए भी मनुष्य उसके बदले मे वस्तुएँ और सेवायें न खरीद पाये। मुद्रा प्रसार के कारण जर्मनी में मार्क की यही दशा हो गई थी। मार्क रखते हुए भी जर्मन निवासी इससे वस्तुएँ नही खरीद पाते थे।

(४) मुद्रा के मूल्य मे स्थिरता का अभाव—प्रत्येक देश का यह अनुभव है कि मुद्रा के मूल्य मे स्थिरता नही रहती। मुद्रा के मूल्य मे अस्थिरता होने का परिणाम यह होता है कि उन वस्तुओं के मूल्य भी जिन्हे मुद्रा आँकती है, अस्थिर हो जाते है और घटने-बढ़ने लगते है। इन परिवर्तनों का समाज के विभिन्न वर्गों पर भिन्न-भिन्न असर पडता है लेकिन कुल पर समाज के आर्थिक जीवन मे एक बडी अनिश्चितता पैदा हो जाती है जो कि औद्योगिक एव व्यापारिक विकास मे बड़ी बाधक होती है।

(२) नैतिक दृष्टिकोण से मुद्रा के दोष

नैतिक दृष्टिकोण से प्रायः यह कहा जाता है कि विश्व की सभी बुराइयों की जड मुद्रा है। (अ) उसने मनुष्य मे लोभ और मोह उत्पन्न किया है। इसी क कारण समाज मे चोरी, डकैती, हत्या, गबन, विश्वासघात आदि बुराइयों का जन्म हो गया और व्यक्ति धनी होकर निर्धन वर्ग का शोषण करने लगता है। (ब) **मुद्रा का दोष उस समय ज्ञात होता है जबकि एक वेश्या तुच्छ मुद्रा के लिए अपने शरीर को बेच देती है और एक जज न्याय के विरुद्ध निर्णय सुना देता है।** (स) आजकल न केवल भौतिक वस्तुओं की वरन् अभौतिक गुणो प्रेम, सदाचार, विश्वास आदि की भी माप मुद्रा द्वारा ही की जाती है। जिसके पास मुद्रा है उसके सब दोष ढक जाते है और जिसके पास पैसा नही उसके गुण भी दूसरो को दोष के रूप में दिखाई देते हैं।

...ा के दोषों के लिए मनुष्य स्वयं दायी है

उपरोक्त आर्थिक एवं नैतिक बुराइयों के कारण कुछ विद्वानों ने यह कह ... है कि मुद्रा मनुष्य के लिए एक अभिशाप है। लेकिन इस सम्बन्ध मे ... यह नहीं भूलना चाहिए कि मुद्रा के दोष मुख्यतः मनुष्य के स्वभाव के दोष ...। यदि वह स्वयं ही इस साधन को सावधानी से प्रयोग में लाये, तो इसके प्रयोगों से उत्पन्न होने वाली अनेक बुराइयाँ अपने आप दूर हो जायेंगी। वास्तव मे प्रो० राबर्टसन ने ठीक ही कहा है कि "मुद्रा जो मानवता के लिए कितनी ही दृष्टियों से वरदान है, नियन्त्रण के अभाव में हमारे लिए संकट और अशान्ति का स्रोत भी हो सकती है।"

परीक्षा प्रश्न

(१) 'मुद्रा' शब्द की व्याख्या कीजिए। इसकी उत्पत्ति और इसके कार्यों को समझाइए।

(२) "द्रव्य की पहिचान द्रव्य के कार्यों से होती है।" इस कथन की विवेचना करिये।

(३) आधुनिक युग में मुद्रा (Money) के आर्थिक तथा सामाजिक महत्व का विवेचन करिये।

(४) मुद्रा के कार्य है चार—'माध्यम, मापक, संचय और आधार।' इस कथन का अर्थ पूर्णरूप से समझाइये। क्या मुद्रा के कोई अन्य कार्य भी हैं? यदि है, तो इन्हें समझाइये।

(५) "मुद्रा, जो मानवता के लिये वरदान है, नियन्त्रण न रहने पर अभिशाप बन जाती है।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं।

अध्याय 3

मुद्रा का वर्गीकरण

[Classification Of Money]

प्रारम्भिक

विभिन्न लेखकों ने विभिन्न पहलुओं पर बल देते हुए मुद्रा का भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्गीकरण किया है। मुख्यतः तीन आधारों पर वर्गीकरण प्रस्तुत किये गये है :—(I) देश में रखे जाने वाले हिसाब के आधार पर; (II) वैधानिक मान्यता के आधार पर एवं (III) मुद्रा-पदार्थ के आधार पर। इन सब में वैधानिक मान्यता के आधार वाला वर्गीकरण सर्वोत्तम है क्योंकि वह अधिक व्यावहारिक एवं उपयुक्त है।

(I) देश में रखे जाने वाले हिसाब के आधार पर

इस आधार पर मुद्रा को दो भागों में बाँटा गया है:—(१) वास्तविक मुद्रा (Actual Money) एवं (२) हिसाब की मुद्रा (Money of Account)। "वास्तविक मुद्रा" उस मुद्रा को कहते हैं जो देश में वस्तुत. विनिमय के माध्यम का काम करती हो। इसके विपरीत, हिसाब की मुद्रा का अभिप्राय उन मौद्रिक इकाइयों से है जिनका प्रयोग हिसाब-किताब रखने और लेन-देन करने के काम में होता है। अर्थात् जिनमें सामान्य क्रय-शक्ति, ऋण और कीमतें प्रकट की जाती हैं। उदाहरण के लिए, रुपया हमारे देश में हिसाब की मुद्रा है जबकि स्टर्लिंग, डालर, फ्रैंक और मार्क क्रमशः ग्रेट-ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस और जर्मनी की हिसाब की मुद्राएँ हैं। लेकिन वास्तविक मुद्रा (जो कि चलन में हो) उससे भिन्न हो सकती है जिसमें कि हिसाब रखे जाते हों। उदाहरण के लिए, भीषण मुद्रा-प्रसार के अवसर पर जर्मनी में मार्क केवल हिसाब की मुद्रा मात्र रह गया था जबकि लोग परस्पर अमेरिकन डालर को यथार्थ रूप में लेने देने लगे थे। इसी प्रकार कुछ समय पहले तक पाइयों में हमारे देश का हिसाब रखा जाता था जबकि वे वास्तविक चलन में नहीं थीं। इस प्रकार, सच तो यह है कि हिसाब की मुद्रा तो एक सैद्धांतिक रूप है जबकि वास्तविक मुद्रा एक व्यावहारिक रूप है। मुद्रा के सैद्धान्तिक रूप में प्रायः स्थायित्व रहता है जबकि व्यावहारिक रूप परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। इसी कारण वास्तविक मुद्रा एवं हिसाब की मुद्रा में भेद करना सम्भव हो जाता है। प्रायः वास्तविक मुद्रा और हिसाब की मुद्रा एक ही होती हैं।

(II) वैधानिक मान्यता के आधार पर

वैधानिक मान्यता के आधार पर मुद्रा को दो वर्गों में बाँटा गया है :—

(१) ऐच्छिक मुद्रा (Optional Money) और (२) विधि ग्राह्य मुद्रा (Legal Tender Money)। ऐच्छिक मुद्रा से अभिप्राय उस मुद्रा का है जो सामान्यतः स्वीकार तो की जाती है लेकिन किसी व्यक्ति को इसे लेने के लिए कानूनन बाध्य नहीं किया जा सकता है। उसकी इच्छा है कि इसे ले या न ले। यदि कोई व्यक्ति इस मुद्रा को स्वीकार करता है तो वह इसके देने वाले की साख देख लेता है। यदि लेने वाले को देने वाले की साख मे विश्वास नही है तो वह इसका भुगतान स्वीकार नहीं करेगा।

किन्तु विधि-ग्राह्य मुद्रा से अभिप्राय उस मुद्रा का है जिसे ऋणों और दायित्वों का शोधन करने के साधन के रूप में सरकार या संविधान द्वारा स्वीकार किया गया हो। इस मुद्रा से देश के अन्दर प्रत्येक तरह का भुगतान किया जा सकता है चाहे वह वस्तुओं और सेवाओं का भुगतान हो अथवा ऋणों का। यदि कोई व्यक्ति इसे लेने से इन्कार करे, तो उसे राज्य द्वारा दण्ड दिया जा सकता है।

विधि ग्राह्य मुद्रा के दो भेद हैं :—(i) सीमित विधि ग्राह्य मुद्रा (Limited Legal Tender Money) एवं (ii) असीमित विधि ग्राह्य मुद्रा (Unlimited Legal Tender Money)। सीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा वह है जिसे एक निश्चित सीमा तक भुगतान में स्वीकार करना अनिवार्य होता है परन्तु इस सीमा के ऊपर भुगतान स्वीकार करने के लिए किसी को बाध्य नहीं किया जा सकता। सीमा के ऊपर स्वीकार करना या न करना भुगतान पाने वाले की इच्छा पर निर्भर होता है। इसके विपरीत, "असीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा वह है जो किसी भी सीमा तक एक ही बार में किसी भुगतान में कानूनन स्वीकार होती है।" दूसरे शब्दों में, किसी देनदार द्वारा अपने लेनदार को यह मुद्रा किसी भी सीमा तक भुगतान मे दी जा सकती है और लेनदार उसे अस्वीकार नहीं कर सकेगा।

उदाहरण के लिये, भारत में एक रुपये और अठन्नी के सिक्के १०० न० पै० एवं ५० न० पै० भी) तथा सभी मूल्यों के कागजी नोट असीमित विधि ग्राह्य है जबकि चवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी, अधन्ना, एक पैसा, पांच नये पैसे, दो नये पैसे, एक नया पैसा, १० नये पैसे एवं २५ नये पैसे सीमित विधि ग्राह्य हैं। चैक, बिल, हुंडी, प्रोनोट आदि ऐच्छिक मुद्रा के उदाहरण हैं।

(III) मुद्रा पदार्थ के आधार पर

मुद्रा पदार्थ (Money Material) के आधार पर मुद्रा को 'धातु मुद्रा' (Metallic Money) और पत्र-मुद्रा (Paper Money) में वर्गित किया गया है। धातु-मुद्रा वह है जो किसी धातु की बनी हुई हो, जैसे अठन्नी, रुपया, पांच नए पैसे आदि। किन्तु पत्र मुद्रा वह है जो कागज की बनी हुई हो, जैसे एक रुपये का नोट। धातु मुद्रा की स्वतन्त्र उपयोगिता होती है, क्योंकि वह विनिमय *माध्यम के अतिरिक्त अन्य कामों* में भी प्रयोग आ सकता है। जैसे चांदी के सिक्कों को गलाकर जो चांदी प्राप्त हो उससे जेवर बनवाये जा सकते हैं। लेकिन पत्र-मुद्रा में यह बात नहीं है। उसकी कोई निजी उपयोगिता नहीं होती, क्योंकि यदि सरकार उसका विमुद्रीकरण कर दे, तो फिर उसकी कोई उपयोगिता नहीं रहती है।

पत्र-मुद्रा के तीन मुख्य भेद हैं :—प्रतिनिधि पत्र मुद्रा, परिवर्तनशील पत्र मुद्रा, एवं अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा। इन पर एक अगले अध्याय में सविस्तार प्रकाश डाला गया है। धातु मुद्रा के भी दो भेद इस प्रकार है :—प्रामाणिक सिक्के एवं सांकेतिक सिक्के।

'प्रामाणिक सिक्कों' से आशय एवं इनकी विशेषतायें

'प्रामाणिक सिक्कों' से आशय उन सिक्कों का है, जिनका 'नियमित' (Face value) और 'वास्तविक' मूल्य (Intrinsic value) एक बराबर ही होते है। सरल शब्दों मे, सिक्के मे जो धातु होती है उसका मूल्य और इस पर जो अंकित मूल्य होता है वह एक होता है।

प्रामाणिक सिक्कों की विशेषतायें होती है—(१) अङ्कित मूल्य धातु मूल्य के बराबर होता है, (२) ये असीमित विधि ग्राह्य होते है, (३) कीमतों का ये ही सामान्य माप होते है और (४) इनकी ढलाई स्वतन्त्र होती है।

सांकेतिक सिक्कों से आशय एवं इनकी विशेषतायें

'सांकेतिक सिक्कों' से अभिप्राय उन सिक्कों का है, जिनमें प्रामाणिक सिक्के के बिलकुल विपरीत गुण पाये जाते हैं। ये गुण निम्नलिखित हैं :—(१) इनका अङ्कित मूल्य इनके धात्विक मूल्य से अधिक होता है, (२) प्रायः ये सीमित विधि ग्राह्य होते है, (३) इनकी ढलाई कभी स्वतन्त्र नही होती और (४) ये देश की प्रधान मुद्रा के सहायक होते हैं।

सांकेतिक सिक्कों का चलन प्रायः दो कारणों से किया जाता है :—(१) जबकि सरकार के पास बहुमूल्य धातुओं की कमी हो और उसे मुद्रा के बढ़ाने की आवश्यकता हो, तो वह सांकेतिक सिक्कों का चलन करती है। और (२) इसी प्रकार, जब जनता सिक्कों को गलाना आरंभ कर देती है; तो सिक्कों को गलाने से रोकने के लिये भी सरकार द्वारा सांकेतिक सिक्कों का चलन किया जाता है।

प्रामाणिक एवं सांकेतिक सिक्कों का अन्तर

उपरोक्त विवेचन के आधार पर प्रामाणिक एवं सांकेतिक सिक्कों के अन्तर को निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :—

प्रामाणिक सिक्का	सांकेतिक सिक्का
(१) वह देश की प्रधान मुद्रा का कार्य करता है।	(१) यह देश मे प्रधान मुद्रा की सहायता करता है।
(२) इसका अंकित मूल्य और धात्विक मूल्य एक बराबर होते हैं।	(२) इसका अंकित मूल्य धात्विक मूल्य से अधिक होता है।
(३) यह असीमित विधि ग्राह्य होता है।	(३) यह सीमित विधि ग्राह्य होता है।
(४) इसकी ढलाई स्वतन्त्र होती है।	(४) इसकी ढलाई सीमित होती हैं।
(५) इसकी कीमत इसके अन्दर रहने वाली धातु पर निर्भर होती है।	(५) इसकी कीमत सरकारी आज्ञा पर निर्भर होती है। अतः इसे 'बलात् सिक्के' (Flat Coins) भी कहा जाता है।

भारतीय रुपया प्रामाणिक सिक्का है या सांकेतिक सिक्का

जब तक इगलेंड मे स्वर्णमान था, तब तक ब्रिटिश सावेरन वहाँ का प्रामाणिक सिक्का था। भारत मे भी पहले महारानी विक्टोरिया के शासनकाल में रुपये मे एक रुपया कीमत की चाँदी रहती थी। अतः वह प्रामाणिक सिक्का था। आजकल

भी यह देश का प्रधान सिक्का है, असीमित विधि ग्राह्य है और इसी में वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें नापी जाती है। परन्तु धातु के रूप में इसकी कीमत अंकित मूल्य से बहुत कम होती है और इसकी ढलाई भी स्वतन्त्र नहीं है। अतः भारतीय रुपया एक ओर तो 'प्रामाणिक सिक्का' है और दूसरी ओर एक' सांकेतिक सिक्का' भी। इस विचित्र स्थिति के कारण इसे कुछ लेखकों ने 'सांकेतिक मान' (Token Standard) कहा है।

पत्र द्रव्य श्रेष्ठ है या धात्विक द्रव्य ?

वर्तमान युग में पत्र द्रव्य का प्रचलन बहुत बढ़ गया है और धात्विक द्रव्य का प्रयोग कम होता जा रहा है। वास्तव में, पत्र द्रव्य के धात्विक द्रव्य की अपेक्षा निम्न विशेष लाभ हैं :

(१) सोने और चांदी की अपर्याप्त पूर्ति :—उत्पादन प्रणाली में उन्नति, राष्ट्रों का औद्योगिक एवं व्यापारिक विकास आदि अनेक कारण ऐसे है, जिनसे २० वी शताब्दी के प्रारम्भ से लगभग सभी देशों में मुद्रा की मांग बहुत बढ़ गई है। इसकी पूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में सोना, चांदी उपलब्ध नही हो सका है। प्रथम महायुद्ध के समय में बहुत से राष्ट्रों के स्वर्ण कोष खाली हो गये, जिससे उन्हें सोने के बिना काम चलाना पड़ा।

(२) मौद्रिक पूर्ति को घटाने बढ़ाने की समस्या :—आधुनिक युग में औद्योगिक और व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रा की पूर्ति को कभी कम किया जाता है कभी बढ़ाया जाता है। यदि ऐसा न किया जा सके तो बेकारी उत्पन्न होने का डर रहता है। धात्विक मुद्रा की पूर्ति को बढ़ाना कठिन है किन्तु घटाना सहज। परन्तु कागजी मुद्रा मे यह दोनों बातें ही सम्भव है।

(३) युद्धकाल की विशेष आवश्यकतायें :—युद्ध के समय फौजी कार्यवाहियों के लिए पर्याप्त धन व्यय करना पड़ता है। इस हेतु मुद्रा प्रसार करना पड़ता है। यह कार्य धात्विक मुद्रा प्रणाली में कठिन है।

(४) योजनाओं की पूर्ति के लिए घाटे की अर्थ-व्यवस्था :—युद्ध जर्जरित देशों और अर्ध-विकसित देशों में आजकल योजनाबद्ध विकास के प्रयत्न चल रहे है। इन योजनाओं के अर्थ-प्रबन्धन का एक महत्वपूर्ण उपाय है घाटे की अर्थ-व्यवस्था करना। यह उपाय भी पत्र-मुद्रा प्रणाली में ही सम्भव है।

(५) सुविधा एवं मितव्ययिता :—पत्र मुद्रा के प्रयोग से निम्न सुविधायें होती हैं:—

(i) पत्र-मुद्रा के उपयोग से धातुओं की घिसावट से जो हानि होती है वह बच जाती है। इसके अतिरिक्त बहुमूल्य धातुओं का उपयोग अन्य कलात्मक एवं औद्योगिक कार्यों में होने लगता है।

(ii) पत्र-मुद्रा के निर्माण करने में बहुत कम खर्च होता है जबकि धातु के सिक्के बनाने के लिये खानों से धातु को निकालने, गलाने, साफ करने व सिक्कों मे ढालने के लिए बहुत व्यय करना पड़ता है।

(iii) सिक्कों की अपेक्षा पत्र-मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान को बहुत सरलता और कम व्यय पर लाया-ले जाया जाता है।

(६) मूल्य में कमी :—सोने-चांदी धातुओं के मूल्य में कमी वृद्धि अपेक्षतः अधिक होती है क्योंकि इनका मूल्य इनकी खानो से पूर्ति पर निर्भर रहना है।

उपरोक्त कारणों से सोने व चाँदी का स्थान कागजी मुद्रा ले रही है। भविष्य में उनका सम्बन्ध मुद्रा से बिल्कुल ही टूट सकता है। भूतकाल में राष्ट्रों की मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकतायें थोड़ी थी, धातुयें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थी, धातु मुद्रा में जनता का विश्वास अधिक था और विभिन्न राष्ट्रों में मौद्रिक सहयोग था। *किन्तु आजकल परिस्थितियाँ बदल गई हैं। आज का युग बैंक मुद्रा का है।*

दुर्लभ मुद्रा एव सुलभ मुद्रा
(Hard Currency & Soft Currency)

आजकल मुद्रा का वर्गीकरण एक अन्य ढंग से भी किया जाने लगा है :—(१) दुर्लभ मुद्रा, एवं (२) सुलभ मुद्रा। अमेरिका और कनाडा की मुद्राओं को 'दुर्लभ मुद्रा' (Hard Currency) कहा जाता है। इसका कारण यह है कि इन देशों की मुद्रा की माँग तो सारे संसार में है लेकिन सब राष्ट्रों को अपनी आवश्यतानुसार इनकी पूर्ति नहीं हो पाती है। इसके विपरीत, इंगलैंड और अन्य देशों की मुद्रायें 'सुलभ मुद्रा' (Soft Currency) कही जाती हैं क्योंकि इनकी माँग कम होने के कारण विभिन्न राष्ट्रों को ये आवश्यकतानुसार प्राप्त हो जाती हैं।

प्रमाप मुद्रा एवं सहायक मुद्रा
(Standard Money and Subsidiary Money)

प्रमाप या प्रधान मुद्रा वह मुद्रा है जो मूल्य के मापक का कार्य करती है। यह असीमित विधि ग्राह्य होती है। उदाहरण के लिए, भारत का एक रुपये का सिक्का। इसके विपरीत, सहायक मुद्रा वह है जो छोटे-छोटे भुगतानों के लिए होती है। यह वास्तव में प्रधान मुद्रा की सहायता के लिए होती है। इसका मूल्यांकन प्रधान मुद्रा के अनुपात में होता है। उदाहरण के लिए, पचास नये पैसे, दस नये पैसे आदि भारत में रुपये की सहायक मुद्रा हैं। जबकि प्रमाप मुद्रा का टंकन स्वतंत्र हो सकता है तब सहायक मुद्रा का टंकन सदा सीमित होता है। यह उल्लेखनीय है कि प्रमाप मुद्रा (Standard Money) और प्रामाणिक सिक्का (Standard Coin) में अन्तर है। प्रमाप मुद्रा कागज और धातु दोनों की बनी हुई हो सकती है किन्तु प्रामाणिक सिक्का केवल धातु का ही बना होता है। ये दोनों ही देश की प्रधान मुद्रा होती हैं।

निष्कर्ष

उपरोक्त विवेचन के आधार पर मुद्रा के विभिन्न वर्गीकरण इस एक चार्ट द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किये जा सकते हैं:—

मुद्रा

- (i) वास्तविक मुद्रा एवं हिसाब की मुद्रा
- (ii) ऐच्छिक मुद्रा एवं विधि-ग्राह्य मुद्रा
- (iii) पत्र मुद्रा एवं धातु मुद्रा
- (iv) दुर्लभ मुद्रा एवं सुलभ मुद्रा
- (v) प्रमाप मुद्रा एवं सहायक मुद्रा
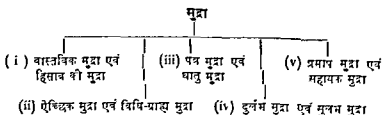
परीक्षा प्रश्न

(१) मुद्रा का वर्गीकरण किस प्रकार किया जाता है ? संक्षेप में लिखिए ।

(२) विधि ग्राह्य मुद्रा से आप क्या समझते हैं ? सीमित एवं असीमित विधि ग्राह्य मुद्रा में क्या अन्तर है ?

(३) प्रामाणिक सिक्के तथा सांकेतिक सिक्के में अन्तर को समझाकर लिखिए । भारतीय रुपये को आप किस श्रेणी में रखियेगा और क्यों ?

(४) पत्र द्रव्य और धात्विक द्रव्य की तुलना कीजिये । आप इन दोनों में से किसे अच्छा समझते हैं और क्यों ?

अध्याय ४.

सिक्के और उनकी ढलाई

[Coins & Their Coinage]

प्रारम्भिक

जब वस्तु विनिमय प्रणाली की कठिनाइयाँ बहुत बढ गईं तब द्रव्य-विनिमय का विकास हुआ । समय-समय पर अनेक वस्तुओं ने द्रव्य का कार्य किया । किन्तु उन सब मे कोई न कोई दोष था जिससे उनमे सुधार एवं परिवर्तन की क्रिया चलती रही, अन्त में धातु-द्रव्य (Metallic Money) का प्रयोग होने लगा । प्रारम्भ मे तो सोने व चाँदी की सलाखो और टुकडो को विनिमय करने के लिए इस्तैमाल किया जाता था। ऐसा करने में बार-बार उन्हें तोलना और परखना पड़ता था जिससे बहुत असुविधा होती थी । इसे दूर करने के लिए कुछ प्रतिष्ठित साहूकारों और सर्राफों ने सोने-चाँदी के टुकड़ों पर शुद्धता की गारन्टी के रूप मे अपना चिन्ह लगाना प्रारम्भ कर दिया । इतने पर भी वजन तो अब भी करना पडता था । अतः धीरे-धीरे सोने व चाँदी के एक निश्चित वजन के टुकड़ो पर चिन्ह अंकित किए जाने लगे । इस प्रकार सिक्के बनाने की कला का विकास हुआ । पहले सिक्कों का अंकित मूल्य उनके आंतरिक मूल्य के बराबर रखा जाता था किन्तु बाद में अंकित मूल्य अधिक रखा जाने लगा । सिक्के बनाने का काम भी प्राय. सभी देशो मे वहाँ की सरकारों ने अपने हाथों मे ले लिया । इटली मे सिक्के बनाने की कला ने बड़ी उन्नति की थी । बाद को अन्य देशों मे भी इसकी उल्लेखनीय प्रगति हुई ।

सिक्के (Coins)

'सिक्का' से अभिप्राय एवं एक अच्छे सिक्के के गुण

'सिक्के' (Coin) से अभिप्राय किसी धातु के उस टुकडे से है, जिसकी तौल और शुद्धता इस पर छपा हुआ सरकार का चिन्ह प्रमाणित करता है । इसके एक ओर तो प्रामाणिकता के लिए यह चिन्ह रहता है तथा दूसरी ओर देश की भाषा व अंकों में उसका मूल्य लिखा होता है । एक अच्छे सिक्के के निम्न गुण होते हैं :—

(१) इसे सरलता से पहचाना जा सके—सिक्के इस प्रकार के बने हों कि अमीर, गरीब, शिक्षित-अशिक्षित, बालक-युवा, स्त्री-पुरुष सभी सरलता से पहचान सकें ।

(२) इसके जाली सिक्के न बनाए जा सकें—सिक्कों के डिजाइन में कोई ऐसी युक्ति कर देनी चाहिए कि बेईमान लोग जाली सिक्के बनाकर पब्लिक को ठग न सकें।

(३) ये किसी मूल्यवान धातु के बनाए जायें—इससे लोग इन्हें अपनाने में संकोच नही करेंगे।

(४) इनका आकार सुविधाजनक हो—सिक्का इतना पतला, छोटा, मोटा या बड़ा न हो कि उसके खोने का डर रहे या उसको लाने-ले जाने में असुविधा हो।

(५) ये सख्त एवं कड़े हों—यदि सिक्का मुलायम होगा, तो लेने-देने में उसके जल्दी नष्ट हो जाने का भय रहेगा।

(६) इनकी तौल, रूप व गुण निश्चित हों—यदि सिक्कों की तौल, रूप व गुण में भिन्नता हुई हो तो उन्हें पहिचानने में असुविधा होगी और लोगों के ठगे जाने की भी आशंका है। इनकी प्रामाणिकता के लिए सरकार की मुहर लगी होना आवश्यक है।

(७) ये अधिक भारी व हल्के न हों—जिससे लेन-देन में सुगमता रहे।

(८) इन पर मूल्य का स्पष्ट उल्लेख हो—प्रत्येक सिक्के पर उसका मूल्य साफ-साफ अंकित होना चाहिए।

(९) शीघ्रता से घिसने वाले न हों—इसके लिये यह आवश्यक है कि सिक्के स्थायी धातु या धातुओं की मिलावट के हों।

(१०) सुन्दर और कलापूर्ण हों। यथासम्भव देश के सिक्के देश की संस्कृति के प्रतीक होने चाहिये। उनके कलापूर्ण होने से देखने में सुन्दर लगते है।

एक अच्छे सिक्के के दस गुण

(१) इसे सरलता से पहचाना जा सके।
(२) इसके जाली सिक्के न बनाये सकें।
(३) ये किसी मूल्यवान धातु के बनायें जायें।
(४) इनका आकार सुविधाजनक हो।
(५) ये सरल एवं कड़े हों।
(६) इनकी तौल, रूप व गुण निश्चित हों।
(७) ये अधिक भारी या अधिक हल्के न हों।
(८) इन पर मूल्य का स्पष्ट उल्लेख हो।
(९) शीघ्रता से घिसने वाले न हों।
(१०) सुन्दर व कलापूर्ण हों।

सिक्कों के लाभ

धात्विक द्रव्य या सिक्कों के ५ मुख्य लाभ है—

(१) इनकी कटाई, घिसाई आदि कठिन है, क्योंकि इसका फौरन पता लग जाता है।

(२) इनके जांचने और परखने मे समय नही देना पड़ता।

(३) इनकी ढलाई इस प्रकार की जाती है कि जालसाजी करना कठिन होता है।

(४) इन पर सुन्दर चित्र व राष्ट्रीय स्मारक अंकित किये जा सकते है।

(५) ये अधिक टिकाऊ होते है तथा इनका सुविधापूर्वक संचय किया जा सकता है।

स्वतन्त्र भारत में अशोक चिन्ह के सिक्के चलाये गये हैं। कुछ वर्षों से देश में रुपये, आने, पाई के पुराने सिक्के के साथ दशमलव प्रणाली के नये सिक्के भी चल रहे हैं। पुराने सिक्के धीरे-धीरे वापिस लिए जा रहे हैं।

मुद्रण अथवा टंकन
(Coinage)

'मुद्रण' या सिक्का' ढलाई से आशय

किसी धातु के टुकड़ों को मुद्रा का रूप देना और उस पर उसकी विनिमय शक्ति को अंकित करना ही सिक्कों का मुद्रण या सिक्का ढलाई कहलाता है। जिस स्थान मे सिक्का ढलाई का कार्य किया जाता है उसे 'टकसाल' (Mint) कहते हैं। भारत मे सिक्को की ढलाई सरकार स्वय ही करती है। इसके लिए बम्बई व कलकत्ता में टकसालें हैं। नई प्रणाली के सिक्को की ढलाई के लिए कुछ नई टकसालें भी स्थापित की गई हैं।

मुद्रण की प्रणालियाँ और उनकी विशेषतायें

विभिन्न मुद्रण प्रणालियो का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

मुद्रण प्रणालियाँ

- (१) स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई (Free Coinage)
  - (i) निःशुल्क मुद्रा ढलाई (Graituitous Coinage)
  - (ii) सशुल्क मुद्रा ढलाई (Brassage)
  - (iii) सलाभ मुद्रा ढलाई (Seigniorage)
- (२) सीमित मुद्रा ढलाई (Limited Coinage)
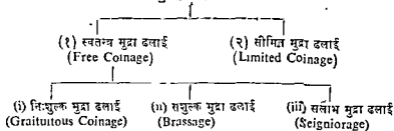
इन प्रणालियो की विशेषताओं पर नीचे विस्तार से प्रकाश डाला गया है—

(१) स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई

यदि देश की जनता को यह अधिकार दिया गया है कि वह अपनी सोने चाँदी की सिल्लियों को ले जाकर एक निश्चित दर पर उस देश के सिक्कों में ढलवा ले, तो इसे 'स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई' कहते हैं। संक्षेप मे, इस प्रकार की ढलाई के अंतर्गत मुद्रालय अथवा टकसाल जनता के लिए खुली होती है। स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई के निम्न तीन भेद हैं :—

(i) निःशुल्क मुद्रा ढलाई—यदि सरकार जनता से सिक्कों के ढालने के लिए कोई शुल्क (Fees) न ले तो इसे 'मुफ्त' या निःशुल्क मुद्रा ढलाई कहा जाता है।

(ii) सशुल्क मुद्रा ढलाई—जब सरकार जनता से उसकी सिल्लियों को मुद्रा में ढालने के लिए कुछ शुल्क लेती है (जो कि उसके ढलाई व्यय के बराबर ही हो), तो ऐसी ढलाई प्रणाली को 'सशुल्क मुद्रा ढलाई' कहते हैं।

(iii) सलाभ मुद्रा ढलाई—जब सरकार जनता से ढलाई के लिए ढालने के लागत खर्च से भी अधिक शुल्क ले और इस प्रकार कुछ लाभ कमावे, तो ऐसी प्रणाली

को 'सलाभ मुद्रा ढलाई' कहा जाता है। यह या तो नगद रुपयों में जनता से वसूल कर लिया जाता है अथवा उतनी रकम की धातु असली धातु से निकाल कर उसके स्थान में कम मूल्य की सस्ती धातु मिलाकर प्राप्त कर लिया जाता है।

(२) सीमित सिक्का ढलाई

जब केवल सरकार को ही अपनी इच्छा से अपने लिये मुद्रा ढालने का अधिकार हो अर्थात् जनता को यह अधिकार नहीं है कि वह अपनी धातु ले जाकर सरकार से उसे मुद्रा में ढलवा सके, तो ऐसी मुद्रण प्रणाली को 'सीमित सिक्का ढलाई' कहा जाता है।

ढलाई की कौन सी प्रणाली उपयुक्त है ?

बहुत पहले भारत में स्वतन्त्र मुद्रण-प्रणाली प्रचलित थी लेकिन आजकल यहाँ विश्व के अन्य देशों की भाँति सीमित मुद्रण-प्रणाली का प्रचलन है। दोनों ही प्रणालियों के अपने-अपने लाभ हैं, जिससे यह कहना कठिन है कि ढलाई की कौन सी प्रणाली सबसे अच्छी है ? स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई में मुद्रा की अधिक निकासी होने का भय नहीं रहता। सीमित मुद्रा ढलाई में सरकार सांकेतिक सिक्के निकाल कर सोने-चाँदी की बचत कर लेती है। वास्तव में कौन सी प्रणाली को हम अपनायें इसका निर्णय परिस्थितियों के अनुसार किया जाना चाहिये।

मुद्रण करते समय ध्यान रखने योग्य बातें

मुद्रा की ढलाई करते समय मुद्रा निकालने वाले अधिकारी को निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए, जिससे कि देश में निर्गमित किये गये सिक्के अपना कार्य सुचारु रूप से करते रहें—

(१) बड़े व छोटे दोनों मूल्यों के सिक्कों का चलन—यदि चलन में बड़े और छोटे दोनों ही मूल्यों के सिक्के हों, तो विनिमय में सुविधा हो जाती है। बड़े मूल्य के सिक्के किसी मूल्यवान धातु के (जैसे सोना-चाँदी) और छोटे सिक्के किसी सस्ती धातु (जैसे ताँबे या निकिल) के बनाये जा सकते है।

> **मुद्रक के समय ध्यान रखने योग्य तीन बातें**
>
> (१) बड़े छोटे दोनों मूल्यों के सिक्कों का चलन।
>
> (२) गला कर बेचने की प्रवृत्ति को अप्रोत्साहन।
>
> (३) बड़े व छोटे मूल्य के सिक्कों में उचित अनुपात।

(२) गला कर बेचने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन—यह आवश्यक है कि सभी सिक्के वास्तविक चलन में रहें ताकि व्यापार का कार्य सुविधा से चलता रहे। कभी-कभी लोगों में सिक्कों को गला कर धातु के रूप में बेचने की या विदेशों को निर्यात् कर देने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है विशेषतः तब तक कि सिक्कों का अंकित मूल्य उसके धात्विक मूल्य से अधिक हो जाय। इस प्रकार देश में सिक्कों की कमी हो जाती है और जनता को विनिमय करने में कठिनाई होती है। अतः मुद्रा-अधिकारी को चाहिये कि सिक्कों का अंकित मूल्य धात्विक मूल्य से कम रखे।

(३) बड़े व छोटे मूल्य के सिक्कों में उचित अनुपात—यदि बड़े व छोटे मूल्य के सिक्कों में उचित अनुपात रखा जायगा, तो जनता को लेन-देन में या हिसाब

करने मे सरलता रहेगी। इस दृष्टिकोण से दशमलव प्रणाली के सिक्के सर्वोत्तम माने गये हैं।

एक अच्छे मुद्रा पदार्थ के गुण
(Qualities of a Good Money-Material)

एक अच्छे मुद्रा पदार्थ के गुण

मुद्रा का जन्म वस्तु विनिमय की कठिनाई को दूर करने के लिए हुआ था। इस उद्देश्य मे मुद्रा पूर्णतः सफल रही है। किन्तु आधुनिक युग मे मुद्रा अनेक उपयोगी कार्य करती है, जैसे—विनिमय का माध्यम, मूल्य का माप, मूल्य का संचय, स्थगित भुगतानों का आधार आदि। इन सब कार्यों को सुचारु रूप से करने के लिए प्रत्येक प्रकार की मुद्रा उपयुक्त नहीं हो सकती है। उदाहरण के लिए यदि गेहूँ को मुद्रा के रूप में प्रयोग किया जाय तो मूल्य के हस्तातरण एव संचय मे बहुत असुविधा होगी, क्योंकि गेहूँ कुछ समय बाद सड जाता है जिससे इसका कुछ भी मूल्य नहीं रहता। इसी प्रकार हीरो को भी मुद्रा के रूप मे प्रयोग नही किया जा सकता, क्योंकि इसे छोटे-छोटे मूल्य के टुकड़ो मे बाँटकर विभिन्न लोगो से विभिन्न वस्तुये नही खरीदी जा सकती, क्योंकि टुकडो मे बाँटने पर कुल मूल्य बहुत कम हो जाता है। अत स्पष्ट है कि मुद्रा के कार्यों को ठीक ढङ्ग से करने के लिए जिस पदार्थ से मुद्रा बनाई जाय उसमे कुछ विशेष गुण होने चाहिए। ये गुण निम्नलिखित हैं :—

(१) **उपयोगिता एव सर्वमान्यता** (Utility and General Acceptability)-मुद्रा का एक प्रधान कार्य वस्तुओं के विनिमय मे सहायता करना है। एक ऐसी मुद्रा ही विनिमय माध्यम का कार्य कर सकती है जो समाज के सब व्यक्तियों को मान्य हो। यदि मुद्रा सबको मान्य नही है, तो लोग अपनी वस्तुये ऐसी मुद्रा के बदले मे देने में सकोच करेंगे। केवल वही मुद्रा सबको मान्य होती है जो स्वतन्त्र उपयोगिता रखती हो अर्थात् जिसे मुद्रा कार्यों के अतिरिक्त अन्य कामों मे भी प्रयोग किया जा सके। [आजकल सरकार की साख के आधार पर ऐसी मुद्रा (पत्र-मुद्रा) का भी चलन होने लगा है, जिसमे स्वतन्त्र उपयोगिता बिलकुल नही होती है।]

(२) **वहनीयता** (Portability)—मुद्रा का एक मुख्य कार्य मूल्य के स्थानान्तरण का है। यह कार्य तभी सुचारु रूप से हो सकता है जब मुद्रा के लिये प्रयोग किया जाने वाला पदार्थ एक स्थान से दूसरे स्थान को सरलता से एव कम खर्च पर ले जाने योग्य हो। जो पदार्थ कम तोल किन्तु अधिक मूल्य वाले होते हैं उनमें यह सुविधा अधिक पाई जाती है। अतः ऐसे ही पदार्थ की मुद्रा बनाई जानी चाहिये।

> **आदर्श मुद्रा पदार्थ के आठ प्रमुख गुण**
> **(DISRUCH)**
> (१) उपयोगिता एवं सर्वमान्यता।
> (२) वहनीयता।
> (३) नाशहीनता।
> (४) विभाजकता।
> (५) परिचायकता।
> (६) ढलाऊपन।
> (७) इकसारिता।
> (८) मूल्य की स्थिरता।

(३) **नाशहीनता** (Industructibility)—मुद्रा मूल्य के संचय का कार्य करती है। अतः इस कार्य के लिये केवल वही पदार्थ उपयुक्त है जिसमे नाशहीनता का गुण हो अर्थात् जो टिकाऊ

हो। यही कारण है कि उड़ जाने वाले, जंग लगने वाले, टूटने फूटने वाले, गलने-सड़ने वाले पदार्थ मुद्रा के रूप में ठीक कार्य नहीं कर सकते।

(४) विभाजकता (Divisibility)—मुद्रा-पदार्थ में विभाजकता का गुण होना आवश्यक है। विभाजकता से अभिप्राय यह है कि मुद्रा जिस पदार्थ से बनाई जाय उसके छोटे-छोटे टुकड़े सरलता से किये जा सकें किन्तु साथ ही उसके मूल्य में कमी न आने पावे। यदि इन टुकड़ों को मिला दिया जाय, तो इस ढेर का मूल्य विभाजन से पूर्व पदार्थ के मूल्य के बराबर होना चाहिए। ऐसा गुण होने पर ही उस पदार्थ से छोटे-बड़े सभी मूल्यों के सिक्के बनाये जा सकते हैं, जिससे लेन-देन करने में सुविधा रहती है।

(५) परिचायकता (Cognisibility)—मुद्रा पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसे बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष, शिक्षित-अशिक्षित सभी लोग सरलता से पहचान सकें। यदि पहचानने में कठिनाई होगी, तो जाली व असली सिक्कों में भेद नहीं किया जा सकेगा तथा जनता के ठगे जाने की संभावना रहेगी। अतः यह भी लेन-देन में मुद्रा को स्वीकार करने से हिचकेगी।

(६) ढलाऊपन (Malleability)—मुद्रा पदार्थ में ढलाऊपन होना चाहिए अर्थात् वह ऐसा हो जिससे उसे गलाकर ढाला जा सके या पीट कर चाहे जैसा रूप दिया जा सके। जो पदार्थ अधिक मुलायम या अधिक कड़े नहीं हैं वे ही इस कार्य के लिए सबसे उपयुक्त होते हैं।

(७) इकसारिता (Homogeneity)—इकसारिता से आशय यह है कि मुद्रा-पदार्थ के जितने चाहें टुकड़े करने पर हर एक टुकड़े का गुण दूसरे टुकड़े के समान हो। यदि इन टुकड़ों का गुण समान है तो उनका मूल्य भी समान होगा।

(८) मूल्य की स्थिरता (Stability of Value)—यदि मुद्रा-पदार्थ के मूल्य में बार-बार उतार-चढ़ाव होता रहता है, तो मुद्रा स्थगित भुगतानों के आधार का कार्य सुचारु रूप से नहीं कर सकेगी। अतः यह आवश्यक है कि मुद्रा पदार्थ का मूल्य स्थिर रहे।

सोने और चांदी की श्रेष्ठता

ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिसमें उपर्युक्त सभी गुण पाये जाते हों किन्तु सोना-चाँदी ऐसी धातुयें हैं जिनमें ये गुण अधिकांश मात्रा में पाये जाते हैं। अतः इन्हें अन्य पदार्थों की अपेक्षा मुद्रा बनाने के लिये श्रेष्ठ समझा जाता है। सोना-चाँदी में निम्न गुण मिलते हैं :—

(१) सोना-चाँदी में स्वतन्त्र उपयोगिता है क्योंकि इनको जेवर आदि बनाने के काम में भी प्रयोग किया जा सकता है।

(२) इनका बहुत थोड़े वजन में बहुत अधिक मूल्य होता है जिससे ये अत्यन्त वहनीय हैं।

(३) ये बहुत कम घिसती हैं। अन्य धातुओं के साथ मिलाने से इनकी नाश-हीनता और भी अधिक हो जाती है।

(४) इन्हें प्रत्येक व्यक्ति सरलता से पहचान सकता है।

(५) इन्हें किसी भी रूप में सरलता से ढाला जा सकता है।

(६) इनके अनगिनती टुकड़े करने पर भी सब टुकड़ों की गुण व उत्तमता एक सी होती है।

(७) इनका विभाजन करने पर भी मूल्य कम नहीं होता।

(८) अन्य वस्तुओं की अपेक्षा इनका मूल्य बहुत स्थिर रहता है।

उपर्युक्त गुणों के कारण ही विश्व के अनेक देशों ने सोने और चाँदी की ही प्रामाणिक मुद्रायें बनाई हैं।

सिक्कों की निकृष्टता
(Debasement of Coins)

निकृष्टता से आशय

सिक्कों की तौल या शुद्धता को कम किया जाना ही 'सिक्कों की निकृष्टता' (Debasement of Coins) कहलाता है।

सिक्कों में निकृष्टता उत्पन्न होने के ढंग

सिक्कों में निकृष्टता निम्न ढंगों से उत्पन्न हो जाती है :—

सिक्कों को निकृष्ट बनाने के विभिन्न ढंग

- (अ) सरकार द्वारा
- (ब) बेईमान व्यक्तियों द्वारा
  - (१) किनारा काटना।
  - (२) सिक्के घिसना।
  - (३) सिक्के जलाई।
  - (४) जाली सिक्के बनाना।

(अ) सरकार द्वारा—कभी-कभी सरकार सिक्कों की तौल या शुद्धता अथवा दोनों को कम कर देती है। उदाहरण के लिए, सन् १९०६ के मुद्रण अधिनियम के अन्तर्गत रुपये की १८० ग्रेन तौल में ११/१२ शुद्धता होती थी लेकिन सन् १९४० के नये मुद्रण अधिनियम द्वारा शुद्धता को घटा कर १/२ कर दिया गया।

(ब) बेईमान व्यक्तियों द्वारा—सिक्कों में वास्तविक निकृष्टता तो बेईमान व धोखेबाज व्यक्तियों द्वारा निजी लाभ के लिये उत्पन्न की जाती है—

(१) किनारा काटना—किसी तेज धार वाले चाकू से सिक्कों को काट कर या खुरच कर या रेती से रगड़ कर उनकी कुछ धातु को कम कर लेना ही 'किनारा कटाई' (Clipping) कहलाता है। इसे रोकने के लिए सिक्कों पर कोई तस्वीर अंकित कर दी जाती है और किनारे किटकिटीदार बना दिए जाते हैं। इससे किनारे को काटने में असुविधा होती है और उसका पता भी सरलता से चल जाता है।

(२) सिक्का घिसाई—नये सिक्कों को किसी थैले में बन्द करके जोर से हिलाया या रगड़ा जाता है। इससे धातु के कुछ कण अलग हो जाते हैं। यह क्रिया 'सिक्का घिसाई' (Abrasion) कहलाती है। इस क्रिया को रोकने के हेतु सिक्के मिश्रित धातु के बनाये जाने लगे हैं ताकि वे कठोर हो जायें।

(३) सिक्का जलाई--सिक्कों को किसी तेजाब में डाल दिया जाता है, जिससे कुछ धातु जल कर तेजाब में मिल जाती है। बाद में तेजाब से उन धातु कणों को किसी रासायनिक क्रिया द्वारा अलग कर लिया जाता है। इस प्रकार से निकृष्टता उत्पन्न करना कुछ कठिन होता है, क्योंकि सिक्कों का रूप-रंग बदलने से जाल-साजी खुलने का भय रहता है।

(४) जाली सिक्के बनाना—कभी-कभी जाली सिक्के भी बना लिये जाते हैं। इनमें सरकारी सिक्कों की अपेक्षा कम धातु रखी जाती है। कौन सिक्का जाली है और कौन असली इसकी पहचान करना एक साधारण व्यक्ति के लिए प्रायः कठिन होता है। अतः वह ठगा जाता है। जाली सिक्के बनाने को अंग्रेजी में (Counterfeiting) कहते हैं। ऐसी बेईमानी पकड़े जाने पर सरकार अपराधियों को कठोर दण्ड देती है।

परीक्षा-प्रश्न

(१) 'सिक्का' किसे कहते हैं ? एक अच्छे सिक्के के लाभ बताइये।

(२) मुद्रण की विभिन्न प्रणालियों का वर्णन कीजिये तथा उनकी विशेषतायें बताइये।

(३) मुद्रण प्रणाली कितने प्रकार की होती हैं ? प्रत्येक को समझाइये और बताइये कि मुद्रण करने में किन-किन बातों को ध्यान में रखना चाहिए ?

(४) एक अच्छे द्रव्य पदार्थ में किन गुणों का होना आवश्यक है ? स्वर्ण तथा रजत में ये गुण कहाँ तक पाये जाते हैं।

(५) 'निकृष्टता' से आप क्या समझते हैं ? सिक्कों में निकृष्टता किस प्रकार उत्पन्न हो जाती है ?

अध्याय ५

पत्र-मुद्रा—गुण-दोष

[Paper Money—Its Merits & Demerits]

प्रारम्भिक—पत्र मुद्रा का उदय

पाल एनजिग (Paul Einzig) का अनुमान है कि पत्र-मुद्रा सब से पहले चीन में ११ वीं शताब्दी में चलाई गई थी। किन्तु इसकी वास्तविक उन्नति १७ वीं शताब्दी के पश्चात् हुई। आजकल तो विश्व के सभी सभ्य कहलाने वाले देशों में नोटों का चलन है और नित्य प्रति बढ़ता ही जा रहा है। इसका कारण यह है कि इसे कई बातों में धात्विक मुद्रा से श्रेष्ठ पाया गया है। इसके विकास की कहानी अत्यन्त रोचक है। प्रसिद्ध विद्वान श्री क्राउथर (Crowther) के अनुसार पत्र-मुद्रा के उदय की निम्न चार अवस्थायें हैं :—

(१) जमा की रसीदों के रूप में प्रयोग—अनुमान है कि सर्व प्रथम सौदागरों ने धातु मुद्रा को इधर उधर ले जाने की परेशानी एवं जोखिम से बचने के लिये यह उचित समझा कि वे अपने पास मुद्रा होने का लिखित प्रमाण इधर उधर ले जायें। इस हेतु वे अपनी मुद्रा किसी प्रसिद्ध व्यापारी के पास जमा कराके उसकी रसीद या गारन्टी ले लेते थे। जमा करने वाला व्यापारी रसीद में वर्णित रकम जमा कराने वाले व्यापारी के आदेशित व्यक्ति को चुकाने का वचन देता था। इस प्रकार प्रथम अवस्था में पत्र-मुद्रा जमा कराई गई धातु मुद्रा की प्रतिनिधि मात्र होती थी। कुछ समय पश्चात् व्यापारियों ने वाहक को देय गारन्टी पत्र जारी करने आरम्भ कर दिये, क्योंकि साधारण लोग इनके प्रयोग से परिचित हो गये थे। इस प्रकार ये प्रमाण-पत्र मुद्रा का काम करने लगे।

(२) कुछ बैंकों को नोट जारी करने का अधिकार—गारन्टी पत्रों की बढ़ती हुई लोकप्रियता से प्रेरित होकर सरकार ने यह काम कुछ बैंकों के सुपुर्द कर दिया। ये बैंक केवल रुपया जमा कराने वालों को ही नोट देते थे। इस अवस्था में भी ये नोट मुद्रा के केवल प्रतिनिधि मात्र ही थे और उनका चलन भी सीमित था।

(३) जमा कराई गई रकम से अधिक के नोट निकालना—जैसे-जैसे बैंकों के नोटों का प्रचलन बढ़ता गया, वैसे-वैसे उन्हें एक अनुभव हुआ। उन्होंने देखा कि जितना धन उनके पास जमा किया जाता है उसका कुछ ही भाग लोगों द्वारा लिया जाता है और शेष उनके पास बेकार पड़ा रहता है। अतः वे थोड़ी रकम होते हुए भी अधिक के नोट जारी करने लगे। किन्तु इस दशा में भी वे नोटों के बदले मुद्रा देने का वचन देते थे। सरकार ने उनके इस अधिकार की पुष्टि की तथा मुद्रा में नोटों के परिवर्तन की सुरक्षा हेतु कोष सम्बन्धी आवश्यक नियम बनाये।

(४) अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा का चलन—उक्त अवस्था प्रथम महायुद्ध और उसके कुछ वर्षों बाद तक रही। इसके बाद संसार में सोने का असमान वितरण हो गया तथा नोटों की परिवर्तनशीलता कायम रखना सम्भव न रहा। अब नोट केवल इस कारण चलते हैं कि उन पर सरकारी मोहर या आज्ञा है। आजकल सभी देशों में नोटों के निर्गमन का अधिकार प्रायः वहाँ की केन्द्रीय बैंक को प्राप्त है।

पत्र-मुद्रा की परिभाषा
(Definition of Paper-Money)

पत्र-मुद्रा किसी कागज पर सरकार या सरकार द्वारा अधिकृत संस्था के विशेष चिन्हों द्वारा माँगने पर निश्चित संख्या में प्रधान मुद्रा देने का लिखित वायदा है। उदाहरण के लिये, भारत में एक रुपये के नोट को छोड़कर अन्य सब करेंन्सी नोटों पर रिजर्व बैंक के गवर्नर की यह प्रतिज्ञा छपी होती है कि वह बैंक के किसी भी आफिस ऑफ इश्यू में नोट लाने वाले को, माँग करने पर, रुपयों की एक अमुक रकम देगा।

पत्र-मुद्रा के गुण-दोष
(Merits & Demerits of Paper-Money)

पत्र-मुद्रा के गुण

पत्र-मुद्रा के मुख्य-मुख्य लाभ निम्नलिखित हैं—

(१) बहुमूल्य धातु की बचत—पत्र मुद्रा के प्रयोग से धात्विक मुद्रा की आवश्यकता घट जाती है, जिससे धातु मुद्रा के निर्माण के लिये अधिक सोना चाँदी की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसके अतिरिक्त धातु मुद्राओं के चलने पर धातुओं की घिसावट से होने वाली हानि भी बच जाती है। इस प्रकार जो सोना चाँदी बचता है उसे अन्य औद्योगिक कार्यों में लगाया जा सकता है। एडम स्मिथ के शब्दों में—"कागज के नोट आकाश मार्ग की तरह हैं। इनसे सामान ले जाने का कार्य भी होता है और इनके बीच की भूमि भी काम में लाई जा सकती है और उस पर अन्न आदि उत्पन्न करके मनुष्य की अन्य आवश्यकतायें पूर्ण की जा सकती हैं।"

पत्र-मुद्रा के गुण-दोष

गुण :
- (१) बहुमूल्य धातु की बचत।
- (२) लागत खर्च में कमी।
- (३) स्थानान्तरण में सुविधा।
- (४) मुद्रा प्रणाली में लोच।
- (५) सरकार को लाभ।

दोष :
- (१) मुद्रा प्रसार का डर।
- (२) नष्ट होने की आशंका।
- (३) सीमित क्षेत्रों में उपयोगिता।
- (४) अनिश्चित और अस्थिर मूल्य।
- (५) सट्टेबाजी को बढ़ावा।
- (६) निर्धन जनता को हानि।
- (७) अमुद्रीकरण से हानि।

(२) लागत खर्च में कमी—पत्र-मुद्रा के बनाने में लागत खर्च भी बहुत

कम होता है, क्योंकि सोना-चाँदी खानों से निकालने, गलाने व ढालने का कोई खर्च नही करना पड़ता। अतः थोड़ीसी लागत पर करोड़ों रुपयों के नोट छापे जा सकते हैं।

(३) स्थानान्तरण में सुविधा—पत्र-मुद्रा के द्वारा बड़ी से बड़ी रकम के भुगतान बहुत ही कम खर्च पर और सुविधा से डाक द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजे जा सकते है। पारस्परिक लेन-देन मे भी सुविधा रहती है, क्योंकि सिक्कों की भाँति इन्हें परखने व गिनने में कठिनाई नही होती है।

(४) मुद्रा प्रणाली में लोच—धातु के सिक्के कितनी मात्रा में ढाले जायें यह उपलब्ध धातुओं की मात्रा पर निर्भर होती है। खानों से बहुमूल्य धातुओं की निकासी प्रायः सीमित होती है। अतः इस बात की सम्भावना रहती है कि देश का व्यापार बढ़ने पर मुद्रा की माँग अधिक हो किन्तु धातु की कमी के कारण पर्याप्त मात्रा मे सिक्के ढालकर उसकी पूर्ति न की जा सके। लेकिन पत्र-मुद्रा मे यह कठिनाई नही है। सरकार जब चाहे जितनी मात्रा मे सरलता से नोट छाप सकती है।

(५) सरकार को लाभ—जब कभी सरकार को अपने कार्यों के लिये अधिक धन की आवश्यकता हो और करों द्वारा अथवा जनता से ऋण लेकर उसकी पूर्ति न हो तो वह नोट छापकर धन की आवश्यकता को पूरा कर सकती है। ऐसी दशा मे उसे ब्याज भी नही देना पड़ता। उदाहरण के लिये, भारत सरकार को अपनी द्वितीय पंचवर्षीय योजना को पूरा करने के लिये बहुत धन की आवश्यकता थी। इसे उसने १२०० करोड़ रुपये के नोट छाप कर पूरा किया था। तृतीय पंचवर्षीय योजना में भी ५५० करोड़ रु० की व्यवस्था इसी प्रकार की जायेगी।

पत्र-मुद्रा के कुछ दोष भी हैं, जो इस प्रकार हैं

(१) मुद्रा प्रसार का डर—चूँकि पत्र-मुद्रा निकालते समय बहुत थोड़ी धातु कोष में रखना आवश्यक होता है, इसलिये इस बात का भय रहता है कि सरकार कहीं आवश्यकता से अधिक नोट न छाप दे। मुद्रा की आवश्यकता व्यापारिक कार्यों के लिये होती है। यदि इसका चलन व्यापारिक आवश्यकताओं से बढ़ जाय तो वस्तुओं के मूल्य बढ़ जायेंगे, जिससे गरीब जनता को बहुत कष्ट उठाना पड़ेगा। ऐसी स्थिति को मुद्रा-प्रसार कहते है।

(२) नष्ट होने की आशंका—पत्र-मुद्रा अधिक टिकाऊ नही होती है। भीग जाने और तेल से चिकने हो जाने, नम्बर फट जाने और मैले हो जाने से इसका जीवन समाप्त हो जाता है। यह सच है कि फटे व गले नोटों को मुद्रा अधिकारी वापिस ले लेता है किन्तु इसमें कुछ कठिनाई तो होती ही है।

(३) सीमित क्षेत्र में उपयोगिता—नोट को केवल देश के अन्दर ही स्वीकार किया जाता है। विदेशों से माल खरीदने के लिये इनका प्रयोग नहीं किया जा सकता क्योंकि विदेशी व्यक्ति नोटों को ग्रहण करने मे संकोच करते हैं।

(४) अनिश्चित और अस्थिर मूल्य—पत्र-मुद्रा की मात्रा में अचानक घट-बढ़ की जा सकती है, जिससे इसके मूल्य में एवं वस्तुओं के मूल्यों में शीघ्रता से परिवर्तन हो जाते हैं। इसका व्यापार-व्यवसाय पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(५) सट्टेबाजी को प्रोत्साहन—पत्र-मुद्रा की मात्रा एवं उसके मूल्य की अस्थिरता के कारण सट्टेबाजी को बढ़ावा मिलता है।

(६) निर्धन जनता की हानि—जब सरकार अपने घाटे को पूरा करने के लिये पत्र-मुद्रा का निर्गमन करती है अथवा आय प्राप्त करने के लिये अतिरिक्त नोट जारी करती है तो अप्रत्यक्ष करारोपण अथवा बलपूर्वक लिये गये ऋण के समान होता है। इसका सबसे अधिक बोझ गरीब जनता पर ही पड़ता है। वस्तुओं के मूल्य बहुत तेज होते हैं जबकि उनकी आय इतनी नही बढ़ पाती है। अतः उनको अपनी आवश्यकतायें पूरी करने में बड़ी कठिनता होती है।

(७) अमुद्रीकरण से हानि—पत्र-मुद्रा का आन्तरिक मूल्य (Intrinsic Value) नहीं के बराबर होता है। यह केवल सरकार (या केन्द्रीय बैंक) की साख के आधार पर चलता है। अतः इसका मूल्य सरकार की इच्छा पर निर्भर होता है। *यदि कोई सरकार यह निर्णय करे कि अमुक नोट अब से द्रव्य के रूप में नहीं चलेंगे* तो उनका कुछ भी मूल्य नहीं रहता। यदि सरकार इन्हें स्वयं भी वापिस न ले तो इनके रखने वालों को बहुत हानि उठानी पड़ेगी।

पत्र-मुद्रा का वर्गीकरण
(Classification of Paper-Money)

पत्र-मुद्रा को प्रामाणिक मुद्रा में बदलने के लिये रखे गये कोष के आधार पर पत्र-मुद्रा के निम्न भेद किए जाते हैं—

(I) प्रतिनिधि पत्र मुद्रा (Representative Paper-Money)

पत्र-मुद्रा का चलन सरकार के विश्वास पर होता है। सरकार जनता के इस विश्वास को बनाये रखने के लिए नोट निकालते समय किसी बहुमूल्य धातु की आड़ रख लेती है, जिससे आवश्यकता होने पर उसको धातु के सिक्कों में बदला जा सके। जब सरकार नोटों के पीछे १००% धातु की आड़ रख लेती है तो इन्हें "प्रतिनिधि पत्र मुद्रा" कहा जाता है। वस्तुतः इस दशा में नोट उस धातु का प्रतिनिधित्व करते हैं जो कि सरकार के पास आड़ में रखी हुई है। इस प्रकार के नोटों का चलन धातुओं के ह्रास में मितव्ययिता लाने के लिये होता है। जनता को पूर्ण अधिकार है कि *वह किसी भी समय* पर पत्र-मुद्रा को धातु में बदलवा ले।

प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा के गुण-दोष

गुण :

(१) बहुमूल्य धातुओं की बचत।
(२) जनता का विश्वास।
(३) मुद्रा प्रसार का भय।

दोष :

(१) बहुमूल्य धातुओं का कोष निष्क्रिय रहना।
(२) मुद्रा प्रणाली में लोच का अभाव।
(३) निर्धन देशों के लिये अनुपयुक्त।

प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा के गुण-दोष *निम्नलिखित हैं :—*

(१) बहुमूल्य धातुओं की बचत—जब सोने और चाँदी के सिक्के चलन में होते है तो *प्रयोग* से कुछ समय में घिस जाते हैं। इस प्रकार देश को बहुमूल्य धातुओं की हानि उठानी पड़ती है। किन्तु यदि इनके स्थान पर नोटों का चलन हो तो उक्त घिसावट नहीं होने पाती है।

(२) जनता का विश्वास—इस प्रकार के नोटों में जनता को सबसे अधिक विश्वास होता है क्योंकि इनके लिये १००% बहुमूल्य धातुओं की आड़ होती है। इसलिये जब चाहे तब जनता को नोटों के बदले में धातु या धातु के सिक्के दिये जा सकते है।

(३) मुद्रा-प्रसार का भय नहीं—सरकार नोटों की मात्रा में तभी वृद्धि कर सकती है जबकि उतनी रकम की धातु भी अपने कोष मे बढ़ावे। चूंकि धातुयें प्रायः सीमित मात्रा मे ही उपलब्ध होती हैं इसलिये नोटों के अधिक मात्रा मे निकालने का डर नही रहता।

प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा के कुछ दोष भी हैं जो कि इस प्रकार हैं:—

(१) बहुमूल्य धातुओं का कोष में निष्क्रिय रहना—इन नोटों की आड़ के रूप मे जो धातु कोष मे रखी जाती है वह फिर औद्योगिक एवं कलापूर्ण कार्यों में प्रयोग होने से वंचित हो जाती है।

(२) मुद्रा प्रणाली में लोच का अभाव—कोष में बहुमूल्य धातुओं की वृद्धि किये बिना पत्र-मुद्रा चलन में कोई वृद्धि नही की जा सकती है अतः यह प्रणाली बेलोचदार होती है। यदि देश पर कोई आपत्ति आ जाय अथवा व्यापार बढ़ने से अधिक मुद्रा की माँग होने लगे तो यह सम्भव है कि पर्याप्त मात्रा में धातु उपलब्ध न होने से सरकार चलन में वृद्धि नही कर सके।

(३) निर्धन देशों के लिये अनुपयुक्त—इन नोटों की आड़ में प्रायः सोना ही रखा जाता है। इतनी विशाल मात्रा में इस बहुमूल्य धातु की व्यवस्था करना एक निर्धन देश के लिये सम्भव नही हो सकता अतः वह ऐसे नोट नहीं निकाल सकते।

(II) परिवर्तनशील पत्र (Convertible Paper-Money)

यह प्रतिनिधि कागजी मुद्रा का एक सुधरा हुआ रूप है, जिसका उद्देश्य प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा की लोचहीनता को दूर करना है। इन नोटों के पीछे कुल पत्र-मुद्रा की कीमत से कम सोने व चाँदी की आड़ रखी जाती है। परन्तु ये नोट हर समय सोने व चांदी में परिवर्तन किये जा सकते हैं।

परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा के गुण-दोष

गुण :
(१) बहुमूल्य धातुओं की दोहरी बचत।
(२) जनता का पर्याप्त विश्वास।
(३) मुद्रा-प्रसार का विशेष भय नहीं।
(४) मुद्रा प्रणाली में लोच।

दोष :
(१) प्रतिनिधि पत्र मुद्रा की तुलना में कम विश्वास।
(२) मुद्रा प्रसार की सम्भावना।

परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा के निम्न गुण हैं:—

(१) बहुमूल्य धातुओं की दोहरी बचत—पत्र मुद्रा का चलन होने से सिक्कों की घिसावट से होने वाली बहुमूल्य धातुओं की हानि बच जाती है। साथ ही कोष में जारी किये नोटों की मात्रा का कुछ भाग ही धातुओं के

रूप में रखना पड़ता है। इस प्रकार बहुत सी धातु कोष में निष्क्रिय नहीं पड़ी रहती वरन् अन्य औद्योगिक कार्यों में प्रयोग की जा सकती है।

(२) जनता का पर्याप्त विश्वास—चूंकि मुद्रा अधिकारी अपने पास पत्र-मुद्रा के निर्गमन की आड़ स्वरूप कुछ धातु कोष में रखता है और माँग करने पर पत्र-मुद्रा को देश की प्रामाणिक मुद्रा में बदलने का आश्वासन देता है, इसलिये जनता को पत्र-मुद्रा मे विश्वास रहता है।

(३) मुद्रा प्रसार का विशेष भय नहीं—नये नोट जारी करते समय मुद्रा अधिकारी को कुल नोटों की मात्रा का एक निश्चित प्रतिशत कोष धातु के रूप में रखना पड़ता है। अतः धातु की उपलब्ध मात्रा का पत्र-मुद्रा के प्रसार पर नियंत्रण रहता अर्थात् मुद्रा अधिकारी उतनी ही पत्र-मुद्रा जारी कर सकता है जितनी प्रतिशत धातु उनके पास हो, अधिक नही।

(४) मुद्रा प्रणाली में लोच—प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा के निर्गमन के पीछे शत-प्रतिशत धातु कोष में रखना पड़ता है लेकिन परिवर्तन मुद्रा प्रणाली में यह बात नहीं है। थोड़ी सी धातु के आधार पर कई गुना नोट जारी किये जा सकते हैं। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा में देश की आवश्यकतानुसार सरलता से वृद्धि की जा सकती है।

परिवर्तनशील मुद्रा के कुछ दोष भी हैं, जिनका वर्णन नीचे किया गया है :—

(१) प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा की तुलना में कम विश्वास— चूंकि प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा के लिये धातु का शत-प्रतिशत कोष रखा जाता है जबकि परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा के लिये उसका एक अनुपातिक भाग ही इस प्रकार रखते हैं, इसलिए जनता को प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा की अपेक्षा परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा में कम विश्वास होता है।

(२) मुद्रा प्रसार की सम्भावना—चूंकि सरकार को इन नोटों का निर्गमन करते समय पूर्ण मूल्य की धातु कोष में नही रखनी पड़ती, इसलिए अधिक आय प्राप्त करने के लिए सरकार मुद्रा का आवश्यकता से अधिक प्रसार कर सकती है। मुद्रा-प्रसार के फलस्वरूप वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाने तथा जनता को कष्ट भोगने पड़ते हैं।

(III) अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा (Inconvertible Paper-Money)

जिस पत्र मुद्रा के पीछे किसी भी प्रकार की धातु के कोष नहीं होते हैं या होते है तो नाम मात्र के, उसे "अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा" कहते है। प्रो० चैपमैन (Chapman) के शब्दों में—

"All Paper for the redemption of which in bullion on demand no arrangements are made, is called 'Inconvertible' or 'Irredeemable' Paper Money."

अतः ये नोट धातु में परिवर्तनीय नहीं होते और सरकार की साख पर चलते है। पहले तो इन्हें युद्धकाल में जारी किया जाता था लेकिन अब सामान्य रूप से सभी देशों में इनका प्रयोग हो रहा है।

[नोट—कोई कोई विद्वान पत्र-मुद्रा का एक चौथा भेद भी बताते हैं। यह है 'आज्ञा प्राप्त' या 'बलात्' पत्र मुद्रा (Fiat-Money) जो अपरिवर्तनशील पत्र—

का ही दूसरा रूप है । इसके पीछे भी कोई आड़ नहीं रखी जाती और न ये धातु में ही परिवर्तित कराये जा सकते हैं । अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा से ये तीन बातों में भिन्न होते हैं —(i) इनकी निकासी केवल असाधारण परिस्थितियों में की जाती है; (ii) ये केवल सीमित मात्रा में ही निकाले जाते हैं और (iii) इनके पीछे किसी भी प्रकार की आड़ नहीं रखी जाती—न तो धातु की और न सरकारी प्रतिभूतियों आदि की ।

अपरिवर्तनशील मुद्रा के तीन गुण इस प्रकार हैं—

(१) धातुओं की पूर्ण बचत—पत्र मुद्रा के चलन के लिये धातु कोष रखने की कोई आवश्यकता नही रहती है । अतः खानों से सोना-चाँदी निकालने में जो श्रम और पूँजी लगती है वह अन्य आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने में लगाई जा सकती है । इससे देश के निवासियों का रहन-सहन उन्नत हो जाता है । चूंकि धातु के सिक्के चलन मे अधिक नही रखने पड़ते, इसलिए उनकी घिसाई से होने वाली हानि भी बच जाती है ।

अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा के गुण-दोष

गुण :

(१) धातुओं की पूर्ण बचत ।
(२) बहुत लोचदार मुद्रा प्रणाली ।
(३) आर्थिक संकट काल में सहायता ।

दोष :

(१) मुद्रा प्रसार का अत्यधिक भय ।
(२) जनता का अविश्वास ।
(३) विदेशी विनिमय दर में गिरावट ।
(४) जनता पर बलात् करारोपण ।

(२) बहुत लोचदार मुद्रा प्रणाली—सरकार रक्षित कोष रखे बिना जब चाहे तब इस प्रकार की मुद्रा जारी कर सकती है और घटा भी सकती है । इससे मुद्रा प्रणाली में बहुत लोच आ जाती है ।

(३) आर्थिक संकट के काल में सहायता—अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का निर्गमन करके सरकार को अतिरिक्त क्रय-शक्ति प्राप्त हो जाती है और इसके सहारे वह अपने आर्थिक संकटों को दूर करने मे सफलता प्राप्त कर लेती है ।

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा के केवल गुण ही हों दोष नहीं, ऐसी बात नहीं है । उसके कुछ महत्वपूर्ण दोष भी हैं । ये दोष निम्नलिखित हैं—

(१) मुद्रा-प्रसार का अत्यधिक भय—ऐसी मुद्रा के निर्गमन पर कोई अंकुश (जैसे धातु-कोष रखना) न होने के कारण इस बात का सदा भय रहता है कि सरकार इसे आवश्यकता से अधिक न निकाल दे ।

(२) जनता का अविश्वास—चूंकि इसके पीछे कोई रक्षित कोष नहीं होता इसलिये जनता इसमे विश्वास नहीं करती है । यदि सरकार की शक्ति का भय न हो तो जनता इसे कदापि स्वीकार न करे ।

(३) विदेशी विनिमय-दर में गिरावट—देश की मुद्रा का अन्य देशों की मुद्राओं में मूल्य कम हो जाता है, जिससे विदेश की वस्तुएँ स्वदेशी वस्तुओं की

अपेक्षा सस्ती हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में आयात बढ़ते हैं और निर्यात घटते हैं तथा देश पर विदेश का ऋण हो जाता है।

(४) जनता पर बलात् करारोपण—अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का निर्गमन जनता पर बलपूर्वक लगाये गए करों के रूप में होता है।

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा के अत्यधिक प्रसार (Over-issue) के बहुत गम्भीर दुष्परिणाम होते है। अत्यधिक प्रसार (Over-issue) का अर्थ है कि देश में मुद्रा की मात्रा व्यापारिक आवश्यकताओं से अधिक प्रचलित हो गई है। चूंकि मुद्रा की माँग उसकी पूर्ति से कम है इसलिए मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है और परिणामस्वरूप वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते है। मूल्यों मे वृद्धि होने का समाज के विभिन्न वर्गों पर विभिन्न प्रकार से प्रभाव पड़ता है। इन प्रभावों के लिए एक अगले अध्याय में मुद्रा प्रसार के प्रभावों को पढ़ने का कष्ट करें। जब सरकार अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का निर्गमन करती है, तो उस पर कोई अंकुश (जैसे धातु-कोष रखना) न होने के कारण प्राय: मुद्रा प्रसार होने का भय रहता है।

परीक्षा-प्रश्न

(१) पत्र-मुद्रा की परिभाषा देकर उसका वर्गीकरण कीजिये। उसके हानि-लाभों पर प्रकाश डालिये।

(२) पत्र मुद्रा का प्रयोग क्यों किया जाने लगा? इसके गुण-दोषों को समझाकर लिखिये।

(३) पत्र-मुद्रा कितने प्रकार की होती है? उन सबकी विशेषताओं का स्पष्ट वर्णन करिये।

(४) विभिन्न प्रकार की पत्र मुद्राओं का उनकी प्रमुख विशेषताओं के साथ वर्णन करिये एवं अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा के प्रमुख दोषों को स्पष्ट कीजिये।

(५) विभिन्न प्रकार की कागजी मुद्रा के गुण-दोषों का विवेचन करिये।

(६) अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा किसे कहते हैं? इस प्रकार की मुद्रा के प्रसार (Over-issue) का देश की आर्थिक व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ता है।

अध्याय ६

मुद्रा प्रणालियाँ

[Monetary Standards]

प्रारम्भिक

आज प्रत्येक देश मे एक प्रधान मुद्रा (Standard money) होती है। इसके अतिरिक्त सहायक मुद्रा (Token money) के रूप में सांकेतिक सिक्के व पत्र मुद्रा का भी निर्गमन करना आवश्यक होता है। साख मुद्रा पर भी नियन्त्रण रखना पड़ता है। बहुमूल्य धातुओं के क्रय-विक्रय एवं उनके आयात-निर्यात की व्यवस्था भी करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त, देश की मुद्रा के मूल्य को स्थिर रखने का भी यत्न करना पड़ता है। देश की मुद्रा का संचालन इस प्रकार करना पड़ता है कि उससे देश का अधिक से अधिक कल्याण हो सके। इस हेतु कुछ नियमों का निर्माण करना पड़ता है।

'मुद्रा-मान' से आशय

जिस व्यवस्था (नियमों) मुद्रा की क्रय-शक्ति (अर्थात् मूल्य) निर्धारित एवं प्रकट किया जाता है, उसे मुद्रा मान (Monetary Standard) कहते हैं। यहाँ पर हमें 'मुद्रा मान' और 'मूल्यमान' का अन्तर समझ लेना चाहिये। 'मूल्यमान' (Standard of Value) का अभिप्राय उस मुद्रा-इकाई से होता है (जैसे रुपया, पौंड, मार्क, डालर आदि) जिसमे किसी देश की समस्त वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य मापा जाता है। किन्तु मुद्रा-मान के अन्तर्गत न केवल 'मूल्यमान' वरन् मुद्रा सम्बन्धी नियमों का भी वर्णन आता है।

आदर्श मुद्रा-मान के गुण

एक आदर्श मुद्रा-प्रणाली के गुण

समय-समय पर विभिन्न मुद्रा-मानों को अपनाया गया है। ये मुख्यतः तीन प्रकार के हैं—(१) एक धातुमान, (२) द्विधातुमान, (३) पत्रमान। इसमें प्रत्येक के कई उपभेद हैं। यह सब निम्न चार्ट से स्पष्ट हो जाता है:—

मुद्रा-मान
- (१) पदार्थ-मान
- (२) धातु-मान
  - (अ) द्विधातुमान
  - (ब) एकधातु-मान
- (३) पत्र-मान
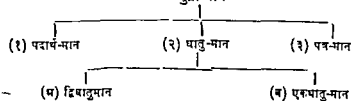
एक अच्छा मुद्रा-मान देश में कीमतों में स्थिरता लाता है एवं उत्पादन व वाणिज्य व्यवसाय के लिये अनुकूल दशायें उत्पन्न करता है। यदि मुद्रा-मान खराब है, तो वह देश में अनेक आर्थिक बुराइयों को जन्म देगा। एक अच्छे मुद्रा-मान के निम्न लक्षण हैं—

(१) मूल्यों में स्थिरता—एक आदर्श मुद्रा-मान वह कहलायेगा जिसमें देश के अन्दर वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों में अचानक परिवर्तनों को रोकने की क्षमता हो, क्योंकि इन परिवर्तनों से समाज पर बुरा असर पड़ता है।

एक आदर्श मुद्रामान के सात गुण

(१) मूल्यों में स्थिरता।
(२) समझने में सरल।
(३) मुद्रा की मात्रा में लोच।
(४) परिवर्तनशीलता।
(५) मुद्रा प्रसार से सुरक्षा।
(६) नियमों की निश्चितता।
(७) मितव्ययिता।

(२) समझने में सरल—मुद्रा-मान इतना सरल होना चाहिये कि एक शिक्षित व्यक्ति और अशिक्षित किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति भी समझ सकें। ऐसा होने से जनता का विश्वास दृढ़ हो जाता है।

(३) मुद्रा की मात्रा में लोच—मुद्रा नियम इस प्रकार होने चाहिये कि आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा में सरलता से घटा-बढ़ी की जा सके।

(४) परिवर्तनशीलता—अच्छी मुद्रा प्रणाली का एक आवश्यक गुण यह भी है कि उसके अन्तर्गत मुद्रा सोने-चाँदी में परिवर्तनशील रहे। इससे जनता को मुद्रामान में विश्वास रहता है और वह ठीक प्रकार से कार्य करता रहता है।

(५) मुद्रा प्रसार से सुरक्षा—मुद्रा-मान में ऐसी व्यवस्था भी होनी चाहिये कि मुद्रा के अत्यधिक मुद्रा प्रसार से देश को आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ता है।

(६) नियमों की निश्चितता—मुद्रा-मान आदर्श तभी कहलायेगा जबकि उसके नियम निश्चित एवं स्पष्ट हों, ताकि मुद्रा अधिकारी अपने दायित्व को टाल न सके।

(७) मितव्ययिता—एक आदर्श मुद्रा-मान वह है जिसमें बहुमूल्य धातुओं का कम से कम प्रयोग होता है, क्योंकि तभी मुद्रा-मान में मितव्ययिता एवं लोच आ सकती है।

भारतीय मुद्रा-प्रणाली की उपयुक्तता

भारत की वर्तमान मुद्रा प्रणाली अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा पर आधारित है। अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा के साथ-साथ धातु के सिक्के भी प्रचलित हैं। रिज़र्व बैंक आफ इन्डिया मुद्रा प्रणाली का संचालन करता है। भारतीय मुद्रा का सोने-चाँदी से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कोष का मेम्बर होने के कारण उसका सोने से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है। भारतीय मुद्रा प्रणाली में एक अच्छे मुद्रा-मान के ११ गुण पाये जाते हैं, जो कि इस प्रकार हैं :—

(१) मितव्ययिता—चूँकि सोने चाँदी के सिक्कों का प्रचलन नहीं रिजर्व बैंक ही बहुत परिमाण में मूल्यवान धातुयें अपने पास संग्रह में

बाध्य है। इससे घिसावट की हानि कम होती है और बहुमूल्य धातु कोष में बड़ी मात्रा में बंधी नहीं पड़ी रहती है।

(२) **निश्चितता**—मुद्रा का चलन रिजर्व बैंक एक्ट के अनुसार किया जाता है। अतः मुद्रा प्रणाली 'निश्चित' है। भारत सरकार इसमें मनमाना हस्तक्षेप नहीं कर सकती। अतः जनता का इसमें विश्वास है।

(३) **लोचदार**—प्रत्येक अपरिवर्तित पत्र मुद्रा प्रणाली में लोच होती है। भारतीय मुद्रा प्रणाली इसका अपवाद नहीं। देश की मौद्रिक आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रा की मात्रा में कमी या वृद्धि होती रहती है।

(४) **स्वयं चालकता**—भारतीय मुद्रा प्रणाली स्वयं चलित प्रणाली भी है। इसका श्रेय हमारे रिजर्व बैंक को है। वह सरकार के हस्तक्षेप के बिना मुद्रा प्रणाली को इस प्रकार व्यवस्थित करता रहता है कि मुद्रा की मात्रा देश की आवश्यकताओं के अनुसार समायोजित हो जाती है।

यह सच है कि भारतीय पत्र मुद्रा प्रणाली में परिवर्तनशीलता का गुण नहीं है। किन्तु इस गुण का अब कोई विशेष महत्व भी नहीं रह गया है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना से परिवर्तनशीलता के गुण की कोई आवश्यकता नहीं है। *किन्तु, जहाँ भारतीय मुद्रा प्रणाली में उक्त गुण है वहाँ इसमें निम्न दोष भी हैं—*

(१) **मुद्रा प्रसार का भय**—सरकार ने यथाशक्ति रोका किन्तु फिर भी युद्ध काल में अत्यधिक मुद्रा प्रसार हुआ और युद्धोत्तर काल में भी यह जारी है। पंचवर्षीय योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए सरकार ने जान बूझ कर घाटे की अर्थ-व्यवस्था अपनाई है, जिससे अनिवार्यतः मुद्रा प्रसार होता है।

(२) **सुरक्षा का कम ध्यान**—भारतीय मुद्रा प्रणाली में सुरक्षा का कम ध्यान रखा गया है। इसका प्रमाण यह है कि रिजर्व बैंक केवल २०० करोड़ रु० के सुरक्षित कोष (जिसमें स्वर्ण व स्वर्ण के सिक्कों की कीमत ११५ करोड़ रु० न्यूनतम होनी चाहिये) और विदेशी सिक्योरिटीज के आधार पर पत्र मुद्रा जारी कर सकता है।

(३) **जटिल प्रणाली**—इस प्रणाली में सरलता का अभाव है इसे जन साधारण समझ नहीं सकता।

(४) **आन्तरिक मूल्य स्तर की स्थिरता का बलिदान** करके वाह्य मूल्य को स्थिर रखने का प्रयास किया गया है। यह अनुचित है।

ये दोष होते हुये भी हम निःसंकोच कह सकते हैं कि अन्य अनेक देशों की मुद्रा प्रणालियों से भारतीय मुद्रा प्रणाली बहुत अच्छी है। भारत एक कृषि प्रधान देश है। औद्योगीकरण तेजी से हो रहा है। ऐसी मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के संदर्भ में तो इसे केवल उपयुक्त ही कहा जा सकता है और कुछ नहीं।

(1) पदार्थ-मान
(Commodity-Standard)

पदार्थ-मान में विनिमय का माध्यम कोई वस्तु (जैसे गेंहूँ, मक्का, अनाज, चाय, पशु, पंख, खाल, बकरी, तम्बाकू, मूंगें आदि) रहती है। कागज एवं धातु की बनी हुई मुद्रायें इस मान के अन्तर्गत नहीं गिनी जाती हैं। अन्य सब वस्तुएँ जिनका । विनिमय के माध्यम के रूप में किया जाय, पदार्थ मान में ही सम्मिलित की

जाती हैं। समय-समय पर भिन्न-भिन्न वस्तुएँ विनिमय माध्यम के रूप में प्रयोग की गई थीं, किन्तु प्रत्येक दशा में कुछ न कुछ असुविधायें आने से सुधार के रूप में अन्य वस्तुओं को अजमाया जाता रहा। अन्त में मुद्रा धातु व कागज की बनाई जाने लगी। पदार्थ-मान की प्रमुख असुविधायें निम्नलिखित हैं—

(१) पदार्थ स्वभाव से नाशवान होते हैं विशेषतः जीवनोपयोगी पदार्थ (जैसे अनाज, शाक-भाजी आदि)। बहुत समय तक ये एक दशा में कार्य नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए गेंहूँ दो चार वर्ष में खराब हो जाता है। अतः इससे मूल्य के संचय का काम नहीं लिया जा सकता।

(२) वस्तुयें प्रायः अविभाज्य होती हैं। यदि इन्हें टुकड़ों में बांटा जाय तो इनकी उपयोगिता कम हो जाती है या नष्ट हो जाती है।

(३) पदार्थों के मूल्य भी अस्थिर होते हैं। उदाहरण के लिये अच्छी फसल होने पर गेहूँ का मूल्य गिर जाता है जबकि खराब फसल होने पर बढ़ जाता है।

(४) इनको एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने में भी बहुत परिश्रम एवं खर्च होता है तथा मार्ग में इनकी उपयोगिता के घटने का भी डर रहता है।

उपरोक्त कठिनाइयों के कारण पदार्थ प्रमाप का स्थान धातुमान ने ग्रहण कर लिया।

(II) धातु-मान
(Metallic-Standard)

धातुमान के अन्तर्गत प्रधान मुद्रा धातु की होती है। धातु-मुद्रा अनेक बातों में पदार्थ मुद्रा से अच्छी है। इसका मूल्य अपेक्षतः स्थिर रहता है, वह टिकाऊ होती है, उसका हस्तातरण भी सरलता से किया जा सकता है। धातु-मान के दो प्रमुख भेद हैं :— *(अ)एक धातु मान (Mono-Metallism) एवं (ब) द्विधातुमान* (Bimetallism)।

(अ) एक-धातुमान

एक-धातुमान वह मौद्रिक व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत प्रधान मुद्रा एक धातु की बनी होती है। वैसे तो किसी भी धातु का प्रयोग किया जा सकता है, परन्तु सोने व चांदी का प्रयोग सबसे अधिक किया गया है। यदि प्रधान मुद्रा सोने की हो तो मुद्रा प्रणाली को 'स्वर्णमान' (Gold Standard) और यदि प्रधान मुद्रा चांदी की हो, तो मुद्रा प्रणाली को 'रजतमान' (Silver Standard) कहा जाता है।

एक धातु मान की विशेषतायें

(i) एक धातु मान में प्रधान मुद्रा सोने या चाँदी की होती है लेकिन अन्य सहायक-मुद्रा भी चलन में रहती है, जिसका मूल्य प्रधान मुद्रा के अनुपात में निर्धारित होता है। (ii) सहायक मुद्रा प्रधान मुद्रा में बदली जा सकती है। (iii) प्रधान मुद्रा के सिक्के-निर्माण के लिए प्रायः टकसाल जनता के लिए खुली रहती है। लेकिन सहायक मुद्रा के सिक्के-निर्माण के लिए टकसाल जनता को बन्द होती है केवल सरकार को इनके टंकन का अधिकार होता है। (iv) प्रधान मुद्रा असीमित विधि ग्राह्य एवं सहायक मुद्रा सीमित विधि ग्राह्य होती है।

एक धातु मान के लाभ

(१) चूँकि एक धातु मान में केवल एक ही धातु की प्रधान मुद्रा होती है और टकसाल भी केवल प्रधान मुद्रा के लिये ही खुली रहती है, इसलिए किसी सिक्के के

मूल्य में सरलता से परिवर्तन नहीं हो सकता। मुद्रा के मूल्य में शीघ्र परिवर्तन न हो सकना एक-धातुमान का पहला लाभ है।

(२) यदि कई देशों में एक ही धातु की प्रधान मुद्रा हो तो जब तक कोई अड़चन न पड़े। (जैसे कर लगना, आयात पर रोक लगना) तब तक इन सब देशों की मुद्रा के आन्तरिक एवं बाह्य मूल्य प्रायः समान और स्थिर रहेंगे। इससे विदेशी व्यापार को बढ़ावा मिलेगा।

इसके विपरीत, यदि दो देशों की प्रधान मुद्रा भिन्न भिन्न धातुओं की हुई, तो उनकी मुद्राओं के आन्तरिक एवं बाह्य मूल्यो में बहुत अन्तर होगा, जिससे उनके निर्मित माल के मूल्य भी भिन्न-भिन्न होंगे।

१९ वीं शताब्दी तक इंग्लैण्ड, अमेरिका, जापान आदि देशों ने एक-धातुमान अपनाया हुआ था। इंग्लैण्ड ने सन् १८१६ में, जर्मनी ने सन् १८७३ में, रूस व जापान ने सन् १८९७ में और अमेरिका ने सन् १९०० में एक-धातुमान (स्वर्णमान) ग्रहण किया। भारत में मुगलकाल में द्विधातुमान को छोड़ कर एक-धातुमान अपनाया गया। सन् १८३५ के विधान के अन्तर्गत यहाँ चाँदी के सिक्कों को प्रधान मुद्रा बनाया गया तथा सोने के सिक्को की असीमित विधि ग्राह्यता समाप्त कर दी गई। इससे देश में 'रजतमान' की स्थापना हुई।

(ब) द्विधातुमान

जब दो धातुओं [प्रायः सोना और चाँदी] के सिक्के एक साथ चलन में हों और दोनों ही प्रधान मुद्रा का कार्य करें, तो मुद्रा की ऐसी प्रणाली को 'द्विधातुमान' (Bimetallism) कहते हैं। इस प्रथा में सरकार दोनों सिक्कों की धातुओं में भी एक निश्चित अनुपात रखती है।

> **द्विधातुमान की छः विशेषतायें**
>
> (१) सोने और चाँदी के सिक्कों का सह-चलन।
> (२) इनमें एक निश्चित वैधानिक सम्बन्ध।
> (३) दोनों ही सिक्के असीमित विधि ग्राह्य।
> (४) दोनों धातुओं की स्वतन्त्र ढलाई।
> (५) इनके अंकित मूल्य धात्विक मूल्य के बराबर।
> (६) धातुओं का स्वतंत्र आवा-गमन।

द्विधातुमान की विशेषतायें

द्विधातुमान की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं :—

(१) सोने और चाँदी के सिक्कों का सह-चलन—देश में सोने और चाँदी दोनों के सिक्कों का एक साथ चलन होता है और दोनों ही मूल्य-मापन विनिमय माध्यम का कार्य करते हैं।

(२) दोनों सिक्कों में निश्चित वैधानिक सम्बन्ध—टकसाल द्वारा सोने व चाँदी के सिक्कों में एक निश्चित वैधानिक सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है, जिससे ये एक दूसरे से इस पूर्व निश्चित दर पर बदले जा सकें।

(३) दोनों ही सिक्के असीमित विधि ग्राह्य—सोने और चाँदी दोनों ही धातुओं के बने सिक्के असीमित विधि ग्राह्य होते हैं अर्थात् ऋणी अपनी इच्छानुसार किसी भी सिक्के में ऋण का भुगतान कर सकता है।

(४) सोने और चाँदी दोनों धातुओं की स्वतन्त्र ढलाई होती है, अर्थात् कोई भी व्यक्ति इन धातुओं को टकसाल में ले जाकर इनको प्रामाणिक मुद्रा में बदलवा सकता है।

(५) दोनों धातुओं के बने सिक्कों का अंकित मूल्य उनके धात्विक मूल्य के बराबर होता है ।

(६) धातुओं का स्वतन्त्र आवागमन—सोने और चाँदी को विदेशों को भेजने तथा वहाँ से उनके मंगाने पर कोई रोक-टोक नहीं होती है ।

द्विधातुमान के भेद

द्विधातुमान के निम्न भेद हैं :—(१) विशुद्ध द्विधातुमान (Pure Bimetallism) (२) लगड़ा द्विधातुमान (Limping Standard), (३) समानान्तर मान (Parellel Standard), एवं (४) मिश्रित मान (Symetallism) ।

(१) विशुद्ध द्विधातु मान :—'विशुद्ध द्विधातुमान' तो वही है, जिसकी परिभाषा एवं विशेषतायें हम 'द्विधातुमान' के शीर्षक मे ऊपर बता आये हैं । अन्य स्वरूपों पर नीचे प्रकाश डाला गया है ।

(२) लंगड़ा मान :—द्विधातुमान का वह स्वरूप, जिसके अन्तर्गत दो प्रकार के (सोने के एवं चाँदी के) सिक्के प्रधान मुद्रा के रूप में वास्तविक चलन में रहते हैं किन्तु एक की ढलाई स्वतंत्र और दूसरे की सीमित रखी गई है, लंगड़ामान (Limping Standard) कहलाता है । इस मान की कार्यप्रणाली का आधार यह सिद्धांत है कि यदि दोनों धातुओं के सिक्कों के बाजार मूल्य में परिवर्तन हो जाता है जब कि धात्विक मूल्य पूर्ववत रहे, तो जिस धातु का बाजार मूल्य बढ़ गया है उसके सिक्कों को गलाकर लोग धातु के रूप में बेचने लगते हैं । जब ऐसा हो तब दूसरी धातु के सिक्कों का टकन रोक कर मुद्रा का संतुलन स्थापित किया जा सकता है । उदाहरण के लिए, यदि सोने का बाजार मूल्य चाँदी की अपेक्षा बढ़ गया है, तो लोग सोने के सिक्कों को गलाकर इनकी धातु चाँदी की धातु के बदले में बेचने लगेंगे उस समय चाँदी के सिक्कों की ढलाई को सीमित करके चाँदी के सिक्कों का बढ़ जाना रोक सकते हैं अर्थात् जब कभी सोने के सिक्कों को धातु के रूप मे बेचते समय चाँदी के सिक्कों की बहुत अधिक जरूरत पड़ने लगेगी, तब चाँदी के सिक्कों की स्वतंत्र ढलाई रोक दी जावेगी । स्वर्ण टंकों को धातु के रूप में बेचने के लिए चाँदी के सिक्के उपलब्ध न होने पर चाँदी का बाजार मूल्य बढ़ने लगेगा और उस समय लोग चाँदी खरीदेंगे जिससे सोने के सिक्के चलन में आजावेंगे । इस प्रकार, मुद्रा का संतुलन अपने आप होता रहेगा ।

सन् १८७३ में जब फ्रांस और बेल्जियम ने चाँदी के पाँच फ्रैंक वाले टंकों की स्वतंत्र ढलाई समाप्त कर दी थी, तो वहाँ लंगड़ा मान ही प्रचलित हुआ । भारत मे सन् १८६३ में चाँदी की स्वतंत्र ढलाई बन्द कर दी गयी और सन् १८६८ में सावरन तथा अर्ध-सावरेन (स्वर्ण-सिक्के) असीमित विधि ग्राह्य बनाए गए । इस प्रकार लंगड़ा मान कायम हुआ । किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद ही चाँदी का मूल्य बहुत बढ़ गया, जिससे सोने के सिक्कों व चाँदी के सिक्कों में विनिमय-अनुपात

बनाये रखना दूभर हो गया। अतः लंगड़े मान को अधिक समय तक कार्यशील नहीं रखा जा सकता। इसका एक मात्र प्रयोग यह रहा है कि विभिन्न देशों ने जब द्विधातुमान को छोड़कर स्वर्णमान अपनाया, तो उन्होंने लँगड़े मान के माध्यम से ही ऐसा किया।

(३) समानान्तर मान

समानान्तर मान (Parallel standard) द्विधातुमान का एक संशोधित स्वरूप है। इसके अन्तर्गत भी सोने और चाँदी दोनों धातुओं के सिक्के चलन में रहते हैं, दोनों ही सिक्कों के लिए ढलाई स्वतंत्र होती है और दोनों ही सिक्के असीमित विधि ग्राह्य होते हैं। लेकिन सोने और चाँदी के सिक्कों का आपस में अनुपात सरकार द्वारा निर्धारित नहीं होता वरन् सोने और चाँदी की धातुओं के बाजार मूल्य के अनुसार ही वह बदलता रहता है। ऐसी दशा में किसी सिक्के का धात्विक मूल्य अधिक या कम होने का भय नहीं रहता तथा उन्हें धातुओं के रूप में बेचने का प्रश्न भी नहीं उठता।

उक्त मान में प्रत्येक वस्तु का मूल्य दोनों धातुओं में अलग-अलग रखना पड़ता है तथा सोने-चाँदी के बाजार मूल्य में परिवर्तन होने के साथ साथ सभी वस्तुओं के मूल्य भी परिवर्तित होते रहते हैं, जिससे व्यापार व्यवसाय में बहुत असुविधा होती है। फलतः यह मान अनुपयुक्त माना जाता है। सिक्कों का मूल्य बदलते रहने से जनता को उनमें कोई विश्वास भी नहीं होता।

यह मान इंगलैंड द्वारा सन् १६६३ में अपनाया गया था। किन्तु इसे अधिक दिनों तक क्रियाशील न रखा जा सका, क्योंकि बाजार मूल्य में बहुत अधिक घट बढ़ होने से दोनों सिक्कों के मध्य कोई भी विनिमय दर सुचारु रूप से कार्य न कर सकी थी।

(४) मिश्रित मान

द्विधातुमान के एक अन्य स्वरूप का उल्लेख करना भी यहाँ अप्रासंगिक न होगा। यह स्वरूप है मिश्रित मान (Symetallism)। इससे आशय उस मान का है जो कि धातुओं की मिश्रित मात्रा से बनता है। इसका सुझाव मार्शल ने दिया था। इसमें देश का प्रामाणिक सिक्का न केवल चाँदी का ही और न केवल सोने का ही रहता है और न दोनों ही धातुओं के सिक्के अलग अलग ही चलते हैं बल्कि एक ऐसे प्रामाणिक सिक्के का चलन होता है जिसमें दोनों धातुयें होती हैं। यह मान केवल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से भी उपयुक्त है व्यावहारिक नहीं। अतः किसी भी देश ने इसे स्थापित नहीं किया है। इस मान की कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैं—(i) जाली सिक्के बनाना सरल है क्योंकि सर्वसाधारण के लिए यह अनुमान लगाना कठिन है कि अमुक सिक्के में निर्धारित अनुपात के अनुसार सोने और चाँदी का सही मिश्रण है या नहीं। (ii) सरकार भी लाभ प्राप्त करने के लिए सिक्कों में सस्ती धातु का अधिक मिश्रण करा देती है। (iii) सिक्कों के घिसने से कौन सी धातु की अधिक कमी हुई है इसका पता लगाना कठिन है। (iv) पुराने सिक्कों को गलाकर पुनः नए सिक्के बनाने में कठिनाई पड़ती है और (v) सोने और चाँदी के बाजार मूल्यों में परिवर्तन होने पर ऐसी मुद्रा का सही मूल्य मालूम करना एक कठिन समस्या है।

द्विधातुमान के गुण

स्वर्ण मान या रजतमान की तुलना में द्विधातुमान के पक्ष में अनेक लाभ बताये जाते हैं, जो कि इस प्रकार हैं—

(१) विदेशी व्यापार की सुविधा—द्विधातु मान वाले देश को विदेशी व्यापार में बड़ी सुविधा हो जाती है क्योंकि इनकी मौद्रिक इकाई का मूल्य सोने और चाँदी दोनों में ही साथ-साथ बताया जाता है जिससे रजतमान और स्वर्णमान वाले दोनों ही प्रकार के देशों से विनिमय दर (Foreign rate of exchange) निश्चित करने में सुविधा होती है। चूंकि सोने व चाँदी के आयात और निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नही होता इसलिए द्विधातुमान वाले देश मे विदेशी विनिमय की दर में परिवर्तन होने की सम्भावना भी बहुत कम होती है। इससे विदेशी व्यापार मे बड़ी वृद्धि होती है। यह सुविधा एक-धातुमान वाले देशों की नहीं होती क्योंकि रजतमान वाले देशों को स्वर्ण-मान वाले देशों से, स्वर्ण मान वाले देशों को रजतमान वाले देशों से अपनी मुद्रा की विनिमय दर निश्चित करने और कायम रखने में बड़ी असुविधाएँ होती हैं।

द्विधातुमान के गुण-दोष

चार गुण :—

(१) विदेशों से व्यापार में सुविधा।
(२) सुरक्षित कोषों का विस्तार।
(३) बैंकों को सुविधा।
(४) मूल्य स्तर में स्थिरता।

तीन दोष :—

(१) ग्रेशम का नियम कार्य-शील
(२) व्यापारिक सौदों में गड़-बड़ी।
(३) क्षति पूरक क्रिया का कार्य-शील न होना।

(२) सुरक्षित कोषों का विस्तार—पत्र मुद्रा का निर्गमन करने के लिए उसके पीछे धातु-कोष रखना आवश्यक है। जितना अधिक यह कोष होगा उतना ही अधिक लोगों का विश्वास मुद्रा में होगा तथा मुद्रा सुविधा से परिवर्तनशील रहेगी। चूंकि सुरक्षित कोष रखने के कार्य के लिए विश्व में स्वर्ण की मात्रा पर्याप्त नही है इसलिए सोने के साथ साथ चाँदी भी होनी चाहिए। सोने व चाँदी दोनों धातुओं का सुरक्षित कोष बनाकर पत्र-मुद्रा की परिवर्तनशीलता सुविधापूर्वक कायम रखी जा सकती है।

(३) बैंकों को सुविधा—द्विधातुमान वाले देश मे बैंक अपने रिजर्वों का संचालन सरलता व मितव्ययिता से कर लेते हैं क्योंकि वे किसी भी धातु (सोने या चाँदी) के सिक्कों में या दोनों में ही अपना रिजर्व बना सकते हैं। यही नहीं मुद्रा की मात्रा व चलन अधिक होने के कारण वे कम ब्याज पर रुपया उधार दे सकते हैं, जिससे उत्पादन को बढ़ावा मिलता है।

(४) मूल्य स्तर में स्थिरता—द्विधातुमान के अन्तर्गत मुद्रा के मूल्य अर्थात् मुद्रा की क्रय-शक्ति) में विशेषतः जब कि उसका अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोग होता है, स्थिरता रहती है। यह सबका अनुभव है कि सोने और चाँदी की माँग और पूर्ति में परिवर्तन होते रहते हैं। जिससे उनकी कीमतों में परिवर्तन होता रहता है और इन कीमतों के परिवर्तन का प्रभाव मुद्रा-मूल्य पर पड़ता है। एक धातु मान के अन्तर्गत इन परिवर्तनों से बहुत हानि पहुँचने की संभावना है लेकिन द्विधातुमान में ऐसी बात नहीं होती, क्योंकि यह सम्भव है कि जब एक धातु की कीमत ऊपर चढ़ती हो, तो दूसरी धातु की गिर जाय, जिससे कि दोनों धातुओ के सामूहिक कोष की कीमत मे कोई भारी परिवर्तन होने का डर नहीं रहता। इस प्रकार एक धातु दूसरी धातु की क्षति पूर्ति कर देती

है, जिसे "द्विधातुमान का क्षतिपूरक कार्य" (Compensatory Action of Bi-metallism) कहा जाता है। इस सम्बन्ध में जैवन्स ने एक उपयुक्त उदाहरण दिया है—'मान लीजिये कि पानी की दो टंकियाँ हैं जिनमें पानी का घटना बढ़ना स्वतंत्र रूप से होता रहता है। चूंकि इन दोनों को आपस में जोड़ने वाला कोई पाइप नहीं है इसलिए प्रत्येक में पानी का स्तर अपने ही परिवर्तनों से प्रभावित होगा दूसरे के परिवर्तनों से नहीं। अब मान लीजिए कि दोनों का एक पाइप द्वारा पारस्परिक सम्बन्ध कर दिया जाता है। ऐसी दशा में यदि पानी किसी भी टंकी में घटता-बढ़ता है तो दूसरी टंकी पर भी उसका प्रभाव पड़ने लगा और घटत या बढ़त दोनों टंकियों में बराबर-बराबर फैल जायेगी, जिससे पानी के स्तर में कोई भारी उतार-चढ़ाव न आने पायेगा।"

द्विधातुमान की हानियाँ

(१) ग्रेशम के नियम का कार्यशील होना—यदि द्विधातुमान केवल एक ही देश में ग्रहण किया जाता है, तो सोने और चाँदी के विनिमय-अनुपात को बनाये रखने में कठिनाई होती है, क्योंकि विदेशों में दोनों धातुओं की कीमतों में अलग-अलग अनुपात में या विपरीत दिशाओं में परिवर्तन होते रहते हैं, जिससे किसी भी एक धातु का आयात अथवा निर्यात् लाभदायक हो जाता है और ग्रेशम के नियम के कारण एक धातु के सिक्के बाजार से पूर्णतः गायब हो सकते हैं। इस प्रकार द्विधातुमान व्यवहार में एक-धातुमान ही रह जाता है।

(२) व्यापारिक सौदों में गड़बड़ी—द्विधातुमान के अन्तर्गत जब टकसाली अनुपात और बाजारी अनुपात में अन्तर हो जाता है, उस समय ऋणदाता अपने ऋणों का भुगतान महँगी धातु या इसकी मुद्रा में लेना पसन्द करेंगे जबकि ऋणी सारे ऋणों का भुगतान उस मुद्रा में करना चाहता है जिसका मूल्य गिरा हुआ है। परिणाम यह होता है कि ऋण-भुगतान के कार्यों में बड़ी अस्थिरता आ जाती है। यही नहीं, बाजार में सट्टेबाजी को भी प्रोत्साहन मिलता है, क्योंकि जिस धातु का मूल्य अब गिरा हुआ है उसके भविष्य में बढ़ जाने की आशा में सट्टेबाज सौदा करते ही रहते हैं।

(३) क्षतिपूरक कार्य हमेशा ही क्रियाशील नहीं होता—जैसा कि हमने द्विधातुमान के लाभों का उल्लेख करते समय बताया था, क्षतिपूरक कार्य द्वारा मुद्रा-मूल्य में बड़ी स्थिरता आ जाती है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि क्षतिपूरक कार्य सदैव ही क्रियाशील हो, उदाहरण के लिए, यदि दोनों धातुओं की कीमतें एक साथ एक ही दिशा में बदलें, तो स्वयं द्विधातुमान सामान्य मूल्य-स्तर (अर्थात् मुद्रा-मूल्य) में घट-बढ़ का कारण बन जाता है। वास्तव में क्षतिपूरक कार्य तभी सम्पन्न हो सकता है जबकि एक द्विधातुमान वाले देश के पास दोनों धातुओं के इतने विशाल कोष हो कि भारी मात्रा में सोने या चाँदी का निर्यात हो जाने पर भी किसी धातु की कमी प्रतीत न हो। किन्तु व्यावहारिक जीवन में किसी देश के इतने विशाल कोष होना असम्भव सा है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर द्विधातुमान की अधिक सफलता के आसार

द्विधातुमान का दोष यह है कि दोनों धातुओं के मूल्यों के बीच सदैव के लिए निश्चित अनुपात निर्धारित कर देना असम्भव है। दोनों धातुओं की माँग एवं पूर्ति सम्बन्धी अलग-अलग दशायें है और वे सम्बन्धित धातु के मूल्य पर अलग-अलग प्रभाव डालती हैं, अतः एक स्थिर अनुपात होने से किसी एक धातु का अट्ट-मूल्यन और दूसरी का अवमूल्यन होना स्वाभाविक है। यदि केवल एक ही देश (मान लीजिए कि भारत)

द्विधातुमान को अपनाये हुए है, तो अपनी निर्धारित कीमत पर चाँदी भारत में शेष विश्व की अपेक्षा या तो महँगी होगी या सस्ती। यदि वह सस्ती हो, तो विश्व के अन्य देश भारत को चाँदी के बदले में सोना भेजने लगेंगे, जिससे कि भारत में चाँदी का अभाव हो जायगा। यदि चाँदी भारत में अन्य देशों की अपेक्षा महँगी है, तो अन्य देश भारत को चांदी भेजने लगेंगे और सोना मँगायेंगे जिससे कि भारत में सोने की कमी हो जायगी।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि सम्पूर्ण विश्व द्विधातुमान को अपना ले, तो इसकी सफलता की सम्भावनायें बढ़ जायेंगी। लेकिन तब भी दोनों धातुओं के मध्य एक स्थिर सम्बन्ध निर्धारित करने से यह सम्भव है कि किसी एक धातु को खानों से निकालना दूसरी धातु की तुलना में अधिक लाभप्रद हो जाय। अतः जब तक सभी देशों में एक सा टकसाली अनुपात नहीं होगा और जब तक टकसाली अनुपात को बदलती हुई परिस्थितियों के संदर्भ में बाजारी अनुपात के समकक्ष नहीं रखा जायगा, तब तक काफी समय तक सोने और चाँदी दोनों ही धातुओं के सिक्कों को चलन में रखना सम्भव न होगा।

यदि सभी देशों में द्विधातुमान को एक ही टकसाली अनुपात पर अपना लिया जाय और बाजारी अनुपात के अनुसार इसे समायोजित करते रहें, तो केवल राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान के समर्थकों का कहना है कि जब द्विधातुमान केवल एक ही राष्ट्र द्वारा अपनाया जाता है, तो टकसाली अनुपात और बाजारी अनुपात में समायोजन उसी देश के व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। किन्तु यदि एक से अधिक राष्ट्र द्विधातुमान को अपना लें तो समायोजन करने वाली शक्तियों में वृद्धि हो जायेगी क्योंकि ऐसी दशा में सोने और चांदी की अन्तर्राष्ट्रीय टकसाली दरें ही दोनों धातुओं के बाजारी अनुपात का निर्धारण किया करेंगी, जिससे इन दोनों प्रकार के अनुपात में अन्तर रहना बन्द हो जायगा। इस प्रकार द्विधातुमान की सफलता इसे अपनाने वाले राष्ट्रों की संख्या पर निर्भर है। इस प्रकार के सुझावों को लेटिन मोनिटरी यूनियन ने कार्यान्वित करने का प्रयास किया था, किन्तु विभिन्न देशों के पारस्परिक मतैक्य के कारण अधिक सफलता नहीं मिली।

(iii) पत्र-मान
(Paper Standard)

पत्र-मान से आशय

जब देश में सरकार या सरकार द्वारा अधिकृत बैंकों द्वारा जारी किए गये करेन्सी नोट प्रमाणिक मुद्रा का कार्य करते हैं, तो इसे 'पत्रमान' (Paper Standard) कहते हैं। ये नोट असीमित विधि ग्राह्य (Unlimited Legal Tender) होते हैं।

पत्र-मान के भेद

पत्रमान के दो मुख्य भेद हैं—(१) बलात् पत्रमान (Forced Paper Standard) और ऐच्छिक पत्रमान।

(१) बलात् पत्र-मान:—इस मान में सरकार नोट जारी करती है किन्तु उनके लिए कोई कोष नहीं रखती है। इसके तीन उप भेद हैं: —

(i) अप्रबन्धित पत्रमान (Unmanaged Paper Standard) जिसमें सरकार किसी भी मात्रा में धातु को सुरक्षित कोष में नहीं रख सकती है, वह अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा जारी करती है और उसके पास बिल्कुल धातु संचय नहीं होता है।

(ii) प्रबन्धित पत्रमान (Managed Paper Standard), जिसमें सरकार अपरिवर्तनीय नोट जारी करती है, कुछ मात्रा में धातु कोष रखती है। (अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के लिए) और आवश्यकता पड़ने पर इसका प्रयोग करती है।

(iii) पत्रमुद्रा विनिमयमान (Paper Currency Exchange Standard) जिसमें करेन्सी नोट व धातु के सिक्के दोनों ही रहते हैं परन्तु प्रमाप मुद्रा का विनिमय मूल्य अन्य देशों की प्रमाप मुद्रा (Standard Money) के अनुपात में रहता है, जिनके यहाँ उस समय स्वर्णमान न हो।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी में अ-प्रबन्धित पत्र-मान स्थापित हो गया था। वहाँ सरकार अन्धाधुन्ध नोटों का प्रसार करती गई, जिससे उनका मूल्य बहुत गिर गया। सरकार के पास धातु संचय बिल्कुल नहीं रहा, लोग धातुओं का संग्रह करने लग गये, जिससे धातुओं के मूल्य में आशातीत वृद्धि हो गई। अन्त में, अक्टूबर सन् १९२४ में वहाँ रिच मार्क (Rich Mark) चालू किया गया, जिससे शनैः शनैः दशा सुधरने लगी।

प्रबन्धित पत्रमान के सम्बन्ध में इंगलैंड का उदाहरण दिया जा सकता है। वहाँ सन् १९३१ तक स्वर्ण धातुमान प्रचलित था। धात्विक कोष आवश्यक मात्रा में न रख सकने के कारण इसे सन् १९३१ में इंगलैंड ने छोड़ दिया तथा बलात पत्रमान अपनाया। पत्र मान पर नियंत्रण रखना कठिन प्रतीत हुआ। इससे दशा अधिकाधिक बिगड़ती गई। अन्त में जुलाई १९३२ में एक विनिमय खाता खोला गया और प्रबन्धित पत्र मुद्रा-मान को ग्रहण किया गया।

पत्र-मुद्रा विनिमयमान भारत में चलन में रह चुका है। सन् १९२७ में इंगलैंड में स्वर्णमान प्रचलित था और भारतीय करेंसी को इससे सम्बन्धित कर दिया गया। भारत व इंगलैंड की करन्सियों की विनिमय दर १रु०=१८ पेंस नियत हुई। किन्तु सन् १९३१ में इंगलैंड ने स्वर्णमान त्याग दिया। तब भारतीय करेंसी इंगलैंड के पत्र मान से सम्बन्धित कर दी गई। इस प्रकार भारत में पत्र-मुद्रा विनिमय-मान स्थापित हुआ।

(२) ऐच्छिक पत्रमान

जब कोई देश, जो स्वयं स्वर्णमान अपनाये हुये है, ऐसे देशों से व्यापार करता है, जहाँ पर पत्रमान चलन में हो, तो उसे इच्छापूर्वक पत्रमान अपनाना पड़ता है। साधारणतः पत्रमान वाले देश में वस्तुओं का मूल्य-स्तर नीचा रहता है और स्वर्णमान वाले देश में ऊँचा रहता है। ऐसी दशा में स्वर्णमान वाले देश की वस्तुये मंहगी पड़ती हैं, जिससे इस देश में आयात अधिक और निर्यात कम होते हैं। फलतः उसे अपना स्वर्ण निरन्तर बाहर भेजना पड़ता है, जो अधिक समय तक सम्भव नहीं है। अतः यह देश स्वतः पत्रमान अपना लेता है। इसे ऐच्छिक पत्रमान कहते हैं। इसमें सरकार पर्याप्त धातु कोष रखती है लेकिन नोटों के बदले में सोना देने का वायदा नहीं करती है।

सन् १९३३ में अमेरिका के सामने ऐसी ही दशा आ गई। पत्रमान देशों से अधिक व्यापार होने के कारण इस स्वर्णमान देश को अपने स्वर्ण कोष बाहर भेजने

पड़े। फलतः सन् १६३५ में उसने स्वर्णमान छोड़ कर ऐच्छिक पत्र मान अपनाया। सरकार ने आन्तरिक करेन्सी के बदले मे स्वर्ण (सिक्के या धातु) देने की प्रतिज्ञा को वापिस ले लिया और नोटों को स्वर्ण मे बदला जाना समाप्त कर दिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि ऐच्छिक पत्र मान अपनी आत्मरक्षा के लिए अपनाया जाता है।

प्रबन्धित पत्रमान के गुण-दोष

प्रबन्धित पत्र-मान के गुण इस प्रकार हैं—

प्रबन्धित पत्र-मान के गुण-दोष

गुण :
(१) मूल्यों में स्थिरता।
(२) प्रबन्ध की स्वतन्त्रता।
(३) उत्पादन के साधनों का शोषण।

दोष :
(१) मुद्रा प्रसार का भय।
(२) वाह्य मूल्य में अस्थिरता।
(३) अन्य देशों की आर्थिक दशा का प्रभाव।
(४) पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन में बाधा।

(१) मूल्यों में स्थिरता—इस प्रणाली मे मूल्य स्थिर रहते हैं, क्योंकि मुद्रा अधिकारी आवश्यकतानुसार मुद्रा मे घट-बढ़ कर सकता है तथा इस हेतु उसे स्वर्णकोष रखना आवश्यक नही है।

(२) प्रबन्ध की स्वतन्त्रता—इस प्रणाली के अन्तर्गत मुद्रा किसी अन्य देश पर निर्भर नहीं होती और वह स्वदेश की इच्छा के अनुसार प्रबन्धित की जाती है।

(३) उत्पादन के साधनों का शोषण—पत्र-मान देश में आर्थिक विकास करने के लिए साधन प्रदान करता है, क्योंकि देश में बदलती हुई आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रा नीति में संशोधन किया जा सकता है।

प्रबन्धित पत्र चलन के दोष निम्न है—

(१) मुद्रा प्रसार का भय—इसमे मुद्रा अधिकारी को किसी भी मात्रा में नोट छपा देने का प्रलोभन रहता है, क्योंकि मुद्रा का किसी धातु से नाता नही होता।

(२) वाह्य मूल्य में स्थिरता—किसी धातु से मुद्रा का सम्बन्ध न होने के कारण अन्य देशो की मुद्रा से स्वदेश की मुद्रा का सम्बन्ध प्रत्यक्ष न होकर आन्तरिक मूल्य स्तरों द्वारा होता है, जो कि दोनों देशों में बदलते रहते हैं।

(३) अन्य देशों की आर्थिक दशा का प्रभाव—जब अन्य देशों में पत्रमान प्रचलित हो और वहाँ व्यापारिक स्वतन्त्रता हो तो स्वदेश की मुद्रा-प्रणाली पर उन देशों की आर्थिक दशा का प्रभाव पड़ा करता है।

(४) पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन में बाधा पड़ती है—स्वर्णमान में यह दोष न था।

परीक्षा-प्रश्न

(१) 'मुद्रामान' से क्या आशय है ? एक आदर्श मुद्रा प्रणाली के क्या लक्षण हैं ? भारतीय मुद्रा प्रणाली में ये गुण कहाँ तक पाये जाते हैं ?

(२) धात्विक द्रव्यमान कितने प्रकार का होता है ? प्रत्येक की विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

(३) द्विधातुमान का अर्थ समझाइये और इसके गुण-दोषों की व्याख्या कीजिये। इस मान के कार्यान्वित होने में कौन-कौन सी मुख्य कठिनाइयाँ होती हैं ?

(४) द्विधातुमान क्या है। द्विधानुमान में ग्रेशम का नियम कैसे लागू होता है ? द्विधातुमान के पक्ष और विपक्ष में तर्क दीजिये।

(५) 'पत्रमान' से क्या आशय है ? इसके भेद बताइये एवं इनकी विशेषताओं का वर्णन करिये।

(६) प्राचीनकाल में पदार्थ मुद्रा की क्या-क्या कठिनाइयाँ थी ? धात्विक प्रमाण के अपनाने से ये कहाँ तक दूर हो सकती हैं।

(७) 'एक-धातुमान' से क्या आशय है ? इसके लाभ लिखिये।

(८) लंगड़े मान एवं समानान्तर-मान से आप क्या समझते हैं ?

(९) प्रबन्धित पत्रमान के गुण-दोषों पर प्रकाश डालिये।

अध्याय ७.

स्वर्ण मान
(Gold Standard)

प्रारम्भिक

एक धातु मान का सबसे विख्यात एवं प्रचलित रूप स्वर्णमान रहा है। प्रथम महायुद्ध के पहले इसे अधिकांश मौद्रिक प्रणालियों का आदर्श माना जाता था। अनेक सभ्य देश इसे अपनाये हुये थे और कुछ पिछड़े देशों ने भी अपने यहाँ कम से कम स्वर्ण विनिमय मान तो कायम कर लिया था। प्रथम महायुद्ध ने अनेक देशों की मौद्रिक प्रणालियों को अस्त-व्यस्त कर दिया तथा वहाँ अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा मान स्थापित हो गया। जैसे-तैसे इसकी पुनः वापिसी हुई किन्तु अन्त में सन् १९३१ में इसका फिर से खंडन हो गया। प्रस्तुत अध्याय में स्वर्णमान से सम्बन्धित समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है।

स्वर्णमान की परिभाषा एवं इसकी विशेषतायें

स्वर्णमान की परिभाषा

यों तो स्वर्णमान को कई तरह से परिभाषायें की गई हैं किन्तु साधारण शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यदि किसी देश में उसकी प्रचलित मुद्रा स्वर्ण में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से परिवर्तनीय हो, तो उस देश का मुद्रामान 'स्वर्णमान' (**Gold Standard**) कहलायेगा। कुछ प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषायें इस प्रकार हैं :—

(१) राबर्टसन (**Robertson**)—स्वर्णमान वह अवस्था है जिसमें कोई देश अपनी मुद्रा की एक इकाई का मूल्य और सोने की निश्चित मात्रा का मूल्य एक बराबर रखता है।"[1]

(२) कौलबोर्न (**Coulborn**)—"स्वर्णमान एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें चलन की मुद्रा की प्रमुख इकाई निश्चित किस्म के सोने की एक निश्चित मात्रा में बदली जा सकती है।"[2]

---

1. "Gold standard is a state of affairs in which a country keeps the value of its monetary unit and value of a defined weight of gold at an equality with one another." —*Robertson*

2. "The Gold standard is an arrangement whereby the chief piece of money of a country is exchangeable with a fixed quantity of gold of a specific quality." —*Caulborn.*

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण ही मूल्य मापन का कार्य सम्पादित करता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि इस मान में सोने के सिक्कों का ही चलन हो, वरन् जो भी मुद्रा चलन में हो (सांकेतिक या पत्र मुद्रा) उसका स्वर्ण में परिवर्तन होना आवश्यक होता है। वास्तव में, स्वर्णमान भी देश की विधान सभा द्वारा पास किये गये अन्य नियमों की भांति ही एक नियम है जिसके अनुसार-मुद्रा अधिकारी (केन्द्रीय बैंक या सरकार) का यह कर्त्तव्य है कि वह एक निश्चित दर पर सोने को देश की मुद्रा में और देश की मुद्रा को सोने में बदलता रहे। कभी-कभी देश की मुद्रा को स्वर्ण में अप्रत्यक्ष रूप से भी बदला जाता है, जैसे प्रचलित मुद्रा के बदले में एक निश्चित दर पर कोई ऐसी विदेशी मुद्रा दे दी जाती है जिसे निश्चित दरों पर बदला जा सकता है।

स्वर्णमान की विशेषतायें

स्वर्णमान की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार हैं :—

> **स्वर्णमान की विशेषतायें**
> (१) प्रमाणित मुद्रा में निर्धारित स्वर्णमान।
> (२) असीमित विधि ग्राह्य।
> (३) निर्धारित कीमतों पर स्वर्ण का क्रय-विक्रय।
> (४) स्वतन्त्र टंकन।
> (५) आयात-निर्यात की छूट।
> (६) अन्य मुद्राओं की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता।

(१) देश की प्रामाणिक मुद्रा में एक निर्धारित स्वर्ण-भार होना चाहिये अथवा उसकी दर सोने के रूप में निश्चित कर दी जानी चाहिये। पहला तरीका इंगलैंड ने अपनाया था और दूसरा तरीका भारत एवं अमेरिका ने अपनाया था। भारत ने १ तोले सोने का टकसाली मूल्य २१ रु० ७ आ० १० पाई रक्खा था।

(२) स्वर्ण मुद्रा या वह मुद्रा जो कि स्वर्ण में परिवर्तनीय है, असीमित रूप से विधि ग्राह्य होती है।

(३) मुद्रा-अधिकारी को इस प्रकार निर्धारित कीमत (टकसाली मूल्य) पर सोना खरीदने और बेचने की व्यवस्था करनी पड़ती है।

(४) स्वर्ण का स्वतन्त्र टंकन रखा जाता है।

(५) सोने के आयात व निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।

(६) देश में प्रचलित सभी प्रकार की मुद्रायें स्वर्ण में परिवर्तनशील होती हैं अर्थात् उन सबमें भी परस्पर परिवर्तनशीलता कायम रखी जाती है।

स्वर्णमान के विभिन्न स्वरूप

स्वर्णमान के ५ भेद बताये जाते हैं :—(i) स्वर्ण चलन मान; (ii) स्वर्ण धातु मान; (iii) स्वर्ण विनिमय मान; (iv) स्वर्ण कोष मान; और (v) स्वर्ण समता मान। इनमें से चौथे रूप का महत्व भविष्य की एक संभावना के रूप में ही समझा जा सकता है जबकि पाँचवाँ रूप सन् १९४६ में ही प्रारम्भ हुआ है। शेष तीन रूप बहुत समय तक वास्तविक जीवन में प्रचलित रहे हैं। अतः नीचे इन तीनों पर ही विस्तार से प्रकाश डाला गया है एवं सुविधा के लिये प्रत्येक प्रकार के स्वर्ण मान

की विशेषतायें व गुण दोष तालिका के रूप में दिये गये हैं। इससे उनका पारस्परिक अन्तर अधिक स्पष्ट हो जाता है।

विभिन्न प्रकार के स्वर्णमानों की विशेषतायें

स्वर्ण प्रचलन मान (स्वर्ण करेन्सी सहित) (Gold Curreny Standard)	स्वर्ण पाट मान स्वर्ण करेन्सी के बिना (Gold Bullion Standard)	स्वर्ण विनिमय मान (स्वर्ण करेन्सी बिना) (Gold Exchange Standard)
(१) इस मान में सोने के सिक्कों का चलन होता है और ये प्रामाणिक होते हैं।	(१) इस मान में सोने के सिक्कों का चलन नहीं होता, वरन् नोट व सांकेतिक सिक्को का ही चलन रहता है।	(१) इस मान में भी सोने के सिक्कों का चलन नहीं होता नोट एवं सांकेतिक सिक्कों का ही चलन होता है।
(२) सोने के सिक्कों की स्वतन्त्र ढलाई होती है।	(२) सब सिक्के सांकेतिक होने के कारण कोई स्वतन्त्र ढलाई नहीं होती।	(२) इनमें भी सिक्कों के सांकेतिक होने के कारण मुद्रा ढलाई स्वतन्त्र नहीं होती है।
(३) सोने के सिक्कों का मूल्य स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा के बराबर तय कर दिया जाता है। इस अनुपात को निश्चित रखने के लिए सरकार के नियन्त्रण की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती है। वह अपने आप ही स्थिर रहता है।	(३) देश में प्रचलित सिक्का एवं नोट एक निश्चित दर पर स्वर्ण में परिवर्तनीय होते हैं सरकार सदैव इस पर मुद्राओं को सोने में परिवर्तित करने के लिए तत्पर रहती है।	(३) देश में प्रचलित मुद्रा सोने मे एक निश्चित दर से अप्रत्यक्ष रूप से परिवर्तनीय होती है। अन्य शब्दों में, सरकार देशी मुद्रा के बदले एक ऐसी विदेशी मुद्रा देती है जिसके बदले मे सोना मिल सकता है। किन्तु यह विदेशी मुद्रा भी केवल विदेशी व्यापार के भुगतान के लिये ही दी जाती है।
(४) इस मान के अंतर्गत सोने के आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबंध नहीं होता।	(४) इस मान में भी सोने का आयात-निर्यात स्वतन्त्र होता है।	(४) इस मान के अन्तर्गत सोने के निर्यात पर रोक होती है।
(५) सोने के सिक्कों का प्रचलन होने से इस मान के अन्तर्गत देश की	(५) चूँकि प्रचलित मुद्रा के बदले सोना बिना किसी प्रतिबन्ध के मिल	(५) इस मान के अन्तर्गत देश की मुद्रा का सोने से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है,

मुद्रा का सोने से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है।	सकता है इसलिए देश की मुद्रा का सोने से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है।	क्योंकि प्रचलित मुद्रा के बदले विदेशी मुद्रा मिलती है जो फिर सोने मे बदली जा सकती है।

विभिन्न प्रकार के स्वर्णमानों के गुण-दोष :

स्वर्ण चलन मान	स्वर्ण पाट मान	स्वर्ण विनिमय मान
(१) यह मान अत्यन्त सुरक्षित है, कारण; मुद्रा की मात्रा कभी भी देश की व्यापारिक आवश्यकता से अधिक नही होने पाती है। अत्यन्त सुरक्षित होने के कारण जनता का भी इस मान मे बहुत विश्वास होता है।	(१) यह मान सुरक्षित तो है लेकिन स्वर्ण चलन मान की अपेक्षा कम सुरक्षित है। इसका कारण यह है कि मुद्रा अधिकारी पर्याप्त मात्रा मे पत्र-मुद्रा निर्गमित कर सकता है। इसी कारण से इस मान मे जनता का विश्वास भी कुछ कम होता है।	(१) यह मान तनिक भी सुरक्षित नही है, क्योंकि मुद्रा अधिकारी पत्र मुद्रा का बहुत निर्गमन कर सकता है और वह आन्तरिक कार्यों के लिये परिवर्तनीय नही होती। यही कारण है कि इस मान मे जनता का बहुत कम विश्वास होता है।
(२) यह मान केवल धनी देशो के लिये, विशेषतः उन देशों के लिये जहाँ सोने की खाने है, अधिक उपयुक्त है।	(२) यह मान भी धनी देशों के लिये उचित है।	(२) यह मान धनी और निर्धन दोनो ही देशों के लिए उपयुक्त है।
(३) इस मान मे सोने के सिक्को के प्रचलन से घिसाई होने के कारण देश को हानि होती है।	(३) चूंकि सोने के सिक्को का प्रचलन नही होता, इसलिये सोना घिसने से कोई हानि होने का प्रश्न ही नही उठता।	(३) इस मान में भी सोने का घिसने से नुकसान नही होता।
(४) यह एक खर्चीला मान है क्योंकि इसमे सोने की बहुत जरूरत है।	(४) इसमे सोने की कम आवश्यकता पड़ती है, अत: यह मान मितव्ययी है।	(४) यह मान बहुत ही मितव्ययितापूर्ण है क्योंकि विदेशी स्वर्ण मुद्रा केवल विदेशी व्यापार के लिए आवश्यक होती है।
(५) यह मान स्वचालित होता है। सरकार को सोना खरीदने व बेचने की परेशानी नही उठानी पड़ती है।	(५) इस मान में सरकार को सोना एक निश्चित दर पर हर समय क्रय-विक्रय करने को तैयार रहना पड़ता है।	(५) इस मान में सरकार एक निश्चित दर पर विदेशी मुद्रा (जिसके बदले मे सोना प्राप्त हो सकता है) क्रय विक्रय करने के लिए तैयार रहती है।

स्वर्णमान के नियम
(Rules of Gold Standard)

स्वर्णमान एक 'स्वतन्त्र मौद्रिक प्रणाली' (Laissez faire) है। 'स्वतन्त्र' का अभिप्राय हस्तक्षेप का अभाव होना है। अतः स्वर्णमान एक स्वतन्त्र मान इस अर्थ में है कि वह स्वयं-संचालित है और इसके संचालन मे सरकार का या मुद्रा अधिकारियों का कम से कम हस्तक्षेप होता है। सच तो यह है कि यदि इसमें हस्तक्षेप किया जाता, तो उसके टूटने का अंदेशा है। किन्तु स्वर्णमान में स्वयं-संचालकता का गुण तभी पाया जाता है जबकि निम्नलिखित नियमों का पालन किया जाय :—

स्वर्ण-मान के खेल के सात नियम

(१) विश्व के विभिन्न देशों में स्वर्ण सम्पत्ति का सामान्य वितरण।

(२) करैन्सियों की स्थिरता।

(३) राष्ट्रों को भुगतान सम्बन्धी स्थिति में सन्तुलन होना।

(४) राष्ट्रों के बीच ऋण सम्बन्धी सुविधायें।

(५) स्वर्ण-मान देशों में राजनैतिक स्थिरता।

(६) स्वर्ण मान देशों की करैन्सियों का लचीला एवं प्रतिस्पर्धात्मक होना।

(७) पारस्परिक व्यापार पर प्रतिबन्धों का अभाव।

(१) विश्व में सम्पूर्ण स्वर्ण-सम्पत्ति का इस प्रकार से सामान्य वितरण होना चाहिए कि स्वर्ण देने वाले राष्ट्र की करैन्सी व क्रेडिट का संकुचन हो और स्वर्ण पाने वाले राष्ट्र की करैन्सी व क्रेडिट का विस्तार या प्रसार हो। अन्य शब्दों में स्वर्ण का आवागमन बिना किसी रोक-टोक के देश में करैन्सी और क्रेडिट के विस्तार एवं संकुचन के रूप में प्रतिबिंबित होना चाहिए।

(२) विश्व के अग्रणी राष्ट्रों में करैन्सियाँ स्थिर होनी चाहिए।

(३) स्वर्णमान राष्ट्रों का भुगतान सम्बन्धी स्थिति में संतुलन या लगभग संतुलन होना चाहिए, जिससे कि अत्यधिक मात्रा में स्वर्ण का आवागमन न हो, क्योंकि यदि भुगतान सम्बन्धी स्थिति मे विशाल अन्तर है तो उसे पूरा करने के लिए किसी-किसी देश को अपना सारा स्वर्ण खोने पर (तथा इसके परिणामस्वरूप स्वर्णमान छोड़ने पर) विवश होना पड़ेगा।

(४) सम्बन्धित राष्ट्रों के बीच ऋण सम्बन्धी सुविधायें ऐसी हों कि उनमें से किसी भी राष्ट्र को अन्य राष्ट्रों से स्वर्णमान को छोड़े बिना, अस्थायी ऋण मिल सके।

(५) स्वर्णमान देशों में राजनैतिक स्थिरता भी होनी चाहिये। उनमें परस्पर इतना विश्वास और सद्भाव होना चाहिए कि अनार्थिक कारणों के लिए एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र को कोषों के भेजने की आवश्यकता न पड़े।

(६) स्वर्णमान देशों की करैन्सियाँ लचीली और प्रतिस्पर्धी होनी चाहिए, जिससे कि सोने के आवागमन को कीमतों, मजदूरियों और उत्पादन-लागतों इत्यादि पर तत्काल असर पड़े।

(७) स्वर्णमान देशों के बीच पारस्परिक व्यापार पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए, क्योंकि जब सरकार वस्तुओं और सेवाओं के आने-जाने पर रोक लगा देती है, तो व्यापाराधिक्य ठीक दिशाओं में परिवर्तित नहीं होने पाता।

स्वर्णमान की कार्य-प्रणाली
(Working of the Gold Standard)

स्वर्ण के आयात-निर्यात का मौद्रिक स्थिति पर प्रभाव

स्वचालकता स्वर्णमान का एक विशेष गुण है। इस मान को चालू रखने के लिए सरकार को कोई विशेष हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। स्वर्णमान स्थापित करते समय उसे केवल कुछ नियम ही बनाने पड़ते हैं, जैसे कि मुद्रा की मात्रा स्वर्ण-कोषा पर आधारित होनी चाहिए, सोने के आयात-निर्यात पर कोई रोक-टोक नहीं होनी चाहिए, इत्यादि। इन नियमों का पालन होते रहने से स्वर्णमान में स्वयं-चालकता आ जाती है। इससे देश में शोधनाशेष (Balance of Payments) में अपने आप संतुलन स्थापित हो जाता है। यदि किसी देश ने आयात अधिक किया है और निर्यात कम, तो दूसरे देशों का ऋणी रहेगा जिससे उसे अपने स्वर्ण कोष भुगतान के लिए विदेशों को भेजने पड़ेंगे। ऐसा करने से देश में स्वर्ण-कोष कम हो जायेंगे, मुद्रा का सकुचन होगा, वस्तुओं की कीमतें गिरने लगेंगी और ऐसी परिस्थितियों में आयात घटेंगे तथा निर्यात बढ़ने लगेंगे। इसी बीच, स्वर्ण पाने वाले देशों में स्वर्ण-कोषों में वृद्धि होने से मुद्रा-प्रसार होगा और वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि होगी। इन परिस्थितियों में आयात बढ़ने लगेंगे और निर्यात घटने लगेंगे। अन्त में, जिस देश का पहले प्रतिकूल भुगतान-संतुलन था अब उसके लिए यह संतुलन अनुकूल हो जायगा और वह सोना आयात करने लगेगा।

इस प्रकार स्वर्णमान अपने आप काम करता रहता है। यदि कोई सरकार विदेशी व्यापार में भुगतान करते समय स्वर्णमान वाले देशों को किसी प्रकार का धोखा देना चाहें, तो वह अपने प्रयास में सफल नहीं हो सकती क्योंकि इस मान में मुद्रा की पूर्ति स्वयं स्वर्ण-कोषों द्वारा निर्धारित होती है। अतः कैनन ने इस मान को 'मूर्ख सिद्ध एवं मक्कार-सिद्ध' कहा है कोल ने इस मान को एक स्वतन्त्र मान (Laissez Faire Standard) बताया है क्योंकि इस पर सरकार की बदलती हुई राजनीति का प्रभाव नहीं पड़ता।

स्वर्णमान का खंडन
(Break Down of Gold Standard)

स्वर्णमान का इतिहास सन् १८१६ से प्रारम्भ होता है जबकि ग्रेट-ब्रिटेन ने इसे अपने यहाँ स्थापित किया। प्रथम महायुद्ध के पहले सभी अग्रणी राष्ट्र इसे ग्रहण कर चुके थे और कुछ पिछड़े हुये राष्ट्रों ने भी इसे एक संशोधित रूप में अपना लिया था। युद्ध काल में यह मान छोड़ दिया गया, क्योंकि विभिन्न देशों द्वारा प्रतिबन्धों की

स्वर्ण-मान टूटने के ग्यारह कारण

(१) स्वर्ण-मान के नियमों का उल्लंघन।
(२) स्वर्ण का असमान वितरण।
(३) युद्ध की क्षति-पूर्ति का भुगतान।
(४) अल्पकालीन पूँजी का दुष्परिणाम।
(५) आर्थिक राष्ट्रीयता की भावना का विकास।
(६) युद्धोत्तर अर्थ-व्यवस्था की लोचहीनता।
(७) सन् १९२९ की महामन्दी।
(८) स्वर्ण मान के विभिन्न रूपों का प्रचलन।
(९) बैंकिंग और साख मुद्रा के नियन्त्रण में कठिनाई।
(१०) अन्य स्वर्ण-मान देशों पर निर्भरता।
(११) आर्थिक संकटों का सामना।

नीति अपनाने से उसके कार्य में बाधा पड़ने लगी थी। तत्पश्चात् सन् १९१९ में स्वर्णमान कुछ संशोधित रूप में फिर अपनाया गया किन्तु सन् १९३१ में यह पुनः टूट गया। शान्तिकाल में स्वर्णमान के इस सामान्य परित्याग का यह पहला अवसर था। स्वर्णमान के टूटने के कारणों को संक्षेप में इस प्रकार बताया जा सकता है :—

(१) **स्वर्णमान के नियमों का उल्लंघन**—स्वर्णमान की सफलता बहुत काफी मात्रा में स्वर्णमान के नियमों का पालन करने पर निर्भर है किन्तु स्वर्णमान का इतिहास यह स्पष्ट कर देता है कि प्रथम महायुद्ध से पहले **और** बाद में भी इन नियमों का पालन नहीं हुआ। इसके उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं :—(i) स्वर्णमान का यह नियम है कि स्वर्णमान देशों के बीच पारस्परिक व्यापार पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। लेकिन फ्रांस और अमेरिका ऐसे देश थे जिन्होंने इस नियम को सबसे पहले त्याग दिया। इन देशों ने ऊँचे-ऊँचे आयात कर लगा कर विदेशी वस्तुओं को नहीं आने दिया जिसके फलस्वरूप ऋणी देशों को सोने में ही अपने ऋणों का भुगतान करना पड़ा। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सतुलन में बड़ी बाधायें उत्पन्न हो गईं और अन्त में स्वर्णमान टूट गया।

(२) **स्वर्ण का असमान वितरण**—*प्रथम युद्ध के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सामान्य प्रवाह रुक गया और विभिन्न देशों के बीच स्वर्ण कोष असमान रूप से वितरित हो गया। (i) एक ओर अमेरिका और फ्रांस के पास बहुत मात्रा में सोना जमा हो गया। (ii) जबकि दूसरी ओर जर्मनी और पूर्वी योरोप के राष्ट्रों के पास इसकी बहुत कमी हो गई। (iii) जिन राष्ट्रों के पास सोना अधिक मात्रा में जमा हो गया था, उन्होंने इसे प्रभावहीन बनाने के लिए अनेक कदम उठाये, और जिन राष्ट्रों के पास इसकी कमी थी, उन्होंने इसकी बचत के लिए उसके निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाये। इन प्रतिबन्धों के फलस्वरूप स्वर्णमान की संचालकता समाप्त हो गई और अन्त में राष्ट्रों को इस मान का परित्याग करना पड़ा।*

(३) **युद्ध क्षति-पूर्ति का भुगतान**—प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने पर विजयी देशों ने विजित देशों से युद्ध का हरजाना देने की माँग की। (i) कुछ देशों को युद्धकालीन ऋण लौटाने के लिए विवश किया गया। जर्मनी ऐसा ही देश था जिसे एक बहुत बड़ी रकम हर्जाने के रूप में देनी थी। वह हर्जाने का भुगतान वस्तुओं के रूप में देना चाहता था, किन्तु लेनदार देशों (अमेरिका व फ्रान्स) ने वस्तुओं के रूप

में क्षति-पूर्ति लेना स्वीकार न किया। वे स्वर्ण के रूप में क्षति-पूर्ति माँगते थे। (ii) यही नहीं, इन देशों ने वस्तुओं के आयात पर भी प्रतिबन्ध लगा दिये। इस प्रकार विजित देशों को अपने स्वर्ण कोष निर्यात करने के लिए विवश होना पड़ा। संसार का लगभग ८०% स्वर्ण अमेरिका में एकत्र हो गया, और जो सोना अन्य देशों में रह गया वह इतना न था कि स्वर्णमान को सफलतापूर्वक चला सके।

(४) अल्पकालीन पूँजी का दुष्परिणाम—प्रथम युद्ध के पहले अनेक देश अपनी पूँजी विदेशों में लगाते थे, जिससे उन्हें लाभ प्राप्त हो। युद्ध के बाद धीरे-धीरे सभी देशों में विदेशी पूँजी में तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाये गये, जिससे **विदेशी पूँजी एक देश से दूसरे देश में घूमने लगी और जो देश अधिक सुरक्षित जँचा वहीं रुक गई। इसी पूँजी को 'शरणार्थी पूँजी' (Refugee capital) कहते हैं।** इस पूँजी का आवागमन इतना शीघ्र व अकस्मात होता था कि प्रत्येक देश अपने मूल्य-स्तर में इनके अनुसार परिवर्तन नहीं कर सका। परिणामस्वरूप स्वर्णमान का गला घुटने लगा। उदाहरण के लिए, फ्रांस के निवासियों की बहुत अधिक पूँजी इङ्गलैंड में लगी हुई थी। जब उन्होंने उसे वापिस माँगा, तो बैंक ऑफ इङ्गलैंड यकायक इतनी अधिक मात्रा में सोना देने के लिए तैयार नहीं हुआ। फलस्वरूप सन् १९३१ में इङ्गलैंड को स्वर्णमान छोड़ना पड़ा।

(५) आर्थिक राष्ट्रीयता की भावना का विकास—प्रथम महायुद्ध के समय में लगभग सभी राष्ट्रों को उन वस्तुओं का अभाव बड़ा खटका, जिन्हें वे विदेशों से मँगाते थे। जो देश विदेशी आयात पर निर्भर थे उनके संकट की तो कोई सीमा नहीं थी। इन कष्टों से बचने के लिए विभिन्न राष्ट्रों ने आर्थिक क्षेत्र में अधिक से अधिक आत्म-निर्भर बनने की नीति अपनाई और इस दृष्टि से देशी उद्योग-धन्धों का विकास करने के लिए उन्होंने संरक्षण का मार्ग पकड़ा। इस प्रकार की नीति एवं नियंत्रण स्वर्णमान के नियमों के विरुद्ध थे, जिनसे उसकी स्व-चालकता जाती रही और अन्त में उसका पूर्ण परित्याग करना पड़ा।

(६) युद्धोत्तर अर्थ-व्यवस्था की लोचहीनता—युद्ध समाप्त होने के बाद विभिन्न देशों की अर्थ-व्यवस्थायें बहुत लोचहीन बन गईं। अतः स्वर्ण की गति के अनुसार उनमें परिवर्तन न हो सका।

(७) सन् १९२९ की महान मन्दी—स्वर्णमान को सन् १९२९ की मंदी से बहुत हानि पहुँची जिसे सह न सकने के कारण यह मान अंततः टूट गया। इस मंदी का प्रारम्भ अमेरिका में वाल स्ट्रीट संकट से हुआ था और स्वर्णमान के प्रचलन के कारण शीघ्र ही अन्य देशों में फैल गया। बात यह हुई कि विश्व के सभी देशों में मुद्रा का अभाव होने से मूल्य स्तर गिरने लगे तथा वस्तुओं की माँग और उनके उत्पादन का संतुलन बिगड़ गया। इस संकट के कारण अमेरिका के स्वर्ण के सट्टा बाजार में सटोरियों को बड़ा नुकसान उठाना पड़ा। अन्य देशों पर भी इसका प्रभाव पड़ा। बैंकें फेल होने लग गईं, क्योंकि उनका काफी कोष उद्योगों में लगा हुआ था और वे जनता की स्वर्ण परिवर्तन की माँग को पूरा न कर पाईं। धीरे-धीरे सब ही देशों में उनकी मुद्रा की स्वर्ण-परिवर्तनशीलता का गुण समाप्त हो गया और इसके साथ-साथ स्वर्णमान का भी अन्त हो गया।

(८) स्वर्णमान के भिन्न-भिन्न रूप—युद्ध के बाद अधिकांश राष्ट्रों ने स्वर्ण-धातुमान और स्वर्ण-विनिमय मान अपना लिए, जिससे स्वर्णमान का स्वयं-संचालकता

का गुण छिन गया। इससे कुछ देशों को बेईमानी करने का अवसर मिल गया और अन्त में स्वर्णमान स्थगित कर देना पड़ा।

(९) बैंकिंग और साख मुद्रा के नियन्त्रण में कठिनाई—युद्ध के पश्चात् सभी देशों में बैंकिग का उतना अधिक विकास हो गया कि उसका नियन्त्रण करने में बड़ी कठिनाई होने लगी। साख मुद्रा भी इतनी प्रसारित हो गई कि केन्द्रीय बैंक उस पर नियन्त्रण करने में असफल रहा। इससे मूल्य स्तर में भारी वृद्धि हो गई और व्यापाराधिक्य असन्तुलित हो गया।

(१०) एक स्वर्णमान देश की अन्य स्वर्णमान देशों पर निर्भरता—स्वर्णमान के अन्तर्गत सभी स्वर्णमान देशों की अर्थ-व्यवस्थायें एक दूसरे से सम्बन्धित रहती हैं, जिससे एक देश के संकट का प्रभाव दूसरे देश पर भी पड़ता है। इस प्रकार की निर्भरता को दूर करने के लिए ही स्वर्णमान का परित्याग किया गया।

(११) आर्थिक संकट—*स्वर्णमान अनुकूल परिस्थितियों में ही साथ देता है।* किन्तु प्रथम महायुद्ध के पश्चात् विभिन्न देशों को आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ा। अतः स्वर्णमान अधिक न चल सका।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्वर्णमान वाले देशों में सन् १९३१ तक धीरे-धीरे ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं कि स्वर्णमान का चलन असम्भव हो गया और अन्ततः वह टूट भी गया। अब तो इस मान का केवल सैद्धान्तिक महत्व रह गया है।

स्वर्णमान के लाभ-दोष

(Merits & Demerits of Gold Standard)

स्वर्णमान के लाभ

स्वर्णमान को संसार के अधिकांश देशों ने किसी न किसी रूप में अपनाया है और काफी समय तक इसका बोलबाला रहा। इसका मुख्य कारण इस मान के बहुत से लाभ हैं, जो कि इसके समर्थकों ने निम्नलिखित बताये हैं :—

स्वर्णमान के ६ लाभ

(१) जनता का विश्वास।
(२) विनिमय दरों में स्थिरता।
(३) स्वचालकता।
(४) आंतरिक मूल्य स्तर में तुलनात्मक स्थिरता।
(५) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के लाभ।
(६) अन्तर्राष्ट्रीय विनियोजन में सुविधा।

(१) जनता का विश्वास—स्वर्णमान में जनता का बहुत विश्वास रहता है, क्योंकि लोग यह जानते हैं कि जब भी वे नोट सरकार के पास ले जायेंगे, उन्हें इनके बदले में स्वर्ण मुद्रा या स्वर्ण-धातु या किसी विदेशी स्वर्ण-मुद्रा से सम्बन्धित ड्राफ्ट मिल जायगा। यही नहीं स्वर्ण का अपना मूल्य भी होता है, इसलिये विमुद्रीकरण की दशा में लोगों को हानि का भय नहीं होता।

(२) विनिमय दरों में स्थिरता—स्वर्णमान के अन्तर्गत, विभिन्न देशों की विनिमय दरों का निर्धारण उनकी करेंसियों के आन्तरिक स्वर्ण-मूल्य के सन्दर्भ में निश्चित किया जाता है। अतः विनिमय

की टकसाली दरें तो बिल्कुल स्थिर रहती हैं और वास्तविक विनिमय-दरें भी टकसाली समता से कुछ ही न्यूनाधिक हो सकती हैं अर्थात् वास्तविक विनिमय-दर टकसाली-दर से केवल यातायात-व्यय के बराबर कम या अधिक रह सकती है। विदेशी विनिमय दर की स्थिरता एक ऐसा गुण है जिसका महत्व प्रथम महायुद्ध के बाद और विशेषत: स्वर्णमान त्यागने के बाद ही पता चलता है क्योंकि प्रथम महायुद्ध के बाद विदेशी विनिमय दरों में बहुत अस्थिरता के कारण विदेशी व्यापार काफी कम हो गया।

(३) स्वयं-चालकता—स्वयं-चालकता स्वर्णमान का एक विशेष गुण है। इस मान को चालू रखने के लिये सरकार को कोई विशेष हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। स्वर्णमान स्थापित करते समय उसे केवल कुछ नियम ही बनाने पड़ते हैं, जैसे कि मुद्रा की मात्रा स्वर्ण-कोषों पर आधारित होना चाहिये, सोने के आयात-निर्यात पर कोई रोक टोक नहीं होनी चाहिये इत्यादि। इन नियमों का पालन होते रहने से स्वर्णमान में स्वयं-चालकता आ जाती है। इससे देश में शोधना-शेष (Balance of Payments) में अपने आप संतुलन स्थापित हो जाता है। **इस प्रकार स्वर्णमान अपने आप काम करता रहता है। यदि कोई सरकार विदेशी व्यापार में भुगतान करते समय स्वर्णमान वाले देशों को किसी प्रकार का धोखा देना चाहे, तो वह अपने प्रयास में सफल नहीं हो सकते, क्योंकि इस मान में मुद्रा की पूर्ति स्वयं स्वर्ण-कोषों द्वारा निर्धारित होती हैं। अतः कैनन के इस मान को 'मूर्ख-सिद्ध एवं मक्कार-सिद्ध कहा है' कोल ने इस मान को एक स्वतन्त्र मान (Laissez Faire Standard) बताया है, क्योंकि इस पर सरकार की बदलती हुई राजनीति का प्रभाव नहीं पड़ता।**

(४) आन्तरिक मूल्य-स्तर में तुलनात्मक स्थिरता—स्वर्णमान के अन्तर्गत आन्तरिक मूल्य-स्तर में भी अधिक स्थिरता सम्भव हो जाता है। इसका कारण सरल है। मूल्य-स्तरों में परिवर्तन का प्रधान कारण मुद्रा की क्रय-शक्ति में परिवर्तन होना है। किन्तु जब हम मुद्रा की पूर्ति को स्वर्ण के साथ (देश में और विदेश में) सम्बन्धित कर देते हैं, तो मुद्रा की क्रय-शक्ति में समय-समय पर परिवर्तन नहीं होते, क्योंकि एक तो स्वर्ण की कोषों में बहुत अधिक वृद्धि या कमी नहीं आने पाता और दूसरे, स्वर्ण के मूल्य में अधिक परिवर्तन भी नहीं होते।

(५) *अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के लाभ*—*"स्वर्णमान के अन्तर्गत देश को वे सब* लाभ प्राप्त होते हैं, जोकि एक सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा से हो सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक देश में (जबकि सब देशों में स्वर्णमान हो) मुद्रा का मूल्य सोने में नापा जाता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बड़ी सुविधा हो जाती है। मार्शल के शब्दों में "स्वर्णमान को ग्रहण करना विश्व रेलवे की शाखा लाइनों के गेज को मेन-लाइन्स के साथ समन्वित करने के समान है।"[3]

(६) अन्तर्राष्ट्रीय विनियोजन में सुविधा—स्वर्णमान के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय विनियोगों में वृद्धि हो जाती है। कीन्स ने एक बार कहा था कि 'यदि स्वर्णमान सारे योरोप में स्थापित किया जा सकता है, तो इससे न केवल उत्पादन और व्यापार

---

3. "The change to a gold basis is like a movement towards bringing the railway gauge on the side branches of the world's railway into union with the main lines"

में वृद्धि होगी वरन् अन्तर्राष्ट्रीय साख और पूंजी को भी उन भागों में जाने का प्रोत्साहन मिलेगा जहाँ कि उनकी सबसे अधिक आवश्यकता है।

स्वर्णमान के दोष

आलोचकों ने स्वर्णमान के कुछ दोष भी बताये हैं। इनका मत है कि इस मान के जो गुण बताये गये हैं वे कल्पनात्मक एवं दिखावटी हैं। मुख्य-मुख्य आक्षेप निम्नलिखित हैं;—

(१) **केवल 'अनुकूल परिस्थितियों का मान'**—आलोचकों का कहना है कि स्वर्णमान केवल अनुकूल परिस्थितियों में ही ठीक-ठीक चलता है किन्तु आर्थिक संकट के समय यह कार्यशील नहीं रहता और साथ छोड़ देता है। आर्थिक संकट के समय स्वर्णकोष की मात्रा को बढ़ाना कठिन होता है, जिससे मुद्रा का प्रसार नहीं होने पाता जबकि देश को आर्थिक संकट से बचाने के लिए मुद्रा प्रसार की अत्यन्त आवश्यकता हुआ करती है। ऐसी दशा में या तो देश संकट में ही रहेगा अथवा स्वर्ण-मान के नियमों का पालन न किया जायेगा, जिससे स्वर्णमान की स्वयं-चालकता समाप्त हो जाती है या वह स्थगित हो जाता है।

(२) **जनता का विश्वास स्वर्ण-आधार पर निर्भर नहीं होता**—यह कहा जाता है कि स्वर्णमान जनता मे विश्वास उत्पन्न कर देता है। किन्तु इसके आलोचकों का मत है कि यह विश्वास केवल अच्छे दिनों मे ही रहता है; आर्थिक सकट के समय स्वर्णमान के प्रति विश्वास समाप्त हो जाता है और स्वर्ण को जमा करने के लिये उसकी मांग बढ़ जाती है, बैंकों पर भीड लग जाती है तथा अशांति फैल जाती है। इस प्रकार स्वर्णमान के प्रति जनता का विश्वास टिकाऊ नही होता। दूसरे, आधुनिक युग में जनता का विश्वास स्वर्ण आधार से सम्बन्धित नही होता। पहले तो ऐसा था कि लोग करेंसी नोट को इसलिये स्वीकार कर लेते थे कि उसे सोने या चाँदी की एक निश्चित मात्रा मे बदला जा सकता था, लेकिन आजकल करेंसी नोटों को अपने ही गुण (विनिमय शक्ति) के कारण स्वीकार किया जाता है अर्थात् लोगों को अपरिवर्तनीय कागजी नोटों में उतना ही विश्वास है जितना कि स्वर्ण सिक्कों में था।

(३) **विदेशी विनिमय की स्थिरता के लिये आन्तरिक मूल्य की स्थिरता का बलिदान**—मुद्रा के बाहरी मूल्य में स्थिरता लाने के लिये आन्तरिक मूल्य की स्थिरता को त्यागना पड़ता है। उदाहरण के लिए, यदि देश से स्वर्ण बाहर जाने लगे, तो विदेशी विनिमय दर को स्थिर रखने के लिये मुद्रा की मात्रा में कमी करनी पड़ती है, जिससे मूल्य कम हो जायें। इस प्रकार आन्तरिक मूल्य-स्तर में विदेशी मूल्य को स्थिर रखने के लिये घटा-बढ़ी की जाती है।

(४) **स्वतन्त्र नीति का अवलम्बन सम्भव नहीं है**—स्वर्णमान के अन्तर्गत सभी स्वर्णमान वाले देश एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं, कोई भी देश एक स्वतन्त्र आर्थिक नीति का अवलम्बन नही कर सकता। यदि भुगतान का सतुलन (Balance of Payment) प्रतिकूल है, तो स्वर्ण कोष बाहर जाने लगेंगे, करेंसी का संकुचन होगा और कीमतें व आय गिरने लगेंगी। यदि कोई देश मुद्रा प्रसार या मुद्रा संकुचन नहीं होने देना चाहता, तो उसे स्वर्णमान छोड़ना होगा। स्वर्णमान कायम रखते हुये एक स्वतन्त्र आर्थिक नीति का अवलम्बन सम्भव नही है।

(५) **अर्थ-व्यवस्था की स्व-संचालकता का दोष**—स्वर्णमान के अन्तर्गत अर्थ-व्यवस्था का स्वसंचालन होता रहता है। इस स्व-संचालकता का एक गम्भीर

दोष है। जब किसी कारण से जैसे कि युद्ध के परिणामस्वरूप किसी देश के माल की मांग अत्यधिक होती है, तो वह देश अनुकूल भुगतान-संतुलन के फलस्वरूप स्वर्ण का आयात करने लगता है और स्वर्णमान के नियमों के अनुसार आयात किया गया स्वर्ण देश मे मुद्रा प्रसार का आधार बन जाता है। जिससे वहाँ कीमतों और भावों में मुद्रा-प्रसारिक वृद्धि उत्पन्न हो जाती है। यदि भुगतान संतुलन की अनुकूलता कई वर्षों तक कायम रहे, तो देश में अत्यधिक मुद्रा-प्रसार अनुभव किया जायगा, जबकि स्वर्ण निर्यातक विदेशी देशों को घोर मन्दी का सामना करना पड़ेगा।

(६) स्वर्णमान की अस्थिरता—स्वर्णमान अस्थिर है, क्योंकि इस मान में मुद्रा की मात्रा स्थिर नहीं होती। स्वर्णमान (विशेषतः आन्तरिक स्वर्णमान) करेंसी की मात्रा मे स्थायित्व नहीं लाता, वरन् उसे परिवर्तित होने पर विवश करता है। वह केवल स्वर्ण की मात्रा (Volume of gold) और करेंसी की मात्रा (Volume of Currency) के बीच के सम्बन्ध को ही स्थायित्व प्रदान कर सकता है।

(७) मुद्रा प्रसार पर रोक लगाने के वैकल्पिक साधन—स्वर्णमान का एक लाभ यह बतलाया जाता है कि इसके अन्तर्गत मुद्रा अधिकारी पर नियन्त्रण रहता है, जिससे वह मनमाना मुद्रा प्रसार नहीं कर सकता। किन्तु जैसा कि क्राउथर ने बतलाया है, इस उद्देश्य को पूरा करने के अन्य उपाय भी हैं जो इतने खर्चीले नहीं है। (उदाहरण के लिये, प्रबन्धित मुद्रा प्रणाली सफलतापूर्वक कार्य कर रही है।) मुद्रा प्रसार को सीमित करके मुद्रा स्फाति को रोकना, क्राउथर के अनुसार, ढलान पर चलती मोटर का पेट्रोल निकाल कर रोकने के समान है।

(८) कीमतों की स्थिरता भी काल्पनिक है—मुद्रा के मूल्य को सोने के मूल्य से बाँधने की नीति हानिकारक है। इससे कीमतों में स्थिरता आने की अपेक्षा वह भंग हो जाती है क्योंकि सोने की कीमतों में प्रत्येक परिवर्तन का मूल्य-स्तर पर प्रभाव पड़ेगा। सोने की कीमत मे परिवर्तन होना स्वाभाविक है, जैसे किसी पुरानी खान की समाप्ति से सोने की मात्रा में कमी हो जायेगी और सोने का मूल्य बढ़ जायेगा। इसी प्रकार, सोने की किसी नई खान की खोज होने या खोदने के ढंगों में उन्नति होने से सोने की पूर्ति बढ़ जायगी और सोने का मूल्य कम हो जायेगा।

उपरोक्त गुणों और दोषों की तुलना करने पर किसी निर्णय पर पहुँचना बड़ा कठिन हो जाता है, किन्तु इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि स्वर्णमान व्यवहार में उतना कार्यकुशल प्रमाणित नहीं होता, जितना कि इसके बारे में सिद्धान्ततः सोचा जाता है। स्वर्णमान की इन कमियों के कारण ही स्वयं चालित मान को लगभग सभी देशों ने त्याग दिया था और धीरे-धीरे प्रबन्धित मान को अपना लिया।

स्वर्णमान का भविष्य

(Future of Gold Standard)

विभिन्न समयों पर विभिन्न प्रकार की वस्तुओं ने मुद्रा का कार्य किया है। ...। में वस्तुएं मुद्रा का कार्य करती थी, बाद मे धातु (विशेषतः सोना-चाँदी) ने मुद्रा का कार्य दीर्घकाल तक किया और आजकल कागज के नोट मुद्रा का कार्य कर रहे हैं। स्वर्णमान संसार में बहुत समय तक रहा (लगभग १८१६ मे १९३१ तक) और संसार के अधिकांश देशों ने इसे अपनाया। इसका मुख्य कारण यह है कि स्वर्ण-

मान के चलन के बहुत से लाभ थे। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि स्वर्णमान एक स्वतन्त्र मान है। यह स्वतन्त्र वातावरण में ही सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व स्वर्णमान को न्यूनाधिक स्वतन्त्र वातावरण में कार्य करने को मिला इसलिए वह सफलतापूर्वक कार्य करता रहा। लेकिन प्रथम युद्ध के समय में तथा इसके बाद परिस्थितियों में बड़ा परिवर्तन हो गया और विभिन्न देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं स्वर्ण के आवागमन पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगा दिए, जिससे वह पुन: स्थापित होने के बाद भी सन् १९३१ में पुन: टूट गया। किन्तु विभिन्न देशों के मध्य समझौतों के अन्तर्गत स्वर्ण अन्तर्राष्ट्रीय हिसाब-किताब के निपटारे का माध्यम बना रहा यद्यपि उसे करेंसी यूनिट के रूप में पदच्युत कर दिया गया था। किन्तु अनेक गुणों के होते हुए भी ये समझौते द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होते ही टूट गये, क्योंकि वे युद्ध द्वारा उत्पन्न असाधारण परिस्थितियों का सामना नहीं कर सके।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर एक बार फिर से अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा की गई। सन् १९४४ में ब्रेटनवुड्स में एक अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सम्मेलन हुआ। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मुद्रा सहयोग सम्बन्धी एक योजना तैयार की गई, जिसके अन्तर्गत एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) तथा एक अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development) का निर्माण हुआ।

ब्रेटनवुड्स योजना के उद्देश्य निम्नलिखित थे—(१) अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में स्थिरता रखना, (२) विदेशी विनिमय की दर में स्थायित्व लाना, और (३) विभिन्न राष्ट्रों की आर्थिक प्रगति में सहायता देना।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की योजना में स्वर्ण का स्थान

इस योजना की विशेषता यह है कि इसके द्वारा स्वर्णमान के सारे लाभ तो प्राप्त हो गये हैं किन्तु जो दोष थे उनका निवारण अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से किया गया है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी आन्तरिक मुद्रा प्रणाली को राष्ट्रीय हित का ध्यान रखकर संचालित कर सकता है। इस योजना में स्वर्ण की भी अधिक आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि घरेलू चलन में तो कागजी मुद्रा व सांकेतिक मुद्रा ही होती है और अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के द्वारा किए जाते हैं। इस प्रकार स्वर्णमान की स्थापना तो नहीं हुई है किन्तु स्वर्ण को अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य-स्तर तथा विनिमय दरों का आधार बना दिया गया है। नई व्यवस्था में स्वर्ण का स्थान इस प्रकार है :—

(१) प्रत्येक सदस्य देश को अपने कोटे का २५% या अपने पास के सोने का १०% सोना कोष में जमा करना पड़ता है।

(२) प्रत्येक देश के चलन का मूल्य सोने में परिभाषित होता है, जिसके आधार पर विदेशी विनिमय दरें निर्धारित होती हैं। इसमें आवश्यकतानुसार कोष की अनुमति से परिवर्तन भी किया जा सकता है।

(३) यदि कोष को अपने पास किसी भी देश की करेंसी का अभाव प्रतीत हो, तो उसे सोना देकर खरीद सकता है।

(४) कोष ने स्वर्ण का मूल्य ३५ डालर प्रति विशुद्ध औंस निश्चित किया है। यह प्रणाली अभी तक अच्छी तरह कार्य कर रही है।

क्या पुराने ढंग का स्वर्णमान पुनः स्थापित किया जा सकता है ?

द्वितीय युद्ध की समाप्ति पर अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की सुविधा के लिए अनेक योजनायें बनाई गई और उन पर विचार किया गया। उन्हीं दिनों यह प्रश्न भी उपस्थित हुआ था कि क्या स्वर्णमान को पुन. स्थापित किया जा सकता है। इस प्रश्न पर विचार करने से पहले हमें उन शर्तों को जानना आवश्यक है जिनकी उपस्थिति में यह मान सफलतापूर्वक चल सकता है। ये आवश्यकतायें एवं शर्तें निम्नलिखित हैं :—

(१) स्वर्णमान तभी सफल हो सकता है जबकि अनेक देश इसे अपनायें, क्योंकि तब ही स्वर्णमान अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य-मापन और विनिमय माध्यम के लिए उपयोगी हो सकता है।

(२) स्वर्ण कोष पर्याप्त हों और इनका समान वितरण भी होना चाहिए।

(३) विदेशी व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए, क्योंकि व्यापारिक स्वतन्त्रता होने पर ही विदेशों से एक ऐसा देश भी स्वर्णमान प्राप्त कर सकता है जिसके पास स्वर्ण नहीं है।

(४) स्वर्णमान के नियमों का पालन होना चाहिए।

(५) स्वर्णमान के सफल संचालन के लिए राजनैतिक शांति परम आवश्यक है। इसके अभाव में जनता शंकाकुल रहती है और पूँजी का विदेशों को निर्यात होने लगता है।

(६) अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का भार कम होना चाहिए, अन्यथा देश के निर्यात का एक बड़ा भाग इसका ब्याज या मूलधन चुकाने में ही समाप्त हो जायगा और विदेशों से अपनी आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करना कठिन हो जायगा। ऐसी स्थिति में स्वर्णमान शिथिल हो जाता है।

(७) स्वर्णमान में स्वचालकता का गुण तभी रह सकता है जबकि इस मान को अपनाने वाले देशों के बीच पारस्परिक सहयोग हो।

आजकल आर्थिक राष्ट्रीयवाद के युग में उक्त सभी शर्तों को पूरा करना असम्भव है, अतः स्वर्णमान की स्थापना सम्भव नहीं है। कीन्स, गुस्टव तथा कैसल ने भी यह मत प्रगट किया है कि स्वर्ण के मूल्य में अस्थिरता के कारण इसका मौद्रिक क्षेत्र में बहुत कम महत्व रह गया है। इसीलिए उन्होंने भविष्य में स्वर्णमान के स्थान पर प्रबन्धित पत्र मुद्रामान को अधिक सम्भव बताया है। आज अमेरिका के पास संसार का ⅔ भाग सोना है, जिसका समान वितरण तभी हो सकता है जबकि विभिन्न राष्ट्रों के बीच निर्बाध व्यापार हो। परन्तु आज कोई भी राष्ट्र अपनी संरक्षण की नीति छोड़ने को तैयार नहीं होगा। अतः स्वर्णमान का भविष्य अन्धकारमय है और इसका पुराने ढंग पर पुनः स्थापन नहीं हो सकता।

परीक्षा प्रश्न

(१) स्वर्णमान का अर्थ बताइये। इसके मुख्य रूपों की विशेषताओं का वर्णन कीजिये।

अध्याय १०.

मुद्रा के मूल्य का माप (निर्देशांक)

(Measure of Value of Money—Index Numbers)

प्रारम्भिक—निर्देशांकों की आवश्यकता

मुद्रा के मूल्य और वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य का विरोधी सम्बन्ध है। अतः मुद्रा के मूल्य का अनुमान वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्यों से लग सकता है। अनुभव से हम यह जानते हैं कि किसी भी समय सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें एक साथ ही नही घटती बढ़ती हैं। यदि कुछ वस्तुओं की कीमतें घटती हैं, तो कुछ वस्तुओं की कीमतें बढ़ती है और कुछ वस्तुओं की कीमतें स्थिर रहती है। इसके अतिरिक्त विभिन्न कीमतों के घटने-बढ़ने की गति भी समान नही होती। अतः किसी विशेष समय पर सभी कीमत-परिवर्तनों के एक पूर्ण चित्र मे अनेक प्रकार की पृथक-पृथक असम्बद्ध बढ़ती हुई, गिरती हुई और रुकी हुई कीमतों की अस्त-व्यस्त अवस्थायें दिखलाई देंगी। फिर भी इस अस्त-व्यस्त अवस्था मे एक केन्द्रीय प्रवृत्ति उस प्रकार ही दिखलाई देती है जिस प्रकार कि पक्षियों के एक समूह के बारे में दिखलाई देती है। पक्षियों का समूह गतिशील है, भले ही समूह के अन्दर कुछ पक्षी ऊपर जाने की कोशिश कर रहे हो, कुछ पक्षी नीचे की ओर आते हों और कुछ पक्षी चक्कर काट रहे हों। लेकिन समूह के सम्पूर्ण पक्षी गतिशील हैं, यही समूह की केन्द्रीय प्रवृत्ति है। इसी प्रकार, कीमत परिवर्तनों की भी एक प्रवृत्ति होती है। सामान्य मूल्य स्तर की इस केन्द्रीय प्रक्रिया को प्रगट करना ही सूचनांकों का कार्य है।

निर्देशांक की परिभाषा

उपरोक्त बात को ध्यान में रखकर हम निर्देशांक की परिभाषा निम्न शब्दों में कर सकते हैं :—"सूचनांक एक तालिका के रूप में क्रमबद्ध किये गये विभिन्न मूल्य स्तरों की औसत संख्या है जो मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन दिखलाने के उद्देश्य से वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों के परिवर्तनों को प्रकट करती है।"

बढ़ते हुये एवं घटते हुये सूचनांक—यदि सूचनांक बढ़ते जा रहे है, तो इसका यह अर्थ है कि सामान्य मूल्य स्तर बढ़ रहा है अर्थात् वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में केन्द्रीय प्रवृत्ति बढ़ने की ओर है अथवा मुद्रा का मूल्य कम होता जा रहा है। इसके विपरीत यदि उक्त सूचनांक गिरते जा रहे है, तो इसका यह अर्थ होता है कि सामान्य मूल्य स्तर कम होता जा रहा है अर्थात् वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में केन्द्रीय प्रवृत्ति घटने की ओर है अर्थात् मुद्रा का मूल्य बढ़ रहा है।

सूचनांक मुद्रा-मूल्य के सापेक्षिक मापक हैं—यह नही भूलना चाहिये कि सूचक अंक मुद्रा मूल्य के पूर्ण या निरपेक्ष (absolute) मापक नही है वरन् मूल्यों के परिवर्तन के तुलनात्मक रूप को ही दिखलाते हैं। अतः किसी समय यह कहना कि सूचक अंक ५० हैं तब तक निरर्थक है जब तक कि इस अंक को किसी अन्य समय के अंक से तुलना न की जाय। जब हम यह बतलाते हैं कि अमुक वर्ष के औसत मूल्य स्तर (जिसे प्राय: १०० मान लिया जाता है) की तुलना मे यह अङ्क ५० है, तब ही उक्त कथन सार्थक होता है और यह सूचित करता है कि मूल्य स्तर पहले की तुलना में घट कर आधा रह गया है अर्थात् मुद्रा का मूल्य बढ़कर पहले से दुगुना हो गया है।

सूचनांक बनाने की विधि

सूचनांक बनाने के लिये निम्नलिखित बातों को ध्यान मे रखना चाहिए :—

सूचनांक बनाते समय ध्यान रखने योग्य पाँच बातें

★

(१) सूचनांक का उद्देश्य।
(२) वस्तुओं और सेवाओं का चुनाव।
(३) वस्तुओं के मूल्य का चुनाव।
(४) आधार वर्ष का चुनाव।
(५) औसत निकालना।

(१) सूचनांक का उद्देश्य—सूचनांक बनाने से पहिले उसके उद्देश्य के बारे में निश्चित हो लेना चाहिये, क्योंकि विभिन्न उद्देश्यों के लिए एक पृथक् सूचनांक बनाना पड़ता है। उदाहरण के लिये, यदि हमारा उद्देश्य श्रमिकों की वास्तविक और मौद्रिक मजदूरियों की समस्या का अध्ययन करना है, तो हमें 'फुटकर मूल्य' सूचनांक (Retail Price Index) बनाना चाहिए और यदि हमारा उद्देश्य एक व्यापारिक दृष्टिकोण से मुद्रा-मूल्य मे हुये परिवर्तनों की जानकारी प्राप्त करना हो, तो 'थोक मूल्य सूचनांक' (Wholesale Price Index) काम मे लेना होगा।

(२) वस्तुओं और सेवाओं का चुनाव—सूचनांक का उद्देश्य निर्णय कर लेने के बाद वस्तुओं और सेवाओं के चुनाव की समस्या उदय होती है। समाज मे मुद्रा द्वारा सैकड़ों व हजारो वस्तुओ और सेवाओं का क्रय-विक्रय होता है; अतः प्रत्येक वस्तु व सेवा को कीमत का विचार करना कठिन ही नही वरन् असम्भव भी होता है। इस कठिनाई से बचने के लिये ऐसी वस्तुओं और सेवाओं का चुनाव किया जाता है जो कि अन्य वस्तुओं व सेवाओं का प्रतिनिधित्व करती हों अर्थात्, यदि चुनी हुई वस्तुओ और सेवाओं की कीमतें बढ़ती हैं, तो अन्य वस्तुओ और सेवाओ की कीमतों मे कमी होती है। वस्तुओं और सेवाओं का चुनाव सूचनांक के उद्देश्य पर निर्भर होता है। उदाहरण के लिये, यदि सूचनांक बनाने का उद्देश्य रहन-सहन के खर्च का अध्ययन करना है, तो हम ऐसी वस्तुओ का चुनाव करेंगे, जिनका हमारे जीवन में बहुत महत्व है। इसके अतिरिक्त वस्तुओं और सेवाओं का यह चुनाव भिन्न-भिन्न वर्ग के मनुष्यों के रहन-सहन के खर्च के परिवर्तनों को नापने के लिए भिन्न-भिन्न होगा। दूसरे, शब्दों में उन्हीं वस्तुओ का चुनाव करना होगा जिनका उपभोग करने के लिए एक श्रेणी विशेष के लोग आदी हैं। यों तो वस्तुओं और सेवाओं की संख्या जितनी

अधिक ली जायेगी उतनी ही उत्तमता सूचनांक में आवेगी लेकिन सुविधा की दृष्टि से प्राय: २५—३० प्रतिनिधि वस्तुओं का ही चुनाव हुआ करता है।

(३) **वस्तुओं के मूल्यों का चुनाव**—वस्तुओं के मूल्य 'थोक' भी होते हैं और 'फुटकर' भी तथा युद्ध और युद्धोत्तर काल में 'नियन्त्रित' मूल्य भी होते हैं। कभी-कभी चोर बाजार के मूल्य भी होते हैं। सूचनांक के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए ही यह तय किया जाता है कि वस्तुओं के किन मूल्यों को काम में लिया जाय। मुद्रा का सामान्य मूल्य जानने के लिए थोक मूल्यों को लिया जाता है, क्योंकि एक तो उन्हें मालूम करना सरल होता है, और दूसरे वे सामान्य मूल्य का ज्ञान कराने में फुटकर मूल्यों की अपेक्षा अधिक सहायक होते हैं। किन्तु जब रहन-सहन के व्यय का सूचनांक बनाना हो, तो फुटकर मूल्यों का चुनाव ही उपयुक्त होगा। मूल्यों का चुनाव करने के बाद हमे यह भी निर्णय करना होगा कि मूल्य किस समय के लिये जायें—दैनिक या साप्ताहिक या मासिक।

(४) **आधार वर्ष का चुनाव**—सूचनांक प्राय: वार्षिक आधार पर बनाये जाते हैं अत: निर्देशांक बनाने के लिये एक 'आधार वर्ष' (Base Year) का चुनाव बहुत आवश्यक है। आधार वर्ष का अभिप्राय उस वर्ष से होता है जिसके औसत मूल्य को अन्य वर्षों के औसत मूल्यों का आधार माना जाता है। चूंकि इस वर्ष के मूल्यों के आधार पर ही हम अन्य वर्षों के मूल्यों की तुलना करते हैं, इसलिये इसके चुनाव में अत्यन्त सावधानी रखनी चाहिये। एक ऐसे वर्ष को आधार बनाना चाहिये जिसमें मूल्यों में अधिक उतार-चढ़ाव न हुए हों, और जिसमें कोई ऐसी असाधारण घटना (जैसे अकाल, दंगे-फसाद या लड़ाई झगड़े) न हुई हो जिससे देश की आर्थिक दशा पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इन घटनाओं के कारण, यदि हम अन्य वर्षों के मूल्य की तुलना इस वर्ष से करेंगे, तो निकाले गये निष्कर्ष भ्रान्तिमूलक होंगे। अत: एक ऐसा आधार वर्ष चुनना चाहिये जो कि हर प्रकार से सामान्य हो।

(५) **औसत निकालना**—आधार वर्ष का चुनाव कर लेने के पश्चात् अगला कदम उस वर्ष की सभी चुनी हुई वस्तुओं की कीमतों की सूची तैयार करना है। इस वर्ष की सब कीमतों को १०० मान लिया जाता है और फिर जिस वर्ष की कीमतों का सूचनांक बनाना है उसकी कीमतों को आधार वर्ष की कीमतों के प्रतिशत में निकालते हैं। उदाहरण के लिये, यदि आधार वर्ष मे गेहूँ का मूल्य १० रु० प्रति मन है, तो इसे हम १० रु० के बराबर मान लेते हैं। यदि सूचनाक बनाने के वर्ष में गेहूँ का मूल्य २ रुपये प्रति मन हो, तो प्रतिशत के रूप में यह $\left(\frac{१०० \times २०}{१०}\right)$ =२०० कहलायेगा। इस तरह सभी कीमतों के प्रतिशत निकाल लेते हैं। अन्त में, आधार वर्ष और दूसरे वर्ष की कीमतों के प्रतिशतों का औसत निकाला जाता है। आधार वर्ष का औसत तो १०० ही रहेगा, लेकिन दूसरे वर्ष का औसत १०० से कम या अधिक हो सकता है। यह औसत ही सूचक अंक या सूचनांक है। इस सम्बन्ध में एक कठिनाई का उल्लेख करना अनावश्यक न होगा और वह यह है कि औसत कौनसा निकाला जाय?—अंकगणित औसत (Arithmetical Average) या रेखा-गणित (Geometrical Average) यूं तो औसत निकालने की और भी कई विधियाँ हैं। किन्तु आजकल इन्हीं दो विधियों का प्रयोग किया जाता है। इन दो में भी अंकगणित औसत सुगम होने के कारण सबसे अधिक लोकप्रिय है। परन्तु सच तो यह है कि भिन्न-भिन्न दशाओं में औसत निकालने की विधि भिन्न-भिन्न होती है।

सूचक अंकों का एक उदाहरण

निम्न तालिका से यह प्रगट होता है कि सूचक अङ्क किस प्रकार बनाये जाते हैं :—

पाँच महत्वपूर्ण वस्तुओं के १९५९ वर्ष के सूचनांक (आधार वर्ष १९३९)

वस्तुयें	आधार वर्ष की कीमतें (प्रति मन रु० में)	आधार वर्ष के सूचक अङ्क	१९५९ की कीमतें	१९५९ के सूचक अङ्क
१. गेहूँ	५	१००	२५	५००
२. चावल	१०	१००	३०	३००
३. दाल	१५	१००	२२५	१५०
४. चीनी	१७·५	१००	३५	२००
५. घी	८०	१००	२४०	३००
		५००		१,४५०
औसत (अङ्कगणित)		$\frac{५००}{५}$ = १००		$\frac{१४५०}{५}$ = २९०

उपरोक्त तालिका के अनुसार १९३९ की तुलना में वस्तुओं की कीमतों में सन् १९५९ मे १९०% की वृद्धि हो गई है, जिसका अर्थ है कि मुद्रा का मूल्य लगभग आधा रह गया है।

साधारण एवं भारयुक्त सूचनांक
(Simple & Weighted Index Numbers)

उक्त उदाहरण में सूचनांक साधारण औसत द्वारा प्राप्त किया गया था। अतः इसे साधारण सूचक अंक (Simple Index Number) भी कहते हैं। यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि साधारण सूचक अंकों का निर्माण करना सरल है तथापि इसे संतोषजनक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमे प्रत्येक वस्तु को समान महत्व दिया जाता है जबकि वास्तविकता यह है कि सभी वस्तुओं का समान महत्व नहीं होता। उदाहरण के लिये एक पिन की कीमत मे बहुत वृद्धि हो जाने का भी इतना महत्व नही है जितना कि अनाज की कीमत में थोड़ी सी वृद्धि हो जाने का। अतः यह आवश्यक है कि अधिक शुद्ध सूचनांक प्राप्त करने के लिये प्रत्येक वस्तु को उसकी महत्ता के अनुसार 'भार' (Weight) दिया जाय। इस प्रकार बनाये गये सूचनांक को 'भारित सूचनांक' (Weighted Index Number) कहा जाता है। किसी वस्तु को कितना भार दिया जाय यह जानने के लिये हमें यह देखना चाहिये कि वर्ग विशेष के सदस्य अपनी आय का कितना भाग किस वस्तु पर व्यय करते हैं। आय का जितना अधिक भाग जिस वस्तु पर खर्च होगा उस वस्तु का महत्व उतना ही अधिक होगा। इस प्रकार भार देने के लिये कुल व्यय मे से प्रत्येक वस्तु का प्रतिशत व्यय मालूम किया जाता है और उसी प्रतिशत के अनुसार भार निर्धारित किये जाते हैं।

भार युक्त सूचनांक मे औसत मूल्य-स्तर मालूम करने के लिये आधार वर्ष के आधार पर दूसरे वर्ष के कीमतों के प्राप्त प्रतिशतों को अर्थात् सूचक अंकों को भारों मे गुणा कर दिया जाता है और गुणनफल को भारों के योग से भाग दे दिया जाता

है। उपरोक्त उदाहरण में गेहूँ, चावल, दाल, चीनी और घी को क्रमशः ४, २, १, २ और १ में भार देते हुए भार-युक्त सूचक-अंक इस प्रकार निकाले जायँगे—

सन् १६३६ के आधार पर सन् १६५६ के भारित सूचनांक

वस्तुएँ	भार	आधार वर्ष की कीमतें (प्र. म. रु. में)	आधार वर्ष की कीमतों के सूचनांक	१६५६ की कीमतें प्रति मन रु० में	१६५६ की कीमतों के सूचनांक
१. गेहूँ	४	५	१००×४=४००	२५	५००×४=२०००
२. चावल	२	१०	१००×२=२००	३०	३००×२= ६००
३. दाल	१	१५	१००×१=१००	२२·५	१५०×१= १५०
४. चीनी	२	१·५	१००×२=२००	३५	२००×२= ४००
५. घी	१	८०	१००×१=१००	२४०	३००×१= ३००
	१०		१०००		३,४५०

औसत—$\frac{१०००}{१०}$=१०० $\frac{३४५०}{१०}$=३४५

उपरोक्त भारित सूचनांक यह प्रगट करते है कि कीमतों में २४५% वृद्धि हो गई है अर्थात्, सामान्य मूल्य-स्तर सन् १६३६ की तुलना में लगभग ३½ गुना हो गया है। साधारण सूचनांक की अपेक्षा यह अधिक विश्वास प्रद सूचना दे रहा है।

सूचनांक के निर्माण में व्यावहारिक कठिनाइयाँ

एक उपयुक्त एवं सही सूचनांक बनाने में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जिन्हें हल न करने से सन्तोषजनक सूचनांक प्राप्त नहीं होता। ये कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैं—

(१) कीमतों से सम्बन्धित आँकड़े संग्रह करना एक कठिन एवं खर्चीला कार्य है—संगठित बाजारों में बेचो जाने वाली वस्तुओं की कीमतों को सुगमता से मालूम किया जा सकता है लेकिन फुटकर बेचो जाने वाली वस्तुओं के लिये सन्तोषजनक आँकड़े प्राप्त नही होते। अत. वह सूचनांक जोकि रहन-सहन के व्यय में होने वाले परिवर्तनों को नापने के लिये बनाया गया है, दोष युक्त सिद्ध होगा।

(२) वस्तुओं के चुनाव और उन्हें भार देने की कठिनाई—प्रतिनिधि वस्तुओं का चुनाव करने और उन्हें उपयुक्त भार प्रदान करने के सम्बन्ध में कई कठिनाइयाँ हैं, जिन्हें हल करने का कोई मार्ग नही मिलता। ये कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैं—(i) विभिन्न व्यक्ति विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ खरीदते हैं, अतः कीमतों में परिवर्तन होने का अलग व्यक्तियों पर अलग प्रभाव पड़ेगा। अतः एक विशेष तिथि के एक विशेष

वर्ग के मजदूर-परिवारों के उपभोग पर आधारित रहन-सहन का सूचनांक एक मध्यम वर्ग के परिवारों के लिये कोई महत्व नहीं रखता, क्योंकि उनका उपभोग बहुत भिन्न प्रकार का होता है, एवं (ii) समय बीतने पर वह व्यक्ति जिसके लिये सूचनांक बनाया गया है, अपनी आदतें, रुचियाँ बदल सकता है, अतः जो सूचनांक कुछ पहले के लिये बनाये गये थे वे अब भी सन्तोषप्रद लाभ दे सकें, ऐसा सम्भव नहीं है।

(३) देश और काल की परिस्थितियों में भिन्नता होने के कारण तुलना में असुविधा—(i) कुछ वस्तुएँ एक समय या एक स्थान में तो बेची जायें किन्तु दूसरे समय अथवा स्थान पर न बेची जायें, (ii) अनेक नई वस्तुएँ भी कालान्तर में बिकने के लिये बाजार में प्रस्तुत हो सकती हैं, (iii) यहाँ तक कि वस्तु का नाम न बदले किन्तु उसके गुण आदि में अन्तर आ सकता है, (iv) यही नहीं अलग-अलग देशों में खान-पान, रहन-सहन भी समान नहीं होता, (v) कुछ वस्तुएँ ऐसी भी होती हैं जो ऋतु में बेची जाती हैं और ऋतु निकलने पर उन्हें कोई नहीं लेता। **इन सब बातों के कारण एक समय या एक देश के लिये बनाए गये सूचनांक दूसरे समय या देश के लिये बनाये गये सूचनांक से मिलाये नहीं जा सकते।**

(४) वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतों व मात्राओं में भिन्नता—यदि किसी समय या स्थान में प्रत्येक वस्तु की कीमत २०% अधिक हो, तो यह कहा जा सकता है सामान्य मूल्य-स्तर २०% बढ़ गया है, क्योंकि किन्हीं भी वस्तुओं को सूचनांक के अन्तर्गत सम्मिलित करें, उनकी कीमत २०% अधिक हो बैठेगी। इसी प्रकार यदि विभिन्न वस्तुओं की सापेक्षिक मात्रायें बिल्कुल वही रहें तो भी हम इन स्थिर अनुपातों में सम्मिलित की गई विभिन्न वस्तुओं की मात्राओं के आधार पर सूचनांक बना सकते थे, लेकिन प्रायः सापेक्षिक कीमतों एवं मात्राओं में परिवर्तन हो जाते हैं। उदाहरण के लिये, अधिकांश भारतीय अब दूध की अपेक्षा चाय अधिक पीने लगे हैं, आयु के आधार पर जनसंख्या का वितरण बदल जाता है, इन बातों का प्रभाव वस्तुओं की माँग पर ही पड़ता है, आय का वितरण भी बदल सकता है। टैक्नीकल प्रगति इत्यादि के कारण कुछ वस्तुओं की कीमतें घट जाती हैं और लोग उन्हें अधिक खरीदने लगते हैं। बिक्री के लिये आने वाली वस्तुओं की सापेक्षिक मात्राओं व कीमतों में भिन्नता आ जाने के कारण कठिनाइयाँ प्रस्तुत हो जाती हैं।

(५) आधार वर्ष के चुनाव में कठिनाई—एक ऐसे वर्ष के चुनाव में कठिनाई पड़ती है, जिसमें कोई असाधारण घटना न हुई हो। यह स्मरण रहे कि **आधार वर्ष भी समय-समय पर बदलता रहता है।** एक बार का चुना हुआ आधार वर्ष सदैव काम नहीं आता, क्योंकि कुछ ऐसी घटनायें हो सकती हैं, जिससे पुराने आधार वर्ष बदली हुई दशा में सही अनुमान लगाने में सहायक न हों।

उक्त कठिनाईयों के कारण सही-सही सूचक अंक बनाना सम्भव नहीं है। प्रोफेसर मार्शल ने भी कहा है कि *'मूल्य का बिल्कुल सही माप केवल कठिन ही नहीं वरन् असम्भव भी है।'* किसी भी संस्था ने अभी तक कोई ऐसा सूचक अंक नहीं बनाया है, जिसे क्रय-शक्ति का उपयुक्त माप कहा जा सके। प्रायः द्वितीयात्मक मूल्य-स्तर (Secondary price levels) के सूचनांक ही बनाये जा सकते हैं, जैसे—थोक मूल्य-सूची अंक या रहन-सहन व्यय सूचनांक।

सूचक अङ्कों के लाभ

(Advantages of Index Numbers)

सूचक अंकों के लाभ

यदि सही सूचनांक बनाना सम्भव नहीं है, तो इसका यह अर्थ लगाना अनुचित होगा कि इनके बनाने से कोई लाभ नहीं है। आजकल सांख्यिकी का महत्व बढ़ गया है और इसे अर्थशास्त्र की एक रीति मान लिया गया है। अतः अब तरह-तरह के सूचक अंक बनाये जाते हैं और इनके भिन्न-भिन्न उपयोग हैं :—

(१) **जीवन-स्तर के घटने-बढ़ने की सूचना**—जीवन-निर्वाह व्यय सम्बन्धी सूचनांकों से यह पता लग जाता है कि रहन-सहन का व्यय बढ़ रहा है या घट रहा है अर्थात् श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी घट रही है या बढ़ रही है। इस बात का ज्ञान होने से मालिकों और मजदूरों के झगड़े अधिक सुगमता से तय हो जाते हैं क्योंकि मजदूरी और रहन-सहन के व्यय में समायोजन किया जा सकता है।

(२) **बिक्री तथा मूल्य सम्बन्धी जानकारी**—बिक्री तथा मूल्य सम्बन्धी सूचनांकों से व्यापारियों को यह पता लग जाता है कि उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री घट रही है या बढ़ रही है। इसके अतिरिक्त उन्हें अपने माल के क्रय-विक्रय के ठीक-ठीक समय का भी पता चल जाता है और यही बात मूल्यों पर भी लागू होती है।

(३) **मुद्रा मूल्य की जानकारी**—सामान्य मूल्य सम्बन्धी सूचनांक मुद्रा के मूल्य में हुये परिवर्तनों का ज्ञान कराता है जो कि सरकार, व्यापारियों व श्रमिकों के लिये बड़ी उपयोगी है। जब यह अंक धीरे-धीरे बढ़ता है तो इसका यह अर्थ है कि मूल्यों में धीरे-धीरे वृद्धि हो रही है और व्यापार में स्थिरता व दृढ़ता आती जा रही है। यदि यह अंक तेजी से बढ़ता है तो इसका यह अर्थ है कि मूल्यों में तेजी से वृद्धि हो रही है जिससे मुद्रा-स्फीति के दोषों का भय साकार होने लगता है। मुद्रा स्फीति अथवा मुद्रा संकुचन दोनों ही समाज के लिये हानिप्रद हैं। अतः सरकार को इन सूचनांकों से इनकी पूर्व सूचना मिल जाती है और वह बैंक दर, विनिमय दर तथा साख की मात्रा पर उचित नियन्त्रण रखने लगती है।

(४) **विदेशी व्यापार सम्बन्धी ज्ञान**—विदेशी व्यापार सम्बन्धी सूचक अंकों से विदेशी व्यापार की स्थिति का पता लगता है तथा इससे विदेशी व्यापार भुगतान में संतुलन की दशा विकसित की जा सकती है।

(५) **उत्पादन के घटने-बढ़ने की सूचना**—उत्पत्ति सम्बन्धी सूचनांकों से यह मालूम पड़ जाता है कि कौन-कौन से उद्योगों में उत्पादन बढ़ रहा है और किन में घट रहा है। इस जानकारी के आधार पर सरकार अपनी आर्थिक सहायता सम्बन्धी नीति उचित रूप से निश्चित कर सकती है। कारखानों को भी मालूम हो जाता है कि उनके कारखानों में कार्य ठीक से चल रहा है या नहीं।

(६) **अन्य लाभ**—सूचनांकों के अध्ययन से ऋणी अपने ऋणों को चुकाने का आदर्श समय पता लगा सकता है। और एक ऋणदाता भी रुपया उधार देने का ठीक समय ज्ञात कर सकता है। बैंकों को रुपये की माँग सम्बन्धी सूचक अंकों से नगद कोष की मात्रा समायोजित करने में सहायता मिलती है। ट्रैफिक से सम्बन्धित

सूचनांकों के आधार पर रेल्वे भी यह ज्ञात कर सकती है कि विशेष अवसरों पर उसे कितनी गाड़ियाँ चलानी चाहिये। सूचक अंक व्यापारी को अपने लाभ-हानि की जानकारी में भी बहुत सहायक होते हैं। कुछ व्यापारी अपने कर्मचारियों की कुशलता के सूचनांक तैयार कराके उनके आधार पर ही तरक्की देते हैं। सट्टा-व्यापारियों को भी सूचक अंकों से बड़ी सहायता मिलती है। राजनीतिज्ञ एवं समाज सुधारक भी इन अंकों की मदद से देश की वास्तविक आर्थिक दशा का अनुमान लगा कर सरकार की नीति की उचित आलोचना कर सकते हैं। सरकार को भी आर्थिक योजनायें बनाने में इनसे बहुत मदद मिलती है।

सूचनांकों की सीमायें (Limitations of Index Numbers)

वास्तव में सूचना अंकों को आर्थिक जगत से दबावों को नापने का यन्त्र कहा जाता है क्योंकि इनके द्वारा सभी आर्थिक घटनाओं के परिणामों को जाना जा सकता है। इसके अतिरिक्त, सूचनांकों के निर्माण की कुछ कठिनाइयों का हल भी खोज निकाला गया है जिससे इनकी उपयोगिता और भी बढ़ गई है। फिर भी कुछ दोष रह गए हैं जिनको दूर करना सम्भव नहीं हो सका है। सूचनांकों के उपयोग की निम्न सीमायें भी उल्लेखनीय हैं :—

(१) सूचनांक अनुमानित होते हैं और इनमें गणितात्मक सत्यता का सर्वथा अभाव रहता है।

(२) भारित सूचनांकों में भार निर्धारण बिल्कुल ऐच्छिक होता है जिससे एक ही समय में भारों में अन्तर होने के कारण परिणामों में भी अन्तर हो सकता है।

(३) जिस विशेष उद्देश्य के लिये सूचनांक तैयार किया जाता है केवल उसी के लिये वह उपयुक्त सिद्ध हो सकता है।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक घटनाओं की तुलना करने में बड़ी असुविधा होती है क्योंकि प्रत्येक देश में वस्तुओं के मूल्य, मात्रा, गुण व आधार वर्ष में भिन्नता पाई जाती है।

भारत में सूचनांकों का उपयोग

भारत में निर्देशांक तैयार करने के दो स्रोत हैं—सरकारी तथा गैर सरकारी। प्रति महीने भारत सरकार एक रिपोर्ट प्रकाशित करता है। इसमें देश की व्यापारिक दशा के निर्देशांक होते हैं। भारत सरकार के आर्थिक सलाहकार द्वारा भी निर्देशांक बनाये जाते हैं। बम्बई तथा उत्तर प्रदेशीय सरकारें भी थोक निर्देशांक प्रकाशित करती हैं। कुछ राज्यों के लेबर कमिश्नर मजदूरों के रहन-सहन व्यय सम्बन्धी निर्देशांक प्रकाशित करते हैं। रिजर्व बैंक भी कुछ मुख्य निर्देशांक प्रति महीने प्रकाशित करता है। गैर सरकारी स्रोतों में ईस्टर्न इकानामिस्ट जैसी पत्र-पत्रिकायें व इन्डियन चैम्बर आफ कामर्स जैसी कुछ व्यापारिक संस्थायें समय-समय पर महत्वपूर्ण निर्देशांक प्रकाशित करती हैं।

भारतीय निर्देशांकों के दो प्रमुख दोष हैं जिन्हें अब दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है—(i) भाव एकत्र करने वाले ट्रेन्ड व अनुभवी कर्मचारियों की कमी है और (ii) सूचनांक प्रकाशित वाले अधिकारियों के पास समय का बड़ा अभाव रहता है क्योंकि उन पर अन्य सरकारी कार्यों का भी भार होता है।

स्वतंत्रता के बाद भारत सरकार द्वारा प्रकाशित मुख्य वस्तुओं के मूल्यों के सूचनांक निम्नलिखित हैं :—

(आधार वर्ष—अगस्त १९३९=१००)

वर्ष	खाद्य पदार्थ	कच्चा माल	अर्ध निर्मित माल	निर्मित माल	अन्य वस्तुयें	साधारण अंक
१९४७–४८	३०६·१	३७७·५	२६१·६	२८६·४	४५६·२	३०८·२
१९४८–४९	३८२·९	४४४·८	३२७·३	३४६·१	५२५·२	३७६·२
१९४९–५०	३९१·३	४७१·७	३३१·६	३४७·०	५७०·७	३८५·४
१९५०–५१	४१६·४	५२३·१	३४८·९	३५४·२	७०७·७	४०९·७
१९५१–५२	३९८·६	५९१·९	३७४·४	४०१·५	७२१·६	४३४·६
१९५२–५३	३५७·८	४३६·९	३४३·८	३७१·२	६१४·१	३८०·६
१९५३–५४	३८४·४	४६७·७	३५९·२	३६७·४	६८६·६	३९७·५
१९५४–५५	३३९·८	४३६·२	३५०·३	३७७·३	६१२·४	३७७·४
९९५५–५६	३१३·२	४१९·७	३३८·२	३७२·९	५४६·४	३६०·३

उपरोक्त तालिका से यह प्रगट होता है कि स्वतंत्रता के बाद देश मे मूल्य-स्तर निरन्तर बढ़ता ही गया। सन् १९५१-५२ में वह सर्वाधिक था। इसके बाद कुछ गिरावट आई और सन् १९५५-५६ में यह ३६०·३ रह गया।

रहन-सहन के बढ़े हुये मूल्य का मजदूरों के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा, उसका अनुमान लगाने के लिये केन्द्रीय सरकार ने श्रम-ब्यूरो की सहायता से 'मजदूर वर्ग उपभोक्ता मूल्य के सूचनांक' तैयार कराये हैं। जो १९५०-५१ से १९५७-५८ तक की अवधि के लिए नीचे दिये गये हैं। इनसे पता चलता है कि मजदूरों के जीवन-यापन व्यय प्रायः बढ़ते ही गये हैं यह वृद्धि बम्बई में सबसे अधिक है। तत्पश्चात् मद्रास, दिल्ली और कलकत्ता का नम्बर है।

(आधार वर्ष १९४९=१००)

वर्ष	सम्पूर्ण भारत	बम्बई	कलकत्ता	दिल्ली	मद्रास
१९५०–५१	१०१	१०३	१०१	१०२	१०१
१९५१–५२	१०४	१०८	१०६	१०८	१०४
१९५२–५३	१०४	११२	१००	१०७	१०३
१९५३–५४	१०६	११८	९९	१०७	१०९
१९५४–५५	९९	११७	९४	१०३	१०४
१९५५–५६	९६	११०	९३	१००	१००
१९५६–५७	१०७	११६	१०२	११२	११३
१९५७–५८	११२	१२२	१०५	११२	११७

परीक्षा प्रश्न

(१) निर्देशांक किसे कहते हैं ? इन्हें कैसे बनाया जाता है ? साधारण एवं सप्रभाव निर्देशांकों में क्या अन्तर होता है ?

(२) "मुद्रा की क्रय-शक्ति को पूर्णतः सही माप लेना न केवल असंभव है वरन् अविचारणीय भी।" (मार्शल) इस कथन को स्पष्ट कीजिये।

(३) आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में निर्देशांकों का महत्व बताइये।

(४) सूचनांकों की सीमायें बताइये और लिखिये कि भारत में इनका उपयोग किस सीमा तक होता है ?

(५) सूचनांक बनाते समय किन-किन असुविधाओं का सामना करना पड़ता है ? इनके निर्माण में कौन-कौन सी सावधानियाँ रखना आवश्यक है ?

(६) सूचनांक से मँहगाई एवं सस्ती का पता किस प्रकार लगाया जा सकता है ? स्पष्टतः समझाइये।

अध्याय ११.

मुद्रा मूल्य के सिद्धान्त

(मुद्रा मात्रा सिद्धान्त)

[Theories of Value of Money]

प्रारम्भिक

आप यह देख चुके हैं कि मुद्रा के मूल्य से आशय इसकी क्रय-शक्ति का है। मुद्रा-मूल्य और सामान्य मूल्य स्तर में विपरीत सम्बन्ध होता है। यदि सामान्य मूल्य-स्तर बढ़ता है तो मुद्रा मूल्य घटता है और यदि सामान्य मूल्य स्तर घटता है तो मुद्रा मूल्य बढ़ता है। मुद्रा मूल्य में समय-समय पर जो परिवर्तन होते रहते हैं उन्हें सूचनांक द्वारा मापा जा सकता है। मुद्रा के मूल्य में समय-समय पर जो परिवर्तन होते रहते हैं उनका समाज के विभिन्न वर्गों पर विभिन्न प्रकार से प्रभाव पड़ा करता है। अब समस्या यह उठती है कि मुद्रा का मूल्य निर्धारित कैसे होता है? प्रस्तुत अध्याय में इसी समस्या पर प्रकाश डाला गया है।

मुद्रा-मूल्य का माँग-पूर्ति सिद्धान्त

(Demand & Supply Theory of Value of Money)

माँग एवं पूर्ति का सिद्धान्त क्या है?

मूल्य के सामान्य सिद्धान्त (General Theory of Value) के अनुसार प्रत्येक वस्तु (या सेवा) का मूल्य उसकी माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। वस्तु की माँग बढ़ने से वस्तु का मूल्य भी बढ़ने लगता है और वस्तु की माँग घटने से वस्तु का मूल्य भी घटने लगता है। लेकिन वस्तु की पूर्ति और इसके मूल्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होकर अप्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। यदि वस्तु की पूर्ति घटती है, तो उसका मूल्य बढ़ता है और यदि पूर्ति बढ़ती है, तो मूल्य घटता है। इस प्रकार वस्तु के मूल्य पर माँग और पूर्ति की शक्तियों का विपरीत प्रभाव पड़ता है। माँग की वृद्धि मूल्य को बढ़ाने का प्रयत्न करती है किन्तु पूर्ति की वृद्धि मूल्य को घटाने का। इस रस्साकशी में जो पक्ष सबल होता है वही मूल्य को अधिक प्रभावित कर देता है अर्थात् यदि माँग की शक्ति अधिक है, तो मूल्य बढ़ जायेगा और यदि पूर्ति की शक्ति अधिक है, तो मूल्य घट जायेगा। जो मूल्य लिया जायेगा वह उस बिन्दु पर निर्धारित होगा जहाँ कि वे शक्तियाँ एक दूसरे को संतुलित कर लेती हैं।

मुद्रा मूल्य एवं सामान्य मूल्य सिद्धान्त

जो अर्थशास्त्री मुद्रा और अन्य वस्तुओं में कोई भेद नहीं मानते वे माँग और पूर्ति के सिद्धान्त को ही मुद्रा के मूल्य के निर्धारण पर लागू करते हैं अर्थात्, उनके

अनुसार मुद्रा का मूल्य भी उसकी माँग और पूर्ति द्वारा निश्चित होता है। अतः हमें यह देखना चाहिये कि मुद्रा की माँग एवं मुद्रा की पूर्ति से क्या आशय है।

मुद्रा की माँग से आशय

'मुद्रा की माँग' का अर्थ जानने के पहले यह आवश्यक है कि हम किसी वस्तु की माँग का क्या अर्थ होता है यह समझलें। एक साधारण वस्तु की माँग उसकी उपयोगिता पर निर्भर होती है। मुद्रा की माँग भी इसलिये होती है कि उनमे उपयोगिता है किन्तु *वस्तु की उपयोगिता से मुद्रा की उपयोगिता का स्वरूप भिन्न होता है।* एक साधारण वस्तु (जैसे कि एक पुस्तक या मेज) की भाँति मुद्रा मे मनुष्य की आवश्यकताओं को प्रत्यक्ष रूप से संतुष्ट करने का गुण (अथवा उपयोगिता) नही होता है। अत. मुद्रा की उपयोगिता केवल वस्तुओ व सेवाओ को क्रय करने के लिये है। इस प्रकार मुद्रा की माँग उसके विनिमय माध्यम होने पर निर्भर है। उदाहरण के लिये, कोई भी व्यक्ति (केवल कंजूस को छोड कर) मुद्रा को मुद्रा के लिए अर्थात् संग्रह करने के लिये नही चाहेगा वरन् इसलिये चाहेगा कि आवश्यकता पड़ने पर उसकी सहायता से आवश्यक वस्तुयें एवं सेवायें खरीद ले। अतः स्पष्ट है कि किसी देश में **मुद्रा की माँग उन वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा पर निर्भर करती है, जिनका कि विनिमय किया जाता है।** कुछ अर्थशास्त्री देश में उत्पन्न कुल वस्तुओं और सेवाओं को मुद्रा की माँग का प्रतीक समझते हैं। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है। इसमें से उन वस्तुओं व सेवाओं को घटा देना चाहिए जो कि उत्पादनकर्त्ता अपने उपभोग के लिए रख लेते हैं या अदल-बदल के काम में लेते हैं क्योंकि ऐसी वस्तुयें मुद्रा की माँग उत्पन्न नहीं करती हैं।

मुद्रा की पूर्ति से आशय

मुद्रा की पूर्ति से आशय उन सब वस्तुओं की सामूहिक मात्रा से होता है, जो कि देश के अन्दर विनिमय के माध्यम के रूप में प्रचलित हों। यहाँ मुद्रा का अर्थ संकुचित रूप मे न लेकर विस्तृत रूप मे लिया गया है। धातु की मुद्रा, कागज की मुद्रा, साख मुद्रा (जैसे, चैक, बिल, हुन्डी आदि) सबकी मात्रा मिलकर मुद्रा की पूर्ति का निर्माण होता है। किन्तु यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि मुद्रा की पूर्ति में उन मुद्राओं की गिनती नहीं करनी चाहिए जो कि व्यक्तियों द्वारा गाढ़ कर या अलमारी में बन्द करके रखी जाती है। इसके अतिरिक्त मुद्रा की पूर्ति पर उसकी चलन गति, राष्ट्र की स्वर्ण सम्पत्ति, साख नीति, सामाजिक रिवाज व व्यक्तिगत स्वभाव का भी प्रभाव पड़ता है।

माँग एवं पूर्ति के संतुलन द्वारा मुद्रा-मूल्य का निर्धारण

जिस प्रकार एक साधारण वस्तु का मूल्य उस बिन्दु पर निश्चित होता है जहाँ कि वस्तु की माँग और उसकी पूर्ति का परस्पर संतुलन हो जाता है, उसी प्रकार मुद्रा का मूल्य भी ऐसे स्थान पर नियत होता है जहाँ पर कि उसकी माँग और पूर्ति का साम्य स्थापित हो जाय। जब माँग और पूर्ति मे परिवर्तन हो जाता है, तो पुराना संतुलन भंग होकर नया संतुलन स्थापित होता है और फिर वही मुद्रा का नया मूल्य सूचित करता है।

माँग-पूर्ति सिद्धान्त की आलोचना

ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि जो अर्थशास्त्री मुद्रा और अन्य वस्तुओं कोई भेद नही मानते, उनके मतानुसार मुद्रा का मूल्य अन्य वस्तुओं के मूल्य निर्धा-

रण की तरह इसकी मांग और पूर्ति के द्वारा निर्धारित होता है। वे मुद्रा के मूल्य-निर्धारण के लिये किसी पृथक सिद्धान्त को आवश्यकता नहीं समझते।

किन्तु कुछ अर्थशास्त्री मुद्रा और अन्य साधारण वस्तुओं में अन्तर मानते हैं। इसके निम्न दो कारण हैं:— (i) वस्तुओं व सेवाओं की मांग प्रत्यक्ष (Direct) होती है (अर्थात् वे मानव आवश्यकताओं की संतुष्टि प्रत्यक्ष रूप से करती हैं) किन्तु मुद्रा की मांग अप्रत्यक्ष (Indirect) है क्योंकि मुद्रा स्वयं उपभोग की वस्तु नहीं है वरन् उपभोग की वस्तुओं पर अधिकार दिलाने वाली है। अत: जबकि अन्य वस्तुओं की मांग की लोच घटती-बढ़ती रहती है, मुद्रा की मांग की लोच सदैव इकाई के बराबर रहती है (ii) मुद्रा की मांग अल्पकाल में लगभग स्थिर रहती है, क्योंकि जनसंख्या, रहन-सहन, उत्पादन, मानव स्वभाव आदि में कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता इसके विपरीत, वस्तुओं की मांग अल्पकाल और दीर्घकाल दोनों ही में घटती बढ़ती रहती है। अत: जबकि वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में साधारणतया मांग और पूर्ति का समान रूप से प्रभाव पड़ता है। तब मुद्रा के मूल्य निर्धारण में पूर्ति का विशेष प्रभाव पड़ता है मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त इसी तथ्य की पुष्टि करता है। उसे भी दूसरे शब्दों में मुद्रा की मांग और पूर्ति का सिद्धान्त कहा जाता है।

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त
(Quantity Theory of Mon

मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन क्यों होते है? इसका उत्तर अर्थशास्त्रियों द्वारा 'मुद्रा परिमाण सिद्धान्त' के रूप में प्रस्तुत किया गया है। विशुद्ध रूप में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सन् १७५२ में डेविड ह्यूम ने किया था जिसके अनुसार मूल्य स्तर को मुद्रा के परिमाण से सम्बन्धित माना गया, तब से अब तक इस सिद्धान्त में अनेक तत्वों का समावेश हो गया है और कई प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों ने नवीन व्याख्यायें प्रस्तुत की है। अमेरिका में इस सिद्धान्त का एक दीर्घकाल तक प्रचार रहा है और जिन लोगों ने इस सिद्धान्त का विस्तृत रूप में वर्णन किया है उनमें फिशर का स्थान सर्वोच्च है। अत: इसे 'फिशर का परिमाण सिद्धान्त' भी कहते हैं। यद्यपि आधुनिक काल में फिशर के इस सिद्धान्त का विशेष महत्व नहीं है तथापि इसका प्रयोग किया जाता है, क्योंकि यह सामान्य मूल्य स्तर पर प्रभाव डालने वाली सारी शक्तियों को एक स्थान पर केन्द्रित कर देता है। कुछ लोगों का विचार है कि यदि इसे एक प्रवृत्ति मान लिया जाय, तो यह हमें बहुत सी आर्थिक घटनाओं को स्पष्ट करने में सहायता देगा।

सिद्धान्त का कथन

(१) मिल के शब्दों में सिद्धान्त इस प्रकार है—अन्य बातें समान रहने पर मुद्रा का मूल्य, चलन में मुद्रा के परिमाण के साथ विपरीत दिशा में किन्तु अनुपातिक रूप से परिवर्तित होता है अर्थात् परिमाण में प्रत्येक वृद्धि ठीक बराबर के अनुपात में मूल्य कम कर देती है और परिमाण में प्रत्येक कमी ठीक उसी अनुपात में मूल्य बढ़ा देती है।[1]

---

1. "The value of money, other things being the same, varies inversely as the quantity; every increase of quantity lowers the value and every diminution raising it in a ratio exact by equivalent."
—*Mill*

(२) प्रोफेसर टाजिग का कथन है कि—"अन्य बातें समान रहने पर, यदि मुद्रा का परिमाण द्विगुणित हो जाय, तब वस्तुओं के मूल्य पहले से दुगुने हो जायेंगे और मुद्रा का मूल्य आधा हो जायगा। यदि मुद्रा का परिमाण आधा कर दिया जाय, तो अन्य बातें समान रहने पर, वस्तुओं के मूल्य आधे हो जायेंगे और मुद्रा का मूल्य दुगुना हो जायगा।[2]

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण

मान लीजिये कि एक पुराने समाज में १००० वस्तुयें हैं और इन्हें खरीदने के लिये १,००० रु० चलन में हैं। यदि एक दिये हुये समय में हर एक वस्तु का केवल एक ही बार क्रय-विक्रय हो, हर एक मुद्रा केवल एक ही बार हस्तांतरित की जाय, समाज में वस्तु विनिमय प्रचलित न हो, मुद्रायें दबाकर न रखी जायें तो ऐसी दशा में प्रत्येक वस्तु का मूल्य १) होगा। अब यदि रुपयों की संख्या दो गुनी अर्थात् २०००) कर दी जाय किन्तु वस्तुओं की संख्या पहले के समान ही रही आवे, तो प्रत्येक वस्तु का मूल्य २) हो जायगा अर्थात् जो वस्तुयें पहले १) में खरीदी जाती थीं उन्हें खरीदने के लिये अब २) की आवश्यकता पड़ेगी या रुपये की क्रय-शक्ति (मूल्य) आधी हो गई है। यदि १०००) के स्थान पर केवल ५००) ही चलन में रह जायें तथा अन्य बातों में कोई परिवर्तन न हो, तो रुपये की क्रय-शक्ति दूनी हो जायगी और मूल्य स्तर आधा रह जायेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि यदि अन्य बातें समान रहें, तो चलन में मुद्रा की मात्रा के साथ-साथ मुद्रा का मूल्य विपरीत अनुपात में घटता-बढ़ता है अर्थात् मुद्रा की मात्रा का मुद्रा के मूल्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। समय की एक दी हुई अवधि के भीतर मुद्रा एक दिशा में प्रवाहित होती है; तो वस्तुएँ एवं सेवाएँ दूसरी दिशा में चलती हैं। जिस देश की अर्थ-व्यवस्था मुद्रा पर आधारित है, वहाँ दोनों प्रवाहों का मूल्य बराबर होगा क्योंकि मौद्रिक भुगतानों की कुल मात्रा का बेची जाने वाली वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य से संतुलन हो जाता है।

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की कल्पनायें या सीमायें

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में 'अन्य बातें समान रहने पर' वाक्य बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे यह पता चलता है कि कुछ परिस्थितियों में ही यह सिद्धान्त कार्यशील हो सकता है। इन बातों के समान रहने पर सिद्धान्त गलत हो जायेगा। यही कारण है कि इन सब बातों को सिद्धान्त की सीमायें कहा गया है। ये बातें निम्नलिखित हैं-

(१) **व्यापार की मात्रा स्थिर रहे**—व्यापार की मात्रा के सम्बन्ध में यह सिद्धांत कल्पना करता है कि अल्पकाल में इसमें कोई तेज परिवर्तन नहीं होते। यदि व्यापार की मात्रा बढ़ जाय तो प्रचलित मुद्रा की प्रत्येक इकाई पहले से अधिक वस्तुयें खरीदने लगेगी और मुद्रा का मूल्य बढ़ जायेगा भले ही मुद्रा की मात्रा में वृद्धि न हुई हो।

(२) **साख मुद्रा की पूर्ति भी स्थिर अनुपात में रहे**—साख मुद्रा का अभिप्राय बैंक-मुद्रा से है। यह भी कानूनी मुद्रा की तरह कार्य करती है। इसके सम्बन्ध में सिद्धांत यह मानता है कि उद्योग एवं सभ्यता की दी हुई दशाओं में बैंक मुद्रा का कानूनी मुद्रा के साथ एक स्थिर या सामान्य अनुपात होता है।

---

2. "Double the quantity of money, and other things being equal, prices will be twice as high as before and the value of money half. Halve the quantity of Money, and, other things being equal, prices will be one half of what they were before and the value of money double." —*Taussig.*

(३) चलन की गति सदैव समान होती है—सामान्य मूल्य स्तर पर कानूनी मुद्रा एवं साख मुद्रा की गति के परिवर्तन का वही प्रभाव पड़ता है जो कि इनकी मात्राओं में परिवर्तन होने का पड़ता है। मुद्रा का परिमाण सिद्धांत इन गतियों को स्थिर मान लेता है, जिससे इनका मूल्य-स्तर पर कोई असर नहीं पड़ता।

(४) अदला-बदली की प्रथा प्रचलित नहीं है—विनिमय दो प्रकार से किया जाता है प्रत्यक्ष रूप से (अर्थात् अदला-बदली द्वारा) या अप्रत्यक्ष रूप से (अर्थात् मुद्रा द्वारा)। अदला-बदली द्वारा जो विनिमय अथवा व्यापार किया जाता है उसे मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त के सम्बन्ध मे कुल व्यापार की मात्रा में सम्मिलित नहीं किया जाता। यदि अदला-बदली द्वारा व्यापार की मात्रा बढ़ती है तो उस सीमा तक मुद्रा की माँग कम हो जायगी और इससे मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन हो जायेगा। फिशर ने यह मान लिया है कि देश में अदला-बदली की प्रथा या तो प्रचलित नहीं है अथवा प्रचलित भी हो, तो इसकी मात्रा स्थिर रहती है।

> **मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की कल्पनायें**
>
> यदि अन्य बातें समान रहें
>
> (१) व्यापार की मात्रा स्थिर रहती है।
> (२) साख मुद्रा की पूर्ति में अन्तर नहीं होता।
> (३) चलन की गति सदैव समान रहती है।
> (४) अदला-बदली की प्रथा प्रचलित नहीं है।
> (५) मुद्रा का संचय नहीं किया जाता।
> (६) उत्पत्ति, उपभोग व जनसंख्या में कोई परिवर्तन नहीं होता।

(५) मुद्रा का संचय नहीं किया जाता—मुद्रा के मूल्य पर उस मुद्रा की मात्रा का प्रभाव पड़ता है जोकि व्यापार या विनिमय के लिये काम मे लाई जाती है। परन्तु बहुत-सी मुद्रा ऐसी भी हो सकती है, जिन्हें जनता व्यापार के काम मे न लाकर अन्य कार्यों मे ले ले। ऐसी अवस्था मे प्रभावशाली मुद्रा की मात्रा कम हो जायेगी और मूल्य पर प्रभाव पड़ेगा। किन्तु इसके सम्बन्ध में फिशर ने यह मान लिया है कि मुद्रा का कोई भी व्यक्ति संचय नहीं करता है।

(६) उत्पत्ति, उपभोग व जनसंख्या में कोई परिवर्तन नहीं होता—उत्पत्ति, उपभोग व जनसंख्या के बढ़ने से व्यापार बढ़ता है। व्यापार बढ़ने से मुद्रा की माँग बढ़ती है तथा इसका मूल्य बढ़ जाता है। किन्तु फिशर ने यह कल्पना की है कि वस्तुओं के उत्पादन व उपभोग और जनसंख्या में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का समीकरण ✓

मुद्रा की मात्रा और उसके मूल्य में जो सम्बन्ध है उसे बीजगणित के एक सूत्र के रूप मे भी प्रस्तुत किया गया है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों के अनुसार परिमाण सिद्धान्त का समीकरण इस प्रकार था—$\frac{M}{T} = P$, जिसमें M बराबर है देश में प्रचलित मुद्रा की मात्रा, T बराबर है उस समय देश में वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा तथा P बराबर है मूल्य स्तर। इस सूत्र में T स्थिर माना जाता है, जिससे P में

सभी परिवर्तन M के कारण होते हैं और इन दोनों में सीधा व अनुपातिक सम्बन्ध होता है।

किन्तु इस सूत्र व चलन की गति के प्रभाव को भुला दिया गया है जबकि मुद्रा का परिमाण मुद्रा की मात्रा के साथ-साथ उसकी चलन गति पर भी निर्भर होता है। अतः आगे चलकर अर्थशास्त्रियों ने परिमाण सिद्धान्त का सशोधित समीकरण निम्न प्रकार बनाया — $\frac{MV}{T} = P$, जिसमें V से अभिप्राय मुद्रा की चलन गति है। इस सूत्र के अनुसार P में सभी परिवर्तन MV के कारण होते हैं तथा उनमें सीधा और अनुपातिक सम्बन्ध होता है।

यह सूत्र भी पूर्ण निर्दोष नहीं है। फिशर का कहना है कि आजकल साख मुद्रा भी विनिमय के माध्यम के रूप में महत्वपूर्ण कार्य कर रही है। अतः मुद्रा का वास्तविक परिमाण वास्तव में विधि ग्राह्य मुद्रा एवं साख मुद्रा की मात्राओं और इनकी चलन गतियों से निकालना चाहिये। इस बात को ध्यान में रखते हुये उन्होंने अपनी ओर से निम्न समीकरण प्रस्तुत किया :—

$$MV + M'V = PT \quad \text{or} \quad \frac{MV + M'V'}{T} = P$$

जहाँ :—

M = प्रचलित विधि ग्राह्य मुद्रा की मात्रा।

V = विधि ग्राह्य मुद्रा की चलन गति।

M′ = तमाम साख मुद्रा (जैसे चैक आदि)।

V′ = साख मुद्रा की चलन गति।

P = वस्तुओं और सेवाओं का सामान्य मूल्य स्तर।

T = समस्त व्यापारिक सौदे।

इस प्रकार, देश में कुल मौद्रिक शक्ति बराबर है $MV + M'V'$। यह मुद्रा की वास्तविक कुल पूर्ति है। दूसरी ओर वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा T को उनके मूल्य P से गुणा करने पर कुल सौदे PT निकल आते हैं, जो द्रव्य का कार्य या द्रव्य की माँग सूचित करते हैं। चूँकि द्रव्य का मूल्य ऐसे बिन्दु पर तय होता है जहाँ द्रव्य की माँग द्रव्य की पूर्ति के बराबर हो जाय, अतः मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का समीकरण है $MV + M'V' = PT$।

उक्त समीकरण के आधार पर फिशर के परिमाण सिद्धान्त को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—

"सामान्य मूल्य स्तर (P) चलन में मुद्रा की कुल मात्रा (जिसमें धात्विक मुद्रा, कागजी नोट व बैंक मुद्रा सम्मिलित हैं) से प्रत्यक्ष अनुपातिक रूप में तथा व्यापार (वस्तुओं और सेवाओं की कुल मात्रा) से विपरीत अनुपातिक रूप में सम्बन्धित होता है।"

यदि M = कानूनी मुद्रा = १,००० रु०

M′ = साख मुद्रा = १०० रु०

V = कानूनी मुद्रा की चलन गति = १०० रु०

V' = साख मुद्रा की चलन गति = १० रु०

T = १०,००० रु०

$$\text{तो } P = \frac{MV + M'V'}{T} = \frac{१,००० \times १०० + १०० \times १०}{१०,०००}$$

$$= \frac{१,००,००० + १,०००}{१०,०००} = \frac{१०१,०००}{१०,०००} = १०\cdot१ \text{ रु०}$$

अर्थात् वस्तु की एक इकाई का मूल्य १०·१ रु० है।

द्रव्य की चलन गति (Velocity of Circulation)

ऊपर हमने 'द्रव्य की चलन गति' का उल्लेख किया है। स्पष्टता के लिये इसका अर्थ जान लेना जरूरी है। मुद्रा का कार्य वस्तुओं के विनिमय में सहायता करना है। इस कार्य को करते हुए वह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को और दूसरे व्यक्ति से तीसरे व्यक्ति को, इस प्रकार कई बार हस्तांतरित होती है। किसी दिये हुए समय में मुद्रा की कोई इकाई वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने के लिये जितनी बार एक हाथ से दूसरे हाथ को हस्तांतरित हो (अथवा सरल शब्दों में वह जितनी बार विनिमय का कार्य करे) उसके औसत को 'मुद्रा की चलन गति' (Velocity of Circulation) कहते हैं।

उदाहरण के लिये, एक स्कूल के मैनेजर ने २००) बैंक से निकाले और एक शिक्षक को वेतन स्वरूप दिये। इनमें से एक रुपया शिक्षक ने फल-फूल खरीदने के लिए किसी फल-विक्रेता को दिया। उस फल-विक्रेता ने वही रुपया अपने मोहल्ले के परचूनिये को आटा खरीदने के लिये दिया तथा इस परचूनिये ने वह रुपया अन्य रुपयों के साथ एक थोक विक्रेता को भुगतान में दिया और थोक विक्रेता ने उन्हें बैंक में जमा कर दिया। इस प्रकार प्रस्तुत व्यवहार में यह रुपया ५ बार विनिमय का कार्य करता है, अतः उसके चलन की गति ५ है।

इस बात को यों भी कह सकते हैं कि उस रुपये ने ५ रुपयों का कार्य किया। अत: मुद्रा की प्रभावपूर्ण मात्रा जानने के लिये मुद्रा की मात्रा को चलन की गति से गुणा करना आवश्यक है।

चलन की गति को प्रभावित करने वाले कारण

मुद्रा की चलन-गति कई बातों पर निर्भर करती है, जिनमें कुछ प्रमुख बातों का वर्णन नीचे किया गया है :—

(१) **मुद्रा की मात्रा**—समाज को व्यापार करने के लिए एक निश्चित मात्रा में मुद्रा की जरूरत पड़ती है। यदि मुद्रा इससे कम है, तो उपलब्ध इकाइयाँ ही कई-कई बार प्रयोग की जायेंगी और यदि अधिक हैं, तो वे कम ही प्रयोग की जायेंगी। अतः पहली दशा में चलन गति दूसरी दशा की अपेक्षा अधिक होगी।

(२) **नगद वस्तुएं खरीदने का स्वभाव**—यदि देश की जनता नगद वस्तुयें खरीदने की आदी है, तो बार-बार रुपये देने की आवश्यकता के कारण रुपयों का चलन वेग बढ़ जायेगा और यदि वह उधार खरीदने की आदी हो तो तत्काल ही भुगतान करने की आवश्यकता न होने से रुपयों का चलन वेग

(३) **जनता में बचत की आदत**—यदि जनता अपनी आय का अधिक भाग बचाया करती है, तो मुद्रा की चलन गति कम होगी और यदि आय का अधिकांश भाग व्यय कर देती है, तो मुद्रा की चलन गति अधिक होगी।

(४) **उधार की शर्तें**—यदि उधार सौदों का रुपया वर्ष में एक दो बार ही दिया जाता है तब तो चलन की गति कम होगी और यदि थोड़े-थोड़े समय बाद किया जाता है, तो चलन की गति अधिक होगी।

(५) **जनता में द्रव्यता पसन्दगी**—यदि व्यापारी एवं साधारण व्यक्ति अपने प्रतिदिन के व्ययों के लिए अधिक मात्रा में नगद धन अपने पास रखते हैं तो देश में मुद्रा की चलन गति कम होती है और यदि वे कम मात्रा में नगद धन रखते हैं, तो मुद्रा की चलन गति अधिक होती है।

(६) **मजदूरी के भुगतान का ढंग**—यदि देश में मजदूरों को साप्ताहिक मजदूरी दी जाती है, तो उनको दैनिक आवश्यकताओं के लिये नगद धन कम मात्रा में रखना पड़ेगा, जिससे मुद्रा की चलन गति और यदि देश में मजदूरों को मासिक या वार्षिक भुगतान किया जाय, तो उन्हें अपनी दैनिक आवश्यकताओं के लिए अधिक नगद धन रखना पड़ेगा, जिससे मुद्रा की चलन गति बढ़ जायगी।

(७) **यातायात और संदेश वाहन के साधनों की दशा**—यदि देश में यातायात एवं संदेश वाहन के साधन उन्नत दशा में है, तो वस्तुओं का विक्रय अधिक होने लगता है और फलस्वरूप मुद्रा की गति भी अधिक होती है। इसी कारण से एक गाँव की तुलना में एक बड़े शहरों में मुद्रा की गति अधिक होती है।

(८) **मूल्य सम्बन्धी भावी अनुमान**—यदि लोग यह सोचने लगते है कि कुछ समय बाद मूल्य बढ़ने वाले हैं, क्योंकि मुद्रा प्रसार हो जायगा, तो वे मुद्रा को निकाल कर वस्तुये खरीदने लगते हैं, इससे उसकी गति बढ़ जाती है। इसके विपरीत जब लोग मुद्रा-संकुचन अथवा मूल्यों के गिरने का अनुमान लगाते हैं तो वे क्रय-विक्रय कम कर देते है जिससे चलन गति धीमी हो जाती है।

(९) **आर्थिक विकास की दशा**—कोई देश आर्थिक दृष्टि से जितना अधिक उन्नत होगा वहाँ उतना ही अधिक विनिमय किया जायगा। फलस्वरूप चलन की गति में वृद्धि हो जायगी।

(१०) **राजनैतिक शान्ति और गठन**—यदि देश में स्थायी एवं शक्तिशाली सरकार है, तो परस्पर प्रेम, विश्वास व उधार की प्रथा भी बढ़ जाती है और इसके फलस्वरूप मुद्रा की चलन गति धीमी हो जाती है। किन्तु जब देश में सरकार बार-बार बदलती रहती है, तो परस्पर लड़ाई-झगड़े, अविश्वास बढ़ने से उधार की प्रथा कम हो जाती है और चलन की गति भी घटने लगती है।

(११) **जनसंख्या का घनत्व**—यदि देश में जनसंख्या घनी और अधिक है, तो चलन गति भी बढ़ जाती है, क्योंकि मुद्रा बहुत से व्यक्तियों के हाथों से हस्तान्तरित होती है। किन्तु जनसंख्या कम होने पर मुद्रा की गति भी कम होती है।

(१२) **जमा राशि की गतिशीलता**—यदि साख-पत्रों (जैसे चैक) द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के खाते में जल्दी-जल्दी जमा का हस्तांतरण होता है, तो देश में साख मुद्रा की चलन गति बढ़ जाती है।

(१३) उधार लेने की सुविधायें—यदि व्यापारीगण अपने ग्राहकों को स्थगित भुगतान की सुविधा देते हैं अथवा किश्तों में भुगतान स्वीकार करने के लिये तत्पर रहते हैं, तो मुद्रा की चलन गति कम होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मुद्रा की चलन गति अनेक कारणों पर निर्भर होती है। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में इसे अप्रभावित मान लिया गया है, जिससे यह सिद्धान्त बहुत अवास्तविक बन गया है।

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की आलोचनायें
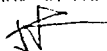
विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने फिशर के सिद्धान्त की भिन्न-भिन्न प्रकार से आलोचनायें की हैं, जिनका संक्षेप में नीचे वर्णन किया गया है :—

(१) 'अन्य बातें समान रहें' की कल्पना अवास्तविक है, क्योंकि इसके अन्तर्गत जिन बातों के समान रहने की कल्पना की जाती है वे वास्तविक व्यवहार में बहुत परिवर्तित होती हैं। उनमें न केवल दीर्घकाल में वरन् अल्पकाल में भी परिवर्तन हो जाया करते हैं।

(२) यदि सिद्धान्त कीमतों और उत्पादन में होने वाले चक्करदार परिवर्तनों को स्पष्ट नहीं करता—मन्दी के दिनों में एक ओर तो सरकार चलन में अतिरिक्त मुद्रा छोड़ देती है और दूसरी ओर कीमतें गिरती ही जाती हैं जबकि फिशर के सिद्धान्तानुसार कीमतें बढ़नी चाहिए थी।

(३) आनुपातिक परिवर्तन नहीं होते हैं—ऐसा देखने में बहुत ही कम आया है कि मुद्रा परिमाण को दो गुना करने से सामान्य मूल्य-स्तर भी दुगुना हो जाय। यह सम्बन्ध इतना सीधा और सरल नहीं है।

(४) मूल्य स्तर पर अमौद्रिक घटकों *के प्रभाव को विचार में नहीं रखा* गया है—मूल्य स्तर (P) केवल उन्हीं बातों पर निर्भर नहीं करता, जो कि समीकरण में सम्मिलित की गई हैं वरन् इनके अतिरिक्त और भी कई अमौद्रिक स्वभाव के घटक हैं (जैसे प्राकृतिक एवं राजनैतिक कारण) जो कि मूल्य स्तर अथवा मुद्रा की क्रय-शक्ति पर अपना प्रभाव दिखलाते हैं। स्वयं फिशर ने भी इस कमी को स्वीकार किया है।

परिमाण सिद्धान्त की दस मुख्य आलोचनायें

(१) *'अन्य बातें समान रहें'* की कल्पना अवास्तविक है।
(२) यह सिद्धान्त कीमतों और उत्पादन में होने वाले चक्करदार परिवर्तनों को स्पष्ट नहीं करता।
(३) आनुपातिक परिवर्तन नहीं होते हैं।
(४) मूल्य स्तर पर अमौद्रिक घटकों के प्रभावों को विचार में नहीं रखा गया है।
(५) समय विलम्ब को कोई महत्व नहीं दिया गया है।
(६) परिमाण सिद्धान्त केवल पूर्ति पक्ष पर बल देता है।
(७) यह सिद्धान्त मुद्रा की क्रय-शक्ति को ठीक-ठीक नहीं नापने पाता।
(८) *यह सिद्धान्त सेवाओं के भुगतान* की उपेक्षा करता है।
(९) यह इस बात को स्पष्ट नहीं करता है कि मुद्रा की मात्रा के परिवर्तन मूल्य स्तर पर किस प्रकार अपना प्रभाव डालते हैं।
(१०) मुद्रा के संचित होने की संभावना को ध्यान में नहीं रखा गया है।

(५) **समय-विलम्ब को कोई महत्व नहीं दिया गया है**—मुद्रा के परिमाण में होने वाले परिवर्तनों का परिणाम सामान्य-मूल्य स्तर (P) पर तुरन्त ही नहीं पड़ता है वरन् कुछ समय के बाद ही दिखलाई देता है। इस बीच में अनेक बातें हो सकती हैं, जो उक्त परिवर्तन के प्रभाव को काट सकती हैं। यह सिद्धान्त इस तथ्य को विचार में लेता है।

(६) **परिमाण सिद्धान्त केवल पूर्ति पक्ष पर अधिक बल देता है**—आलोचकों का मत है कि जिस तरह एक साधारण वस्तु का मूल्य उसकी माँग एवं पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है उसी प्रकार मुद्रा का मूल्य भी मुद्रा की माँग एवं पूर्ति द्वारा निर्धारित होना चाहिये चूँकि परिमाण सिद्धान्त केवल मुद्रा की मात्रा (अर्थात् पूर्ति) पर ही अधिक जोर देता है, इसलिए वह दोषपूर्ण है [इस आलोचना के उत्तर में फिशर का कहना है कि इस वस्तु की माँग एवं पूर्ति का पता लगाना तो सरल है लेकिन सामान्य माँग एवं सामान्य पूर्ति का पता लगाना सहज नहीं है। अतः माँग-पूर्ति का सिद्धान्त मुद्रा का मूल्य मालूम करने में लागू नहीं किया जा सकता।]

(७) **यह सिद्धान्त मुद्रा की क्रय-शक्ति को ठीक-ठीक नहीं नापने पाता**—परिमाण सिद्धान्त में T के अन्तर्गत कुछ वस्तुयें उपभोग सम्बन्धी हैं और कुछ व्यापार सम्बन्धी, जिनका मनुष्य के प्रत्यक्ष उपभोग से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। आर्थिक दृष्टिकोण से उपभोग वस्तुओं के सम्बन्ध में मुद्रा की क्रय-शक्ति जानना जरूरी होता है, जिससे यह मालूम हो जाय कि मुद्रा के बदले उपभोग की वस्तुयें पहले से अधिक मिल रही हैं या कम अथवा उपभोक्ताओं की आर्थिक स्थिति कैसी है। चूँकि परिमाण सिद्धान्त सब ही प्रकार की वस्तुओं का विचार करता है इसलिये वह मुद्रा की क्रय-शक्ति को ठीक-ठीक नहीं नापने पाता।

(८) **यह सिद्धान्त सेवाओं के भुगतान की उपेक्षा करता है**—समीकरण ने इस बात को भुला दिया है कि मुद्रा एवं साख का प्रयोग सेवाओं का भुगतान करने में भी होता है। यह संभव है कि बढ़ी हुई मुद्रा एवं साख ऐसे व्यवहारों के काम आ जाय, जिनमें वस्तुओं का विनिमय नहीं होता और ऐसी दशा में वस्तुओं का मूल्य अपरिवर्तित रह सकता है।

(९) **यह सिद्धान्त इस बात को स्पष्ट नहीं करता कि मुद्रा की मात्रा के परिवर्तन किसी प्रकार मूल्य स्तर पर अपना प्रभाव डालते हैं**—मुद्रा के परिमाण में होने वाला परिवर्तन सबसे पहले ब्याज की दरों पर प्रभाव डालता है और फिर ब्याज दरों के परिवर्तनों द्वारा वस्तुओं के उत्पादन तथा मूल्यों पर प्रभाव डालता है। लेकिन मुद्रा परिमाण सिद्धान्त केवल मुद्रा के परिमाण और मूल्यों के पारस्परिक सम्बन्ध का उल्लेख करता है और उक्त प्रभावों की कोई चर्चा नहीं करता।

(१०) **मुद्रा के संचित होने की संभावना को ध्यान में नहीं रखा गया है**—लार्ड कीन्स ने बताया है कि सम्पूर्ण मुद्रा-मात्रा को वस्तुओं एवं सेवाओं के क्रय करने पर व्यय नहीं किया जाता। प्रायः इसके एक अंश का ही वस्तुओं एवं सेवाओं के क्रय करने पर व्यय किया जाता है और शेष भाग विविध कोषों के रूप में चलन से गायब हो जाता है। यह भाग सामान्य मूल्य-स्तर पर कोई प्रभाव नहीं डालता। इसे 'मुद्रा के परिमाण' में से कम करना आवश्यक है।

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त में सत्यता का अंश

उपरोक्त आलोचनाओं से स्पष्ट है कि परिमाण सिद्धान्त बहुत अपूर्ण और काल्पनिक है। वस्तुओं एवं सेवाओं के सामान्य मूल्य स्तर में (अर्थात् मुद्रा के मूल्य में) अवश्य ही अनेक कारणों से परिवर्तन होते हैं। किन्तु उन कारणों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारण मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन होता है। मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन होने से प्रायः मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में स्वयं फ़िशर ने अनेक उदाहरण दिये है, जिनमें से कुछ का वर्णन नीचे किया गया है :—

(१) स्पेनिश खोज करने वालों को अमेरिका में चाँदी की खानों का पता लगा। उन्होंने योरोपीय बाजार में चाँदी भेजना प्रारम्भ किया। इसे महाद्वीप के सभी देशों में सामान्य मूल्य स्तर बढ़ गया। किन्तु जब इन देशों में जनसंख्या काफी बढ़ गई (अर्थात् मुद्रा की माँग भी बढ़ी) या अमेरिका से चांदी का आयात कम हो गया, तो वस्तुओं की कीमतें भी कम हो गई।

(२) इंगलैण्ड में सन् १८२०-१८४४ के मध्य का उत्पादन तो बहुत बढ़ गया, लेकिन मुद्रा की मात्रा उस मात्रा में न बढ़ पाई क्योंकि सोना उतनी मात्रा में उपलब्ध नहीं हुआ, जिससे वस्तुओं का मूल्य गिर गया।

(३) जब प्रथम महायुद्ध के काल में जर्मनी में कागजी मुद्रा का अत्यधिक प्रसार हो गया था, वहाँ वस्तुओं के मूल्य बढ़ गये थे।

(४) सन् १६२६ की मन्दी के काल में आर्थिक संकट और साख के बहुत अधिक संकुचन के कारण वस्तुओं के मूल्यों में बहुत कमी हो गई।

(५) द्वितीय महायुद्ध के काल में विभिन्न देशों में कागजी नोटों का बहुत अधिक प्रसार हुआ था, जिससे वहाँ वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य भी बहुत बढ़ गये।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने पर मुद्रा-मूल्य में परिवर्तन हो जाता है। किन्तु इनसे इन दोनों में कोई संख्यात्मक सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। सम्भवतः प्रोफेसर फ़िशर भी ऐसा सम्बन्ध स्थापित करने का आशय नहीं रखते थे। गणितात्मक समीकरण का प्रयोग तो उन्होंने केवल एक प्रावृत्ति को स्पष्ट करने के हेतु किया था। वास्तव में दीर्घकाल में अनेक शक्तियाँ इस प्रकार कार्य करती है कि मुद्रा की मात्रा और मुद्रा मूल्य के बीच सिद्धान्त में संकेत किये गये परिमाणानुसार सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता है।

जिस सत्य की ओर मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त संकेत करता है उसका व्यावहारिक जीवन में अत्यधिक महत्व है। मूल्य स्तर पर नियंत्रण रखने के लिये मुद्रा की मात्रा अनुचित रूप से न बढ़ने देना मुद्रा अधिकारी के लिए एक सबसे अधिक महत्त्व का नियम प्रमाणित हुआ है।

निष्कर्ष—एक तथ्यहीन किन्तु काम चलाऊ सिद्धान्त

उक्त दोषों के होते हुए भी मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त एक काम चलाऊ सिद्धान्त है। यदि इसके गणितात्मक समीकरण की ओर ध्यान न दें और एक प्रवृत्ति सूचक सिद्धान्त के रूप में इसे ग्रहण करें, तो इसकी सत्यता से इन्कार नहीं किया जा

सकता। इसका प्रमाण हमें युद्ध काल की दशाओं से मिलता है जबकि मुद्रा को मात्रा में असाधारण वृद्धि होने से सामान्य मूल्य स्तर कई गुने बढ़ गये थे। निश्चय ही इन वृद्धियों मे अनुपातिक सम्बन्ध तो न था किन्तु मुद्रा की मात्रा बांटने का मूल्य स्तर पर अवाछ्य प्रभाव पड़ा। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि मुद्रा, परिमाण सिद्धान्त एक तथ्यहीन किन्तु काम चलाऊ सिद्धान्त है।

परीक्षा प्रश्न

(१) 'मुद्रा के मूल्य' को निश्चित करने मे मांग और पूर्ति के नियम किस प्रकार लागू होते हैं ? उदाहरण सहित समझाइये।

(२) 'द्रव्य की चलन गति' से आप क्या समझते हैं ? यह किन बातों पर निर्भर करती है ?

(३) मुद्रा परिमाण सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं।

(४) मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को आलोचना सहित समझाइये।

(५) "अन्य परिस्थितियों मे परिवर्तन न होने पर जिस अनुपात मे मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन होता है ठीक इसके विपरीत अनुपात में मुद्रा की विनिमय-शक्ति (मूल्य) मे परिवर्तन होता है।" क्या आप इस सिद्धान्त से पूर्ण सहमत हैं ? उपरोक्त अन्य परिस्थितियों से क्या आशय है ?

(६) मुद्रा मात्रा सिद्धान्त के लागू होने के लिये कुछ विशेष परिस्थितियाँ आवश्यक हैं ? ये परिस्थितियां कौन-सी हैं ? बतलाइये।

(६) मुद्रा मात्रा सिद्धान्त की उपयोगिता बताइये।

द्वितीय खण्ड

भारतीय मुद्रा प्रणाली

(INDIAN MONETARY SYSTEM)

"प्राचीन ग्रन्थों और साहित्य से ज्ञात होता है कि भारत में मुद्रा का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है। हिन्दू काल में सोने और चाँदी के सिक्कों का प्रयोग होता था, मुस्लिम काल में चाँदी का प्रयोग अधिक हुआ। ब्रिटिश शासन काल में पत्र-मुद्रा का प्रयोग बहुत बढ़ गया। स्वतन्त्र भारत में भारतीय मुद्रा स्टर्लिङ्ग का अनुवर्ती नहीं रह गई है।"

अध्याय १.

भारतीय चलन प्रणाली

(द्वितीय महायुद्ध के पूर्व)

[India's Currency System]

प्रारम्भिक

भारतीय रुपये का इतिहास बहुत ही रोचक है। यद्यपि आज तक इसकी स्थिति में अनेक उलट फेर हुये यथापि निम्न विशेषतायें सदा ही पाई गईं :—(i) इसे स्वर्ण से सम्बन्धित करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया गया है; (ii) स्टर्लिंग के साथ इसका सम्बन्ध बहुत घनिष्ट रहा है तथा (iii) इसका वाह्य मूल्य स्थिर रखने का भी पूर्ण प्रयास किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में सन् १६३६ तक भारतीय रुपये की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

(I) प्राचीन भारत में रुपये का स्थान (सन् १८३५ के पूर्व)

भारत में मुद्रा का उपयोग अति प्राचीन काल से होता आया है। हिन्दू काल में भी सोने और चाँदी के सिक्कों का प्रयोग होता था। अकबर के शासन-काल में रजत-मान (Silver Standard) का अवलम्बन किया गया था। मुगल शासन का अन्त हो जाने पर देश की मुद्रा-व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो गई, क्योंकि विभिन्न राज्यों ने अपनी-अपनी टकसालें स्थापित कर ली थीं। सत्रहवीं शताब्दी में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी अपनी बस्तियों के लिये सिक्के ढाले। इस प्रकार जिस समय कम्पनी ने भारतीय शासन की बागडोर अपने हाथ में ली, उस समय देश में द्विधातु-मान पद्धति चालू थी अर्थात् सोने और चाँदी दोनों के (लगभग ६६४ प्रकार के) सिक्के विधिग्राह्य थे। विभिन्न सिक्कों का विनिमय उनकी शुद्धता की परख के पश्चात् तोल कर किया जाता था।

(II) रजतमान (१८३५-१८६८)

रजतमान की स्थापना—सिक्कों के रूप, तौल और शुद्धता सम्बन्धी भिन्नताओं के कारण व्यापार वाणिज्य में बहुत असुविधा होती थी। अत: ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने आधीन क्षेत्रों में प्रचलित सिक्कों में अनुरूपता लाने का प्रयत्न किया। सन् १८३५ में प्रथम टंकन एक्ट पास हुआ। इसके अनुसार सम्पूर्ण भारत में रजत-मान की स्थापना की गई। चाँदी के रुपयों का वजन १८० ग्रेन $\frac{11}{12}$ शुद्धता (एक तोला) का निर्धारित कर दिया गया। इसे अपरिमित विधि ग्राह्य बनाया गया और इसकी ढलाई स्वतन्त्र घोषित की गई। यह भी आदेश निकाला गया कि ब्रिटिश भारत में सोने का सिक्का कहीं भी विधि ग्राह्य नहीं होगा यद्यपि टकसाल पर सोने

के सिक्कों की ढलाई हो सकती थी। सोने में रुपये की कीमत चाँदी के स्वर्ण मूल्य पर निर्भर रहने लगी। सन् १८६४ में भारतीय रुपये का स्वर्ण मूल्य सावरेन में १० रु० प्रति सावरेन अर्थात् १ रु० = २ शि० रखा गया।

सन् १८७१ तक रजतमान भारत में ठीक तरह से कार्य करता रहा किन्तु इसके पश्चात् कठिनाइयाँ अनुभव की जाने लगी, क्योंकि चाँदी का स्वर्ण मूल्य गिरने लग गया। इसके मुख्य कारण निम्न थे—चाँदी की नई खानों का पता लगाना, चाँदी के उत्पादन की विधियों में सुधार होना; जर्मनी, स्वीडेन, डेन्मार्क आदि देशों द्वारा चाँदी का विमुद्रीकरण तथा उत्पादन में कमी होने के कारण सोने के मूल्य में वृद्धि। सन् १८७३ से १८९३ तक चाँदी के स्वर्ण मूल्य में ४०% कमी हो गई। फलस्वरूप रुपये की विनिमय दर १८९२ में केवल १ शि० ३ पें० रह गई।

गिरती हुई विनिमय-दर के कारण सरकार आर्थिक कठिनाइयों में फँस गई, क्योंकि उस पर गृह खर्चों (House Charges) का भार बढ़ गया और उसे करों में वृद्धि करनी पड़ी। इससे जनता की तकलीफें बढ़ गई। भारत में चाँदी के आयातों में वृद्धि हो जाने से मुद्रा प्रसार की दशा पैदा हो गई और कीमतें बढ़ने लगी। विदेशी व्यापार पर भी बुरा प्रभाव पड़ा। इन सब कठिनाइयों से विवश होकर जनता ने स्वर्णमान को अपनाने के लिये आवाज उठाई। तब सरकार ने आवश्यक जाँच करने व सुझाव देने के लिए हरशैल कमेटी की नियुक्ति की।

(III) सन् १८९३ से सन् १८९९ (रजतमान का अन्त)

सन् १८९३ में चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण समाप्त होने के आर्थिक प्रभाव— सन् १८९३ में हरशैल कमेटी की सिफारिशों पर एक नया मुद्रण एक्ट पास किया गया, जिसके अनुसार सोना व चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण समाप्त कर दिया गया। सोने के सिक्के व पिण्ड १६ ग्रेन प्रति रुपये की दर पर विनिमय किये जाने लगे। संक्रमण काल में सोना केवल करेन्सी कार्यों के लिये प्रयोग किया जाना था और अन्त में एक पूर्ण स्वर्णमान की स्थापना की जानी थी। इस प्रकार यह व्यवस्था केवल अस्थाई थी। चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण समाप्त होने व रुपयों को चलन में से कम किये जाने के कारण मुद्रा संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो गई। धीरे-धीरे विनिमय दर बढ़ने लगी और १८९८ में १ शि० ४ पैंस पर स्थिर हो गई, क्योंकि अब चाँदी की कीमतों का उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता था। विनिमय-दर के इस प्रकार स्थिर हो जाने पर भारत सरकार ने संक्रमण काल को यहीं समाप्त कर देना ठीक समझा और उसने भारत सचिव से भारत में स्वर्णमान स्थापित करने की फिर प्रार्थना की। अतः सन् १८९८ में सर हेनरी फाउलर (Sir Henry Fowler) की अध्यक्षता में एक कमेटी इस पर विचार करने व सुझाव देने के लिये नियुक्त की गई।

फाउलर कमेटी की नियुक्ति—फाउलर कमेटी के सामने कई योजनायें विचार के लिए रखी गईं। भारत सरकार की योजना के अनुसार स्वर्णमान के अन्तर्गत सारे देश में स्वर्ण मुद्रायें भी चलनी थी। बैंक ऑफ इंगलैंड के खजांची लिंडसे की योजना के अनुसार स्वर्ण की मुद्रा नहीं वरन् चाँदी की मुद्राओं का चलन आवश्यक था। इसके विपरीत, सर नेमले प्रोबिन की योजना में स्वर्ण धातुमान की स्थापना पर जोर दिया गया था।

कमेटी ने इन विभिन्न योजनाओं पर विचार किया। उसने काफी सोच-विचार के बाद लिंडसे प्रोबिन की योजनाओं को अस्वीकार कर दिया। भारत सरकार की योजना को भी, जिसकी सारी बात चलन की मात्रा को संकुचित करने

रुपये की विनिमय दर में वृद्धि करना था, स्वीकार नहीं किया। वास्तव में कमेटी एक पूर्ण एवं प्रभावशाली स्वर्णमान को भारत में स्थापित करने के पक्ष में थी। इस हेतु कमेटी ने निम्न सिफारिशें कीं :—

(i) ब्रिटिश सावरेन को भारत में अपरिमित विधि ग्राह्य मुद्रा घोषित कर देना चाहिये और इसका भारत में प्रचलन होना चाहिये। इस कार्य के लिये भारत में ही सोने की स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई की जाय,

(ii) रुपया आन्तरिक कार्यों के लिए स्वर्ण में परिवर्तनशील नहीं होना चाहिये लेकिन जिस समय व्यापार संतुलन विपरीत हो उस समय सरकार को सोना सुलभ करने के लिए तैयार होना चाहिये।

(iii) नये रुपये तब तक न ढाले जायें जब तक चलन में स्वर्ण का अनुपात जनता की आवश्यकता से अधिक न हो जाय।

(iv) रुपये के सिक्कों की ढलाई से सरकार को जो लाभ प्राप्त हो उसे वह अपनी साधारण आय में न मिलाकर एक विशेष 'स्वर्णमान-कोष' में रखे और यह कोष भी सरकार की पत्र-मुद्रा विधि व ट्रेजरी जमाओं से पृथक रखना चाहिये।

(IV) सन् १८९९ से १९१४ तक (स्वर्ण विनिमय मान)

भारत सरकार ने इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और इन्हें कार्य रूप देने का यत्न किया। सितम्बर सन् १८९९ में ब्रिटिश सावरेन भारत में वैधानिक ग्राह्य बना दिया गया, परन्तु रुपया भी अपरिमित विधि ग्राह्य बना रहा। ब्रिटिश ट्रेजरी की स्वीकृति न मिलने के कारण भारत में सोने के सिक्कों की ढलाई के लिए शाही टकसाल खोलने की योजना रद्द कर दी गई। इस प्रकार देश में जो मौद्रिक मान स्थापित हुआ वह स्वर्ण चलन मान न होकर स्वर्ण विनिमय मान ही था। इस मान की विशेषतायें थीं—(१) इसमें देश के भीतर सोने के सिक्कों का चलन न था। (२) देश की भीतरी आवश्यकताओं के लिए रुपये को सोने में परिवर्तन करना आवश्यक न था। (३) केन्द्रीय सरकार द्वारा देशी मुद्रा के बदले में, एक निश्चित अधिकतम दर पर विदेशी भुगतानों के लिए, सोना देने की व्यवस्था की गई। (४) इसके लिए सरकार स्वर्ण का सुरक्षित कोष रखती थी। इसका एक आवश्यक भाग इंगलैंड में रखा जाता था। (५) रुपये का स्वर्ण मूल्य १ शि० ४$\frac{1}{8}$ पें० तथा १ शि० ३$\frac{29}{32}$ पें० के बीच काउन्सिल व रिवर्स काउन्सिल बिल्स के क्रय-विक्रय द्वारा स्थिर रखा जाता था।

इस प्रकार, उक्त व्यवस्था के अन्तर्गत रुपये की बड़ी विचित्र स्थिति थी। वह एक सांकेतिक सिक्का था, क्योंकि उसका बाह्य मूल्य आन्तरिक मूल्य से अधिक था। किन्तु वह एक प्रामाणिक सिक्के की तरह कार्य कर रहा था। यही कारण है कि इसे 'प्रामाणिक-सांकेतिक सिक्का' (Standard Token Coin) कहा गया है।

फाउलर कमेटी ने भारत में स्वर्ण मुद्रा-मान की सिफारिश की थी। घटनाचक्र इस प्रकार चला कि स्वर्ण मुद्रा मान के बजाय देशों में 'स्वर्ण विनिमय मान' (**Gold Exchange Standard**) की स्थापना हो गई। इसका सुझाव न तो हर्सेल कमेटी ने दिया था और न फाउलर कमेटी ने ही दिया। वरन् यह तो फाउलर कमेटी की सिफारिशों को कार्यान्वित करने में हुई सरकार की असफलतायें थीं जिनके कारण भारत में स्वर्ण विनिमय स्थापित हो गया। यह किसी वैधानिक नियम पर आधारित न था और न जान-बूझकर स्थापित किया गया था।

यहां तक कि इसका यह नाम भी इसे बाद में ही दिया गया था। यह तो उसी प्रकार बात हो गई कि जूपीटर अग्नि की खोज में निकला किन्तु उसको भगवान मिल गये। उसी प्रकार भारत स्वर्णमान को प्राप्त कर रहा था परन्तु स्वर्ण विनिमय मान हो गया।

इस मौद्रिक मान की देश भर में कड़ी आलोचना हुई, क्योंकि (i) विनिमय दरों की स्थिरता तो प्राप्त हो गई लेकिन आन्तरिक कीमतों की स्थिरता प्राप्त न हो सकी, (ii) कीमतों के भारी उच्चावचनों ने आर्थिक जीवन में अनिश्चितता उत्पन्न करके देश के व्यापार और पूंजी के विकास मे बाधायें उपस्थित कर दी तथा (iii) इसके सफल संचालन के लिये पग-पग पर सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता पड़ती थी। इन आलोचनाओं के परिणामस्वरूप अप्रैल सन् १९१३ में चेम्बरलेन कमीशन नियुक्त किया गया। इसने भारत में स्वर्ण विनिमय मान को ही चालू रखने की सिफारिश की और यह कहा कि देश में स्वर्ण का प्रयोग बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इसे देशवासी कम चाहते है। उसने प्रतिभूतियों के आधार पर नोटों का प्रचलन करके करेन्सी व्यवस्था को अधिक लोचदार बनाने की सिफारिश की कि स्वर्णमान की चाँदी वाली शाखा को बन्द कर देना चाहिये।

(V) प्रथम महायुद्ध काल (१९१४-१९१९)

किन्तु १९१४ मे विश्व-युद्ध छिड़ जाने से सरकार इन सिफारिशों पर अमल नही कर पाई। युद्धकालीन परिस्थितियों का भार सहन न कर सकने के कारण यह मान टूट गया। व्यापार संतुलन देश के बहुत अनुकूल हो गया, जिससे भारतीय रुपये की माग बढ़ गई। इसे पूरा करने के लिये सरकार ने बढ़ती हुई कीमतों पर चाँदी क्रय की। चाँदी के अभाव के कारण रुपये की विनिमय दर बढ़ते-बढ़ते सन् १९२० में २ शि० १०½ पैंस तक पहुँच गई।

(VI) सन् १९१९ से १९२५ तक

बेबिंगटन स्मिथ कमेटी—सन् १९१९ मे युद्ध समाप्त होने पर सरकार ने रुपये की विनिमय दर को स्थापित करने का यत्न किया और इस उद्देश्य से उसने सन् १९१९ मे **बेबिंगटन स्मिथ कमेटी** की नियुक्ति की। इस कमेटी ने निम्न सुझाव दिये :—(i) रुपये की विनिमय दर २ शि० पर स्थिर रखी जाय। (ii) रुपया तोल व शुद्धता में पहले की तरह ही हो और असीमित विधि ग्राह्य भी रहे। (iii) बम्बई मे जनता द्वारा स्वर्ण से सावरन ढलवाने के लिये एक टकसाल खोली जानी चाहिये। (iv) सावरन भारत में असीमित विधि ग्राह्य रहनी चाहिये। सावरन के बदले में रुपये देने की सरकार की जिम्मेदारी खतम कर देनी चाहिये। (v) सोने का आयात-निर्यात स्वतन्त्र होना चाहिये। (vi) रुपयों के टंकन पर जो लाभ होता है, उसे स्वर्ण मान कोष मे ही जमा करते रहना चाहिये। (vii) स्वर्ण कोषों का अधिक से अधिक भाग भारत मे रखा जाय।

बेबिंगटन कमेटी ने विनिमय दर को २ शिलिंग की दर पर स्थिर रखने का सुझाव दिया। इसके निम्न कारण थे :—

(i) *चाँदी का मूल्य भारत में गिर जायेगा।*

(ii) भारत के ग्रह-व्यय (Home Charges) सम्बन्धी दायित्वों में कमी हो जायगी।

(iii) मूल्यों के ऊपर उठने की प्रवृत्ति पर रोक लगेगी।

(iv) भारतीय कच्चे माल और खाद्य पदार्थ विदेशों में ऊँचे मूल्यों पर बिक सकेंगे।

कमेटी ने बताया जब कि भारत इस विनिमय दर से लाभ उठायेगा, विदेशों इससे कुछ भी लाभ न उठा सकेंगे क्योंकि युद्धकालीन विध्वंस से उन देशों में उत्पादन-व्यय पहले की अपेक्षा अधिक होगा। भारतीय सदस्य श्री दलाल ने इस बात पर बल दिया था कि विनिमय दर १६ पेंस ही रखनी चाहिये, क्योंकि इससे ऊँची दर भारत के व्यापार व उद्योग के लिये नुकसानदेय रहेगी। उन्होंने भारत में स्वर्ण विनिमय मान के स्थान पर पूर्ण स्वर्ण मान स्थापित करने पर भी जोर दिया था।

सरकार ने कमेटी की सिफारिशों को मान लिया और विनिमय दर २ शि० निर्धारित कर दी। इस दर के कारण (i) भारत में रिवर्स काउन्सिल बिलों की माँग बढ़ गई। जब सरकार ने उक्त विनिमय दर को बनाये रखने की चेष्टा की, तो उसे बहुत हानि उठानी पड़ी। (ii) धीरे-धीरे बाजारी और सरकारी विनिमय दरों में अन्तर अधिक हो गया। नई दर के लाभप्रद होने से भारतीय आयात-कर्त्ताओं ने विदेशों से भारी आयात किये जिससे रिवर्स काउन्सिल बिलों की माँग और बढ़ गई। (iii) ऊँची विनिमय दर के कारण भारतीय निर्यात बहुत घट गये जिससे व्यापारिक सन्तुलन बहुत प्रतिकूल हो गया तथा सरकार को काफी मात्रा में रिवर्स काउन्सिल बिल बेचने पड़े। किन्तु सरकार के प्रयत्न करने पर भी विनिमय दर कम होने लगी। (iv) सरकार द्वारा विनिमय दर स्थिर न रख पाने के कारण बहुत से व्यापारी दिवालिये हो गये। (v) बाद को दशायें बदल जाने से विनिमय दर धीरे-धीरे बढ़ने लगी।

इस प्रकार सन् १९१९-२५ की अवधि में विनिमय दर में बहुत उतार-चढ़ाव हुआ और अन्त में आर्थिक दशाओं का समायोजन होने पर विनिमय दर में स्थिरता आ गई। आलोचकों का कहना है कि यदि सरकार उक्त कमेटी की सिफारिशों को अनिश्चित परिस्थितियों में लागू न करती, तो देश के व्यापारी भारी हानि से बच सकते थे।

हिल्टन यंग कमीशन (१९२५)—धीरे-धीरे संसार की आर्थिक दशाओं में स्थिरता आई। जब सन् १९२५ में इंगलैंड ने पुनः स्वर्णमान अपनाया तो भारत सरकार ने भी देश की चलन पद्धति में छानबीन और सुधार करने की आवश्यकता अनुभव की। इस कार्य के लिये उसने अगस्त सन् १९२५ में लेफ्टीनेन्ट कर्नल हिल्टन यंग की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त किया, जिसमें श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास भारतीय सदस्य थे। इस कमीशन का उद्देश्य था—(i) स्वर्ण विनिमय मान की कार्य-प्रणाली की जाँच करना तथा देश में किसी उचित और स्थिर मुद्रा प्रणाली के स्थापित करने की योजना प्रस्तुत करना, (ii) चलन व बैंकिंग पद्धति का समन्वय करने की योजना रखना, और (iii) इन योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये सुझाव प्रस्तुत करना।

कमीशन ने सन् १९२६ की करेन्सी व्यवस्था के बारे में यह बताया कि—(१) देश में दो प्रकार की सांकेतिक मुद्रा चलन में है—नोट और चाँदी के रुपये जो परस्पर परिवर्तनीय हैं। चाँदी का रुपया १८० ग्रेन तौल एवं ११/१२ शुद्धता का है। (२) करेन्सी का मूल्य स्टर्लिंग में १८ पें० की दर पर रखने की चेष्टा की जा रही है, जिसके लिए एकमात्र ठोस साधन सरकार के पास स्टर्लिंग का क्रय विक्रय करना ही है। (३) नोटों के पीछे विधानतः ५०% मूल्य का सोना व चाँदी की धातुओं का

कोष तथा शेष के लिये रुपये व स्टर्लिंग के साख-पत्र होने चाहिये। लेकिन इस नियम का पूर्णरूपेण पालन नहीं किया जा रहा है। (४) स्वर्ण मान कोष में चाँदी के टंकन का लाभ जोड़ लिया जाता है। यह कोष चाँदी के सिक्कों का बाह्य मूल्य स्थाई रखने के लिये है। इसका मूल्य अभी ४ करोड़ पौंड है और यह ब्रिटिश ट्रेजरी बिलों व अन्य स्टर्लिंग साख पत्रों में लगाया गया है।

कमीशन ने इस मुद्रा व्यवस्था में निम्न दोष बताये—(i) मुद्रा व्यवस्था जटिल है, क्योंकि एक पूर्ण मूल्य मुद्रा के साथ दो सांकेतिक मुद्रा रखना जनता की समझ के परे है। (ii) चाँदी का मूल्य बढ़ने पर रजत मुद्रा के चलन से बाहर होने की संभावना है। (iii) आन्तरिक करेन्सी का प्रसार व संकुचन स्वचालित न होकर मुद्रा-अधिकारियों की इच्छा पर निर्भर है। (iv) कई कोषों के रखने से उन पर नियंत्रण सम्बन्धी समस्यायें उठती हैं।

मुद्रा व्यवस्था में सुधार के लिये कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में अनेक सिफारिशें की थीं, जिनका अध्ययन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—(I) मुद्रा मान के चुनाव सम्बन्धी सिफारिशें, (II) विनिमय दर सम्बन्धी सिफारिशें, एवं (III) मुद्रा अधिकारी से सम्बन्धित सिफारिशें।

(I) मुद्रा मान के चुनाव से सम्बन्धित सिफारिशें

कमीशन ने देश के लिये एक उपयुक्त मौद्रिक प्रमाप का सुझाव देने के लिये सभी मुद्रा मानों का अध्ययन किया और उनकी उपयुक्तता पर विचार इस प्रकार प्रगट किये—

(१) स्वर्ण विनिमय मान—यह मान भारतीय रुपये के मूल्य में स्थिरता तो ला सकता है लेकिन इसमें निम्न दोष भी हैं—इस मान की कार्य-प्रणाली जनसाधारण की समझ से बाहर है, क्योंकि इसमें मुद्रा का मूल्य काउन्सिल एवं रिवर्स काउन्सिल बिलों के विक्रय की पद्धति द्वारा कायम रखा जा सकता है। (ii) इसमें अपने आप प्रसारित एवं संकुचित होने के गुण का अभाव है, क्योंकि करेन्सी की मात्रा में परिवर्तन होना भारत सचिव व भारत सरकार की इच्छा पर निर्भर है। (iii) यह एक खर्चीली प्रणाली है, क्योंकि इसमें सांकेतिक करेंसियां (रुपये व नोट) तथा पूर्ण मात्र सिक्कों (सावरेन) का प्रचलन था। (iv) स्वर्णमान कोष, कागजी चलन कोष, बैंकिंग कोष कई कोष रखने पड़ते हैं (वह भी कुछ इङ्गलैंड में और कुछ भारत में) जिसमें काफी सोना बँधा पड़ा रहता है। (v) चलन पद्धति पर सरकार का नियन्त्रण था जबकि साख पर इम्पीरियल बैंक का। इससे मुद्रा प्रणाली का ठीक-ठीक संचालन नहीं होने पाता है। (vi) इस मुद्रा मान में लोच का अभाव था, क्योंकि वह विनिमय दर के लिये प्राकृतिक सुधारक उपलब्ध नहीं करता था, जो कि सोने के आयात-निर्यात के समय एक स्वर्ण पद्धति में होने चाहिए। (vii) सरकार द्वारा इसे तोड़ने-मरोड़ने (हस्तक्षेप) की संभावना होने से जनता का विश्वास भी इसमें कम था। (viii) चाँदी की कीमत में वृद्धि होने से करेंसी को स्थिरता का खतरा रहता है। यदि चाँदी की कीमत पिघलाने के बिन्दु से ऊँची हो जाय, तो रुपयों के अदृश्य होने की सम्भावना थी।

(२) स्टर्लिंग विनिमय मान—इस मान को भी कमीशन ने भारत के लिए अनुपयुक्त बताया, क्योंकि (i) इसमें स्वर्ण विनिमय मान के सारे दोष मौजूद हैं। (ii) यह भारत को इङ्गलैंड पर निर्भर बना देती है, जो कभी भी देश के लिए हानिकारक हो सकती है।

(३) **स्वर्ण मुद्रा मान**—इसके विरुद्ध कमीशन ने निम्न तर्क प्रस्तुत किए—(i) इस प्रणाली को अपनाने के लिए विशाल मात्रा में स्वर्ण कोषों की आवश्यकता है जो कि भारत में उपलब्ध नहीं है। (ii) यह महँगी मुद्रा प्रणाली है जिसे भारत जैसे निर्धन देश में अपनाना उचित नहीं है। (iii) अन्य देशों ने भी जिस मान को असफल पाकर छोड़ दिया है उसे अपनाना अनुचित है।

(४) **स्वर्ण पाटमान**—स्वर्ण पाटमान को कमीशन ने भारतीय परिस्थितियों के संदर्भ में सबसे उपयुक्त पाया। उसने स्वर्ण पाट की स्थापना से भारत को निम्न लाभ बताये—(i) यह सरल एवं विश्वास प्रेरक है, क्योंकि इसमें सांकेतिक करेन्सी को परिवर्तनशीलता का अधिकार होगा और इसके पीछे एक ठोस व द्रव्यगत आड़ भी होगी। (ii) इस योजना को कार्यान्वित करते रहने से बहुत शीघ्र ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जायेगी जबकि विशुद्ध स्वर्णमान की स्थापना की जा सकेगी। (iii) इसमें स्वर्ण कोषों के धीरे-धीरे बढ़ते रहने की व्यवस्था है जिससे मूल्यों पर बुरा असर नहीं पड़ेगा तथा भारत के व्यापार को भी हानि नहीं पहुँचेगी। (iv) यह पद्धति जनता में विश्वास की वृद्धि करके बैंकिंग और विनियोग की आदत को प्रोत्साहित तथा कीमती धातु के संचय करने की आदत को निरुत्साहित करती है। (v) करेंसी का प्रसार एवं संकुचन स्वचालित होगा। (vi) करेंसी के वाह्य मूल्य को स्थिर रखने में स्वर्ण का उपयोग हो सकेगा। (vii) चूँकि जनता को ४०० औंस से कम सोना नहीं बेचा जायेगा, इसलिए इसमें अमौद्रिक कार्यों के लिए सोने का प्रयोग होने का खतरा नहीं है।

इस प्रकार, कमीशन ने भारत के लिये स्वर्ण विनिमय मान, स्वर्ण मुद्रा मान और स्टर्लिंग विनिमय मान को तो अस्वीकार कर दिया और इनके स्थान में स्वर्णपाट मान को स्वीकार किया। *श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास जो कि कमीशन के भारतीय* सदस्य थे, पूर्ण स्वर्णमान की स्थापना के पक्ष में थे। उन्होंने कमीशन के सुझाव का घोर विरोध किया था।

(II) विनिमय दर सम्बन्धी सिफारिशें

अपनी जाँच के सिलसिले में कमीशन ने विनिमय दर के प्रश्न पर भी विचार किया, क्योंकि पिछले वर्षों में इसे स्थिर रखने की समस्या सरकार के लिये सिर दर्द बन गई थी। गहन अध्ययन के पश्चात् कमेटी ने देश में १८ पैंस प्रति रुपया विनिमय दर अपनाने की सिफारिश की।

यह सिफारिश कमेटी के बहुमत द्वारा की गई थी, जबकि इसका अल्पमत जिसका नेतृत्व श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने किया था, १६ पैंस की विनिमय दर अपनाने के पक्ष में था। दोनों पक्षों के अपने-अपने प्रबल तर्क थे।

१८ पैंस की विनिमय दर के पक्ष में तर्क—सन् १९२७ में भारत सरकार के वित्त सदस्य सर बासिल ब्लैकेट (Sir Basil Blackett) व अन्य विद्वानों ने १८ पैंस की विनिमय दर के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये थे—

(१) **यह एक स्वाभाविक एवं प्राकृतिक दर है**—भारत की १८ पैंस विनिमय दर-एक स्वाभाविक एवं प्राकृतिक दर थी, क्योंकि इस दर पर रुपया पिछले २ वर्षों से स्थिर था और यह दर तमाम संसार की आर्थिक शक्तियों के समायोजन से उत्पन्न हुई थी।

(२) **इस दर पर देश की अर्थ-व्यवस्था पहले ही संतुलित हो चुकी है**—देश में कीमतों, मजदूरियों, उत्पादन-व्ययों और लगभग सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का इस दर से

समायोजन हो चुका था; अतः इसमें परिवर्तन कर देने पर देश की अर्थ-व्यवस्था को दुबारा समायोजन की आवश्यकता पड़ती, जिसमें उद्योग और व्यवसायों को कठिनाइयाँ उठानी पड़तीं।

(३) **यह दर वर्षों से केन्द्रीय बजटों का आधार है**—कई वर्षों से देश में केन्द्रीय व प्रान्तीय बजट इस दर के आधार पर बनाये जा रहे थे। दर को बदलने का अर्थ था कि बजटों में उथल-पुथल हो और बजटों का घाटा पूरा करने के लिए सरकार को अधिक कर लगाने की आवश्यकता अनुभव हो।

(४) **१६ पेंस की दर असफल रह चुकी है**—१६ पेंस की दर सन् १९१७ से १९२५ तक असफल रह चुकी है। यदि फिर से यह तय कर दी जाय, तो देश की अर्थ-व्यवस्था मे गड़बड पैदा हो सकती है।

(५) **१६ पेंस की दर स्वर्ण के आयात का उचित उपचार नहीं है**—१६ पेंस के समर्थकों का यह विचार है कि इस दर पर स्वर्ण का मूल्य घट जायगा, जिससे संचय कार्यों के लिये सोने का असाधारण आयात नही किया जा सकेगा। अतः उनका तर्क था कि १६ पेंस की दर निश्चित की जाय। लेकिन १८ पेंस के समर्थकों का मत है कि स्वर्ण के आयात पर ऐसे कारणों का प्रभाव पड़ता है जिन्हे दर को कम रखने से सुधारा नही जा सकता। अतः दर को कम करना स्वर्ण के आयात का उचित उपचार नही है। इस दृष्टि से भी १८ पेंस की दर को रखना उचित है।

(६) **व्यापार संतुलन की दृष्टि से यह एक उचित दर है**—१६ पेंस की दर के समर्थकों का यह मत कि १८ पेंस की दर देश का व्यापारिक संतुलन प्रतिकूल होने की अवस्था में नही अपनाई जा सकती, गलत है। यदि देश मे पर्याप्त रिजर्व हो, तो १८ पेंस की दर उतनी ही प्रभावोत्पादक होगी जितनी कि १६ पेंस की दर। अतः व्यापार-संतुलन की दृष्टि से भी १८ पेंस की दर उचित होगी।

(७) **यह दर गृह-खर्चों के भार को हल्का कर देगी**—किन्तु इसमें कमी करने से गृह-खर्चों का भार बढ़ जाएगा तथा कस्टम की आय घट जायेगी। यही नहीं, आयातित औजार, मशीनें व अन्य सामान मँहगे पड़ेंगे जिससे देश के औद्योगीकरण मे बाधा पहुँचेगी।

(८) **यह दर ऋणदाताओं व ऋणियों के प्रति अधिक न्यायपूर्ण है**—क्योंकि (i) जहाँ तक अल्पकालीन प्रसंविदों का प्रश्न है वे तो १८ पेंस की दर पर ही किये गये होंगे, अतः न्याय का यह तकाजा है कि उन्हे इसी दर पर भविष्य मे पूरा होने दिया जाय और (ii) जहाँ तक मालगुजारी व अन्य दीर्घकालीन प्रसंविदों का प्रश्न है, १८ पेंस की दर निश्चित रखने से निश्चित ही उनके भार मे वृद्धि हो जायगी। किन्तु कमीशन ने कहा, 'यह हानि तो गत वर्षों मे उस लाभ से पूरी हो जायगी, जो सम्बन्धित व्यक्तियों ने युद्धकालीन ऊँचे मूल्यों से उठाए हैं।"

(९) **१६ पेंस की दर अन्य देशों की तुलना में भारतीय मूल्य-स्तर गिरा देगी**—जिसे ऊपर उठाने के लिए मुद्रा प्रसार का आश्रय लेना होगा।

(१०) **१६ पेंस की दर एक कृत्रिम दर है**—क्योंकि इसे बनाये रखने के लिये मुद्रा प्रसार की सहायता लेनी होगी, जिससे श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी गिर जायेगी और औद्योगिक अशान्ति के बादल छा जायेंगे।

उक्त सब तर्कों के आधार पर १८ पेंस की दर का समर्थन किया गया था हिल्टन यंग कमीशन ने भी इस दर को अपनाने की सिफारिश की थी।

१८ पेंस की विनिमय दर के विरोध में तर्क—उपरोक्त सरकारी दृष्टिकोण के विरुद्ध गैर-सरकारी वर्गों ने भी बहुत से तर्क दिए। श्री पुरुषोत्तमदास व अन्य विद्वानों के उल्लेखनीय तर्क निम्नलिखित हैं—

(१) यह एक अप्राकृतिक दर है—क्योंकि इसे मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन करके प्राप्त किया गया है, न कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप; जैसा कि कमीशन ने बतलाया था।

(२) भारत में मूल्य-स्तर का अभी समायोजन नहीं हो पाया है—भारतीय मूल्य-स्तर में गिरावट सन् १९२५ के बाद आई है जो रुपए का ऊंचा विनिमय-मूल्य होने के कारण नहीं है बल्कि विश्व के मूल्य-स्तर में गिरावट आ जाने के कारण है। अतः १८ पेंस की दर पर तो समायोजन अभी होना है।

(३) इस दर का मजदूरी से समायोजन नहीं हुआ है—यदि १८ पेंस की दर स्थिर की गई, तो मजदूरों को इस दर पर समायोजित करने के लिये मजदूरी में कमी करनी पड़ेगी, जिसे मजदूर स्वीकार नहीं करेंगे।

(४) इस दर पर विदेशी उद्योगपतियों को १२½% का लाभ है—चूंकि भारतीय विश्व मूल्यों में अभी समायोजन नहीं हुआ है, इसलिये जब तक यह समायोजन पूर्ण नहीं हो जाता, तब तक १८ पेंस की दर विदेशी निर्माताओं को १२½% की आर्थिक सहायता का कार्य करेगी। परिणामस्वरूप भारतीय उद्योगपतियों की प्रतियोगिता-शक्ति कम हो जायगी, विवेचनात्मक संरक्षण की नीति का प्रभाव, जो भारत ने हाल हां में अपनाई है, बेकार हो जायगा और प्रतिस्पर्धा के कारण स्वदेश के उद्योग-धन्धे नष्ट हो जायेंगे।

(५) निर्यात व्यापार घट जायेगा—इससे भारतीय उत्पादकों और कृषकों को हानि होगी तथा ब्रिटिश उत्पादकों और आयातकर्त्ताओं को लाभ होगा।

(६) ऋणियों को नुकसान होगा—८ पेंस की दर ऋणियों के लिये हानिकारक है क्योंकि इसके कारण मूल्य २२½% कम हो जायेंगे।

(७) मूल्यों के समायोजन में अधिक समय लगेगा—ब्रिटेन को विनिमय में १०% परिवर्तन को संकुचित करने में दो वर्ष लगे थे। अतः उसे १८ पेंस की दर पर अपने मूल्यों में समायोजन करने के लिये अधिक समय चाहिये।

१६ पेंस की दर के समर्थन में पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास के तर्क—उक्त तर्कों के आधार पर श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने १८ पेंस की दर का विरोध किया तथा १९ पेंस की दर को स्वीकार करने के लिये अपनी मतभेद-टिप्पणी में उन्होंने निम्न तर्क प्रस्तुत किये है—

(१) यह भारत की प्राचीन दर है—उन्होंने कहा है कि १६ पेंस की दर ही वास्तव में प्राकृतिक दर है क्योंकि यह दर पिछले २५ वर्षों से भारत में प्रचलित रही है। केवल सन् १९१७ के बाद इसमें विघ्न पड़ा, वह भी युद्ध परिस्थितियों के कारण। अब भी यही दर निर्धारित करनी चाहिये।

(२) असंख्य कृषकों को लाभ होगा—इस दर को निश्चित करने से उन लोगों को नुकसान नहीं होगा, जिन्होंने प्रसंविदे सन् १९१७ के पहले किये थे। अतः इस दर से भारत के असंख्य कृषक लाभान्वित होंगे। इनके हितों को अधिक महत्व देना आवश्यक है।

(३) भारतीय वित्त पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा—१६ पेंस की दर नियत करने का भी भारत की वित्त-व्यवस्था पर कोई बुरा असर नहीं पड़ेगा क्योंकि पौंड-पावनों के मूल्यों में हुई कमी अन्य ढंगों से पूरी हो जायेगी। १८ पेंस की दर रखने से पौंड-पावनों से जो लाभ होगा उसकी पूर्ति भारतीय उत्पादकों को ही करनी पड़ेगी क्योंकि उन्हें अपनी वस्तुओं के बदले में कम मूल्य प्राप्त होगा।

(४) प्रतिकूल व्यापार-संतुलन की दशा में यह दर उचित है—यदि १६ पेंस की दर रखी गई, तो प्रतिकूल व्यापार-संतुलन की दशा में कोषों पर कोई खराब असर नहीं पड़ेगा।

(५) अन्य देशों के समान हमें भी युद्ध-पूर्व की दर को ही अपनाना चाहिये—किसी भी देश ने अपने युद्ध-पूर्व की विनिमय दर से अधिक अनुपातिक दर नहीं अपनाई है। अतः भारत को भी युद्ध-पूर्व की अनुपातिक दर ही, जो कि १६ पेंस है, अपनानी चाहिये।

(६) श्रमिकों पर इसका बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा—चूंकि मजदूरी की दरें पहिले से इतनी ऊँची हैं कि १६ पेंस की दर अपनाने से मूल्यों में जो वृद्धि होगी उसके लिये वह पर्याप्त है, इसलिये मजदूरी पर १६ पेंस की दर रखने का कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा। यही नहीं, कम अनुपातिक दर रखने से उद्योग व कृषि को लाभ पहुँचेगा जिससे उन्हें रोजगार की अधिक सुविधा हो जायेगी।

नि.संदेह सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास के तर्क बहुत योग्यतापूर्ण थे। फिर भी कमीशन ने यह अनुभव किया कि उन परिस्थितियों में जो कि उस समय विद्यमान थीं १८ पेंस की दर को १६ पेंस की दर की तुलना में अपनाना अधिक सुविधाजनक था। अतः उसने विनिमय दर १८ पेंस की दर पर स्थिर रखने का सुझाव दिया।

(iii) मुद्रा अधिकारी से सम्बन्धित सिफारिशें

कमीशन ने यह देखा कि मुद्रा नियंत्रण की वर्तमान व्यवस्था बहुत ही त्रुटि-पूर्ण है, क्योंकि साख का नियंत्रण तो इम्पीरियल बैंक करता है जबकि मुद्रा की व्यवस्था सरकार करती है। इस विभाजित दायित्व के कारण दोनों अधिकारियों की नीतियों में पर्याप्त सहयोग व समन्वय न था और विनिमय की दर में स्थायित्व लाने के प्रयत्न भी प्रभावपूर्ण नहीं हो पाते थे। अत. मुद्रा व साख की नीतियों में समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से कमीशन ने रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के नाम से एक केन्द्रीय बैंक स्थापित करने का सुझाव दिया। यह देश में केन्द्रीय बैंक के समस्त कार्य करने के साथ-साथ चलन व साख पर नियंत्रण रखेगा और विदेशी विनिमय दर का भी प्रबन्ध करेगा।

सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने, कमीशन की अन्य दो मुख्य सिफारिशों की भाँति, इस सुझाव का भी विरोध किया। उन्होंने कहा कि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया नामक एक नया केन्द्रीय बैंक खोलने की आवश्यकता नहीं है अपितु यह कार्य इम्पीरियल बैंक को ही सौंप दिया जाय।

कमीशन की सिफारिशों पर किया गया कार्य—सरकार ने पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास के विचारों पर ध्यान न देकर कमीशन के बहुमत में पास सिफारिशों को मान लिया और उन्हें कार्यरूप देने के लिये मार्च १९२७ में भारतीय धारा सभा ने एक एक्ट पास किया जो १ अप्रैल सन् १९२७ से लागू हुआ था। इस एक्ट के

अनुसार रुपये की विनिमय दर १ शि० ६ पैंस नियत की गई और सोने के क्रय-विक्रय का कार्य सरकार को सौंपा गया। सरकार जनता से २१ रु० ३ आ० १० पा० प्रति तोला की दर पर सोना खरीद सकती थी किन्तु किसी समय पर सोना ४० तोला से कम नहीं होना चाहिए था। इसी प्रकार उक्त दर पर ही सरकार जनता को सोना बेचती भी थी किन्तु यह किसी समय पर ४०० औंस से कम नहीं बेचा जा सकता था। सरकार सोना बेचने के बदले विदेशी व्यापार के लिये १ शि० ५३⁄६ पैंस की दर पर विदेशी विनिमय प्रदान कर सकती थी अर्थात् सोना या स्टर्लिंग देना सरकार की इच्छा पर अवलम्बित था। सावरेनों का विमुद्रीकरण हो गया था इस प्रकार सन् १९२७ के एक्ट द्वारा देश में स्वर्ण पाट मान स्थापित कर दिया गया किन्तु रिजर्व बैंक की स्थापना का प्रश्न कुछ समय के लिये स्थगित कर दिया गया।

क्या भारतीय चलन-पद्धति का विकास हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशों के अनुसार हुआ है ?

यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर देना कुछ कठिन है। इसमें तो संदेह नहीं है कि भारत सरकार ने आयोग की सभी सिफारिशें स्वीकार कर ली थीं और उनके अनुसार चलन पद्धति के विकास व संचालन का पूरा प्रयत्न भी किया गया। यथा—

(१) भारत मे सैद्धांतिक रूप से स्वर्णपाट मान स्थापित कर दिया गया।

(२) विनिमय दर को १८ पैंस पर बनाये रखने के लिये देश के स्वर्ण कोष खाली कर दिये गये।

(३) सन् १९३५ में रिजर्व बैंक की स्थापना करके साख व मुद्रा के नियंत्रण कार्यों का एकीकरण कर दिया।

किन्तु यह समझना भूल होगी कि इन कार्यवाहियों से आयोग का वास्तविक उद्देश्य पूरा हो गया था। यह बात निम्न तथ्यों से स्पष्ट हो जाती है :—

(i) आयोग ने स्वर्ण धातुमान की स्थापना का सुझाव देकर रुपये और स्वर्ण के बीच एक प्रत्यक्ष और स्पष्ट सम्बन्ध स्थापित होने की कल्पना की थी लेकिन व्यवहार में भारत सरकार ने रुपये का सोने से सम्बन्ध स्टर्लिंग के माध्यम द्वारा रखा। यही कारण है कि जिस मान को भारत में स्वर्ण पाट मान का नाम दिया गया था, वह वास्तव में स्टर्लिंग विनिमयमान ही था (जिसे कमीशन प्रारम्भ में ही अस्वीकृत कर चुका था) क्योंकि जब-जब स्टर्लिंग का ह्रास होता था, तब-तब रुपये और स्टर्लिंग की विनिमय दर को स्थिर रखा जाता था। सन १९३१ के बाद तो यह प्रत्यक्ष एक स्टर्लिंग विनिमय मान हो गया। इस प्रकार सच्चे अर्थों में स्वर्णपाट मान भारत में कभी भी स्थापित नहीं हो सका; और

(ii) इसी प्रकार, आयोग ने विनिमय दर को १८ पैंस पर रखने का सुझाव दिया था किन्तु उसने यह नहीं सोचा था कि भविष्य में इंगलैंड स्वर्णमान को छोड़ देगा। इसके अतिरिक्त आयोग का यह विचार भी न था कि स्टर्लिंग के मूल्य-ह्रास की दशा में भी रुपये और स्टर्लिंग की विनिमय दर कायम रखी जायेगी। उसने तो रुपये का सम्बन्ध स्वर्ण से रखने का सुझाव दिया था। वह रुपये और स्टर्लिंग की विनिमय दर को सभी परिस्थितियों में स्थायी रखने के पक्ष मे कदापि न था। **अतः भारत की चलन पद्धति कमीशन के वास्तविक उद्देश्यों के अनुसार विकसित नहीं हो पाई।**

(VII) सन् १६२७ से सन् १६३१ तक

स्टर्लिंग विनिमय मान की स्थापना—हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशों को कार्यान्वित करने पर भी भारतीय मुद्रा-व्यवस्था में कोई स्थाई सुधार नहीं हो सका। सन् १६२६ तक तो तत्कालीन मुद्रा व्यवस्था ठीक प्रकार से काम करती रही, लेकिन इसके बाद कुछ असाधारण परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं। इनके कारण उसके कार्य-संचालन में विघ्न पड गया। सन् १६२६ से विश्वव्यापी मन्दी का प्रसार पडने लगा था। अभी तक देश के व्यापार का संतुलन भारत के अनुकूल था, जिससे १८ पैंस की विनिमय दर सफल हो रही थी लेकिन मन्दी के कारण वस्तुओं के मूल्य गिरने लगे और देश के विदेशी व्यापार में बहुत गिरावट आ गई, फलतः विनिमय दर में भी गिरावट के चिन्ह दिखाई पडने लगे। सरकार ने विनिमय दर को १८ पैं० पर ही बनाये रखने के अनेक कृत्रिम उपाय किये, जैसे—ट्रेजरी बिल बेच कर करेंसी का संकुचन करना, स्टर्लिंग बिल बेचना, इम्पीरियल बैंक द्वारा अतिरिक्त करेंसी निकालने की दर को बढ़ाना। किन्तु इन उपायों के होने हुए भी मूल्य स्तर अधिकाधिक गिरते गये तथा विदेशी व्यापार कम होता गया। इससे सरकार के लिये विनिमय दर १८ पैं० पर कायम रखना बहुत कठिन हो गया।

प्रथम महायुद्ध के बाद जिन देशों ने स्वर्णमान को पुनः अपनाया था, उनमें इङ्गलैण्ड भी था। किन्तु उसने अपनी करेंसी और स्वर्ण के बीच पहले के समान सम्बन्ध रखा, जबकि अन्य देशों ने कुछ नीचा सम्बन्ध रखा था। इससे इंगलैंड का माल अन्य देशों की अपेक्षा मँहगा पडता था। अतः उसका निर्यात कम हो गया तथा व्यापार का सन्तुलन प्रतिकूल रहने लगा। देश के उद्योग-धन्धे प्रोत्साहन के अभाव में बढ न सके और बेकारी फैलने लगी। अन्त में एक मात्र उपचार के रूप में इंगलैंड २१ सित० सन् १६३१ को स्वर्णमान छोडने के लिये विवश हुआ।

जब इंगलैंड ने स्वर्णमान छोड़ दिया, तो भारत सरकार के सामने यह समस्या आई कि वह भविष्य में रुपये के बदले स्वर्ण दे या स्टर्लिंग। तत्काल ही २४ सित० सन् १६३१ को भारत सरकार ने स्वर्ण और स्टर्लिंग विक्रय नियन्त्रण सम्बन्धी एक आदेश निकाल कर रुपये को स्वर्ण से असम्बन्धित कर दिया और स्टर्लिंग के साथ उसके सम्बन्ध को १८ पैं० पर ही कायम रखा।

सरकार द्वारा प्रत्यक्ष रूप मे स्टर्लिंग मान ग्रहण करने पर देश में इस प्रणाली के विरुद्ध गहरा वाद-विवाद छिड गया। **स्टर्लिंग विनिमय मान (अथवा रुपये के साथ स्टर्लिंग के साथ सम्बन्धित करने) के विपक्ष में निम्न तर्क दिये गये :—**

(१) राजनैतिक पराधीनता के साथ-साथ आर्थिक पराधीनता—भारत का आर्थिक भाग्य सदा के लिये इंगलैंड से बँध जायगा, क्योंकि स्टर्लिंग के मूल्य-परिवर्तन के साथ-साथ रुपये के मूल्य मे भी परिवर्तन होने लगेंगे।

(२) छिपे तौर पर इंगलैंड के प्रति पक्षपात—स्टर्लिंग के साथ रुपये का गठबन्धन करके स्वर्णमान देशों के हितों की उपेक्षा करके अंग्रेजी माल को आयात के लिये विशेष रियायत दी गई है।

(३) हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशों के विरुद्ध—कमीशन रुपये को किसी भी देश की करेंसी के साथ सम्बन्धित करने के विरुद्ध था चाहे वह कितनी भी [illegible] रहती हो।

(४) स्वर्ण कोषों के खाली होने का भय—इस समय कई कारणों से स्टर्लिंग का ह्रास हो रहा था, अतः देश के स्वर्ण कोषों के बिखर जाने की आशंका थी।

(५) भारतीय व्यापार के लिये हानिप्रद—अन्य देशों ने स्टर्लिंग के रूप में अपनी-अपनी करेंसियों का अवमूल्यन कर दिया था, जबकि भारत ने स्टर्लिंग के साथ १८ पैंस की दर कायम रखी। इससे वह बड़ी असुविधाजनक स्थिति में पड़ गया क्योंकि स्टर्लिंग के रूप में करेंसी के अधि-मूल्यन से उसके व्यापार को गहरी हानि पहुँच रही थी।

स्टर्लिंग विनिमय मान (या रुपये को स्टर्लिंग से सम्बन्धित करने) के पक्ष में सरकार की ओर से निम्न मुख्य तर्क दिये गये :—

स्टर्लिंग विनिमय मान के विपक्ष में तर्क :

(१) राजनैतिक पराधीनता के साथ आर्थिक पराधीनता।
(२) छिपे तौर पर इंगलैण्ड के प्रति पक्षपात।
(३) हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशों के विपरीत।
(४) स्वर्ण कोषों के खाली होने का भय।
(५) भारतीय व्यापार के लिए हानिप्रद।

(१) विनिमय दर में अधिक स्थिरता—यदि रुपये को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता, तो देश को पूर्ण अस्थिरता का सामना करना पड़ता जबकि स्टर्लिंग से सम्बन्धित कर देने से अपेक्षतः अधिक स्थिरता रहेगी।

स्टर्लिंग विनिमय मान के पक्ष में तर्क :

(१) विनिमय दर में अधिक स्थिरता।
(२) गृह व्ययों के भुगतान में सुविधा।
(३) देनदार देश होने के नाते रुपये का स्वतन्त्र छोड़ना आशंकापूर्ण।
(४) इङ्गलैण्ड से भारतीय व्यापार के लिए लाभदायक।
(५) स्वर्णमान देशों से व्यापार को बढ़ावा।
(६) रुपये के स्वर्ण मूल्य में कमी।

(२) गृह-व्ययों के भुगतान में सुविधा—यदि रुपये को स्टर्लिंग से असम्बन्धित कर दिया जाता तो भारत को गृह-खर्चों के भुगतान के लिये कोष जुटाना कठिन हो जाता।

(३) देनदार देश होने के नाते रुपये को स्वतन्त्र छोड़ना आशंकापूर्ण—भारत एक देनदार देश था, जिससे रुपये को स्वतन्त्र छोड़ देने और अन्जान अँधेरे में अचानक उछाल लगाने में लेनदार देशों की अपेक्षा भारत को ही अधिक खतरा था।

(४) इंगलैंड से भारतीय व्यापार के लिये लाभदायक—इंगलैंड व अन्य स्टर्लिंग देशों से भारत का काफी विदेशी व्यापार होता था। अतः रुपये को स्टर्लिंग से सम्बन्धित करके स्थायित्व लाना कम से कम इस व्यापार के लिये तो लाभदायक होगा ही।

(५) **स्वर्णमान देशों से व्यापार को बढ़ावा**—यह भी कहा गया कि रुपये को स्टर्लिंग के साथ जोड़ देने से, रुपये का स्वर्ण मूल्य कम हो जाने के कारण, स्वर्णमान देशों से भारतीय निर्यातों में वृद्धि हो जायेगी, भले ही वह अस्थायी हो।

(६) **रुपये के स्वर्ण मूल्य में कमी**—१८ पेंस स्टर्लिंग की दर पर रुपया १६ पेंस सोने की दर से कम था। अतः जो लोग विनिमय दर को १६ पेंस पर स्थिर करना चाहते थे, उन्हें इससे सन्तोष हो जायेगा और उनकी शिकायतें बन्द हो जायेंगी।

[रुपये और स्टर्लिंग का उक्त ऐतिहासिक सम्बन्ध सन् १९४७ से टूट गया, क्योंकि उस वर्ष मुद्रा कोष की सदस्यता के कारण भारत सरकार को रुपये का मूल्य स्वर्ण में घोषित करना पड़ा था। रुपये का मूल्य स्वतन्त्र रूप में ०·२६८६०१ ग्राम सोना रखा गया। स्वर्ण का रुपये में यह मूल्य रुपये की १८ पेंस प्रति रुपया की विनिमय दर के आधार पर ही नियत किया गया था। किन्तु व्यवहार में आज भी रुपये का स्टर्लिंग से पुराना गठबन्धन चला आ रहा है जिसका प्रमाण यह है कि जब इंगलैंड ने सन् १९४९ में स्टर्लिंग का अवमूल्यन किया, तो भारत ने भी उसका अनुकरण करते हुए रुपये का अवमूल्यन कर दिया।]

(VIII) सन् १९३१ से सन् १९३९ तक

स्वर्ण का अत्यधिक निर्यात

सितम्बर सन् १९३१ और जनवरी १९४० के बीच में भारत से अधिक स्वर्ण का (लगभग ४१३·८ लाख सोना, मूल्य ३९२·४५ करोड़ रुपया) निर्यात हुआ। इसके निम्न कारण थे—(i) आर्थिक मन्दी के कारण कृषि पदार्थों का मूल्य गिरने से किसान संकट में फंस गये और उन्हें ऐसे समय अपना संचित धन, जो कि स्वर्ण के रूप में था, खर्च करना पड़ा। (ii) देशवासियों को स्वर्ण के निर्यात में लाभ प्रतीत होने लगा और सरकार ने कहने पर भी उसने निर्यात पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया। (iii) देश के आर्थिक विकास में सुविधा हो गई, क्योंकि लोग स्वर्ण बेच-बेच कर अपना धन व्यापार में लगाने लगे। (iv) देश को अपना स्टर्लिंग दायित्व चुकाने में आसानी हो गई, क्योंकि जितना स्वर्ण बाहर गया उतनी ही स्टर्लिंग की पूर्ति बढ़ गई। (v) भारतीयों को विदेशों में बहुत मात्रा में माल खरीदने की सुविधा हो गई।

चाँदी का भी अत्यधिक निर्यात

सन् १९३१ और १९३९ के बीच भारत से चाँदी भी अत्यधिक मात्रा में विदेशों को गई, क्योंकि—(i) विदेशों में चाँदी का मूल्य अधिक था। (ii) भारत सरकार को चाँदी की आवश्यकता नहीं रह गई थी, क्योंकि उस पर अब नोटों को चाँदी में बदलने का दायित्व हटा लिया गया था। अतः उसने चाँदी का बेचना प्रारंभ कर दिया। (iii) विदेशों में (विशेषतः अमेरिका में) चाँदी की माँग बढ़ गई, जिससे वहाँ चाँदी का मूल्य बहुत बढ़ गया और इससे भारत से चाँदी के निर्यात को और अधिक प्रोत्साहन मिला। किन्तु सन् १९३४ में चीन द्वारा रजत मान छोड़ देने पर और अमेरिका द्वारा भी अपनी नीति में परिवर्तन कर लेने पर चाँदी का मूल्य गिरना प्रारम्भ हो गया। इतने पर भी भारत से चाँदी का निर्यात जारी रहा।

भारत में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की स्थापना

१ अप्रैल १९३५ को रिजर्व बैंक की स्थापना हो गई। यह भारतीय मुद्रा प्रणाली के इतिहास की एक स्वर्णिम घटना है। इस बैंक को नोट निकालने का

एक मात्र अधिकार दिया गया। इस प्रकार पहली बार नोट निर्गमन एवं साख नियन्त्रण का कार्य एक ही संस्था के हाथों में आया। अन्य बैंकों के कोष इसके पास ही रहने लगे। विनिमय दर को स्थाई रखने का भार भी इस बैंक पर डाला गया और पत्र मुद्रा कोष स्वर्ण मान कोष व बैंक कोष तीनो को मिला कर एक कर दिया गया।

रुपये के अवमूल्यन की मांग

यद्यपि १८ पैं० की विनिमय दर निश्चित होने के समय से ही रुपये के अवमूल्यन की मांग की जाने लगी थी तथापि सन् १९३१ के बाद, मन्दी के दिनों में और रिजर्व बैंक की स्थापना के समय यह मांग अधिक जोर पकड़ गई, लेकिन सरकार ने कोई परिवर्तन स्वीकार नहीं किया।

परीक्षा प्रश्न

(१) सन् १८३५ के पूर्व भारत की करेंसी का क्या स्वरूप था? सन् १८३५ के अधिनियम द्वारा इसमें क्या स्थिरता आई?

(२) हरशैल कमेटी की नियुक्ति क्यों की गई थी? इसकी सिफारिशों और उन पर की गई कार्यवाही पर प्रकाश डालिये।

(३) फाउलर कमेटी की सिफारिशों को समझाइये। इनके क्या परिणाम हुए?

(४) चेम्बरलेन कमीशन ने किन बातों पर विचार किया? इसकी सिफारिशें बताइये। क्या सरकार ने उन्हें स्वीकार किया?

(५) भारतीय करेन्सी पर प्रथम महायुद्ध का क्या प्रभाव पड़ा?

(६) बेबिंगटन स्मिथ कमेटी की सिफारिशें और इनके परिणाम बताइये।

(७) हिल्टन यंग कमीशन ने देश की मुद्रा प्रणाली मे क्या दोष पाये? उसने क्या मुख्य सिफारिशें दी? इन्हें कहाँ तक कार्यान्वित किया जा सका?

(८) रुपये की विनिमय दर १६ पैं० हो या १८ पैं० इस विषय पर क्या तर्क-वितर्क दिये गये थे?

(९) सन् १९३१ से सन् १९३९ तक भारतीय चलन का वर्णन करिये।

अध्याय २

भारतीय चलन प्रणाली

(द्वितीय महायुद्ध काल)

[Indian Currency System]

प्रारम्भिक

३ सितम्बर १६३६ को द्वितीय महायुद्ध की घोषणा हुई। इस समय भारत में स्टर्लिंग विनिमय मान प्रचलित था। आन्तरिक करेंसी में चाँदी के रुपए, अठन्नी और नोट थे, जिन्हें अपरिमित विधि ग्राह्यता प्राप्त थी। रुपये की स्टर्लिंग मे विनिमय दर १ रु० = १ शि० ६ पें० थी और सरकार इस दर पर स्टर्लिंग खरीदने और बेचने के लिये उत्तरदायी थी। चवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी तथा तांबे के पैसे सीमित रूप में १ रुपया तक वैधानिक ग्राह्य थे। रिजर्व बैंक की स्थापना हो चुकी थी और विनिमय दर में जो अन्तर हुआ करते थे उन्हे बहुत कुछ दूर कर दिया गया था।

भारतीय मुद्रा पर द्वितीय महायुद्ध के प्रभाव

द्वितीय महायुद्ध के भारतीय मुद्रा पर जो विशेष प्रभाव पड़े उनमें से कुछ मुख्य प्रभाव इस प्रकार हैं—

(१) नोटों को परिवर्तित कराने की दौड़—युद्ध आरम्भ होते ही जनता का देश की मुद्रा प्रणाली में विश्वास कम हो गया। उसने डाकखानों व बैंकों से अपना रुपया लेना आरम्भ कर दिया। जब सरकार ने यह घोषणा करदी कि युद्धकाल में उसका वैयक्तिक सम्पत्ति पर अधिकार करने का कोई इरादा नहीं है, तब कहीं मुद्रा प्रणाली में विश्वास पुनः लौटा और रुपये वापिस लेने की प्रवृत्ति कम हुई तथा निकाला हुआ रुपया जमा होने लगा। मुद्रा प्रणाली में से विश्वास उठ जाने का ही यह परिणाम था कि रुपये के सिक्कों में प्रचलन से निकलने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई। फ्रांस के पतन के पश्चात् तो नोटों को रुपये के सिक्को में बदलने की माँग बहुत बढ़ गई। भारतीय टकसालों के लिये इतनी तेजी से रुपया ढालना सम्भव नहीं था। यद्यपि सरकार के पास चाँदी के स्टाकों का अभाव न था। चूँकि रुपये के सिक्के तेजी से भूमिगत हो रहे थे, इसलिए देश में इन सिक्कों की बड़ी कमी हो गई।

(२) *रुपये के सिक्कों का नियंत्रित वितरण*—चूँकि देश में रुपए के *सिक्कों* की बहुत कमी हो गई थी और होती जा रही थी, इसलिये भारत सरकार ने १५ जून

सन् १६४० को रुपये के नियन्त्रित वितरण की एक योजना चलाई। इसके अन्तर्गत व्यक्तिगत और व्यावसायिक कार्यों के लिये आवश्यकता से अधिक मात्रा में रुपयों के सिक्के जमा करना दण्डनीय घोषित कर दिया गया। व्यक्तिगत और व्यावसायिक आवश्यकतायें कितनी है इसका निर्णय रिजर्व बेंक के हाथ में रखा गया। इस घोषणा के कारण नोटों के बदले रुपये के सिक्कों की मांग बहुत घट गई, परन्तु रुपये के सिक्कों की कमी के कारण कुछ स्थानों पर नोट बट्टे पर बिकने लगे।

द्वितीय महायुद्ध के भारतीय मुद्रा दर पर ११ मुख्य प्रभाव :

१. नोटों को परिवर्तित कराने की दौड़।
२. रुपये का नियन्त्रित वितरण।
३. एक रुपये व दो रुपये के नोटों का प्रकाशन।
४. चांदी के सिक्कों में धातु की कमी।
५. पुराने सिक्कों की वापिसी।
६. नई रेजगारी का मुद्रण।
७. चलन व साख तथा कीमतों में वृद्धि।
८. विनिमय नियन्त्रण।
९. पौंड पावनों में वृद्धि।
१०. साम्राज्य डालर कोष।
११. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष।

(३) एक रुपए और दो रुपए के नोट का प्रकाशन—रुपये की कमी को दूर करने के लिए सरकार ने जून सन् १६४० में एक रुपये के नोट तथा फरवरी सन् १६४३ में दो रुपये के नोटों का प्रकाशन किया। ये अपरिमित विधि ग्राह्य थे और इन्हें एक रुपए के सिक्कों में परिवर्तित नहीं किया जा सकता था।

(४) चांदी के सिक्कों में धातु की कमी—चांदी के रुपयों की बढ़ती हुई मांग के कारण सरकार को इनके मुद्रण के लिये अधिक चांदी की आवश्यकता हुई। भारत सरकार चांदी के प्रस्तुत स्टाकों से ही अधिक काम लेना चाहती थी। अतः उसने चांदी के उपयोग में बचत एक तो उक्त नये नोटों का प्रकाशन करके की थी और दूसरे उसने यह किया कि सभी चांदी के सिक्कों की प्रमाणिक शुद्धता को कम कर दिया।

(५) पुराने सिक्कों की वापिसी—चांदी के उपयोग में बचत करने की नीति कार्यान्वित करने के लिये ही सरकार ने पुराने सिक्कों का, जिनमें नये सिक्कों की अपेक्षा अधिक चांदी थी (जैसे महारानी विक्टोरिया के छापे के रुपये व अठन्नियाँ) चलन धीरे-धीरे बन्द कर दिया, निश्चित तिथियाँ नियत करके उन्हें चलन से निकाल दिया और उनके स्थान में नये सिक्के चलाये जिनमें कम चांदी थी।

(६) नई रेजगारी का मुद्रण—सन् १६४२-४३ में छोटे-छोटे सिक्कों का भी बहुत अभाव अनुभव हुआ। लोगों ने इन्हे गलाना या जोड़कर रखना आरम्भ कर दिया था। बड़े-बड़े शहरों में तो इसकी कमी को दूर करने के लिये डाकखाने के टिकिटों का खेरीज के रूप में प्रयोग होने लगा था। अन्त में भारत सरकार ने एक ओर तो रेजगारी का संचय दण्डनीय घोषित कर दिया और दूसरी ओर रेजगारी की कमी को दूर करने के लिये निम्न उपाय भी किये, जिससे धीरे-धीरे रेजगारी की कमी दूर हो गई :—(i) छोटे सिक्कों की ढलाई के लिये लाहौर में एक नई टकसाल खोली, (ii) गिलट का अधन्ना चालू किया, (iii) छेद वाला पैसा निकाला (किन्तु वाशर के रूप में उसका प्रयोग होने लगने से उसका चलन शीघ्र बन्द करना पड़ा) (iv) इकन्नी व

तुअन्नी में भी गिलट की मात्रा बढ़ा दी; (v) नई व पुरानी टकसालों में बड़ी तेजी से सिक्के ढालने का काम किया गया। सन् १९४४ में ऐसे सिक्कों का मुद्रण २१·९० करोड़ प्रति मास तक पहुँच गया था।

(७) चलन व साख तथा कीमतों में वृद्धि—द्वितीय महायुद्ध का भारतीय चलन पर सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ा कि चलन और साख मुद्रा की मात्रा में बहुत अधिक वृद्धि हो गई। फल यह हुआ कि देश के मूल्यों में भी अनाप-शनाप वृद्धि हुई। प्रारम्भ में रिजर्व बैंक ने मुद्रा स्फीति को रोकने का कोई यत्न नहीं किया लेकिन बाद में अनेक उपाय किये गये—जैसे जनता से ऋण लेना नये-नये कर लगाना, आदि।

(८) विनिमय नियन्त्रण—युद्ध का आरम्भ होते ही इंगलैंड की भाँति भारत सरकार ने भी विदेशी विनिमय सम्बन्धी नियंत्रणों का कार्य रिजर्व बैंक को सौंप दिया था। विनिमय नियंत्रण के कार्य के लिये समस्त ब्रिटिश साम्राज्य को एक मुद्रा इकाई क्षेत्र में संगठित किया गया जिसे हम स्टर्लिंग क्षेत्र (Sterling Area) कहते हैं।

(९) पौंड पावनों में वृद्धि—युद्ध से पूर्व भारत पर इंगलैंड का साम्राज्यवादी ऋण लदा हुआ था, किन्तु युद्धकाल में भारत ने यह सब ऋण चुका दिया। यही नहीं उल्टा अरबों रुपया इंगलैंड पर ऋण हो गया। भारत के इस ऋण की माँग स्टर्लिंग में की जाती थी। अतः इसका नाम 'पौंड पावना' या 'स्टर्लिंग पावने (Sterling Balances) पड़ गया। सन् १९४७ में ये पौंड पावने १७०० करोड़ रुपये की कीमत के आँके गये थे।

(१०) साम्राज्य डालर कोष—युद्ध के कारण स्टर्लिंग को दुर्लभ मुद्राओं में (जिनमें डालर प्रमुख था) परिवर्तित करने में कठिनाई होने लगी। दुर्लभ मुद्राओं का उचित दर पर क्रय-विक्रय करने की कठिनाई को दूर करने और युद्ध के सफल संचालन में दुर्लभ मुद्रा का समुचित प्रयोग करने के लिये साम्राज्य डालर कोष योजना को कार्यान्वित किया गया। इस योजना में भारत भी सम्मिलित हुआ।

(११) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना—सन् १९४४ में विभिन्न देशों ने स्थायी विनिमय दरों के लिये तथा मौद्रिक वित्तीय मामलों में अधिक निकट सहयोग के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना की। भारत भी इस कोष का सदस्य बन गया, जिसके फलस्वरूप उसे अपनी प्रणाली और रिजर्व बैंक की कार्य-प्रणाली में कुछ संशोधन करने पड़े।

स्पष्ट है कि द्वितीय महायुद्ध का भारतीय करेंसी पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसने नई-नई समस्याओं को जन्म दिया और देश की अर्थ-व्यवस्था में बहुत तनाव रहा। अधिक मुद्रा प्रसार के कारण जनता को बहुत कष्ट हुआ तथा अविश्वास के कारण मुद्रा प्रणाली टूटते-टूटते बच गई।

साम्राज्य डालर कोष
(Empire Dollar Pool)

साम्राज्य डालर कोष क्या है ?

युद्ध (१९३९-४५) के पूर्व स्टर्लिंग सभी मुद्राओं में परिवर्तनशील था किन्तु युद्धकाल में उसे दुर्लभ मुद्राओं में (जिनमें डालर प्रमुख था) परिवर्तित कराने में कठि-

नाई होने लगी। इस कठिनाई को दूर करने तथा युद्ध का सफल संचालन करने के लिये एक योजना बनाई गई। इस योजना के अनुसार स्टर्लिंग क्षेत्र के सभी देश अपने निर्यातों से या अन्य कारणों से प्राप्त हुई डालर आय को इङ्गलैंड में जमा करा देते थे। इस कोष का संचालन वहाँ के बैंक ऑफ इंगलैंड और ब्रिटिश ट्रेजरी के हाथों में था। *चूँकि इस कोष में डालर का बहुत महत्त्व था इसलिये उसे साम्राज्य डालर कोष* का नाम दिया गया। आवश्यकता पड़ने पर ये देश स्टर्लिंग के रूप में साख प्राप्त कर लेते थे। भारत भी इस योजना में सम्मिलित हुआ।

कोष का प्रयोग कैसे किया जाता था ?

इस कोष में सदस्य देशों के लिये कोई कोटा निश्चित नहीं किया गया था। वरन् सदस्य देशों ने यह नैतिक बंधन स्वीकार कर लिया था कि वे विदेशी विनिमय का अनावश्यक व्यय नहीं करेंगे। जब किसी देश को डालर की आवश्यकता होती थी तो वह बैंक ऑफ इंगलैंड से डालर खाते में से ले लिया करता था। इस प्रकार सारा स्टर्लिंग क्षेत्र एक मुद्रा इकाई हो गया और विनिमय नियन्त्रण के ही नियम इन देशों पर लागू होते थे।

योजना के गुण दोष

द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के बाद भी साम्राज्य डालर कोष योजना को चालू रखा गया है क्योंकि अब डालर का अभाव पहले से भी अधिक खटकने लगा है। अतः यह आवश्यक समझा गया कि स्टर्लिंग क्षेत्रों के देशों के डालर व्यय पर नियंत्रण रखा जाय।

'साम्राज्य डालर कोष' में 'साम्राज्य' शब्द का प्रयोग अनुचित प्रतीत होता है, क्योंकि इससे राजनैतिक गन्ध आती है। अतः इसे 'स्टर्लिंग क्षेत्र डालर कोष' कहना अधिक उचित होगा।

जैसा कि डाक्टर मथाई ने कहा था, भारत को इस कोष से भूतकाल में कोई कठिनाई नहीं हुई थी किन्तु वर्तमान समय में युद्ध छिड़ने पर उसे इसमें भाग लेने के कारण कुछ कठिनाई अनुभव हो सकती है।

घाटे की अर्थ-व्यवस्था

(Deficit Financing)

यदि सरकार अपने आय-व्यय के घाटे को कर, सार्वजनिक ऋण तथा विदेशी सहायता से पूरा न करके अधिक नोट छाप कर या अपनी प्रतिभूतियों के आधार पर केन्द्रीय बैंक से ऋण लेकर पूरा करती है, तो इसे 'घाटे की अर्थ-व्यवस्था' कहेंगे।

घाटे की वित्त-व्यवस्था करने के एक या अधिक उद्देश्य हो सकते है :—

(i) **मंदी काल को दूर करना**—मंदी के काल में मुद्रा की कमी रहती है। अतः उन दिनों इस कमी को दूर करने के लिये घाटे की वित्त-व्यवस्था की जा सकती है। (ii) **निजी विनियोजन की कमी को दूर करना**—जब देश में प्राइवेट विनियोजन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं होते है, तो उत्पादन क्रिया में बहुत बाधा पड़ती है, ऐसी दशा में सरकार इसको दूर करने के लिये अधिक नोट छापती है या अधिक उधार लेती है। (iii) **युद्धकालिक व्यय की पूर्ति के लिये**—युद्ध काल में सरकार को युद्ध सम्बन्धी व्यवस्था पर बहुत अधिक व्यय करना पड़ता है जबकि उसे इतनी

नहीं होती है। अतः इस दशा में भी सरकार घाटे की अर्थ-व्यवस्था का उपयोग कर सकती है। (iv) विकास कार्य को प्रोत्साहन देने के हेतु—कम उन्नत देशों में आर्थिक विकास के विशाल कार्यक्रम बनाये जाते है, जिन्हें पूरा करने के लिये देश के पास साधनों की कमी होती है। ऐसी दशा में भी घाटे की वित्त-व्यवस्था को लाभ सहित अपनाया जाता है।

जब कभी घाटे की वित्त-व्यवस्था की जाती है, तो देश में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है, जिसके फलस्वरूप मूल्य बढ़ने लगते हैं, विनियोजन को प्रोत्साहन मिलता है और पूंजी का निर्माण अधिक होता है। इस प्रकार की वित्त-व्यवस्था करने से देश पर किस प्रकार प्रभाव पड़ेगा यह निम्न बातों पर निर्भर करता है—(i) **देश का आर्थिक-स्तर**—यदि घाटे की वित्त-व्यवस्था मंदी काल में की गई है, तो इसका प्रभाव अच्छा होगा, क्योंकि मूल्यों में वृद्धि होने से मंदी की अवस्था समाप्त हो जायेगी किन्तु जब घाटे की वित्त-व्यवस्था मुद्रा प्रसार की दशा में की जाती है, तो मुद्रा प्रसार को और भी बढ़ावा मिलेगा तथा यह संभव है कि देश की अर्थ-व्यवस्था मूल्यों की इतनी अधिक बढ़ोत्तरी को सहन न कर सके। (ii) **वित्त-व्यवस्था की मात्रा**—साधारणतः थोड़ी मात्रा में ही इस प्रकार की व्यवस्था करने के सुपरिणाम निकलते हैं। (iii) **उद्देश्य**—यदि यह उपाय उत्पादक कार्यों को बढ़ावा देने को अपनाया जाता है, तो मूल्य नहीं बढ़ेंगे क्योंकि देश में साथ ही साथ उत्पादन भी बढ़ता है। इसके विपरीत, यदि अनुत्पादक कार्यों के लिये घाटे की वित्त-व्यवस्था की गई है, तो इसका सुफल नहीं होता, क्योंकि मूल्य बहुत बढ़ जाते है। (iv) **मौद्रिक वित्तीय व अन्य रोकें**—यदि घाटे की वित्त-व्यवस्था के साथ-साथ मौद्रिक, वित्तीय और अन्य प्रकार के प्रतिबन्ध भी लगाये जाये, तो इसके प्रभाव नियंत्रण में रहेंगे।

भारत में मुद्रा प्रसार

द्वितीय महायुद्ध के काल में भारतीय करेन्सी की एक उल्लेखनीय विशेषता मुद्रा-प्रसार की समस्या थी। यों तो मुद्रा-प्रसार के अनेक कारण रहे हैं लेकिन मुख्य-मुख्य कारण निम्नलिखित है :—

युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार के कारण

(१) **स्टर्लिंग सिक्योरिटीज में वृद्धि**—युद्ध के संचालन के लिये भारत सरकार ने इंगलैंड तथा अन्य मित्र राष्ट्रों के लिये भारत में माल खरीदा और उन्हें भेजा। किन्तु इसका भुगतान उसे स्वर्ण या माल के रूप में न मिल कर स्टर्लिंग सिक्योरिटीज मिल जाता थी, रिजर्व बैंक स्टर्लिंग सिक्योरिटीज के आधार पर पत्र-मुद्रा छापता था। **इस प्रकार स्टर्लिंग सिक्योरिटीज के इंगलैंड में बढ़ने के साथ-साथ भारत में पत्र-मुद्रा बढ़ती जाती थी।**

(२) **युद्ध काल में वेतनों और मँहगाई के भत्तों में वृद्धि हो गई।** इसके कारण भी भारत सरकार को मुद्रा प्रसार द्वारा आय प्राप्त करने पर बाध्य होना पड़ता था, क्योंकि करो की वृद्धि तो एक निश्चित सीमा तक ही की जा सकती थी तथा सरकार को अपनी ऋण-नीति में भी कुछ सफलता प्राप्त नहीं हुई थी।

(३) **विनियोग और व्यापार की वृद्धि**—विनियोग और व्यापार की वृद्धि ने बैंकों को अधिक साख निर्माण के लिये प्रोत्साहित किया।

(४) **ट्रेजरी बिल्स**—भारत सरकार ने केवल स्टर्लिंग सिक्योरिटीज के आधार ही नहीं वरन् ट्रेजरी बिल्स के आधार पर भी मुद्रायें चलाईं।

(५) भारत सरकार के रक्षा व्यय में भारी वृद्धि हो गई थी; जिसे पूरा करने के लिये रिजर्व बैंक ने स्टर्लिंग सिक्योरिटीज के आधार पर पत्र मुद्रायें छापी।

(६) युद्ध काल मे विदेशी व्यापार का संतुलन भी भारत के पक्ष में रहा, जिसके बदले में भारत को स्टर्लिंग सिक्योरिटीज ही मिलीं और इनके आधार पर पत्र-मुद्रा का चलन बढ़ता ही गया।

(७) वस्तुओं की सामान्य दुर्लभता ने भी कीमतों को ऊंचा उठा दिया। आयातों की मात्रा युद्धकालीन कठिनाइयों के कारण बहुत ही सीमित हो गई थी, देश के भीतर खाद्यान्न का उत्पादन बराबर घट रहा था और सरकार लंका, अफ्रीका इत्यादि को अनाज भेज रही थी, आवश्यक मशीनों और कच्चे मालों की कमी के कारण देश के भीतर उत्पादन मे समुचित वृद्धि न हो सकी और साथ ही, भारतीय उत्पादन का एक बहुत बड़ा भाग युद्धकालीन उद्देश्यों के लिये खरीद लिया जाता था, जिससे नागरिक उपभोग के लिये वस्तुओं की उपलब्धि बहुत कम हो गई।

(८) सट्टे की प्रवृत्ति ने अकारण ही मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि कर दी। वस्तुओं का संग्रहण हो गया और चोर बाजारी के मूल्य और भी अधिक बढ़ गये।

(९) सरकार की मूल्य नियंत्रण एवं राशनिंग सम्बन्धी नीतियाँ असफल रहीं। राशन की मात्रा इतनी कम रखी गई थी कि लोगों को चोर बाजार से माल खरीदने पर विवश होना पड़ा।

(१०) यातायात सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण स्थानीय दुर्लभतायें बराबर बनी रहीं, जिसके कारण संचय (Hoarding) और नफाखोरी को रोकना कठिन हो गया।

युद्धकालीन मुद्रा प्रसार को रोकने के उपाय

जब सरकार ने मुद्रा प्रसार से उत्पन्न स्थिति की गम्भीरता को समझा तो उसने स्थिति में सुधार करने का प्रयत्न किया। कुछ उपाय इस प्रकार किये गये थे:—

(१) जनता की अतिरिक्त क्रय-शक्ति को कम करने के लिये नये-नये कर लगाये गये और पुराने करो में वृद्धि की गई।

(२) ऋण प्राप्त करने के लिये सेविंग्ज बैंक एकाउन्ट तथा नेशनल सेविंग्ज सर्टीफिकेट का प्रकाशन व्यापक पैमाने पर किया गया।

(३) देश में अतिरिक्त अन्न उत्पन्न करने के लिये अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन का संगठन किया गया और अन्य वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने के लिये भी नये उद्योगों को ५ वर्ष तक कर से मुक्त कर दिया।

(४) अनिवार्य वस्तुओं के मूल्य पर नियन्त्रण लगाया और उनके न्याय संगत वितरण के लिये राशनिंग प्रणाली प्रारम्भ की।

(५) जनता के पास जो मुद्रा थी उसे वापिस लेने के हेतु केन्द्रीय बैंक ने सोने का विक्रय किया।

(६) सरकार ने अपने व्ययों में कमी करके भी बजटों के घाटों को कम करने का प्रयास किया।

(७) आयात नीति को ढीला किया गया जिससे देश में उपभोग वस्तुओं का अभाव घटे।

भारत के पौंड पावने

(India's Sterling Balances)

'पौंड पावनों' से आशय

द्वितीय महायुद्ध मे भारत ने इंग्लैण्ड एवं मित्र राष्ट्रों को अरबों रुपये का माल भेजा। इसका भुगतान उसे स्वर्ण में नहीं मिला वरन् स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में मिला। चूँकि ये स्टर्लिंग इंग्लैंड में ही भारत सरकार के हिसाब में जमा हो जाते थे, इसलिए इन ऋण राशियों को 'पौंड पावना' (Sterling Balance) कहते हैं।

पौंड पावनों की वृद्धि के कारण

युद्ध के पहले भारत इंग्लैंड का ऋणी था किन्तु युद्ध के बाद उसकी स्थिति एक लेनदार की हो गई। उसने न केवल इंग्लैंड का पुराना ऋण चुकाया वरन् उल्टा अरबों रुपया उस पर चढ़ा दिया। सन् १९४६-४७ तक भारत का पौंड पावना लगभग १६६० करोड़ रुपये के बराबर हो गया था। इसके प्रधान कारण निम्नलिखित थे :—

(१) इंग्लैंड द्वारा वस्तुओं की खरीद—युद्ध काल मे ब्रिटेन ने भारत से बहुत सा सामान खरीदा। युद्ध परिस्थितियों के कारण भारत इंग्लैंड से बदले में अधिक सामान न मंगा सका। फलत. इंग्लैंड पर भारत का पावना हो गया, जिसका भुगतान उसने नगद नहीं किया वरन् स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में चुकाया।

(२) भारत इंग्लैंड आर्थिक समझौता (सन् १९३९)—नवम्बर सन् १९३९ मे भारत और इंग्लैंड की सरकारों के बीच एक आर्थिक करार हुआ। इसके अन्तर्गत भारत ने एक निश्चित सीमा तक रक्षा-व्यय का भार स्वयं ही उठाने का वचन दिया। इस सीमा से अधिक जो रक्षा-व्यय हो उसे इंग्लैंड द्वारा चुकाना तय हुआ। युद्धकाल मे (सन् १९३९ से लेकर सन् १९४५-४६ तक) रक्षा व्यय बहुत अधिक हुआ तथा भारत सरकार को इस सम्बन्ध मे ब्रिटिश सरकार से लगभग १७१० करोड़ रुपये लेना रहा। इसका भुगतान भी भारत को स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप मे मिला जो कि रिजर्व बैंक के लन्दन वाले खाते मे जमा हो गये तथा रिजर्व बैंक ने इसके आधार पर नोट छापकर सरकार को दे दिये।

(३) मित्र राष्ट्रों को माल का निर्यात—युद्ध के सफलतापूर्वक संचालन करने के हेतु भारत ने इंग्लैंड को माल तो भेजा ही, साथ ही उसने काफी मात्रा में अन्य मित्र राष्ट्रों को भी निर्यात किया। इन्होने भी इसका भुगतान स्टर्लिंग में किया जो कि इंग्लैंड मे जमा हो जाता था।

(४) भारत की दुर्लभ-मुद्रा आय डालर कोष में जमा होना—युद्ध काल मे भारत ने अमेरिका को बहुत सा सामान निर्यात किया। उससे व अन्य देशों से जो डालर या अन्य दुर्लभ-मुद्रा आय भारत को हुई वह अनिवार्यतः साम्राज्य डालर कोष (Empire Dollar Pool) मे जमा करा दी जाती थी और इसके बदले ब्रिटेन स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ दिया करता था। इनसे भी हमारे पौंड पावनों में वृद्धि हुई।

(५) अमरीकी सेनाओं पर भारत में व्यय—युद्ध काल में अमरीका की सेनायें भारत में रही थी। इनका सारा व्यय भारत ने किया था। इसके बदले में भारत को जो डालर प्राप्त हुये वे भी साम्राज्य डालर कोष मे जमा हो गये तथा

भारत को इंग्लैंड ने स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ दी। इससे पौंड पावनों की मात्रा धीरे-धीरे बढ़ती गई।

पौंड पावनों की वृद्धि का भारत के लिये महत्व

पौंड पावनों की वृद्धि होना भारत के आर्थिक इतिहास की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। इसके कारण भारत की स्थिति एक देनदार देश से बदलकर एक लेनदार देश की हो गई। दूसरे, पौंड पावनों की वृद्धि उस सीमा का सूचक है जहाँ तक भारतवासियों को मुद्रा प्रसारिक वित्तीय व्यय के फलस्वरूप अवर्णनीय कठिनाइयाँ उठानी पड़ी, वास्तव में इतना त्याग भारतवासियों को कभी भी नहीं करना पड़ा था। पौंड पावने भारतवासियों के आधा पेट खाने तथा नंगे तक रहने का परिणाम था।

परीक्षा प्रश्न

(१) भारतीय चलन पद्धति पर द्वितीय महायुद्ध के प्रभाव का विस्तार से वर्णन करिये।

(२) साम्राज्य डालर कोष क्या है? इस योजना के गुण-दोषों पर विचार प्रगट करिये।

(३) भारत के पौंड पावनों में वृद्धि क्यों हुई? इसका प्रयोग किस प्रकार किया जा रहा है?

(४) नोटों को भुनाने की अतिशय माँग का सामना करने के लिये सरकार ने क्या उपाय किये?

(५) दूसरे महायुद्ध में वस्तुओं के मूल्य क्यों चढ़ गये? सरकार ने इस स्थिति का कैसे सामना किया?

(६) सरकार ने 'घाटे के बजट' की नीति क्यों अपनाई और इनका क्या प्रभाव हुआ?

(७) विनिमय नियंत्रण से आप क्या समझते हैं? भारत सरकार ने किस प्रकार देश के वैदेशिक व्यापार एवं पूँजी के बाहर जाने को नियंत्रित किया?

(८) भारत में मुद्रा प्रसार के क्या कारण थे? इसके समाज पर क्या प्रभाव पड़े? मुद्रा प्रसार के विरोध में सरकार ने कौन-कौन से कदम उठाये?

अध्याय ३.

भारतीय चलन का इतिहास

(युद्धोत्तर काल)

[Indian Currency System]

युद्धोत्तरकाल में भारतीय करेन्सी में हुये परिवर्तन

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् विशेषत: सन् १९४७ मे भारत के स्वतन्त्र होने पर भारतीय करेन्सी प्रणाली मे निम्न महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये :—

(१) भारतीय रुपये का स्टर्लिंग से सम्बन्ध विच्छेद—सन् १९४७ में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना हुई, जिसने सन् १९४७ से अपना कार्य आरम्भ कर दिया था। भारत इस कोष का सदस्य बन गया और उसे रुपये का मूल्य स्वर्ण में घोषित करना पड़ा। परिणामतः ८ अप्रैल सन् १९४७ से रुपये और स्टर्लिंग का वैधानिक गठबन्धन समाप्त हो गया। रुपये का मूल्य स्वतन्त्र रूप मे ०·२६८६०१ ग्राम सोना रखा गया, जो कि १ शि० ६ पैंस प्रति रुपया की विनिमय दर के आधार पर था। परन्तु व्यवहार मे आज भी रुपये का स्टर्लिंग से पुराना ही गठ-बन्धन चला आ रहा है।

(२) रुपये का अवमूल्यन—जब १८ सितम्बर १९४९ को इंगलैंड ने अकस्मात ही स्टर्लिंग का अवमूल्यन किया (जिसके कारण पौंड का डालर मूल्य ४·०३ डालर प्रति पौंड से घटकर केवल २·८० डालर रह गया), तो भारत मे भी अन्य २४ देशों के साथ ही साथ रुपये का अवमूल्यन कर दिया गया। बाद की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि भारत का उक्त निर्णय ठीक ही था।

(३) मुद्रांकन में परिवर्तन—१५ अगस्त सन् १९५० से जिन नई मुद्राओं का चलन हुआ है उन्हे पूर्णत: भारतीय बना दिया गया है अर्थात् भारतीय चिन्ह लगाये जाने लगे है।

(४) रिजर्व बैंक व इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण—१ जनवरी १९४९ से रिजर्व बैंक एक राष्ट्रीय संस्था बन गई है। १ जुलाई सन् १९५५ से इम्पीरियल बैंक का भी राष्ट्रीयकरण कर लिया गया है और इसका नया नाम है स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया।

(५) आर्थिक नियोजन और हीनार्थ प्रबन्धन—जब से देश मे आर्थिक नियोजन होने लगा है तब से प्रतिवर्ष कुछ न कुछ हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing)

किया जाता है। प्रथम योजना काल में २५० करोड़ व द्वितीय योजना में १६०० करोड़ रुपये का हीनार्थ प्रबन्धन किया गया था। तृतीय योजना में ५५० करोड़ रुपये के हीनार्थ प्रबन्धन का प्रस्ताव है। हीनार्थ प्रबन्धन का मतलब है अधिक मात्रा में नोट छापना। इस प्रकार भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में भी रुपया महत्वपूर्ण योग दे रहा है। भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् से रुपये के मूल्य में बहुत गिरावट आई है जो रिजर्व बैंक ऑफ गवर्नर श्री आयंगर के अनुसार २६% के लगभग है।

(६) पत्र चलन—सन् १६३५ से नोट निर्गमन पर रिजर्व बैंक का अधिकार है। रुपये के नोटों को परिवर्तित कराने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। सन् १६५६ तक नोट निर्गमन की आनुपातिक कोष निधि प्रणाली अपनाई गई थी और आजकल न्यूनतम मुद्रा कोष प्रणाली को अपनाया गया है।

वर्तमान मुद्रा-प्रणाली

भारतीय रुपये का अब भी स्टर्लिंग से घनिष्ठ सम्बन्ध है किन्तु पहले की तरह वह इसका दास नहीं रहा। भारत सरकार ने मुद्रा कोष के नियमों के अनुसार रुपये का स्वर्ण मूल्य एवं डालर मूल्य घोषित कर दिया है। इसमें वह कोष की पूर्व अनुमति के बिना कोई घटा बढ़ी नहीं कर सकती है। इस प्रकार रुपये के बाह्य मूल्य में स्थिरता आ गई है। विदेशी मुद्रा सम्बन्धी सौदे रिजर्व बैंक के द्वारा किये जाते हैं। शनैः शनैः नई मुद्रा पुरानी मुद्रा का स्थान ग्रहण करती जा रही है। नोटों के सम्बन्ध में न्यूनतम मुद्रा कोष प्रणाली अपनाई गई है।

युद्धोत्तर मुद्राप्रसार-कारण एवं उपचार

युद्धोत्तर कालीन मुद्राप्रसार के कारण—युद्धोत्तर काल में भी मुद्राप्रसार का अन्त नहीं हुआ है, वरन् यह समस्या अधिक जटिल हो बनी है। युद्धोत्तर काल में मुद्राप्रसार के प्रमुख कारण निम्नलिखित है:—(i) युद्धोत्तर काल में भारत सरकार को इंग्लैंड की सरकार के लिये भारत में रुपया व्यय करना पड़ा; (ii) केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों के बजट 'घाटे के बजट' रहे और यह घाटा शरणार्थियों के बसाने, काश्मीर युद्ध, हैदराबाद की पुलिस कार्यवाही तथा भारतीय दूतावासों पर बढ़ते हुये व्यय के कारण बढ़ता ही गया, जिसे पूरा करने के लिये सरकार ने केन्द्रीय बैंक की सहायता ली और पत्र मुद्रा के चलन में वृद्धि हो गई; (iii) युद्ध के बाद नियंत्रण हटा लिया गया, जिससे वस्तुओं की कीमत एकाकी बढ़ गई; (iv) भारत के विभाजन के पश्चात् देश में अन्न का बड़ा अभाव हो गया एवं किसानों की मुद्रा आय बढ़ जाने से भी उन्होंने कृषि उपज की बिक्री कम मात्रा में की, जिससे कृषि वस्तुओं के मूल्य में बहुत वृद्धि हो गई; (v) कच्ची सामग्री की कमी, औद्योगिक अशांति एवं पूंजी के अभाव के कारण देश में उत्पादन भी अधिक नहीं बढ़ा जबकि जनसंख्या में बहुत वृद्धि हो गई थी; (vi) केन्द्रीय बैंक खुले बाजार में सरकारी प्रतिभूतियाँ खरीदता व बेचता था। इससे भी मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि हुई और (vii) सरकार ऋण लेने तथा व्यय में बचत करने में बहुत सफल न हो सकी।

मुद्राप्रसार विरोधी उपाय

किन्तु ये सब उपाय बहुत सफल सिद्ध न हुये। स्वतन्त्रता के पश्चात् जनवरी सन् १६४८ में राष्ट्रीय सरकार ने मुद्रा प्रसार विरोधी जो नीति अपनाई उसके दो पहलू थे—(I) मुद्रा की मात्रा को कम करना और (II) वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करना।

(I) मुद्रा की मात्रा को कम करने के लिये नीचे लिखे उपाय किये गए :—

(१) करों में वृद्धि करना। (२) ऊँची ब्याज देकर जनता से अधिक ऋण प्राप्त करना (३) चलन के फैलाव को रोकना। (४) घाटे के अर्थ-प्रबन्धन की नीति को छोड़ देना। (५) शासन के व्यय में कमी करना। (६) कम्पनियों द्वारा वितरित किये जाने वाले लाभांश को ६% तक सीमित करना। (७) तीन वर्ष के लिये जमींदारों को हर्जाना व अन्य भुगतान रोक देना। (८) आय-कर की बकाया के वसूल करने का प्रबन्ध करना। (९) सन् १९४९ के बैंकिंग अधिनियम के अन्तर्गत बैंकों के लिये अपनी कुल जमा का २५% भाग सरकारी सिक्योरिटीज में रखना अनिवार्य कर देना। (१०) बैंक दर ३ से ३½% कर देना।

(II) वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने के लिये सरकार ने निम्न उपाय किये :— (१) कृषकों को अच्छा खाद, अच्छा बीज और कम ब्याज पर तकावी ऋण आदि दिये गये। (२) अधिक भू-भाग पर खेती करके कपास, जूट व गन्ने का उत्पादन बढ़ाया गया। (३) नये उद्योगों को पहले तीन वर्षों के लिये आय-कर से छूट दी गई। (४) प्राइवेट विनियोगों को प्रोत्साहन देने के लिये राष्ट्रीयकरण की योजनाओं को स्थगित कर दिया गया (५) खाद्यान्न और निर्मित वस्तुओं के आयात बढ़ाये गये। (६) मूल्य नियंत्रण एवं राशनिंग फिर से लागू कर दिया गया। (७) उद्योगों को पर्याप्त मात्रा में पूँजी प्रदान करने के लिये फाइनैन्स कारपोरेशन की स्थापना की गई।

प्रारम्भ में सरकार को कुछ विशेष सफलता नहीं मिली किन्तु शनैः शनैः कीमतों में वृद्धि की गति धीमी पड़ने लगी।

पौंड पावनों का भुगतान

भुगतान सम्बन्धी वाद-विवाद

पौंड पावनों के भुगतान की समस्या को हल करना तो दूर अनेक ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने तथा कुछ ब्रिटिश समाचार-पत्रों ने इन पावनों को कम करने अथवा रद्द करने की माँग का नारा बुलन्द किया। अपने दृष्टिकोण के समर्थन में उन्होंने निम्न तर्क दिये—

(१) ब्रिटेन की ओर से यह तर्क दिया गया कि **पौंड पावने व्यापारिक ऋण नहीं थे, अतः** इनके चुकता करने के लिये इंग्लैंड बाध्य नहीं है।

(२) इनका शोधन इङ्गलैंड की क्षमता से बाहर है—क्योंकि युद्ध काल में इङ्गलैंड की आर्थिक अवस्था बहुत बिगड़ गई है। इस आधार पर यह माँग की गई कि पौंड पावनों में भारी कमी तो अवश्य ही होनी चाहिये।

(३) अमेरिका की भाँति भारत को भी इन्हें माफ कर देना चाहिये—क्योंकि ये ऋण वास्तव में सबके हितार्थ युद्ध संचालन के लिये थे।

(४) रुपये की कृत्रिम ऊँची विनिमय दर—रुपये की विनिमय-दर कृत्रिम रूप से बहुत ऊँची रखी गई थी, जिसके कारण पौंड पावनों में अत्यधिक वृद्धि हो गई। अतः पौंड पावनों में कमी करना उचित है।

(५) युद्ध के संचालन में भारत का भी हित था—जापान से युद्ध तो भारत को बचाने के लिये ही लड़ा गया था। यदि इङ्गलैंड भारत की ओर से न लड़ता, तो

भारत नष्ट हो जाता। अतः पौंड पावनों में भारी कमी की जानी चाहिये। चर्चिल ने तो यहाँ तक कहा कि भारत को ब्रिटेन से यह ऋण कतई नहीं मांगना चाहिये।

उक्त तर्कों के आधार पर पौंड पावनों को रद्द करने या इनके कम करने की मांग का भारत में घोर विरोध किया गया। इङ्गलैंड वासियों के मत के विरोध में निम्न तर्क दिये गये—

(१) पौंड पावने बलात ऋण थे—इतने बड़े ऋण देना भारत की क्षमता से बाहर था अतः व्यापारिक ऋण न होने पर भी इनको चुकता करना इङ्गलैंड के लिये आवश्यक है।

(२) पौंड पावनों के रूप में भारत ने जो ऋण इङ्गलैंड को दिया वह भारतीय जनता के **महान त्याग, घोर आर्थिक कष्ट तथा कठिनाइयों का प्रतीक था।** भारतवासी खुद तंगी झेलते रहे, नंगे-भूखे रहे किन्तु इंङ्गलैंड को आवश्यक सामग्री प्रदान करते रहे। अतः अब इन ऋणों के रद्द करने की बात करना भारत के प्रति अन्यायपूर्ण हैं।

(३) भारत और अमेरिका की तुलना अनुचित है—भारत को अमेरिका की तरह इङ्गलैंड से पौंड पावनों का भुगतान नहीं लेना चाहिये, यह तर्क भी न्याय रहित है, क्योंकि भारत और अमेरिका की तुलना उचित नहीं है। प्रथम, भारत और अमेरिका की आर्थिक अवस्था में बहुत अन्तर है। दूसरे, अमेरिका को इङ्गलैंड से कुछ सोना भी मिला था जबकि भारत को केवल कागज की स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ ही मिली थीं।

(४) सप्लाई नियंत्रित मूल्यों पर हुई थी—यह कथन बहुत दोषपूर्ण है कि भारत में रुपये की विनिमय-दर कृत्रिम रूप से ऊंची रखी गई थी, इसलिये पौंड पावनों की कमी कर देनी चाहिये। सरकार ने मित्र राष्ट्रों की आवश्यक तमाम वस्तुओं पर सर्व-व्यापी परिमाणात्मक नियंत्रण लगा रखा था, जो इतना कड़ा था कि नागरिक जनता अपनी आवश्यकता की वस्तुओं के लिये बुरी तरह तरस गई। वास्तव में यह कहना चाहिये कि ग्रेट-ब्रिटेन ने ही भारत में इन वस्तुओं के लिये मूल्य निर्धारित किये न कि भारत ने ये मूल्य उससे लिये।

(५) पौंड पावने हमारी सबसे बड़ी पूंजी हैं—पौंड पावनों के भुगतान के पक्ष में भारत का एक महत्वपूर्ण तर्क यह था कि इनके आधार पर हमें आर्थिक विकास में बहुत मदद मिल सकती है। उनकी सहायता से न केवल स्टर्लिंग क्षेत्र से वरन दुर्लभ मुद्रा क्षेत्रों से भी औद्योगीकरण के हेतु व अन्य पंचवर्षीय योजना कार्यक्रमों की पूर्ति के लिये आवश्यक मशीनरी व साज सामान मंगा सकेंगे।

(६) ऋण चुकाना इङ्गलैंड का नैतिक कर्त्तव्य है—कोई कानून इतना निर्दय नहीं है जो किसी ऋणदायी को केवल व्यापारिक कार्यों के लिये ही ऋण देने के लिए विवश करे। स्टर्लिंग राशि के मामले में तो ऋण स्वयं ऋणी द्वारा उत्पन्न किया गया था। अतः इन ऋणों को चुकाना इङ्गलैंड का कानूनी व नैतिक कर्त्तव्य है। प्रोफेसर एवर्ड थाम्पसन ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया था।

पौंड पावनों के भुगतान के सम्बन्ध मे उक्त-तर्क-वितर्क बहुत समय तक चलता रहा और इंगलैंड इनके भुगतान को टालता रहा। अन्त मे भारत ने इस समस्या को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सामने रखा और यह मांग की कि इनके भुगतान का प्रश्न भी कोष के कार्य क्षेत्र में सम्मिलित किया जाय। परन्तु कोष ने इस पर विचार करने से इन्कार कर दिया। किन्तु इसी परिषद में इङ्गलैंड की ओर से उसके प्रतिनिधि लार्ड

कीन्स ने स्पष्ट शब्दों में भारत को यह विश्वास दिलाया कि जो ऋण इङ्गलैंड ने भारत से लिया है उसे वह ईमानदारी से चुकायेगा। इस प्रकार इङ्गलैंड की सरकार ने वस्तु-स्थिति का अन्त में सही-रूप ग्रहण किया। उसने भारत से पौंड पावनों के भुगतान के लिये समय-समय पर अनेक समझौते किए और इनके फलस्वरूप पौंड पावने धीरे-धीरे चुकते जा रहे हैं।

भुगतान सम्बन्धी वर्तमान स्थिति

भारत ने प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत विभिन्न कार्य क्रमों के लिये आवश्यक पूँजी-माल खरीदने तथा उपभोक्ता सामान व खाद्यान्न का आयात करने के हेतु भी अपने पौंड पावनों से भारी राशि निकाली है। सन् १९५१-५२ में रिजर्व बैंक द्वारा रखी गई स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में १६१ करोड़ रु० की कमी आ गई थी। यह कमी जुलाई १९५२ तक चलती रही जबकि स्टर्लिंग शेष ६७३ करोड़ रु० तक गिर गये। इसके बाद स्थिति में कुछ सुधार हुआ और १९५३ की तीसरी तिमाही में स्टर्लिंग शेष ७०० करोड़ हो गये। सच यह है कि ये तो स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ सन् १९५४-५५ में ७२७ करोड़ से बढ़कर सन् १९५५-५६ में ७४० करोड़ रु० हो गए। लेकिन द्वितीय योजना के प्रारम्भिक काल में स्थिति में परिवर्तन हुआ और तब से हमारे स्टर्लिङ्ग शेष लगातार तेजी से घटते गए हैं, क्योंकि हमारे भुगतान-संतुलन में भारी प्रतिकूलतायें उत्पन्न हो गई थी। सन् १९५६-५७ में रिजर्व बैंक के स्टर्लिङ्ग शेष में २१९ करोड़ रु० की कमी हो गई तथा शेष ७४८ करोड़ से घटकर केवल ५२९ करोड़ रु० रह गया। इस प्रकार द्वितीय योजना के पहले वर्ष में ही हमने इतना पौंड पावना ले लिया जितना कुल योजना विधि में लेना प्रस्तावित था। भुगतान-संतुलन में प्रतिकूलता इतनी अधिक रही कि रिजर्व बैंक के स्टर्लिंग शेष में और भी कमी आ गई। अगस्त सन् १९५७ में ये ४०० करोड़ रु० की उस न्यूनतम कानूनी सीमा से भी कम हो गए जो कि रिजर्व बैंक को नोट निर्गमन के विरुद्ध रिजर्व में रखना आवश्यक था। अतः रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया एक्ट में संशोधन किया गया। इस संशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक के लिए विदेशी प्रतिभूतियाँ अपने रिजर्व में रखने की न्यूनतम कानूनी सीमा घटाकर ८५ करोड़ रु० कर दी गई है। स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियों में कमी होना अब भी जारी है, और वे घटकर बहुत मामूली राशि लगभग २०२ करोड़ रु० मात्र रह गई है।

भारतीय रुपये का अवमूल्यन

मुद्रा के अवमूल्यन का अर्थ

मुद्रा 'विनिमय' का एक साधन है। यह विनिमय केवल एक देश के विभिन्न व्यक्तियों में नहीं होता है, वरन् दो या दो से अधिक देशों के व्यक्तियों में भी होता है। चूँकि अलग-अलग देशों को अलग-अलग मुद्रायें होती हैं, इसलिये एक देश का व्यक्ति दूसरे देश की मुद्रा को स्वीकार नहीं करता। अतः विनिमय की सुविधा के लिये विभिन्न देश स्वर्ण के माध्यम से या किसी अन्य उपाय द्वारा अपनी मुद्रा का मूल्य दूसरे देशों की मुद्राओं में निश्चित कर देते हैं। **जिस मूल्य पर कोई देश दूसरे देश की मुद्रा को लेने के लिये तैयार है उसे उसकी मुद्रा या करैन्सी का 'बाह्य मूल्य' (External value) कहते हैं।** देश की करैन्सी के बाह्य मूल्य से ही 'अवमूल्यन' (Devaluation) *का सम्बन्ध है अर्थात् अवमूल्यन का देश के आन्तरिक मूल्य से सम्बन्ध नहीं होता।* यही कारण है कि मुद्रा का अवमूल्यन होने के बाद भी मुद्रा की एक इकाई के बदले में उतनी

ही वस्तुयें व सेवायें प्राप्त हो सकती है जितनी कि अवमूल्यन के पहले प्राप्त होती थी। वास्तव मे 'अवमूल्यन' का आशय देश की करेंसी के बाह्य मूल्य को कम करने से अर्थात् इससे स्वदेश की मुद्रा की एक इकाई के बदले में अब विदेश की पहले से कम मुद्रायें प्राप्त होती हैं। पाल एनजिग के शब्दों मे, "अवमूल्यन का अर्थ मुद्राओं की अधिकृत तुल्यताओं में कमी कर देने से है।" ("Devaluation means lowering of the official parities.")

अवमूल्यन मे यह आवश्यक नही है कि विदेशी मुद्रा के रूप में स्वदेशी करेन्सी का बाहरी मूल्य कम होने के साथ ही साथ वस्तुओं और सेवाओं के रूप में मुद्रा का 'आन्तरिक मूल्य' (Internal Value) भी कम हो जाय। जब मुद्रा का आन्तरिक मूल्य कम हो जाय अर्थात् वस्तुओं और सेवाओं के रूप में मुद्रा का मूल्य घट जाय, तो इसे मूल्य ह्रास (Depreciation) कहते हैं। मूल्य-ह्रास प्राय: मुद्रा-प्रसार के कारण होता है जबकि अवमूल्यन सरकार द्वारा किया जाता है।

अवमूल्यन के गम्भीर आर्थिक परिणाम होते हैं। अत: कोई देश निरुद्देश्य ही अवमूल्यन नही करता, वरन् कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ऐसा कदम उठाता है। ये उद्देश्य निम्नलिखित हो सकते हैं:—

(१) अवमूल्यन करने वाले अन्य देशों की प्रतिस्पर्धा से अपने निर्यात बाजार की रक्षा करने के लिये।

(२) अवमूल्यन करने वाले देशों से आने वाले माल की प्रतिस्पर्धा से स्वदेशी उद्योगों की रक्षा करने के लिये।

(३) विदेशी व्यापार मे होने वाले घाटे की पूर्ति के लिये।

(४) आन्तरिक मूल्य स्तर को ऊँचा करने के लिये।

(५) यदि देश की मुद्रा का मूल्य अन्य देशों की मुद्राओं की अपेक्षा अधिक हो, तो उसे कम करने के लिये।

(६) मुद्रा की आन्तरिक एवं बाह्य-मूल्यों मे समानता लाने के लिये।

भारत द्वारा रुपये का अवमूल्यन एवं इसके कारण

१८ दिसम्बर सन् १९४९ को इंगलैंड ने पौंड स्टर्लिंग का मूल्य ४·०३ डालर से घटा कर २·८० डालर करने की घोषणा की। भारत ने भी २० सितम्बर १९४९ को रुपये के अवमूल्यन की घोषणा की अर्थात् इंगलैंड के समान ही उसने भी डालर एवं स्वर्ण-मूल्य ३०% घटा दिये। इससे रुपये के स्टर्लिंग मूल्य में तो कोई परिवर्तन नही हुआ लेकिन उसका डालर मूल्य ३०·२२५ सैंट से घट कर २१ सैंट रह गया। भारत ने यह अवमूल्यन क्यों किया, इसके निम्नलिखित कारण हैं—

(१) **स्टर्लिंग क्षेत्र के नियमों का पालन**—यद्यपि रुपये का स्टर्लिंग से सन् १९४७ में सम्बन्ध-विच्छेद हो चुका था तथापि स्टर्लिंग क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण सदस्य होने के नाते व्यवहार में रुपये का स्टर्लिंग से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। यदि वह 'पति नहीं तो मित्र तो था ही'। अत: नैतिक दृष्टि से भी रुपये को स्टर्लिंग क्षेत्र के नियमों का पालन करना आवश्यक था। यही कारण है कि जब स्टर्लिंग का डालर और स्वर्ण मूल्य कम किया गया, तो भारत को भी रुपये का डालर एवं स्टर्लिंग मूल्य कम करना पड़ा।

(२) **निर्यात व्यापार की रक्षा**—भारतीय रुपये का इंगलैंड के बराबर अवमूल्यन करने का एक प्रमुख कारण यह भी था कि उसका ७५% व्यापार स्टर्लिंग क्षेत्र के साथ होता था। भारत के बहुत से प्रतियोगी थे जो इस क्षेत्र में ही व्यापार करते थे। इन सबने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया। यदि भारत भी ऐसा न करता, तो उसके निर्यातों का मूल्य बढ़ जाता जबकि उसके प्रतियोगियों के निर्यातों का मूल्य घट गया था। ऐसी स्थिति मे भारत का माल विदेशों में नही बिकता जिसमे भुगतान संतुलन और भी बिगड जाता।

(३) **पौंड पावनों के मूल्य की स्थिरता**—अवमूल्यन का एक अन्य कारण यह भी था कि यदि भारत ऐसा न करता, तो उसके पौंड पावनों (Sterling Balances) का मूल्य बहुत ही कम रह जाता। अतः इस हानि को बचाने के लिये भी अवमूल्यन करना उचित उपाय था।

(४) **डालर संकट का समाधान**—सन् १९४६ से भारत को भी डालरों की कमी अनुभव होने लगी थी और यह कमी प्रतिवर्ष बढ़ती जा रही थी। इस कमी को पूरा करने के लिये भारत ने कई उपाय किये, जैसे—(i) स्टर्लिंग पावनों को डालर मे बदलवाया, (ii) विश्व कोष से ऋण लिया, तथा (iii) अमेरिका से भी सहायता ली। इतने पर भी भारत अपने डालरों की कमी को पूर्ण न कर सका। अतः उसने भी पौंड की भाँति अपने रुपये का अवमूल्यन कर दिया।

(५) **भुगतान-संतुलन की विषमता का सुधार**—सरकार द्वारा सन् १९४९ में अवमूल्यन करने का यह अकेला सबसे मजबूत तर्क था। इसी वर्ष में हमारा भुगतान-सन्तुलन बहुत प्रतिकूल हो गया था, क्योंकि हमारी मूल्य-संरचना अपेक्षतः अधिक ऊँची थी, जिससे देश के निर्यातों मे कमी होती जा रही थी और भुगतान संतुलन की विषमता बढ़ती जा रही थी। अत. इस विषमता का सुधार करने के लिये भी अवमूल्यन किया गया।

अवमूल्यन के प्रभाव

सुपरिणाम—अवमूल्यन से भारत को निम्न तात्कालिक लाभ हुए—

(१) **भुगतान संतुलन में सुधार**—जबकि सन् १९४८-४९ में भुगतान-संतुलन मे भारत को घाटा १८३·४५ करोड़ रुपया था, वह सन् १९४९-५० में ११९·८६ करोड तथा सन् १९५०-५१ में केवल २२·१ करोड़ रुपये का रह गया।

(२) **पौंड पावनों के व्यय से अधिक लाभ**—अवमूल्यन के पश्चात् भारत ने अपने पौंड पावनों का जितना भाग डालर क्षेत्र में व्यय किया उसका मूल्य ३०·५% कम हो जाने से उसे उतना ही लाभ अधिक हुआ।

दुष्परिणाम—किन्तु ये लाभ बहुत समय तक नही रहे। शीघ्र ही अवमूल्यन की हानियाँ सामने आने लगी, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:—

(१) **भुगतान संतुलन में पुनः घाटा**—भुगतान-संतुलन की विषमता में सुधार का प्रभाव अधिक स्थाई नही रहा। अगले ही वर्ष अर्थात् सन् १९५१-५२ मे यह घाटा पुनः बढ़ गया और लगभग २०८·६३ करोड़ रुपये था। इसका कारण यह था कि भारत के आयात खाद्यान्न, कच्चे माल तथा पूँजीगत सामान के थे, जिनकी माँग बेलोचदार थी। अतः भारत उन्हें कम कर न कर सका।

अवमूल्यन के परिणाम

तात्कालिक सुप्रभाव :

(१) भुगतान संतुलन के सुधार।

(२) पौंड पावनों के व्यय से अधिक लाभ।

दुष्परिणाम :

(१) भुगतान संतुलन में पुन: अधिक घाटा।

(२) आंतरिक मूल्य-स्तर में उठान।

(३) भारत-पाक व्यापारिक सम्बन्धों में खिंचाव।

(४) विदेशी ऋणों के भार में वृद्धि।

(५) आर्थिक विकास में बाधा।

(२) आंतरिक मूल्य-स्तर में उठान—अवमूल्यन के साथ-साथ मुद्रा प्रसार की प्रवृत्ति में अधिक वृद्धि के दो कारण थे—(अ) अवमूल्यन के कारण निर्यातों में वृद्धि हो गई और (आ) जो भी आयात आवश्यक था वह तो करना ही पड़ा किन्तु पहले से अधिक मूल्य पर क्योंकि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप ही आयात भी मँहगे हो जाते हैं। इस प्रकार मुद्रा प्रसार तेजी से होने लगा।

(३) विदेशी ऋणों के भार में वृद्धि—भारत ने विश्व बैंक से जो ऋण लिया है उनका रुपया मूल्य बढ़ गया।

(४) आर्थिक विकास में बाधा—हमें आर्थिक विकास के लिये पूँजीगत सामान चाहिए जो मुख्यतः अमेरिका से मिल सकता है। किन्तु अवमूल्यन के कारण अमेरिका एवं डालर क्षेत्र के अन्य देशों से इन वस्तुओं का आयात अब मँहगा पड़ने लगा, जिससे देश के आर्थिक विकास में बाधा पड़ी। कुछ विकास योजनायें तो स्थगित भी करनी पड़ गईं।

(५) भारत-पाक व्यापारिक सम्बन्धों में खिंचाव—पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया, इसलिये पाक-मुद्रा का मूल्य बढ़ गया और पाकिस्तान की वस्तुओं के लिये भारत को ४४% अधिक दाम देने पड़े। अत: भारत ने वहाँ से कच्चा जूट और कपास मँगाना बन्द कर दिया। इससे जूट व कपड़ा उद्योगों में लागत बढ़ गई तथा इनका उत्पादन कम हो गया।

अवमूल्यन की हानियों को दूर करने के उपाय

सन् १९४९ में सरकार ने अवमूल्यन के कुप्रभावों को दूर करने के लिए एक आठ सूत्री योजना (The Eight Point Programme) पर अमल करना आरम्भ किया। इसकी मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—

(१) सरकार ने आयातों पर नियन्त्रण लगाये।

(२) विदेशों से सौदा करने की शक्ति में वृद्धि करने के प्रयास किये।

(३) साख एवं सट्टे पर भी नियन्त्रण लगाया।

(४) निर्यात के लाभ पर कुछ कर लगाया ताकि प्राइवेट लाभ का कुछ भाग सरकार के पास लौट आये।

(५) घरेलू पूँजी के निर्माण को प्रोत्साहन दिया।

(६) करों की वसूली में निश्चितता व शीघ्रता लाने का प्रयास किया।

(७) सरकार ने अपने व्ययों में भी कमी करने का प्रयास किया।

(८) कुछ ऐसे उपाय भी किये जिनसे आन्तरिक कीमतों के उतार में सहायता मिले।

भारतीय रुपये का पुनर्मूल्यन

भारत में पंचवर्षीय योजनायें कार्यान्वित की जा रही है और इनके लिये आवश्यक पूंजी व सामान का आयात किया जा रहा है। साथ ही खाद्यान्न की कमी होने पर इसे भी आयात करना पड़ता है। दूसरी ओर हमारे निर्यात अधिक नहीं बढ़ पा रहे हैं। अतः हमारा भुगतान संतुलन हमारे बहुत प्रतिकूल रहता है तथा विदेशी विनिमय का संकट अपने उग्रतम रूप में उपस्थित है, इस संकट को दूर करने के लिये सरकार ने कई उपाय किये हैं, जैसे—(i) आयात पर कड़ा नियन्त्रण (ii) निर्यात को प्रोत्साहन, (iii) मित्र राष्ट्रों व अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से सहायता एवं (iv) विलम्बित भुगतानों पर आयात की व्यवस्था। किन्तु अनेक अर्थशास्त्रियों ने कुछ समय पूर्व यह मत प्रकट किया था कि उपरोक्त उपाय अधिक कारगर न हो सकेंगे, क्योंकि हमारे भुगतान संतुलन में एक मौलिक असंतुलन (Fundamental disequilibrium) पैदा हो गया है। इसके समाधान के लिये वे रुपये का और अधिक अवमूल्यन करने का सुझाव देते हैं।

अधिक अवमूल्यन करने के पक्ष में तर्क—रुपये के अधिक अवमूल्यन या पुनर्मूल्यन के पक्ष में उनके तर्क इस प्रकार हैं—

(१) रुपये की वर्तमान दर अवास्तविक है—अवमूल्यन का सुझाव इस आधार पर किया जाता है कि मुद्रा प्रसार ने रुपये की विनिमय दर को अवास्तविक बना दिया है। अत. प्रत्येक विदेशी को, जिसे भारत को निर्यात द्वारा अथवा भारत में अपनी पूंजी व सम्पत्ति के विकास द्वारा भारतीय रुपया प्राप्त होता है, उसे १८ पैंस प्रति रुपया मिल सकते हैं। यदि रुपये को उसके संतुलन (Equilibrium rate) पर मूल्यित किया गया होता, तो उसे इससे बहुत कम मिलता।

(२) विदेशी विनिमय कोषों पर बहुत दबाव पड़ रहा है—अधिक अवमूल्यन करने के समर्थक देश के विदेशी विनिमय कोषों पर पड़ते हुए दबाव की तरफ हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। सन् १९५२ के बाद व्यापार संतुलन की प्रतिकूलता बढ़ती जा रही है और इससे हमारे विदेशी विनिमय कोष तक खाली होते जा रहे हैं। अतः उनका कहना है कि हम मुद्रा का अवमूल्यन कर देना चाहिये, जिससे निर्यात बढ़ें और आयात कम हों। इससे हमारी विदेशी विनिमय सम्बन्धी स्थिति काफी सुधर जायेगी।

(३) व्यापार की शर्तों में सुधार—अवमूल्यन का इस आधार पर भी समर्थन किया जाता है कि इससे हमारी व्यापार की शर्तों (Terms of Trade) में उसी प्रकार फिर सुधार हो जायगा जिस प्रकार कि सितम्बर १९४९ के अवमूल्यन के पश्चात् हुआ था।

लंदन के फाइनेन्सियल टाइम्स के कालम-लेखक श्री लोम्बार्ड (Lombard) ने भी अवमूल्यन का सुझाव रखा था, जिससे कि भारत अपने पौंड पावनों को गिरने से रोक सके और निर्यात को बढ़ा सके। इसके विपरीत प्रोफेसर शिनोय (Prof. Shenoy) का मत है कि रुपये को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय और अन्य मुद्राओं की तुलना में यह अपनी शक्ति अपनी विनिमय दर के अनुसार स्वयं तय कर लेगा।

अब अधिक अवमूल्यन करने से भारत को कुछ लाभ नहीं होगा—अवमूल्यन के अपने विशेष लाभ हैं इससे हमें कोई इन्कार नहीं। किन्तु देखना यह है कि भारतीय परिस्थितियों में, जैसी कि वे इस समय विद्यमान हैं, उससे कोई लाभ हो सकता है या नहीं।

(१) **भुगतान-संतुलन में सुधार की आशा व्यर्थ है**—सर्व प्रथम भुगतान संतुलन को ही लीजिये। यदि रुपये का मूल्य आधा और कम कर दिया जाय, तो हमारे निर्यातों का मूल्य आधा रह जायगा जबकि आयातों का मूल्य दुगुना हो जायगा, ऐसी स्थिति में, यदि हम अपने आयात आधे और निर्यात दूने कर सकें, तो भुगतान-संतुलन हमारे पक्ष में हो सकता है। किन्तु यह कठिन मालूम पड़ता है कि मूल्य कम होने पर निर्यात दुगुने हो जायेंगे, क्योंकि हमारे निर्यात अधिकांश बेलोच प्रकृति के है। जहाँ तक आयातों का प्रश्न है उन पर तो हमारे देश में पहले ही कड़ा नियंत्रण है। यहाँ तक कि आवश्यकता के आयात भी कम रखे गये हैं और जो आयात होता है वह अधिकांशत: अत्यावश्यक पूँजी, वस्तुओं अथवा रुपये माल का है। अत: अधिक अवमूल्यन करके आयातों मे और कमी कर सकने की आशा निरर्थक है। हाँ, इससे यह नुकसान हो जायगा कि हमारे आयात अबकी अपेक्षा और अधिक मँहगे हो जायेंगे तथा हमारी विकास योजनाओं में बाधा पड़ जायेगी।

(२) **भारत के पास निर्यात अतिरेक नहीं है**—निर्यात बढ़ाने के लिये भारत के पास आधिक्य होना चाहिये जिससे मूल्य कम होने पर वह विदेशों को भेजा जा सके। किन्तु भारत में तो पहले ही वस्तुओं का बहुत अकाल है और आन्तरिक उपभोग में बड़ी बाधा पड़ रही है।

(३) **मूल्य-स्तर और भी बढ़ जायेगा**—यदि और अधिक अवमूल्यन किया गया, तो मूल्य-स्तर जो पहले से ही काफी ऊँचा है और अधिक ऊँचा हो जायगा। इससे रहन-सहन की लागत भी बढ़ जायगी। इसका सम्पूर्ण भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

(४) **अन्य देश भी अवमूल्यन कर सकते हैं**—यदि भारत अवमूल्यन कर सकता है, तो अन्य देश भी ऐसा कर सकते हैं। जिस प्रकार प्रथम महायुद्ध के बाद प्रतियोगी विनिमय अवमूल्यन प्रारम्भ हो गया था उसी प्रकार अब भी हो सकता है। यदि ऐसा हुआ तो विभिन्न देशों की तुलनात्मक स्थिति में कोई परिवर्तन नही होगा।

(५) **भारत में मूल्य-स्तर अन्य देशों के मुकाबिले में ऊँचा नहीं है**—इस कारण से भी अवमूल्यन करना आवश्यक है। यद्यपि माल की मुद्रा के मूल्य में सन् १९४७ से २९% की गिरावट हुई है तथापि अन्य देशों की मुद्राओं के मूल्य में भी इतनी ही गिरावट हुई है। इसी समय मे इंगलैंड, अमेरिका व फ्रांस के मौद्रिक मूल्यों में क्रमश: ४९%, १९% और ९६% की कमी हुई।

अत: अवमूल्यन से कोई लाभ नहीं है। वास्तव में मौद्रिक समस्या को हल करने के लिये उसका मूल्य जानना चाहिये। यूरोप के देशों ने इस समस्या को आन्तरिक व्यय पर नियंत्रण रख कर ठीक किया है। हमें भी अपने गैर विकास व्यय (Non Developmental Expenditure) को कम करके विनियोगों की मात्रा में वृद्धि करनी चाहिये। जनता को भी चाहिये कि अपना खर्च कम करके बचत अधिक करे।

भारत में दाशमिक मुद्रा प्रणाली का प्रचलन

भारत के इतिहास में १ अप्रेल सन् १९५७ का दिन चिरस्मरणीय रहेगा, क्योंकि इस दिन भारतीय करेंसी में एक महान् परिवर्तन हुआ। यह परिवर्तन है देश भर में नई दाशमिक मुद्रा का चलन होना।

दाशमिक मुद्रा प्रणाली से आशय

'दाशमिक मुद्रा प्रणाली' का आशय उस प्रणाली से है, जिसमें प्रत्येक मुद्रा इकाई अपने से ऊपर की मुद्रा इकाई का १/१० भाग होती है। इस प्रकार की प्रणाली में एक मुद्रा इकाई को १० से गुणा या भाग करके दूसरी मुद्रा इकाई निकाली जा सकती है।

मुद्रा प्रणाली में जो यह परिवर्तन हुआ है वह हमारे देश के लिए कोई नवीन बात नहीं है। लगभग २००० वर्ष पूर्व भारत ने शून्य (Zero) का पता लगाया था जो कि नाप-तोल एवं मुद्रा की दाशमिक प्रणाली का मूलाधार है। लेकिन यह भाग्य का ही उपहास है कि जिस भारत ने दाशमिक प्रणाली का आविष्कार किया वही उसे अपनाने में पिछड़ गया। सन् १८६७ में सबसे पहली बार भारत में यह प्रश्न उठाया गया, जबकि सरकार इस निर्णय पर पहुँची कि दाशमिक प्रणाली को क्रमिक अवस्थाओं में अर्थात् धीरे-धीरे लागू किया जाय। सन् १८७१ में एक अधिनियम भी पास किया गया, लेकिन वह कागज ही पर रहा। पुन: सन १९४६ में केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में इस आशय का बिल रखा गया। लेकिन गांधी जी के विरोध एवं देश की अस्थिर राजनैतिक दशा के कारण व इसलिए भी कि देश अभी इस क्रांतिकारी परिवर्तन के लिए तैयार न था, उक्त बिल वापिस ले लिया गया।

तीन वर्ष बाद इण्डियन स्टैन्डर्डस इन्स्टीट्यूट की एक उप-समिति ने सन् १९४९ में यह सिफारिश की थी कि भारतीय रुपये के दशमलवीकरण के लिये यथा-शीघ्र कदम उठाए जायें। दशमलवीय मुद्रा प्रणाली के पक्ष में जनमत भी बढ़ गया था। अत: सन् १९५५ में लोकसभा ने उस गैर सरकारी प्रस्ताव को पास कर दिया, जिसमें दाशमिक मुद्रा एवं दाशमिक नाप तोल के शीघ्र प्रचलन की माँग की गई थी। परिणामस्वरूप लोकसभा ने सितम्बर १९५५ में भारतीय मुद्रा अधिनियम १९०६ को संशोधित करने के लिये भारतीय मुद्रा (सुधार) अधिनियम १९५५ में बनाया।

भारत में दशमलव मुद्रा प्रणाली की विशेषतायें

(i) भारत में अब से कोई भी विशुद्ध ताँबे का सिक्का नहीं रहेगा। अब एक पैसे वाला सिक्का कांसे का हुआ करेगा।

(ii) सिक्के दाशमिक प्रणाली पर बनाये गये हैं। नया पैसा 'इकाई' होगा।

(iii) पुराने सिक्के भी नये सिक्कों के साथ मार्च सन् १९६० तक चलते रहे। जैसे-जैसे जनता को नई करेंसी के प्रयोग की आदत पड़ती जायगी वैसे-वैसे ही विद्यमान करेंसी वापिस कर ली जायगी।

(iv) ऊँचे मूल्य वाले सिक्के अर्थात् २५, ५० और १०० नये पैसे के सिक्के बाद को जारी किये जायेंगे, तब तक विद्यमान चवन्नी, अठन्नी एवं रुपये वाले सिक्के ही चलते रहेंगे, क्योंकि इनके मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है।

(v) १ नया पैसा, २ नये पैसे, ५ नए पैसे तथा १० नये पैसे तत्काल ही जारी कर दिये गये। इनमें से १ नया पैसा कांसे का व शेष सिक्के मिश्रित निकिल के हैं। ऊँचे मूल्य के सिक्के विशुद्ध निकिल के होंगे।

सरकार ने नये सिक्कों का बड़ी व्यापकता से प्रचार किया—(i) शिक्षा मंत्रालय के निर्देशानुसार स्कूल की पाठ्य-पुस्तकों में भी दाशमिक मुद्रा प्रणाली को अपनाया जा रहा है। (ii) क्षेत्रिय भाषाओं में आकर्षक साहित्य छपवाकर सभी शिक्षण संस्थाओं में वितरित किया गया। (iii) जनता से प्रत्यक्ष सम्पर्क भी स्थापित

किया गया है। (iv) डाक व तार विभाग ने अपने विद्यमान टिकिट श्रेणियों को दाशमिक प्रणाली की नई श्रेणियों में परिवर्तित कर लिया है। (v) रेलवे ने भी टिकटों के दाम नई मुद्रा प्रणाली पर आधारित कर लिये हैं। (vi) रिजर्व बैंक ने राज्यों के सहयोग से परिवर्तन की क्रिया को सुविधापूर्ण बनाने के लिये छोटे सिक्कों की डिपो खोल दी है। (vii) सरकार ने पुराने सिक्कों को नये सिक्कों में बदलने के हेतु 'रेडी रेकनर' का काम करने के लिये एक परिवर्तन तालिका बनाई, जिसे व्यापक रूप से प्रसारित किया जा रहा है। (viii) इसके अतिरिक्त सरकार ने दाशमिक मुद्राओं के चलन में उठने वाली कठिनाइयों के सम्बन्ध में परामर्श देने के लिये विभिन्न स्थानों में विशिष्ट कर्मचारी नियुक्त किये हैं। (ix) सामुदायिक योजना क्षेत्रों एवं राष्ट्रीय विस्तार सेवा-खण्डों में काम करने वाले ग्राम-स्तर कार्यकर्त्ता भी नई मुद्रा सम्बन्धी जानकारी को ग्रामीण भारत के कौने-कौने में प्रसारित कर रहे हैं।

भारत में दाशमिक मुद्रा प्रणाली के लाभ

भारतीय सिक्का प्रणाली के इतिहास में दाशमिक सिक्कों का प्रचलन एक नये युग का प्रारम्भ करता है। निम्न लाभों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उक्त प्रणाली कितनी महत्त्वपूर्ण है—

(१) गणना में सरलता व शीघ्रता—भारत में मूल्यों का हिसाब लगाने का रूढ़िवादी तरीका रुपये के सोलह आनों में गणना करने का है, और चूंकि एक सेर में भी १६ छटांक होते हैं, इसलिये लोगों ने अपने अनुभव से गणना करने के कुछ सरल ढंग निकाल लिये हैं। लेकिन जो व्यक्ति इस पद्धति से परिचित नहीं हैं वे अपने आपको बड़ी कठिनाई में पाते हैं। उन्हे प्रायः एक सरल गणना के लिये भी कागज और पेन्सिल का प्रयोग करना पड़ता है। किन्तु ऐसी कठिनाई दाशमिक सिक्का प्रणाली के अन्तर्गत नहीं होती, क्योंकि इसमें आने और पाइयों को पूर्ण संख्या में बदलने की आवश्यकता नहीं है तथा भाग देने के पहले ही दशमलव रखे जा सकते हैं। दाशमिक मुद्रा प्रणाली में रकम स्वतः ही दशमलवों में लिखी जाती है, इसलिये गणना सरलता व शीघ्रता के साथ की जा सकती है।

(२) गणित के अध्ययन में सुविधा—नई सरल प्रणाली के कारण स्कूल के बालकों को भी गणित के अध्ययन में सुविधा हो जायगी।

(३) व्यापार व वाणिज्य के लिये उपयोगी—आधुनिक व्यापार और वाणिज्य के लिये तो गणना के सरल और शीघ्रगामी ढंगों की आवश्यकता पड़ती है और इस सिलसिले में तो कोई भी प्रणाली दाशमिक प्रणाली से उत्तम नहीं है। यही कारण है कि विश्व के अधिकांश देशों में अन्य प्रकार की करेन्सियों का स्थान धीरे-धीरे दाशमिक प्रणाली ने ही ग्रहण कर लिया है।

(४) अधिकतम शुद्ध गणना—आधुनिक युग 'विज्ञान का युग' है, जिसमें न केवल सरल एवं शीघ्र गणना की, वरन् कई दशमलव तक सही-सही गणना करने की भी आवश्यकता है। दशमलव सिक्के इस आवश्यकता की सही रूप से पूर्ति करते हैं।

(५) हिसाब-किताब में सुविधा—दाशमिक सिक्कों के चलन से हिसाब-किताब लिखने एवं गणना करने मे भी सुविधा हो जायगी।

समस्यायें एवं कठिनाइयाँ

भारत में कुछ विशेष कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई हैं, जो निम्नलिखित है :—

(१) **नई व्यवस्था को सीखने में देरी**—*यद्यपि ग्रामीण जनता में इधर कुछ वर्षों से थोड़ी जागृति हुई है, तथापि नई व्यवस्था के सीखने में उन्हें अभी बड़ी* काफी समय लगेगा। इस बीच उन्हें कठिनाइयाँ उठानी पड़ रही हैं।

(२) **ठगी की सम्भावना**—पुराने सिक्कों में नये सिक्कों का विनिमय-मूल्य क्या है, यह समझ पाना उनके लिये सदैव सरल नहीं होता और बेईमान लोग उनकी इस दुर्बलता का अनुचित लाभ उठाते है।

(३) **भ्रम एवं असुविधा**—दाशमिक मुद्राओं के चलन से परिवर्तनकाल में थोड़ा बहुत भ्रम, असुविधा एवं झगड़ा होना स्वाभाविक है, जिसे रोका नहीं जा सकता।

(४) **परिवर्तन की अवधि का अपर्याप्त होना**—तीन साल की जो अवधि परिवर्तन के लिए रखी गई है वह अपर्याप्त है, विशेषतः भारत जैसे विस्तृत देश के लिये जिसकी ८२% जनसंख्या निरक्षर है और अधिकांशतः गाँवों में निवास करती है।

(५) **मूल्यों में बढ़ोतरी**—नई मुद्रा प्रणाली के प्रचलन ने निर्माताओं को मूल्यों में वृद्धि करने का प्रोत्साहन दिया है। उदाहरण के लिये, पोस्टकार्ड अब ३ पैसे के बजाय ५ नये पैसे का मिलता है। दवाइयों, अखबारों व पत्र-पत्रिकाओं के मूल्य भी इसी प्रकार बढ़ गये हैं।

> **भारत में नई मुद्रा प्रणाली के लाभ-दोष**
>
> **लाभ :**
> (१) गणना में सरलता व शीघ्रता।
> (२) गणित के अध्ययन में सुविधा।
> (३) व्यापार-वाणिज्य के लिये विशेष उपयोगी।
> (४) अधिकतम शुद्ध गणना।
> (५) हिसाब किताब लिखने में सुविधा।
>
> **दोष :**
> (१) नई व्यवस्था को सीखने में देरी।
> (२) ठगी की संभावना।
> (३) भ्रम, असुविधायें एवं झगड़े।
> (४) परिवर्तन की अपर्याप्त अवधि।
> (५) मूल्यों की बढ़ोतरी।
> (६) विदेशी विनिमय कोषों का ह्रास।

(६) **विदेशी विनिमय कोषों का ह्रास**—पुरानी गणना मशीनें नई प्रणाली के अन्तर्गत बेकार हो गई है। उन्हें प्रतिस्थापित करने के लिये नवीन विधि की मशीने मँगाना आवश्यक हो गया है। चूँकि ये मशीनें विदेशों से मँगानी पड़ती हैं, इसलिये हमारी अमूल्य विदेशी मुद्रा खर्च होती जा रही है।

निष्कर्ष

बहुत सोच-विचार के बाद भारत में दाशमिक प्रणाली को अपनाया गया है। आरम्भ मे कुछ कठिनाई अवश्य हुई किन्तु अब परिस्थिति सरल होती जा रही है। भारत में नाप तौल के सम्बन्ध में भी दाशमिक प्रणाली को अपना लिया गया है। यह दाशमिक मुद्रा प्रणाली के प्रचार में इसकी पूरक सिद्ध होगी।

भारत में विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाई

विदेशी विनिमय संकट का अर्थ

भारत के विदेशी विनिमय संकट का यह अर्थ है कि जितना धन हमें विदेशों

से अपने निर्यात, प्राप्त ऋण, सहायतार्थ प्राप्त धन तथा विदेशियों द्वारा भारत में किये गये व्यय से प्राप्त होता है उससे कहीं अधिक मात्रा में विदेशों को उनमें किये गये आयात, ऋण के भुगतान, अन्य भुगतान तथा भारत द्वारा विदेशों में किये गये व्यय के लिये देने का प्रबन्ध करना है।

भारत में विदेशी विनिमय संकट और उसके कारण

सन् १९५६-५७ में, जबकि भारत का दायित्व पक्ष १२०५·७ करोड़ रुपये तथा आदेश पक्ष ८९८·९ करोड़ रुपये था, भारत के भुगतान संतुलन (Balance of Payments) में ३०६·८ करोड़ रुपये का घाटा था। सन् १९५७-५८ में यह बढ़कर ३७६·८ करोड़ रुपये हो गया। भारत के पौंड-पावने की मात्रा जो सन् १९५५ के अन्त में ७३५ करोड़ रुपये और मार्च १९५६ में ७४६ करोड़ रुपये थी, विदेशी विनिमय संकट के कारण घटकर १९५८ के मार्च के अन्त में २६७ करोड़ रु० और अगस्त सन् १९५८ के अन्त में १८७ करोड़ रु० हो गई। यह आशा की जाती थी कि सन् १९५६-५७ से १९६०-६१ तक अर्थात् द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में कुल विदेशी विनिमय घाटा ११०० करोड़ रु० का होगा। इसमें से २०० करोड़ रु० पौंड-पावने की सहायता से, १०० करोड़ रु० विदेशी पूंजीपतियों के प्राइवेट क्षेत्र में विनियोगों द्वारा और ८०० करोड़ रु० सरकार द्वारा विदेशी सरकारों व संस्थाओं से ऋण लेकर पूरा किया जायगा। परन्तु योजना के प्रारम्भिक वर्षों में ही विदेशी विनिमय के घाटे की पूर्ति में बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो गई। उसके प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) विदेशी विनिमय की मात्रा का गलत अनुमान लगाना—योजना के निर्माताओं ने द्वितीय योजना की अवधि में विदेशी विनिमय की मात्रा का अनुमान कम लगाया और विदेशों से प्राप्त विदेशी विनिमय के साधनों का अनुमान अधिक लगाया। इसी भूल का परिणाम है कि उक्त संकट उदय हुआ। प्रथम योजना काल में २९८ करोड़ रु० भारत को विदेशी साधनों के रूप में कोलम्बो प्लान, फोर्ड फाउन्डेशन, विश्व बैंक तथा कुछ विदेशी सहायता कार्यक्रमों के अन्तर्गत प्राप्त हुये थे। यह आशा करना कि ८०० करोड़ रु० विदेशी साधनों के रूप में द्वितीय योजना काल में प्राप्त होंगे जबकि प्रथम योजना काल में केवल २९८ करोड़ रु० ही प्राप्त हुये थे; अनुचित था।

(२) विदेशी विनिमय का वार्षिक बजट न बनाना—योजना आयोग एवं सरकार की दूसरी बड़ी भूल जिसने हमें इतने संकट में डाल दिया, वार्षिक विदेशी विनिमय बजट का न होना था। यदि ऐसा बजट बना लिया गया होता, तो हम अपने आयात का एक निश्चित क्रम बना लेते ताकि वे सब गड़बड़ियां जो उपस्थित हुईं, न होने पातीं। यह तर्क दिया जाता है कि १९५५ के मध्य तथा १९५६ में व्यक्तिगत व्यापारियों द्वारा मशीनों, कच्चे माल व उपभोक्ता वस्तुओं के आयात के लिये बड़ी मात्रा के लाइसेन्स प्राप्त कर लिए गये थे और यही सारे संकट का कारण था। वास्तव में यह तर्क निराधार है। व्यक्तिगत व्यापारियों का अधिक लाइसेन्स प्राप्त करना स्वाभाविक था जबकि उन्हें प्रगतिशील आर्थिक क्रियाओं की आशा दिलाई गई थी। भारतीय व्यापारियों ने व्यक्तिगत क्षेत्र में विनियोग बढ़ाकर सरकार का पूर्ण सहयोग किया, इसीलिये मशीनरी, कच्चा माल तथा उपभोक्ता की वस्तुओं का अधिक आयात होना स्वाभाविक ही था।

(३) विशेष परिस्थितियाँ—देशों में मुद्रा-स्फीति के दबाव उत्पन्न हो गये, क्योंकि वस्तुओं की पूर्ति उस रफ्तार से नहीं बढ़ सकी, जिस रफ्तार से इनकी माँग बढ़ने लगी। खाद्यान्नों की कमी से इनके भाव बढ़े और फिर अन्य वस्तुओं के मूल्य बढ़ गये। इस प्रकार आन्तरिक दबाव उत्पन्न हो गये और ऐसा प्रतीत होने लगा कि योजना को बीच में ही छोड़ना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त प्रतिरक्षा का सामान मँगाया गया, खाद्यान्नों का भारी मात्रा में आयात करना पड़ा, कच्चा माल, अन्य विकास सामग्री व उपभोग का सामान मँगाना पड़ा, स्वेज दुर्घटना के कारण जहाजी किराये बढ़ गये और भारत व पाकिस्तान के सम्बन्धों में तनाव आ गया। इन सब बातों के कारण योजना व्यय अनुमान से बहुत बढ़ गया।

विदेशी विनिमय के संकटों को दूर करने के उपाय

अब प्रश्न यह है कि इस संकट से मुक्ति पाने के लिये क्या किया गया और क्या किया जा सकता है? श्री शिनाय ने यह सुझाया था कि विदेशी विनिमय के संकट को दूर करने के लिये रुपये का अवमूल्यन कर दिया जाय, क्योंकि क्रय-शक्ति घट जाने से रुपये के आन्तरिक मूल्य में कमी हो गई जिससे उसकी समानता बाह्य मूल्य से (जो कि सन् १९२७ से १ रु० स्थिर सा० ८ है) नहीं रही है। हमारी सम्मति में इस उपज का अवलम्बन करने से संकट और बढ़ जायगा, क्योंकि आयात की हुई मशीनों, कच्चे माल व खाद्यान्न के मूल्य रुपयों में बढ़ जायेंगे जिससे तृतीय योजना की वित्त-व्यवस्था में अधिक बाधायें उपस्थित हो जायेंगी।

भारत सरकार एक ओर उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं तथा अनावश्यक वस्तुओं के आयात कम करने एवं निर्यात को बढ़ाने और दूसरी ओर विदेशी सहायता से अपने विदेशी साधन बढ़ाने की दोहरी नीति अपना रही है। इस सम्बन्ध में हमें यह याद रखना चाहिए कि आयात पर प्रतिबन्ध वस्तुओं का आधिक्य निर्यात करने के लिए न होने देगा, क्योंकि ऐसी दशा में लोग देश में ही उत्पादित वस्तुओं का उपभोग आयात की हुई वस्तुओं के स्थान पर करेंगे और इससे विदेशी विनिमय की आमदनी घट जायगी। इसके अतिरिक्त, कच्चे माल, मशीनों व उपभोग की आवश्यक वस्तुओं का आयात घटाने की भी एक सीमा है, जिसके परे जाने से द्वितीय योजना की सफल पूर्ति में व उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा पड़ने लगेगी।

जहाँ तक निर्यात का सम्बन्ध है, उसे बढ़ाने के लिये सरकार ने अनेक प्रयत्न किये हैं किन्तु ये उपाय अधिक कारगर साबित न हुए हैं और भारत के निर्यात को उसके वर्तमान स्तर से जो कि ६०० करोड़ रु० से लगाकर ७५० करोड़ रु० तक प्रति वर्ष है, बढ़ाया नहीं जा सका है।

भारत को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक व विदेशी सरकारों से उपयुक्त मात्रा में ऋण मिले हैं तथापि इनसे भी विदेशी विनिमय की कमी पूर्ण नहीं होने पाई है और वह आज भी चल रही है।

इस समस्या को सुलझाने का एक प्रभावशाली ढंग भारत में विदेशी पूँजी के प्रवाह को प्रोत्साहन देना होगा। यदि आवश्यक कर-छूट प्रदान की जाय और विदेशी पूँजीपतियों को अनावश्यक परेशानियों से रक्षा की जाय, तो यह संभव है कि भारत में विदेशी पूँजी का प्रवाह बढ़कर हमारी विदेशी विनिमय की कठिनाइयाँ दूर [illegible]।

परीक्षा प्रश्न

(१) युद्धोत्तर काल में मुद्रा प्रसार की रोक-थाम के लिये क्या उपाय किये गये हैं ? सरकार को इनमें कहाँ तक सफलता मिली है ?

(२) पौंड पावनों के उचित प्रयोग के लिये आप क्या सुझाव दे सकते हैं ? क्या इनका भुगतान सही ढंग से हो रहा है ?

(३) द्रव्य अवमूल्यन का क्या अर्थ है ? सितम्बर सन् १६४६ में भारतीय रुपये का अवमूल्यन क्यों किया गया ? उसके क्या आर्थिक परिणाम हुये है ?

(४) भारतीय दशमलव मुद्रा प्रणाली के विषय में आप क्या जानते है ? प्रारम्भ के कुछ वर्षों में इस प्रणाली से क्या कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं ? इन कठिनाइयों को दूर करने के लिये क्या उपाय किये गये ?

(५) भारत की वर्त्तमान मुद्रा प्रणाली की विशेषताओं को समझाकर लिखिये ।

अध्याय ४

भारतीय पत्र मुद्रा का इतिहास
(History of Indian Paper Currency)

प्रारम्भिक

भारत में पत्र-मुद्रा का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ था जबकि अंग्रेज सरकार ने प्रेसीडेन्सी बैंकों को पत्र-मुद्रा निकालने का अधिकार दिया। इन नोटों का चलन कलकत्ता, बम्बई व मद्रास शहरों तक सीमित था और उनकी राशि व रूप रंग भिन्न-भिन्न थे। सन् १८६१ में सरकार ने पत्र-मुद्रा का चलन-कार्य स्वयं अपने हाथ में ले लिया और १०, २०, ५०, १००, ५००, १,००० व १०,००० रु० के नोटों का प्रकाशन किया। बाद को ५ रु० के नोट भी निकाले। ये नोट अपने निर्गम क्षेत्रों में ही अपरिमित विधि ग्राह्य थे। शनैः शनैः सरकार ने क्षेत्रों को तोड़ दिया। अब नोट सारे देश में कानूनी मुद्रा के रूप में चलने लगे। नोटों के निर्गमन की आड़ के लिए पत्र चलन कोष बनाया गया और निश्चित सुरक्षित प्रणाली (Fixed Fiduciary System) के आधार पर नोटों का निर्गमन किया जाता था।

सन् १८६१ से प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व तक

निश्चित सुरक्षित प्रणाली के अनुसार ४ करोड़ रु० के नोट सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर निकाले जा सकते थे। इससे अधिक नोट निकालने के लिये अतिरिक्त नोटों की आड़ में शत प्रतिशत धातुयें, रुपये के सिक्के और भारत सरकार की रुपया प्रतिभूतियाँ रखना जरूरी था। जब तक नोटों की लोकप्रियता अधिक नहीं बढ़ी, तब तक यह प्रणाली सफलतापूर्वक क्रियान्वित होती रही लेकिन बाद में सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर छापे जा सकने वाले नोटों की सीमा निरन्तर बढ़ती गई। सन् १८९३ में यह सीमा १४ करोड़ रु० करदी गई। इसके अतिरिक्त एक सुविधा यह भी दी गई कि स्टर्लिंग साख पत्रों को कोष में रखने की अनुमति दी गई जबकि अभी तक केवल भारत सरकार के ही ऋण-पत्र रखे जा सकते थे।

सन् १८९८ के स्वर्ण नोट विधान के अन्तर्गत धातु कोष का एक भाग स्वर्ण में भी रखा जा सकता था। फलतः भारत मंत्री के पास रखे गये सोने के आधार पर भी नोट निर्गमित करना सम्भव हो गया। सन् १९०० के एक नियम के अनुसार सरकार इस कोष का कुछ भाग लन्दन में भी रखने लगी। सन् १९१४ में चेम्बरलेन कमीशन के सुझाव पर साख-पत्रों के आधार पर छापे जा सकने वाले नोटों की सीमा २० करोड़ रु० कर दी गई।

उपरोक्त परिवर्तनों के साथ निश्चित सुरक्षित नोट निर्गमन प्रणाली प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ तक ठीक काम करती रही। इसमें लोच की कमी थी, क्योंकि नोट बढ़ाने के लिये कोष का बढ़ाना आवश्यक था। दूसरे, सरकार ने कोष का प्रयोग कुछ अनुचित कार्यों के लिये किया। तीसरे, कोई केन्द्रीय बैंक न होने से नोटों का निर्गमन सरकारी खजाने से होता था। इसमें देरी लगने से मुद्रा प्रणाली अव्यवस्थित हो जाती थी। इन कठिनाइयों पर चेम्बरलेन कमीशन ने विचार किया था और कुछ उपयोगी सुझाव भी दिये थे लेकिन उन्हें कार्य रूप मे परिणित नहीं किया जा सका तथा इन्ही दिनों प्रथम महायुद्ध भी शुरू हो गया।

प्रथम महायुद्ध (१९१४-१९१९)

युद्ध छिड़ते ही जनता का विश्वास नोटों पर से उठ गया और लोग भारी संख्या में नोटों को भुनाने लगे। लेकिन शीघ्र ही सरकार में लोगों का विश्वास स्थिर हो गया तथा नोटों के भुनाने में भी कमी आई। बाद में सरकार ने नोटों की परिवर्तनीयता पर रोक लगा दी।

देश में इस समय मुद्रा की माँग बहुत बढ़ गई थी। इसकी पूर्ति के लिये सरकार ने सन् १९१७-१८ में १ रु० और २½ रु० के नोट निकाले। इनके पीछे कोई कोष नहीं रखा जाता था। पहले तो जनता इनके प्रति तटस्थ रही लेकिन बाद में माँग अधिक होने के कारण उन्हें अपनाने लगी।

नोटों की आड़ में रखे जाने वाले धातु कोष में भी परिवर्तन किये गये। मूल्यवान धातु का मूल्य बराबर बढ़ता जा रहा था, जिससे इसे प्राप्त करने मे कठिनाई हो रही थी। अतः कोष मे मूल्यवान धातु का भाग कम कर दिया गया और साख-पत्रों के आधार पर छापे जा सकने वाले नोटों की मात्रा मे सन् १९१९ में २० करोड़ से बढ़ा कर १२० करोड़ रु० करदी गई।

उन्हीं दिनों ५ तथा १० रु० के नोटों को सर्वत्र विधि ग्राह्य का रूप दिया गया किन्तु ५०० रु० के नोटों को सर्वत्र ग्राह्य मुद्रा का रूप न दिया जा सका। सन् १९१४ मे नोटों का वास्तविक चलन ६६·१२ करोड़ रु० से बढ़ कर सन् १९१८ में १८२·९१ करोड़ रुपया हो गया।

सन् १९१९ से १९२५ तक

बेबिंगटन स्मिथ कमेटी एवं इसके बाद—सन् १९१९ में बेबिंगटन स्मिथ कमेटी नियुक्त की गई। इसने नोटों को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिये कई सुझाव दिये—(i) नोटों के निर्गमन के लिये करैन्सी सिद्धान्त की जगह बैंकिंग सिद्धान्त अपनाया जाए, जिससे नोटों के निर्गमन में पर्याप्त लचक आ सके। (ii) साख पत्रों के आधार पर निकाले जाने वाले नोटों (अरक्षित पत्र चलन) की सीमा १२० करोड़ रु० हो रखी जाय। (iii) नोटों के प्रकाशन के पीछे ४०% धातु संचिति में रखी जाय।

सन् १९२० में एक एक्ट बनाया गया, जिसके अन्तर्गत कोष में ५०% भाग धातु रखना अनिवार्य कर दिया गया। कोष के विश्वसनीय अंश में भारत सरकार के साख-पत्र २० करोड़ रु० से अधिक मूल्य के न रखने की व्यवस्था की गई। इंग्लैण्ड में भारत मन्त्री के पास ५ करोड़ रु० से अधिक सोना न रहने की भी की गई। १ जनवरी १९२६ से १ रु० व २½ रु० के नोट वापिस क्योंकि वे कम लोकप्रिय हुये। सन् १९२१ में इम्पीरियल बैंक

उसे निर्यात बिलों के आधार पर आवश्यकतानुसार १२ करोड़ रु० तक के नोट जारी करने का अधिकार दिया गया।

सन् १९२६ से सन् १९३५ तक

हिल्टन यंग कमीशन एवं इसके बाद—सन् १९२५ में नियुक्त हुए हिल्टन यंग कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में देश के अन्दर एक केन्द्रीय बैंक स्थापित करने का सुझाव दिया और कहा कि यही बैंक इम्पीरियल बैंक के बजाय नोट निर्गमन का कार्य करे। उसने नोटों के निर्गमन के लिये आनुपातिक कोष प्रणाली का समर्थन किया और कहा कि धातु कोष ४०% रखा जाय। यह भी सुझाव दिया गया कि केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रकाशित किये जाने वाले नोट रुपयों के बजाय स्वर्ण पिंड में परिवर्तनीय हों तथा एक बार में कम से कम ४०० औंस स्वर्ण परिवर्तनीय बनाया जाय। उसने स्वर्ण मान कोष और पत्र-चलन कोष को मिला देने का भी सुझाव दिया। भारत सरकार ने सन् १९२७ में एक मुद्रा विधान पास किया, जिसमें हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशों को कार्यान्वित किया गया किन्तु केन्द्रीय बैंक की स्थापना का प्रश्न स्थगित कर दिया। सन् १९३१-३२ में ५०० और १००० रु० के नोट सर्वत्र ग्राह्य कर दिये गये।

सन् १९३५ से सन् १९५६ तक

रिजर्व बैंक की स्थापना—सन् १९३५ में रिजर्व बैंक स्थापित हुआ। तबसे नोट निर्गमन पर रिजर्व बैंक का एकाधिकार है। धात्विक मुद्रा प्रकाशन का अधिकार भारत सरकार ने अपने पास रखा। अब तक के भारत सरकार के नोटों को बैंक के नोट घोषित कर दिया गया। स्वर्णमान कोष और पत्र चलन कोष बैंक को हस्तांतरित कर दिये गये। इसने अपने नोट सन् १९३८ से निकाले और ५, १०, १००, १०००, और १०,००० रु० के नोट निर्गमित किये। इनके भुगतान की गारन्टी सरकार ने दी है। नोटों को भुनाने के दायित्व की पूर्ति के लिये बैंक अपने कोष में सोना, स्वर्ण मुद्रायें, स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ, चाँदी के रुपये और भारत सरकार के साख पत्र रखता है।

सन् १९५६ तक बैंक के लिये यह आवश्यक था कि वह जितने रुपये के नोट निकाले उतने ही मूल्य का स्वर्ण, स्वर्ण मुद्रा, स्टर्लिंग साख पत्र, रुपये के सिक्के और भारत सरकार की प्रतिभूतियाँ पत्र मुद्रा कोष में रखे। कुल नोटों के मूल्य का ४०% भाग स्वर्ण, स्वर्ण मुद्रा, विदेशी प्रतिभूतियों तथा विदेशी मुद्राओं का अभिप्राय केवल स्टर्लिंग से लिया जाता था। लेकिन अब अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के बाद किसी भी सदस्य देश की मुद्रा को निधि के रूप में रखा जा सकता है। ४०% भाग के सम्बन्ध में यह नियम भी था कि इस भाग में ४० करोड़ रु० के मूल्य का स्वर्ण (व स्वर्ण सिक्के) अवश्य होना चाहिये और ४०% का १७/२० भाग भारत में ही रहना चाहिये। शेष ६०% भाग में भारत सरकार की प्रतिभूतियों की मात्रा कुल पत्र मुद्रा कोष के २५% या ५० करोड़ रु० के मूल्य से अधिक नहीं होनी चाहिये। विशेष परिस्थितियों में राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से इसमें १० करोड़ रु० की वृद्धि की जा सकती थी। यह आनुपातिक कोष प्रणाली सन् १९५६ तक चलती रही।

सन् १९५६ से आज तक

न्यूनतम मुद्रा कोष प्रणाली की स्थापना—सन् १९५६ से नोटों के निर्गमन के लिये रिजर्व बैंक ने न्यूनतम मुद्रा कोष प्रणाली अपनाई हुई है। इस प्रणाली के [illegible] नोटों के निर्गमन के विरुद्ध कम से कम ४०० करोड़ रु० विदेशी प्रतिभूतियाँ

में तथा ११५ करोड़ रु० स्वर्ण व स्वर्ण सिक्कों के रूप में संचित करना आवश्यक है। सन् १९५६ के पहले रिजर्व बैंक के पास जो सोना या उसका मूल्य २१'२४ रु० प्रति तोले के हिसाब से आंका जाता था। अब इसका मूल्यांकन ६२'५० रु० प्रति तोले की दर से किया गया, जिससे स्वर्ण कोष ४० करोड़ रु० से बढ़कर ११५ करोड़ रु० हो गई।

सन् १९५७ का संशोधन

सन् १९५७ में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट में संशोधन करके विदेशी प्रतिभूतियों की मात्रा ४०० करोड़ रु० से घटा कर ८५ करोड़ रु० कर दी गई तथा ११५ करोड़ रु० के मूल्य का सोना या सोने के सिक्के न्यूनतम रूप से रखना आवश्यक बना दिया गया। इस संशोधन का उद्देश्य भारतीय मुद्रा प्रणाली में लोच और मितव्ययिता लाना तथा देश में विदेशी मुद्रा के संकट को कम करना है।

वर्तमान मुद्रा प्रणाली

द्वितीय महायुद्ध के पहले देश में ५, १०, १००, ५००, १००० और १०,००० रु० के नोट चलन में थे। युद्धकाल में मुद्रा की मांग बढ़ने से १ और २ रु० के नोट भी निकाले गये। सन् १९४६ में ५०० रु० तथा इससे अधिक मूल्य के नोट समाप्त कर दिये गये। सन् १९४९ से इंगलैण्ड की राजा के मुहर के स्थान पर अशोक चक्र के नोट चलाये जा रहे है। जनता की परेशानी का ध्यान करके सन् १९५३ में ५००, १००० और १०,००० के नोट पुन: जारी किये गये। ५००० रु० का नोट भी चलाया गया। वर्तमान नोट रंग तथा छापे में पुराने नोटों से सर्वथा भिन्न है। नोट निर्गमन न्यूनतम कोष प्रणाली के अन्तर्गत किया जा रहा है।

वर्तमान न्यूनतम मुद्रा कोष प्रणाली के गुण-दोष

गुण :
(१) लोच।
(२) वाह्य मूल्य की स्थिरता।
(३) परिवर्तनशीलता।
(४) मितव्ययिता।

दोष :
(१) आन्तरिक मूल्य-स्तर में अस्थिरता।
(२) सांकेतिक मुद्रा के दोष।
(३) स्वयं संचालन का अभाव।
(४) मुद्रा प्रसार को बढ़ावा।
(५) स्पष्ट मान का अभाव।
(६) परिवर्तनशीलता का अभाव।
(७) जटिलता।

वर्तमान नोट निर्गमन प्रणाली के गुण-दोष

गुण—इस प्रणाली में कई गुण पाये जाते हैं :—

(१) लोच—चूंकि नोटों की आड़ में एक न्यूनतम कोष ही रखना पड़ता है, इसलिये यह प्रणाली आनुपातिक प्रणाली की तुलना में अधिक लोचदार है। संकट काल में न्यूनतम सीमा घटाई जा सकती है।

(२) बाह्य मूल्य की स्थिरता—भारतीय रुपये का अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण उसका वाह्य (विदेशी) मूल्य स्थिर रहने लगा है, जिससे विदेशी व्यापार में बहुत सुविधा हो गई है।

(३) मितव्ययिता—कई प्रकार से सुरक्षित कोष रखने के बजाय अब एक ही कोष रखा जाने लगा है, जिससे व्यय में बहुत कमी हो गई है।

(४) परिवर्तनशीलता—इस प्रणाली में थोड़ी बहुत परिवर्तनशीलता भी पाई जाती है, जिससे जनता का इसमें विश्वास बना हुआ है।

दोष—इस प्रणाली के कुछ दोष भी हैं, जोकि इस प्रकार हैं—

(१) आन्तरिक मूल्य-स्तर में अस्थिरता—यह प्रणाली रुपये के आन्तरिक मूल्य में स्थिरता नहीं रख पाई है।

(२) सांकेतिक मुद्रा के दोष—समस्त मुद्रा सांकेतिक है। अतः मुद्रा का वास्तविक मूल्य इसके अंकित मूल्य से बहुत कम होता है।

(३) स्वयं संचालन का अभाव—इसके संचालन के लिये सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक रहता है और मुद्रा की मात्रा में देश की आवश्यकताओं के अनुसार घट-बढ़ नहीं होने पाती है।

(४) मुद्रा प्रसार को बढ़ावा—पत्र-मुद्रा कोष का काफी भाग स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में रखा जाता है, जिससे युद्ध एवं युद्धोत्तर काल में मुद्रा प्रसार को बहुत बढ़ावा मिला है।

(५) स्पष्ट मान का अभाव—चूंकि यह प्रणाली सभी देशों के आपसी समझौते पर आधारित है, इसलिए यह एक स्वतन्त्र प्रणाली नहीं है।

(६) परिवर्तनशीलता का अभाव—इस प्रणाली में नोटों के बदले में सोना-चाँदी नहीं मिलता है। अतः इसमें वास्तविक परिवर्तनशीलता का अभाव है।

(७) जटिलता—एक प्रबन्धित प्रणाली होने के कारण यह जनसाधारण के लिये समझने में कठिन है।

परीक्षा प्रश्न

(१) पहले महायुद्ध के पूर्व भारतीय पत्र चलन का क्या स्वरूप था? इसके गुण-दोषों को बताइये।

(२) पत्र मुद्रा के निर्गमन के सम्बन्ध में बेबिंगटन स्मिथ कमीशन की सिफारिशों पर प्रकाश डालिये।

(३) हिल्टन यंग कमीशन ने पत्र मुद्रा के प्रकाशन के विषय पर क्या सुझाव दिये थे? संक्षेप में बताइये।

(४) रिजर्व बैंक द्वारा नोटों के निर्गमन की व्यवस्था किस प्रकार की जाती है?

(५) वर्तमान समय में देश में कितने मूल्य के नोट चलन में हैं तथा इनके प्रकाशन का प्रबन्ध किस तरह किया जाता है।

(६) भारत में पत्र मुद्रा का संचालन कैसे होता है? इसके आधार को समझा कर लिखिये।

तृतीय खण्ड

विदेशी विनिमय

(FOREIGN EXCHANGE)

"आज के नियोजन युग में विदेशी विनिमय बाजार पर
कोई नियन्त्रण न होना ही एक विचित्र
बात कही जावेगी।"

—क्राउथर

अध्याय १.

विदेशी विनिमय
(सामान्य विवेचन)
[Foreign Exchange]

प्रारम्भिक

विदेशी व्यापार आंतरिक व्यापार की तुलना में बहुत जटिल होता है। अलग-अलग देशों की अलग-अलग मुद्रायें होती हैं और प्रत्येक देश के निवासी अपने देश की मुद्रा में भुगतान स्वीकार करते है। अत: यह समस्या पैदा हुई कि विदेशी भुगतान के लिये कौनसी मुद्रा प्रयोग में लाई जाय। स्वर्णमान के दिनों में यह समस्या अधिक जटिल नहीं थी क्योंकि तब प्रत्येक देश अपना भुगतान स्वर्ण में कर सकता था। लेकिन अब स्वर्णमान टूट चुका है, स्वर्ण का भेजना भी बहुत खर्चीला होता है तथा आजकल कोई भी देश अपना स्वर्ण-कोप इस तरह खाली करना पसंद नहीं करता। अत: स्वर्ण का प्रयोग तो अब लगभग बंद हो गया है और हमें आज अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रत्येक सौदे के लिये अपने देश की मुद्रा को विदेश की मुद्रा में बदलना पड़ता है। इससे विदेशी विनिमय सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन की आवश्यकता उदय होती है।

'विदेशी विनिमय' से आशय

'विदेशी विनिमय' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है :—(i) संकुचित अर्थ में एवं (ii) विस्तृत अर्थ में।

(i) संकुचित अर्थ में विदेशी विनिमय से आशय—संकुचित अर्थ में (अ) कुछ लोग विदेशी विनिमय का अर्थ उन सब सुविधाओं से लगाते हैं, जो विदेशी भुगतानों के चुकाने से सम्बन्धित होती हैं (ब) कुछ लोग इसका अर्थ उस अनुपात या दर से लगाते हैं जिस पर विभिन्न देश की मुद्राओं का परस्पर परिवर्तन होता है और (स) कुछ लोगों के अनुसार इसका आशय विदेशी विनिमय. बिलों से है।

(ii) विस्तृत अर्थ में 'विदेशी विनिमय' से अभिप्राय—(अ) हार्टले विदर्स (Hartley Withers) के अनुसार—'विदेशी विनिमय अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-परिवर्तन की कला एवं विज्ञान है।"[1] कला के रूप में इसका सम्बन्ध उन सब संस्थाओं व यंत्रों से है, जो कि विदेशी भुगतान में सहायक होते हैं। विज्ञान के रूप में विदेशी विनिमय से संकेत उस दर से है, जिस पर एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा में

1. "Foreign Exchange is the Art and Science of International Money exchanging". —*Hartley Withers.*

P. 3.

बदली जाती है। साथ ही इसका सम्बन्ध उन रीतियों व उपायों से भी है, जो विनिमय की समस्याओं का समाधान करती हैं। (ब) एन्सायक्लोपीडिया ब्रिटानिका के अनुसार 'विदेशी विनिमय का अभिप्राय उस प्रणाली से है जिसके द्वारा व्यापारिक राष्ट्र एक दूसरे के प्रति अपने ऋणों का भुगतान करते हैं।"[2]

अतः स्पष्ट है कि विदेशी विनिमय के सही अर्थ के बारे में विद्वानों में बहुत मतभेद हैं। वास्तव में विदेशी विनिमय उस पद्धति का सूचक है जिसके द्वारा व्यापारिक राष्ट्र अपने अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का भुगतान करते हैं। अतः इस दृष्टिकोण से विदेशी विनिमय के अन्तर्गत वे यंत्र, साधन, रीतियाँ एवं उपाय भी सम्मिलित हैं जो कि दो राष्ट्रों के बीच भुगतान में सहायक होते हैं।

विदेशों से भुगतान का लेन-देन होने के कारण—किसी विदेश को हमें निम्नलिखित कारणों से भुगतान देने की आवश्यकता पड़ सकती है और ये ही कारण जब विपरीत दशा में कार्यशील होते हैं तब हमें विदेश से भुगतान प्राप्त होता है :—

(i) उन वस्तुओं के लिये जो हमने आयात की हों।

(ii) विदेश से प्राप्त हुई सेवाओं के लिये जैसे—(अ) व्यापारिक कम्पनियों की सेवायें (ब) विशेषज्ञों की सेवायें; (स) शिक्षा और यात्रियों की सेवायें।

(iii) दूतावासों पर व्यय, युद्ध व्यय, चन्दा, दान तथा मुआविजा।

(iv) जनसंख्या का प्रवास।

(v) पूँजी का गमन।

विदेशी भुगतान के तरीके

एक देश दूसरे देश को निम्न किसी भी तरीके से भुगतान कर सकता है :—

(१) वस्तुओं के निर्यात द्वारा—यदि कोई देश किसी अन्य देश से कुछ वस्तुओं का आयात करता है, तो उसके भुगतान में वह अपनी वस्तुयें उस देश को निर्यात कर सकता है। इस तरीके में दो कठिनाइयाँ हैं—प्रथम यह हो सकता है कि आयातकर्त्ता देश के पास निर्यातकर्त्ता देश को भेजने के लिये पर्याप्त वस्तुयें न हों, और दूसरे वस्तु विनिमय की समस्त कठिनाइयाँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी उपस्थित होने लगेंगी।

> **विदेशों को भुगतान करने के तरीके**
>
> (१) वस्तुओं का निर्यात।
> (२) स्वर्ण का निर्यात।
> (३) विदेशी विनिमय के अधिकार-पत्रों द्वारा भुगतान :—
> (i) बिल ऑफ एक्सचेन्ज।
> (ii) बैंक ड्राफ्ट।
> (iii) टेलीग्राफिक ट्रान्सफर।

(२) स्वर्ण के निर्यात द्वारा—विदेशी वस्तुओं और सेवाओं का भुगतान स्वर्ण के निर्यात द्वारा भी किया जा सकता है। किन्तु इस तरीके के भी दोष यह हैं कि यह अत्यन्त व्ययपूर्ण तथा असुविधाजनक है, क्योंकि एक देश के कितने ही कम्पनियों का लेन-देन विदेश के कितने ही व्यक्तियों से होता है।

---

2. "Foreign Exchange in the system by which commercial nations discharge their debts to each other". —*Encyclopaedia Britanica.*

(३) विदेशी विनिमय के अधिकार-पत्रों द्वारा—आजकल विदेशी ऋणों का भुगतान करने के लिये यह तरीका सर्वोत्तम और सब से अधिक लोकप्रिय है। विदेशी विनिमय के अधिकार-पत्र तीन प्रकार के होते हैं :—विदेशी बिल, बैंक ड्राफ्ट और टेलिग्राफिक ट्रांसफर। ये अधिकार-पत्र विनिमय बैंकों द्वारा खरीदे और बेचे जाते हैं।

(i) बिल ऑफ एक्सचेन्ज की कार्य-विधि—मान लीजिये, इङ्गलैंड और भारत में वस्तुओं का आयात निर्यात हो रहा है। भारतीय व्यापारी मजीद ने इङ्गलैंड के व्यापारी कीन्स को १०००) का चमड़ा भेजा है जबकि इङ्गलैंड के व्यापारी एलविन ने भारतीय व्यापारी बिरला को १०००) की एक मशीन भेजी है। यहाँ मजीद को कीन्स से १०००) लेने हैं जबकि बिरला को एलविन के १०००) देने हैं। एक बिल की सहायता से इन ऋणों का भुगतान हो सकता है। इसकी विधि नीचे स्पष्ट की गई है :—

भारत	१०००) का चमड़ा	इङ्गलैंड
भुनाता है मजीद	———→	कीन्स भुगतान करता है
लायड बैंक <		> लायड बैंक
खरीदता है बिड़ला	←———	एलविन भुनाता है
	१०००) की मशीन	

मजीद कीन्स को माल भेजते समय उस पर १०००) का एक बिल भी जारी कर देता है। कीन्स इसे स्वीकार करके मजीद को लौटा देगा। मजीद इस बिल को लॉयड बैंक से भुना कर तत्काल रुपया प्राप्त कर लेता है। स्पष्ट ही भुगतान करते समय उक्त बैंक बिल की शेष अवधि के अनुसार ब्याज काट लेगा।

इधर बिरला १०००) कीन्स को भुगतान करना चाहता है। वह लायड बैंक से उक्त बिल खरीद कर एलविन को भेज देगा। इस प्रकार लायड बैंक को उसकी दी हुई रकम वापिस हो जाती है और एलविन उक्त बिल को लॉयड बैंक की इंगलैंड स्थित शाखा से वह बिल भुना लेता है, जिसमें से बिल की शेष अवधि का ब्याज काट लिया जायेगा। इंगलैंड स्थित शाखा उस बिल का रुपया परिपक्वता पर कीन्स से प्राप्त कर लेगी। इस प्रकार मजीद को रुपयों में और एलविन को पौंड में भुगतान मिल जाता है। इसमें स्वर्ण का निर्यात करने की असुविधा नहीं उठानी पड़ी। किराया, आयात-निर्यात कर, पैकिंग व्यय, बीमा व्यय आदि भी बच गये।

यह तो एक उदाहरण मात्र था। वास्तविक परिस्थितियों में लाखों रुपये के बिल इंगलैंड पर और लाखों पौंड के बिल भारत पर जारी होते रहते हैं। दोनों देशों में आयातकर्त्ताओं द्वारा अपने-अपने निर्यातकर्त्ताओं का भुगतान करने के लिये ये बिल खरीदे जाते हैं और विदेशी ऋणों का भुगतान किया जाता है। यह उल्लेखनीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में दो नहीं वरन् अनेक देश भाग लेते हैं। ऐसी दशा में एक देश के कुल ऋणों का संतुलन उस देश की कुल प्राप्तियों के साथ किया जाता है। जो शेष रहे केवल उसी के भुगतान के लिये सोने का आयात-निर्यात किया जाता है।

(ii) बैंक ड्राफ्ट—विनिमय बैंकों की शाखायें विदेशों में भी होती हैं। इससे विदेशी भुगतान में बड़ी सहायता मिलती है। यदि भारतीय व्यापारी बिरला को इंगलैंड के व्यापारी एलविन को भुगतान करना है, तो वह भारत में किसी विनिमय बैंक के पास रुपया जमा करके एक बैंक ड्राफ्ट ले लेगा और एलविन के पास भेज देगा। यह ड्राफ्ट वास्तव में एक बैंक द्वारा अपनी शाखा को या किसी अन्य बैंक को

दिया गया इस आशय का लिखित आदेश है कि उसके वाहक को या उल्लेखित व्यक्ति को माँग पर अमुक मात्रा में मुद्रा दे। एलविन इस ड्राफ्ट का भुगतान उस विनिमय बैंक की इंगलैंड स्थित शाखा से ले लेगा।

(iii) टेलीग्राफिक ट्रान्सफर—विदेशी व्यापारियों को शीघ्र भुगतान पहुँचाने की आवश्यकता होने पर तार द्वारा रुपया भेजा जाना है। टेलीग्राफिक ट्रान्सफर एक बैंक का अपनी शाखा को एक निश्चित रकम एक विशेष व्यक्ति को भुगतान करने का आदेश होता है।

विनिमय-दर में परिवर्तन (Variations in Exchange Rates)

'विनिमय दर' से आशय—'विनिमय दर, (Rate of Exchange) से आशय उस दर का है, जिस पर एक मुद्रा को किसी दूसरी मुद्रा में प्रगट किया जाता है। आशय उस दर का है, जिस पर एक मुद्रा को किसी दूसरी मुद्रा में प्रकट किया जाता है। अन्य शब्दों में, विनिमय दर दो देशों की मुद्राओं के विनिमय-अनुपात को प्रकट करती है। उदाहरण के लिये, यदि १ पौंड के बदले में २० रु० प्राप्त होते हैं, तो कहेंगे कि विनिमय दर १ पौंड = २० रु० है। यह विनिमय की **स्वाभाविक दर है,** जो स्वर्ण-मान देशों में, उनकी प्रमाणिक मुद्राओं के विरुद्ध स्वर्ण के अनुपात से तथा *अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा मान देशों में, दोनों देशों के परस्पर मूल्य स्तर के अनुपात* के निश्चित होती है। परन्तु **वास्तविक दर** जो किसी समय विनिमय बाजार में प्रचलित रहती है, उक्त अनुपात या समता से विभिन्न व्यापारिक एवं मौद्रिक प्रभावों के कारण कभी कम और कभी अधिक होती रहती है।

विनिमय दर में परिवर्तन एवं इसके कारण—सभी चलन प्रणालियों में विनिमय-दर घटती-बढ़ती रहती है लेकिन पत्र मुद्रा-मान प्रणाली के अन्तर्गत (जैसा कि आजकल है) उतार-चढ़ाव बहुत गम्भीर होते हैं। इनके कारण अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न होता है जो देश की अर्थ-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव डालता है। अतः उन कारणों का अध्ययन करना आवश्यक है, जो कि वास्तविक विनिमय दर को समता-दर से विचलित करते रहते हैं। ये कारण निम्न प्रकार वर्णित किये जा सकते हैं—

विनिमय-दर के उतार-चढ़ाव के कारण

(I) विदेशी मुद्रा (या बिलों) की माँग एवं पूर्ति सम्बन्धी दशायें

(१) व्यापारिक कारण
(२) स्टॉक विनिमय सम्बन्धी प्रभाव
(३) बैंकिंग सम्बन्धी कारण
(४) मौद्रिक कारण

(II) राजनैतिक परिस्थितियाँ

(१) संरक्षण
(२) युद्ध व शान्ति
(३) बजट व घाटे का अर्थ-प्रबन्धन
(४) विनिमय नियंत्रण
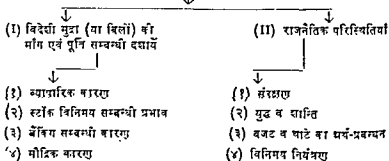
(I) विदेशी मुद्रा की माँग एवं पूर्ति

विनिमय-दरों के निर्धारण में विदेशी मुद्रा (या इसके मिलों) की माँग और पूर्ति सम्बन्धी शक्तियों का बहुत हाथ रहता है। जब कभी इनमें परिवर्तन हो जाता है तो विनिमय-दर भी परिवर्तित हो जाती है। किन्तु विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति भी ४ कारणों से प्रभावित होती है :—

(१) व्यापारिक कारण—यदि देश के निर्यात इसके आयात से अधिक हैं, तो देश की मुद्रा की माँग इसकी पूर्ति की अपेक्षा बढ़ जायेगी और फलतः विनिमय-दर देश के पक्ष में हो जायेगी अर्थात् देशी मुद्रा अपने बदले में अधिक विदेशी मुद्रा प्राप्त करने लगेगी इसके विपरीत, यदि आयात देश के निर्यात से अधिक हों, तो विदेशी मुद्रा की माँग इनकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक होगी, विनिमय-दर देश के प्रतिकूल हो जायेगी और देशी मुद्रा बदले में कम विदेशी मुद्रा प्राप्त कर सकेगी।

(२) स्टॉक विनिमय सम्बन्धी प्रभाव—यदि हम विदेशों में प्रतिभूतियाँ खरीदते हैं, तो विक्रेताओं को विदेशी मुद्रा देने के लिए इसकी माँग बढ़ जाती है और यदि विदेशी हमारे देश मे प्रतिभूतियाँ खरीद रहे है, तो उन्हें हमारा भुगतान करने के लिए देशी मुद्रा जुटानी पड़ेगी, जिससे विदेशी मुद्रा की पूर्ति इसकी माँग की अपेक्षा बढ़ जाती है। प्रथम दशा में विनिमय दर हमारे प्रतिकूल और दूसरी दशा मे हमारे अनुकूल हो जायेगी। ऋण, ब्याज व लाभांश सम्बन्धी लेन-देन भी विदेशी मुद्रा की माँग को प्रभावित करके विनिमय दर मे प्रतिकूल या अनुकूल अन्तर ला देते हैं।

(३) बैंकिंग कारण—(i) बैंकों द्वारा विदेशी बिलों अथवा यात्रियों के साख-पत्रों का क्रय-विक्रय करने से पूँजी का एक देश से दूसरे देश को हस्तांतर होता रहता है। यदि पूँजी विदेशों को जा रही है, तो विनिमय-दर हमारे विपक्ष में और यदि विदेशों से आ रही है, तो विनिमय-दर हमारे पक्ष में हो जाती है। (ii) बैंक दर में घटा-बढ़ी होने का भी पूँजी के आवागमन पर और इसके द्वारा विदेशी मुद्रा की माँग पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है। बैंक दर की वृद्धि से पूँजी आने लगती है और बैंक दर में कमी होने पर विदेशी पूँजी जाने लगती है क्योंकि भारत में उसका प्रयोग लाभदायक नहीं रहता।

(४) मौद्रिक कारण—मुद्रा सम्बन्धी निम्न स्थितियों का भी विनिमय-दर पर प्रभाव पड़ता है—(i) मुद्रा प्रसार होने पर पूँजी विदेशों को जाने लगती है क्योंकि मुद्रा-प्रसार से मुद्रा का अवमूल्यन हो जाता है अर्थात मुद्रा की क्रय-शक्ति कम हो जाती है जिससे विनिमय-दर देश के प्रतिकूल हो जाती है। (ii) मुद्रा संकुचन होने पर विदेशी लाभ के लोभ में देशी मुद्रा को खरीदने लगते है। इससे देश की मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा के रूप में बढ़ जाता है। (iii) मुद्रा मान का प्रकार—यदि देशों में स्वर्ण-मान है तो विनिमय-दर के परिवर्तन स्वर्ण-बिन्दुओं से मर्यादित होंगे और यदि अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रामान है, तो ऐसे देशों में उतार-चढ़ावों की कोई सीमा नहीं होती है।

(II) राजनैतिक परिस्थितियाँ

राजनैतिक परिस्थितियाँ भी विनिमय-दर पर प्रभाव डालती है। इनमें निम्न का समावेश है :—

(१) संरक्षण नीति—सरकार देशी उद्योगों को संरक्षण देकर आयात को संकुचित और निर्यात की वृद्धि करती है, जिससे भुगतान संतुलन देश के अनुकूल होकर विनिमय-दर देश के पक्ष में हो जाती है।

(२) युद्ध व शान्ति—देश में शान्ति होने पर सरकार स्थायी, निष्पक्ष एवं कुशल होने पर विदेशियों में विश्वास जमता है और वे अपनी पूँजी देशी उद्योगों के विकास में लगाते है, जिससे विनिमय दर पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

(३) वित्त नीति—यदि सरकार अपने बजट में घाटे की अर्थ-व्यवस्था अपनाती है, तो विनिमय-दर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, क्योंकि देश में मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(४) विनिमय नियंत्रण—सरकार या केन्द्रीय बैंकें विनिमय नियंत्रण के विभिन्न साधन अपनाकर विनिमय-दर को प्रभावित करती रहती है।

निष्कर्ष

विनिमय-दर के उतार-चढ़ावों से व्यापार-व्यवसाय को बहुत क्षति पहुँचती है। भावी-हानि से बचने के लिए व्यापारी अग्रिम विनिमय के ठहराव करके अपनी रक्षा करने का प्रयास करते हैं। इन ठहरावों के अन्तर्गत वे किसी सटोरिये से किसी भावी तिथि पर वर्तमान विनिमय-दर से विदेशी-मुद्रा खरीदने (या बेचने) का वचन ले लेता है। विनिमय-दर में चाहे कितना भी परिवर्तन हो जाय, उसे विदेशी मुद्रा के बदले पूर्व निश्चित रकम ही भारतीय मुद्रा में देनी पड़ती है।

अनुकूल एवं प्रतिकूल विनिमय दरें

'अनुकूल' एवं 'प्रतिकूल' विनिमय दरों से आशय

विनिमय दर हमारे अनुकूल है या प्रतिकूल इस पर विचार करने के लिए हमें यह जानना चाहिए कि विनिमय दर स्वदेश की मुद्रा में प्रकट की जारही है या विदेश की मुद्रा में।

जब किसी देश में विनिमय-दर स्वदेश की मुद्रा में प्रगट की जाय, तो गिरती हुई या कम होती हुई अथवा नीची विनिमय-दर स्वदेश के पक्ष में और बढ़ती हुई या ऊँची विनिमय की दर स्वदेश के विपक्ष में होती है। उदाहरण के लिये १ पौंड = १५ रु० है। यदि विनिमय दर घटकर १ पौ० = १२ रु० हो जाय तो यह हमारे लिये अनुकूल है, क्योंकि अब हमें १ पौंड का माल खरीदने के लिए पहले से कम स्वदेशी मुद्रा देनी पड़ती है। यदि यह दर बढ़ कर १ पौंड = २० रु० हो जाय, तो विनिमय दर देश के प्रतिकूल कही जायगी, क्योंकि अब १ पौंड का माल खरीदने के लिए पहले से अधिक स्वदेशी मुद्रा देनी पड़ती है।

जब किसी देश में विनिमय दर विदेश की मुद्रा में प्रगट की जाती है, तो बढ़ती हुई विनिमय दर स्वदेश के पक्ष में और गिरती हुई विनिमय दर स्वदेश के विपक्ष में होती है। मानलो कि आज १ रु० = २१ सेंट है। यदि यह दर १ रु० = ३० सेंट हो जाय, तो यह विनिमय दर देश के पक्ष में होगी, क्योंकि अब पहले की तुलना में १ रु० से अधिक विदेशी माल खरीदा जा सकता है। यदि उक्त दर

१ रु० = १५ सैंट हो जाय, तो विनिमय दर देश के प्रतिकूल कहलायेगी, क्योंकि अब पहले की तुलना में कम विदेशी माल खरीदा जा सकता है।

'अनुकूल' एवं 'प्रतिकूल' विनिमय दरों के आर्थिक प्रभाव

अनुकूल एवं प्रतिकूल दरों का विभिन्न व्यक्तियों पर विभिन्न रूप से प्रभाव पड़ता है :—

(अ) अनुकूल विनिमय दर से (अर्थात् जबकि देशी मुद्रा के बदले अधिक विदेशी माल खरीदा जा सकता हो) आयात को प्रोत्साहन एवं निर्यात को निरुत्साहन होता है, आयातकर्त्ताओं व उपभोक्ताओं को लाभ तथा निर्यातकर्ताओं एवं उत्पादकों को हानि होगी व इससे बेरोजगारी फैलेगी।

(ब) प्रतिकूल विनिमय दर से (जबकि स्वदेशी मुद्रा के बदले पहले की अपेक्षा कम विदेशी माल मिल सकता है) निर्यात उत्साहित एवं आयात हतोत्साहित होते हैं, निर्यातकर्ताओं व उत्पादकों को लाभ तथा आयातकर्त्ताओं व उपभोक्ताओं को हानि होने लगती है व श्रमिकों का रोजगार बढ़ता है।

स्पष्ट है कि किसी समय पर विनिमय दर को अनुकूल या प्रतिकूल कहना स्वयं में एक विरोधाभास है, क्योंकि प्रत्येक दर से देश में यदि एक वर्ग को लाभ पहुँचता है तो दूसरा वर्ग हानि उठाता है।

परीक्षा प्रश्न

(१) 'विदेशी विनिमय' से क्या आशय है? विदेशी भुगतान के तरीकों पर प्रकाश डालिये।

(२) 'विनिमय दर' को प्रभावित करने वाले घटकों (Factors) को स्पष्ट रूप से समझाइये।

(३) किसी देश की विनिमय-दर किन कारणों से प्रभावित होती है? संक्षेप में बताइये।

(४) 'अनुकूल विनिमय दर' और 'प्रतिकूल विनिमय दर' से क्या अभिप्राय है? इनके आर्थिक प्रभावों का विवेचन करिये।

(५) किसी विदेशी देश से भुगतान क्यों प्राप्त होते है और क्यों दिये जाते है?

———

अध्याय २

विनिमय दरों का निर्धारण

(Determination of Rates of Exchange)

प्रारम्भिक

विनिमय दर किसी एक मुद्रा का वह मूल्य है जो किसी दूसरी मुद्रा में प्रकट किया जाता है। दूसरे शब्दों में विनिमय दर केवल दो देशों की मुद्राओं के विनिमय के अनुपात को सूचित करती है। उदाहरण के लिये, यदि अमेरिका में १ रुपये के बदले २१ सैंट प्राप्त होते हैं, तो कहेंगे कि रुपये और डालर की विनिमय दर १ रु० = २१ सैंट, या १ डालर = ४·७६ रुपया है।

विनिमय दर का निर्धारण मांग और पूर्ति के संतुलन द्वारा

विनिमय समता

एक साधारण वस्तु की भांति विदेशी विनिमय की दर **मांग एवं पूर्ति की शक्तियों के सतुलन द्वारा निश्चित होती है।** यदि इस सतुलन में अन्तर पड़ जाय, तो विनिमय दर भी परिवर्तित हो जायेगी। विदेशी विनिमय **अर्थात् विदेशी मुद्रा की मांग** उन व्यक्तियों द्वारा की जाती है जो विदेशों से प्राप्त वस्तुओं व सेवाओं का भुगतान करना चाहते हैं, जबकि **विदेशी मुद्रा की पूर्ति** उन व्यक्तियों द्वारा की जाती है जिन्होंने वस्तुओं व सेवाओं के निर्यात द्वारा या विदेशी पूंजी के आयात द्वारा विदेशी मुद्रा पर अधिकार प्राप्त कर लिया है। जब विदेशी मुद्रा की मांग उसकी पूर्ति के बराबर होती है, तो विनिमय की दर में समता (Parity) होती है। विनिमय की इस दर को **'विनिमय समता' (Parity of Exchange)** कहा जाता है।

यदि विदेशी मुद्रा की मांग उसकी पूर्ति से अधिक हो जाय (अथवा देशी मुद्रा की पूर्ति इसकी मांग से अधिक है), तो विदेशी मुद्रा का मूल्य समता से ऊंचा जायेगा (अर्थात् देशी मुद्रा का मूल्य समता से नीचा हो जायेगा)। अन्य शब्दों में, विदेशी मुद्रा या इसके बिलो को खरीदने के लिये हमें अधिक देशी मुद्रा देनी पड़ेगी। यदि विदेशी मुद्रा (या इसके बिलो) की मांग इसकी पूर्ति से कम हो जाय (अर्थात् देशी मुद्रा की मांग इसकी पूर्ति से अधिक हो), तो विदेशी मुद्रा का मूल्य समता से कम हो जायेगा (अर्थात् देशी मुद्रा का मूल्य समता से ऊंचा हो जायेगा।) अन्य शब्दों में, अब विदेशी मुद्रा या इसके बिलों को खरीदने के लिये हमें पहले की अपेक्षा कम देशी मुद्रायें देनी पड़ेंगीं।

विनिमय दर 'समता' से कितनी कम या अधिक हो सकती है ?

स्पष्ट है कि विदेशी मुद्रा की मांग एवं इसकी पूर्ति में असंतुलन होने से विनिमय-दर 'समता' (Parity or Par) ऊपर-नीचे जा सकती है। समता से ऊपर उठने या नीचे गिरने की कोई सीमा है या नहीं, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिसका उत्तर देने के लिये हमें विभिन्न मौद्रिक परिस्थितियों पर पृथक-पृथक विचार करना होगा, जो कि निम्नलिखित हैं :—

(i) जबकि देनों देश स्वर्णमान पर हों।

(ii) जबकि एक देश स्वर्णमान पर और दूसरा रजतमान पर हो।

(iii) जबकि एक देश स्वर्णमान (या रजतमान) पर और दूसरा पत्र मान पर हो।

(iv) जबकि दोनों देश पत्र मुद्रा मान पर हों।

(i) जब दो देशों में स्वर्णमान हो—जब दो देशों में स्वर्णमान हो, तो 'विनिमय समता' (Parity of Exchange) इनके प्रमाणित सिक्कों की विशुद्ध स्वर्ण की समानता स्थापित करके प्राप्त की जाती है। इसे 'टंक समता दर' (Mint Par of Exchange) कहते हैं। स्वर्णमान देशों में विनिमय-दर की दीर्घकालीन प्रवृत्ति टंक समता के बराबर हो जाने की होती है लेकिन वास्तविक जीवन में बिलों की मांग एवं पूर्ति के परिवर्तनों से वह टंक समता से ऊपर-नीचे हो जाती है। किन्तु ये **उतार-चढ़ाव असीमित नहीं होते, वरन् उन दो सीमाओं के बीच होते हैं जो कि उच्चतम और निम्नतम स्वर्ण बिन्दुओं द्वारा निर्धारित होती है।** हां, असाधारण समय में, जबकि सोने का आयात-निर्यात नहीं होने पाता, विनिमय दर इन सीमाओं का उल्लंघन कर सकती है।

(ii) स्वर्णमान और रौप्यमान देशों के बीच—विनिमय दर निर्धारित करने के लिए पहले स्वर्णमान वाले देश की प्रमाणित मुद्रा में विशुद्ध सोने की मात्रा ज्ञात की जाती है। इसी प्रकार रजत मान वाले देश की प्रमाणिक मुद्रा में विशुद्ध चांदी की मात्रा ज्ञात करते हैं। फिर भी चांदी के स्वर्ण मूल्य के आधार पर, जो कि सरकार द्वारा निर्धारित किया जाता है, दोनों मुद्राओं को तुलना करके उनका अनुपात निकाल लेते हैं। यही उन देशों के बीच 'टंक समता दर' है। व्यवहार में विनिमय दर इसके ऊपर नीचे घुमती रहती है और उच्चतम एवं निम्नतम स्वर्ण बिन्दुओं के बीच ही सीमित रहती है।

(iii) स्वर्णमान (या रजत मान) एवं पत्र मान देशों के बीच—इन देशों के बीच 'टंक समता दर' इस बात से निश्चित होती है कि दोनों देशों मे मुद्रायें कितना-कितना सोना (या चांदी) खरीद सकती हैं। स्वर्णमान (या रजतमान) देश में सोने का मूल्य सरकार द्वारा निश्चित होता है, पत्र-मान देश मे सोने का मूल्य बाजार में समय-समय पर बदलता रहता है। अत: स्वर्णमान वाले देश के लिए एक उच्चतम सीमा (स्वर्ण निर्यात बिन्दु) अवश्य होती है लेकिन निम्नतम सीमा (स्वर्ण आयात बिन्दु) कोई नहीं होती। इसी प्रकार, पत्र-मान देश के लिए निम्नतम सीमा तो होती है लेकिन उच्चतम सीमा नहीं होती है।

(iv) पत्र मुद्रा मान वाले देशों के बीच—दो पत्र मुद्रामान वाले देशों के बीच विनिमय दर उक्त परिस्थितियों की तरह स्वर्ण बिन्दुओं से मर्यादित नहीं

होती है, क्योंकि इनकी मुद्राओं का सम्बन्ध किसी धातु से नहीं होता। अतः यदि किसी देश का आयात दूसरे देशों से अधिक हुआ है, तो उसे अन्तर की पूर्ति के लिए स्वर्ण का निर्यात करना होगा। यही कारण है कि कभी-कभी कहा जाता है कि किसी देश के निर्यात ही उसके आयात का भुगतान करते हैं। क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त के अनुसार दो पत्र मुद्रा मान वाले देशों के बीच विनिमय दर उसी आन्तरिक क्रय-शक्ति के भाग फल (Quotient) पर निर्भर रहती है। यदि किसी देश में मुद्रा की शक्ति बढ़ जाती है तो उस देश की मुद्रा के विनिमय की दर भी उसी अनुपात में बढ़ जाती है और क्रय-शक्ति के घटने पर विनिमय दर घट जाती है। अन्य शब्दों में क्रय-शक्तियों की समानता द्वारा विनिमय समता निर्धारित होती है। इस दशा में 'विनिमय समता' (Parity of Exchange) को क्रय-शक्ति समता (Purchasing *Power Parity*) कहते हैं। *यह समता स्थिर नहीं है, वरन् विभिन्न देशों के सामान्य मूल्य-स्तरों के परिवर्तन के साथ घटती-बढ़ती रहती है।*

टकसाली दर का सिद्धान्त
(Mint Par Theory)

दो स्वर्णमान देशों के बीच विनिमय समता (Parity of Exchange) जिसे *यहाँ पर 'टकसाली दर' कहते हैं, का निर्धारण जिस प्रकार होता है और व्यवहार में* विनिमय-दर इससे कितना कम या अधिक हो सकता है इसे स्पष्ट करने वाले सिद्धान्त को 'टकसाली दर का सिद्धान्त' (Mint Par Theory) कहते हैं। जब किसी देश में स्वर्णमान होता है, तो वहाँ करेन्सी या तो स्वर्ण मुद्राओं के रूप में होती हैं या निश्चित दरों पर स्वतन्त्रतापूर्वक स्वर्ण में बदली जा सकती हैं। साथ ही स्वर्ण के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता। ऐसी दशाओं में प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि देशी करेन्सी के बदले में वह कितना स्वर्ण प्राप्त कर सकता है और फिर इस स्वर्ण से वह कितनी विदेशी मुद्रा खरीद सकेगा जबकि उस स्वर्ण को विदेश को भेज दिया जाय।

टकसाली समता द्वारा विनिमय दर का निर्धारण

इस परिस्थिति में *विनिमय दर का निर्धारण करना* बहुत सरल है क्योंकि स्वर्णमान देशों की मुद्राओं का मूल्य स्वर्ण के माध्यम द्वारा नापा जा सकता है। इसके लिये पहले उनका स्वर्ण-मूल्य मालूम करके तब स्वर्ण-मूल्यों में समानता स्थापित की जाती है। अब इस समानता (Parity) के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक देश की मुद्रा के बदले दूसरे देश की कितनी मुद्रा मिल सकती है। मुद्रा का स्वर्ण-मूल्य मालूम करने के लिये यह देखा जाता है कि उसमें कितना विशुद्ध स्वर्ण है अथवा उसे कितने विशुद्ध स्वर्ण में परिवर्तित किया जा सकता है। प्रायः देश के विधान द्वारा यह निश्चित कर दिया जाता है कि उसकी मुद्रा में अमुक मात्रा में विशुद्ध स्वर्ण रहेगा। । दो मुद्राओं के स्वर्ण-मूल्यों की समानता स्थापित करते समय विधान द्वारा उल्लेखित विशुद्ध स्वर्ण-मूल्य को ही ध्यान में रखा जाता है न कि मुद्रा के अंकित मूल्य को, क्योंकि उसमें शुद्ध स्वर्ण के साथ मिलावट भी हो सकती है। *विधान द्वारा निर्धारित विशुद्ध स्वर्ण के आधार पर दो देशों के बीच जो समानता* स्थापित होती है, उसे 'विनिमय की टकसाल समता' (Mint Par of Exchange) या 'विनिमय की स्वर्ण-मूल्य समता' (Gold Par of Exchange) कहते हैं। [जब दो देश रजत मान पर हों, तो उनमें भी टकसाली समता द्वारा विनिमय दर निर्धारित की जा सकती है।]

विनिमय दर में उतार-चढ़ाव

लेकिन टकसाली समता की युक्ति द्वारा जो विनिमय दर मालूम की जाती है वह तो एक सामान्य प्रवृत्ति है, जो कि दीर्घकाल में प्रचलित होती है। लेकिन दैनिक या अल्पकालीन अथवा बाजार दर (जिस पर कि विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय के सौदे वास्तव में किये जायेंगे) उक्त सामान्य दर से कुछ भिन्न रहती है। वास्तविक विनिमय दर सामान्य विनिमय दर से क्यों भिन्न होती है इसका कारण उस पर मांग और पूर्ति की शक्तियों का प्रभाव पड़ता है। चूंकि इन शक्तियों में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, इसलिये वास्तविक विनिमय दर (या दैनिक, अल्पकालीन अथवा बाजार दर) भी परिवर्तित होती रहती है। किन्तु ये परिवर्तन असीमित नहीं होते, वरन् सामान्य विनिमय दर के इर्द-गिर्द स्वर्ण बिन्दुओं के बीच सीमित होते हैं।

विनिमय दरों में उच्चावचनों की सीमाएं : स्वर्ण बिन्दु

जब दो देश स्वर्णमान पर होते हैं और उनके बीच स्वर्ण आवागमन पर कोई प्रतिबन्ध नही होता है, तो विनिमय की दर में उच्चावचनों की सीमायें स्वर्ण के भेजने के व्यय (पैंकिंग + कटिंग + जहाज का व्यय + बीमा व्यय + स्वर्ण के स्थानान्तर की अवधि में ब्याज की हानि = स्वर्ण भेजने का व्यय) से निश्चित होती है। यदि टकसाली समता द्वारा निर्धारित दर (अर्थात् टंक समता दर) मे स्वर्ण भेजने के लिये जो व्यय होता है उसे जोड़ देने पर हमें विनिमय-दर की उच्चतम सीमा (Upper Limit) प्राप्त होती है और जब टंक-समता-दर मे से स्वर्ण भेजने के व्यय को घटा दिया जाता है, तो हमें विनिमय-दर की निम्नतम सीमा (Lower Limit) प्राप्त होती है। विदेशी मुद्रा का मूल्य अर्थात् विनिमय दर इन सीमाओं के बीच में सामान्य दर के इर्द-गिर्द चक्कर काटती है। यदि कभी वास्तविक विनिमय दर इन सीमाओं से बाहर निकलने की प्रवृत्ति दिखलाती है, तो सुधार की एक प्रक्रिया (Process of Adjustment) आरम्भ हो जाती है। *इस बात को एक उदाहरण द्वारा समझाया* जा सकता है।

मान लीजिये, फ्रांस व इंगलैण्ड के बीच टकसाली समानता के अनुसार सामान्य विनिमय दर १ पौण्ड = २५·२२१५ फ्रैंक है तथा फ्रांस से इंगलैण्ड को सोना भेजने अथवा मँगाने का खर्चा ०·३ फ्रैंक के बराबर है। *यह भी मान लीजिये कि* इस समय फ्रांस को प्रतिकूल भुगतान संतुलन के कारण इंगलैंड के व्यापारियों की रकम का भुगतान करना है। इस हेतु फ्रांस के व्यापारियों के १ पौंड का भुगतान करने के लिये १५·२२१५ फ्रैंक से अधिक फ्रैंक देने पड़ेंगे। कितने फ्रैंक अधिक से अधिक देने पड़ेंगे? इंगलैंड में १ पौंड का भुगतान करने के लिए फ्रांस का व्यापारी फ्रांस मे १ पौंड के विनिमय बिल के लिये अधिक से अधिक टंक-समता दर + सोना भेजने के व्यय अर्थात् २५·२२१५ + ०·३ = २४·५२१५ फ्रैंक देने को तैयार होगा। इससे अधिक नही देगा। यदि उसे अधिक देना पड़ता है, तो वह विनिमय बिल भेजकर भुगतान करने के बजाय सोना खरीद कर इंग्लैंड के व्यापारी को भेज देगा।[1] इससे स्पष्ट है कि फ्रांस से सोने की निर्यात तब तक आरम्भ होती है जबकि इंग्लैंड

---

१. स्वर्णमान में एक देश के व्यापारी के लिए विदेशों में *भुगतान करने के* दो उपाय होते हैं—(i) वह विनिमय बैंक से विदेशी विनिमय बिल (अर्थात् विदेशी मुद्रा प्राप्त करने का अधिकार) खरीद कर विदेश भेज दें; या (ii) सोना भेज कर अपने ऋण से छुटकारा पा सकता है। व्यापारी किस रीति का प्रयोग करेगा, यह बाजार की परिस्थितियों पर निर्भर होता है।

का १ पौंड का भुगतान करने के हेतु फ्रांस के व्यापारी को २५·५२१५ फ्रैंक से अधिक रकम देनी पड़ती है अर्थात् २५·५२१५ वह सीमा है जिससे अधिक विनिमय दर होने पर सोना फ्रांस से इंग्लैंड को जाने लगा। फ्रांस की दृष्टि से यह सीमा (या बिन्दु) 'स्वर्ण निर्यात् बिन्दु' (**Gold Export Point**) या उच्चतम स्वर्ण बिन्दु ((**Upper Gold Point**) कहलाती है जबकि इंग्लैंड के दृष्टिकोण से उसे स्वर्ण आयात बिन्दु (**Gold Import Point**) या निम्नतम स्वर्ण बिन्दु (**Lower Gold Point**) कहते हैं। कभी-कभी उच्चतम स्वर्ण बिन्दु और न्यूनतम स्वर्ण बिन्दु को क्रमशः उच्चतम स्वर्णाङ्क (**Lower Specie Point**) भी कहा जाता है। इस प्रकार उच्चतम स्वर्ण बिन्दु विनिमय दर के बढ़ने को अधिकतम सीमा है। यदि वास्तविक विनिमय दर इससे अधिक हो जाय, तो स्वर्ण बाहर जाने लगेगा।

इसी प्रकार विनिमय दर गिरने की एक न्यूनतम सीमा होती है। मान लीजिए कि अब फ्रांस का भुगतान-संतुलन उसके पक्ष में है। ऐसी दशा में इंग्लैंड के व्यापारी फ्रांस में अपना ऋण चुकाने के लिए विदेशी विनिमय बिल खरीदेंगे। चूँकि भुगतान का संतुलन फ्रांस के अनुकूल और इंग्लैंड के प्रतिकूल है, इसलिए इंग्लैंड में फ्रैंक की माँग उसकी पूर्ति से अधिक होगी जिससे फ्रैंक का मूल्य बढ़ जायगा और पौंड का मूल्य कम हो जायगा। अन्य शब्दों में, इंग्लैंड के व्यापारी को फ्रांस में २५·२२१५ फ्रैंक (टंक समता दर १ पौंड २१·२२१५ फ्रैंक) का भुगतान करने के लिए अब पहले की अपेक्षा अधिक पौंड देने पड़ेंगे [अथवा, यह भी कहा जा सकता है कि इंग्लैंड में इंग्लैंड के व्यापारी को प्रति पौंड पहले से कम फ्रैंक प्राप्त होंगे।] यह मान लीजिए कि इंग्लैंड से फ्रांस को स्वर्ण भेजने का व्यय २ शि० (=०·३ फ्रैंक) है। फ्रांस में २५·२२१५ फ्रैंक का भुगतान करने लिए इंग्लैंड का व्यापारी अधिक से अधिक टंक-समता-दर + सोना भेजने का व्यय = १ पौंड + २ शि० = २२ शि० देने को तैयार होगा। यदि उसे इंग्लैंड में २५·२२१५ फ्रैंक के विनिमय बिल के लिए २२ शि० से अधिक देने पड़ते हैं, तो वह विनिमय बिल द्वारा भुगतान करने के बजाय स्वर्ण भेज कर भुगतान करना अधिक पसंद करेगा। इस प्रकार इंग्लैंड से स्वर्ण का निर्यात तभी आरम्भ होता है जब कि फ्रांस में २५·२२१५ फ्रैंक का भुगतान करने के लिए इंग्लैंड के व्यापारी को २२ शि० से अधिक रकम देनी पड़ती है। इस तरह :—

जब १ पौंड + २ शि० = २५·२२१५ फ्रैंक

तो १ पौंड = २५·२२१५ फ्रैंक—०·३ फ्रैंक (अथवा २ शि०)

= २४·९२१५ फ्रैंक

२४·९२१५ फ्रांस की मुद्रा को निम्नतम विनिमय दर है, जिससे विनिमय दर और भी कम होने पर सोना इंग्लैंड से फ्रांस को बहने लगेगा। २४·९२१५ फ्रैंक फ्रांस की दृष्टि से न्यूनतम स्वर्ण बिन्दु (Lower Gold Point) या स्वर्ण आयात बिन्दु (Gold Import Point) है तथा इंग्लैंड की दृष्टि से यही उच्चतम स्वर्ण बिन्दु या स्वर्ण निर्यात् बिन्दु है।

उपसंहार

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि किसी देश की विनिमय दर किसी भी समय स्वर्ण निर्यात् बिन्दु से अधिक नहीं हो सकती और स्वर्ण आयात बिन्दु से कम नहीं हो सकती, क्योंकि दोनों ही दशाओं में स्वर्ण के निर्यात या आयात किए जाने का भय है। कभी-कभी असाधारण काल में सोने का आयात-निर्यात नहीं होने

पाता है। ऐसी दशा में विनिमय दर इन दोनों ही सीमाओं का उल्लंघन कर सकती है। यह भी उल्लेखनीय है कि स्वर्ण विन्दु भी स्थायी नहीं है वरन् परिवर्तनशील है, क्योंकि सोना भेजने के व्ययों में बीमा कम्पनियों आदि की व्यापारिक स्पर्धा के कारण घट-बढ़ होती रहती है।

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त

(Theory of Purchasing Power Parity)

दो देशों के बीच, जहाँ पर पत्र मुद्रामान प्रचलित हों, विनिमय दर के निर्धारित होने के लिये एक नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है, जिसे 'क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त' कहते हैं। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन स्टॉकहोम विश्वविद्यालय (स्वीडन) के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्री गस्टव कैसिल ने किया था।

सिद्धान्त की व्याख्या

कैसल (Cassel) के क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त के अनुसार, दो करेन्सियों के *बीच विनिमय दर उनकी क्रमिक क्रय शक्तियों के अनुपातानुसार तय होती है,* अर्थात् विनिमय दर उस बिन्दु पर स्थिर हो जाती है, जहाँ दोनों करेन्सियों की क्रय शक्तियों की समानता हो। उदाहरण के लिये, एक निश्चित मात्रा मे वस्तुयें और सेवायें दो देशों (जैसे इङ्गलैंड और अमेरिका) मे क्रमश; १०० पौंड और ५०० डालर में खरीदी जा सकती है। ऐसी स्थिति में ५०० डालर की क्रय-शक्ति १०० पौंड की क्रय-शक्ति के बराबर है अर्थात् १०० पौंड=५०० डालर या १ पौंड=५ डालर हुआ।

दीर्घकाल में विनिमय दर क्रय-शक्ति समता के विन्दु पर स्थिर हो जाने की प्रवृत्ति दिखलाती है लेकिन अल्प काल में; माँग एवं पूर्ति मे परिवर्तन होने से, यह क्रय-शक्ति समता से भिन्न रह सकती है। यह बात नीचे समझाई गई है :—

मान लीजिये कि दो देशों में मूल्यस्तर तो अपरिवर्तित रहते हैं किन्तु विनिमय दर बढ़ कर १ पौंड=५.५ डॉलर हो जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि पौंड की क्रय-शक्ति डॉलर की अपेक्षा बढ़ गई है। अब लोग इस दर पर पौंड को डालरों में बदलने लगेंगे तथा फिर डालरों की सहायता से अमेरिका में ५ डालर का उतना ही माल (जितना कि इङ्गलैंड में १ पौंड से खरीदा जाता) खरीदकर प्रति पौंड ½ डालर बचा लेंगे। इङ्गलैंड के लोगों की इस प्रवृत्ति के कारण इङ्गलैंड में डालरों की माँग बढ़ जायेगी जबकि वहाँ डालरों की पूर्ति कम होगी, क्योंकि इङ्गलैंड से अमेरिका को निर्यात कम हो जायेंगे। फल यह होगा कि पौंड के रूप में डालरों का मूल्य पुनः बढ़ने लगेगा और तब तक बढ़ता रहेगा जब तक कि वह समता पर (अर्थात् १ पौंड=५ डालर) न पहुँच जाय। इसके विपरीत, यदि इङ्गलैंड में कीमतें १००% बढ़ जायें जबकि अमेरिका में अपरिवर्तित रहें, तो १ पौंड=२.५ डालर होगा, क्योंकि अब २ पौंड से इङ्गलैंड में उतनी ही वस्तुयें व सेवायें खरीदी जा सकती हैं कि जितनी पहले १ पौंड द्वारा खरीदी जा सकती थीं। यदि दोनों ही देशों में कीमतें दूनी हो जायें, तो, 'समता दर' में कोई परिवर्तन नहीं होगा।

यही संक्षेप में क्रय-शक्ति समानता का सिद्धान्त है। प्रोफेसर कीन्स ने इसकी निम्न शब्दों में व्याख्या की है "दो करेन्सियों के बीच विदेशी विनिमय दर उसी प्रकार से परिवर्तित होती रहती है जिस प्रकार से कि अन्तर्राष्ट्रीय निर्देशांक घटता

बढ़ता है।"[1] दूसरे शब्दों में, इस सिद्धान्त का आशय यह है कि विनिमय दरों के परिवर्तन विभिन्न देशों में मुद्रा की क्रय-शक्ति के परिवर्तनों को सूचित करते हैं।

क्रय-शक्ति समता स्थिर नहीं—टकसाली समता और क्रय-शक्ति समता के बीच अन्तर यह है कि जबकि टकसाली समता स्थिर होती है, तब क्रय-शक्ति समता परिवर्तित होती रहती है अर्थात् वह सम्बन्धित देशों के मूल्य स्तरों में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार घटती-बढ़ती है। इस समता विन्दु के पास ही ये परिवर्तन होते रहेंगे किन्तु इन परिवर्तनों की कुछ सीमायें हैं। ये सीमायें एक देश से दूसरे देश को माल भेजने के यातायात व्यय द्वारा निर्धारित होती हैं। हाँ, इनमें उतनी निश्चित नहीं होती हैं जितनी कि स्वर्ण बिन्दु सीमाओं में होती है।

क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त की आलोचना

क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त की कई आलोचनाएँ की गई हैं और यह कहा गया है कि वह विनिमय दर के निर्धारण एवं इसके परिवर्तनों को संतोषजनक व्याख्या नहीं करता। प्रमुख आलोचनायें निम्नलिखित हैं:—

(१) क्रय-शक्ति के मापने का साधन ठीक नहीं है—सूचनांकों की सहायता से दो देशों की मुद्राओं की क्रय-शक्ति मालूम करके विनिमय दर निर्धारित होती है। इस सम्बन्ध में आलोचकों का कहना है कि निर्देशांक सदा ही भूतकाल से सम्बन्धित होते हैं और साथ ही कुछ ऐसी वस्तुओं का (लकड़ी, पत्थर, ईंट) उनमें समावेश होता है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्ध नहीं रखती। अतः निर्देशांक या सूचनांक वास्तविक विनिमय दर बताने में असमर्थ रहते हैं।

(२) इसमें भुगतान संतुलन की अनेक मदों का ध्यान नहीं रखा गया है, जो भुगतान संतुलन को प्रभावित करके विनिमय दर को प्रभावित कर देते हैं, जैसे दो देशों के बीच वणिक की रकम का आवागमन, विदेशी मुद्रा में सट्टा, बैंकों की पारस्परिक लेन-देन के कारण पूँजी का आवागमन। कैसिल ने इन बातों को विचार में नहीं लिया है। अतः उसका सिद्धान्त अधूरा है।

(३) विनिमय दर स्वयं भी मूल्य स्तर को प्रभावित करती है—क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त के अनुसार केवल मूल्य-स्तर में परिवर्तन से विनिमय-दर प्रभावित होती है जबकि वास्तव में विनिमय-दर के परिवर्तन भी मूल्य-स्तर को प्रभावित करते हैं। इस बात पर ध्यान न देने से उक्त सिद्धान्त दोषपूर्ण हो गया है।

(४) सामान्य अनुभव से इस सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती है—उदाहरण के लिये पिछले कुछ वर्षों में अमेरिका भारी संरक्षण की नीति अपना कर अपने डालर का बाह्य मूल्य बहुत ऊँचा रखने में सफल हुआ जबकि डालर का आन्तरिक मूल्य लगभग पूर्ववत ही है।

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त का व्यावहारिक महत्व

निस्सन्देह क्रय-शक्ति तुल्यता के आधार पर पत्र मुद्रामान वाले देशों के बीच विनिमय दरों के निर्धारण में कठिनाइयाँ हैं। किन्तु कई ऐसे अवसर आते हैं जबकि

1. The rates of foreign exchange between two currencies move in the same way as the ratio of an International Index expressed in *the prices of one currency to the same index expressed in the* prices of the other country." —*F. M. Keynes.*

इस प्रकार का निर्धारण उपयोगी हो सकता है, जैसे :—(१) अस्थिर और परिवर्तनशील विनिमय-दरों के काल में, यह उन सीमाओं का अनुमान प्रदान करती है जिसके बीच वास्तविक विनिमय-दर सन्तुलन-दर से घटती-बढ़ती रहेगी। (२) जब विनिमय दर को स्थायी रखने के उद्देश्य से आवश्यक कदम उठाना हो, तो क्रय-शक्ति तुल्यता की गणना के द्वारा यह मालूम किया जा सकता है कि सबसे उचित दर कौनसी होगी।

भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त
(Balance of Payments Theory)

'भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त' से आशय

प्राय: कहा जाता है कि 'आयात' निर्यातों का भुगतान करते हैं (Imports pay for the Exports)। इस कथन का अभिप्राय यह है कि जब दो देशों में व्यापार और सेवाओं का लेन-देन होता है तब एक देश दूसरे देश को न तो उससे कम देता है और न अधिक ही देता है जो कि उसने दूसरे देश से प्राप्त किया है। इस तथ्य को ही भुगतान सतुलन का सिद्धांत (Balance of Payments Theory) कहते हैं।

यहाँ पर एक कठिनाई यह उदय होती है कि जब तक कि हमें दो देशों के मध्य विनिमय दर न मालूम हो, तब तक हम यह कैसे कह सकते हैं कि दो देशों की प्राप्तियाँ (Receipts) और भुगतान (payments) बराबर हैं ? इसका कारण यह है कि दोनों देशों की मुद्रायें अलग होती हैं और व्यापारी अपने देश की मुद्रा में ही भुगतान स्वीकार किया करते हैं। अत: विनिमय दर मालूम होने पर ही यह कहा जा सकता है कि अमुक देश के आयातों और निर्यातों का मूल्य समान है, कम है या अधिक है। जिस विनिमय दर पर दोनों देशों के आयातों और निर्यातों का मूल्य बराबर हो, वह 'समता विनिमय दर' (Equilibrium Rate of Exchange) कहलाती है।

यदि दोनो देशों में से किसी एक देश के आयात और निर्यात मूल्य बराबर नहीं हैं तो यह 'असन्तुलन की अवस्था' (State of disequilibrium) कही जायगी। इस दशा में उस देश को अपने आयात और निर्यात में ऐसा परिवर्तन करना होगा, जिससे अन्तत: आयात-मूल्य निर्यात-मूल्य के बराबर हो जायें। इस प्रकार दीर्घकाल में विनिमय दर उस स्थान पर निश्चित होती है जहाँ किसी देश के आयात-मूल्य उसके निर्यात मूल्य के बराबर हो जायें। यही विनिमय दर का भुगतान संतुलन सिद्धान्त है।

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त से इसकी श्रेष्ठता

वर्तमान समय में पत्र मुद्रा मान को विभिन्न देशों में अपनाया गया है। ऐसी दशा में टकसाली समता एवं स्वर्ण-बिन्दुओं का प्रश्न नहीं उठता। विद्वानों ने क्रय-शक्ति समता सिद्धांत के आधार पर पत्र मुद्रामान देशों के मध्य विनिमय-दर के निर्धारण को स्पष्ट करने का प्रयास किया। किन्तु इस सिद्धांत का व्यवहार में अधिक उपयोग नहीं है। विनिमय-दरों पर ऐसे घटकों का भी प्रभाव पड़ता है जो कि आन्तरिक मूल्य-स्तर से सम्बन्धित नहीं होते। इन घटकों में ऋण परिशोध जैसे व्यवहार भी सम्मिलित हैं। भुगतानों के संतुलन पर प्रभाव डालने वाले घटक आन्तरिक मूल्य-स्तर पर प्रभाव डालने वाले घटकों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं। इन्हीं

सब बातों से विदेशी विनिमय का भुगतान संतुलन सिद्धांत अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

परीक्षा प्रश्न

(१) 'विनिमय दर' से क्या अभिप्राय है? इसका निर्धारण कैसे होता है? संक्षेप में बताइये।

(२) दो अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा वाले देशों में विनिमय दर कैसे निश्चित होती है? क्या यह दर सही समानता की प्रतिनिधि होती है? अपने उत्तर के लिये तर्क दीजिये।

(३) क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त क्या है? विदेशी विनिमय के लिये यह सिद्धान्त दो या अधिक मुद्राओं के सम्बन्धित मूल्यों को तय करने में किस प्रकार सहायता करता है?

(४) 'टकसाली दर' क्या होती है? दो स्वर्णमान देशों में परस्पर यह दर किस प्रकार निश्चित होती है और इसमें किस सीमा तक परिवर्तन हो सकते हैं?

(५) स्वर्ण बिन्दु क्या हैं? क्या वे स्थिर रहते हैं? यदि नहीं, तो इनमें परिवर्तन होने के क्या कारण हैं?

(६) विदेशी विनिमय के भुगतान संतुलन सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं? अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा यह किन बातों में श्रेष्ठ है?

अध्याय ३.

विनिमय नियंत्रण
(Exchange Control)

विनिमय नियंत्रण का अर्थ

यदि देशवासियों को किसी भी मात्रा में विदेशी विनिमय के क्रय और विक्रय करने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो, तो इसे 'अनियंत्रित' या 'स्वतन्त्र विदेशी विनिमय' की अवस्था कहेंगे। किन्तु जब देश की सरकार विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय में एवं उसके वितरण में हस्तक्षेप करती है, तो इसे 'विनिमय-नियंत्रण' कहेंगे। यह आवश्यक नहीं है कि 'विनिमय नियंत्रण' (Exchange Control) की कार्यवाही सरकार द्वारा ही की जाये, वरन् देश की केन्द्रीय बैंक या कोई अन्य अधिकृत संस्था भी ऐसा कर सकती है।

यह भी उल्लेखनीय है कि 'विनिमय नियन्त्रण' शब्द का प्रयोग दो प्रकार से किया जाता है :—

(i) विस्तृत अर्थ में और (ii) संकुचित अर्थ में। विस्तृत अर्थ में विदेशी विनिमय बाजार में किये गये किसी भी सरकारी हस्तक्षेप को 'विनिमय नियंत्रण' कहा जा सकता है। लेकिन संकुचित अर्थ में, जो कि आजकल अधिक मान्य है, विनिमय नियंत्रण का आशय केवल उन हस्तक्षेपों और प्रतिबन्धों से होता है जो कि प्राइवेट विनिमय व्यवहारों के सम्बन्ध में किये जाते हैं। नीचे कुछ प्रसिद्ध लेखकों द्वारा 'विनिमय नियन्त्रण' की परिभाषायें दी गई हैं—

(१) प्रो० हेबरलर (Heberler)—'विनिमय नियन्त्रण उस सरकारी हस्तक्षेप को कहते हैं जो कि विदेशी विनिमय बाजार में आर्थिक शक्तियों को स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं करने देता।"[1]

(२) पाल एनजिग (Paul Einzing)—विनिमय नियन्त्रण का अभिप्राय मौद्रिक अधिकारी के उन सभी हस्तक्षेपों से होता है, जो विनिमय दरों या उनसे सम्बन्धित बाजारों को प्रभावित करने के हेतु किये जाते हैं।"

एक पूर्ण विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत सरकार विदेशी बाजार पर अपना पूरा प्रभुत्व कायम कर लेती है। पूर्ण नियन्त्रण की निम्न विशेषतायें होती हैं :—

1. "Exchange Control is the state regulation excluding the free play of economic forces from the foreign exchange market."

P. 3.

(१) देशवासियों द्वारा जितना भी विदेशी विनिमय निर्यात से या किसी अन्य प्रकार से प्राप्त किया जाता है वह सब उन्हें विनिमय नियन्त्रण अधिकारी के सुपुर्द कर देना पड़ता है।

(२) बेईमानी को रोकने के लिये, कस्टम अधिकारियों को यह आदेश दे दिये जाते हैं कि वे माल का लदान जहाज में तभी होने दें जब कि उन्हें निर्यात-लाइसेन्स दिखा दिया जाये।

(३) तत्पश्चात् विदेशी विनिमय की उपलब्ध पूर्ति का व्यय करने की कार्य-विधि निश्चित की जाती है और आवश्यकतानुसार एक कन्ट्रोल भाव पर विभिन्न व्यापारियों एवं व्यापारों में इसका वितरण किया जाता है।

(४) पूंजी निर्यातों को प्रायः निषिद्ध घोषित कर दिया जाता है और ब्याज व ऋण के भुगतान भी अत्यन्त सीमित कर दिये जाते हैं; तथा

(५) देश के आयात पर भी बहुत से नियंत्रण लगा दिये जाते हैं, जैसे केवल उन्हीं वस्तुओं का आयात किया जाता है, जो कि अर्थ-व्यवस्था के सुचारु संचालन के लिये आवश्यक हो। ऐसी वस्तुओं के उदाहरण हैं—खाद्यान्न, महत्वपूर्ण औद्योगिक कच्चा माल व मशीनें आदि।

विलासिता एवं कम आवश्यक वस्तुओं का आयात या तो बिल्कुल ही बन्द कर दिया जाता है अथवा बहुत ही सीमित मात्रा में किया जाता है। यह उल्लेखनीय है कि नियन्त्रण प्रणाली में सरकार विदेशी विनिमय के कोष को पहले अपने कार्यों में प्रयोग करती है और इसके बाद जो कोष बचता है उसे धीरे-धीरे अधिक महत्वपूर्ण कार्यों के लिये देशवासियों को देती है।

इसके विपरीत, आंशिक नियन्त्रण में उक्त प्रतिबन्ध केवल एक या कुछ मुद्राओं के सम्बन्ध में ही लगाये जाते हैं। आजकल 'आंशिक नियन्त्रण' (Partial Control) का ही अधिक प्रचलन है।

विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य

आजकल सरकारें विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण करने लगी हैं। ये प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित है:—

(१) विनिमय दर की स्थिरता—विनिमय दर में स्थिरता होना आवश्यक हैं, क्योंकि यदि इसमे बार-बार परिवर्तन होते रहते है, तो इससे सट्टेबाजों को बढ़ावा मिलता है तथा विदेशी व्यापार के लाभ भी अनिश्चित हो जाते हैं। यही कारण है कि स्वर्णमान टूटने पर, जबकि विनिमय दरों मे बहुत उतार-चढ़ाव होने लगे, तो विभिन्न देशों में विनिमय-नियन्त्रण की क्रियाओं द्वारा उन्हें रोकने का प्रयास किया गया।

(२) पूंजी के बहिर्गमन पर रोक—'पूंजी के बहिर्गमन' से आशय किसी देश में सम्पत्तियों, प्रतिभूतियों एवं बैंक डिपाजिटों के स्वामियों द्वारा इनको अन्य देशों की करेंसियों में परिवर्तित करना है ताकि अन्य देशों में वे अधिक ब्याज व लाभ कमा सकें। यदि भारी मात्रा में ऐसे परिवर्तन करने की स्वतन्त्रता रही, तो देश के स्वर्ण एवं विदेशी विनिमय भण्डार खाली हो जायेंगे और आन्तरिक करेंसी की स्थिरता भी खतरे में पड़ जायगी। अतः पूंजी के बहिर्गमन पर रोक लगाना विनिमय नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य होता है।

(३) भुगतान संतुलन की विषमता का सुधार—कभी-कभी देश का भुगतान संतुलन उसके बहुत विपरीत हो जाता है, जिससे कि वह दिवालियापन की स्थिति की ओर बढ़ने लगता है। इस विषमता का सुधार करने के लिये भी विनिमय नियन्त्रण की नीति प्राय: अपनाई गई है। विनिमय नियन्त्रण की क्रियाओं के द्वारा देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य कम कर दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि निर्यात सस्ते व आयात मँहगे हो जाते हैं, तथा इसमे देश के निर्यातों मे वृद्धि तथा आयातों मे अवनति होकर भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता सुधरने लगती है।

(४) सरकारी आय में वृद्धि—विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य सरकारी आय में वृद्धि करना भी हो सकता है। सरकार की आय बढ़ाने के लिये विदेशी विनिमय नियन्त्रण वास्तव मे एक निर्यात कर का काम देता है।

(५) आवश्यक वस्तुओं के क्रय के लिये पर्याप्त विदेशी मुद्रा की प्राप्ति—यदि किसी देश के पास विदेशी विनिमय का पर्याप्त कोष हो, तो वह विदेशों से आवश्यक मात्रा मे वस्तुएँ खरीद सकता है। यही कारण था कि सन् १९३९ में जब द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया था तो विभिन्न देशों ने विनिमय का नियन्त्रण कर दिया और युद्धकाल के बाद भी विनिमय नियन्त्रण इसलिये कायम रखे गये है जिससे विकास योजनाओं के लिये आवश्यक औद्योगिक माल का विदेशों से आयात किया जा सके।

विनिमय नियंत्रण के प्रमुख ९ उद्देश्य :

(१) विनिमय दर की स्थिरता।
(२) पूंजी के बहिर्गमन पर रोक।
(३) भुगतान सन्तुलन की विषमता का सुधार।
(४) सरकारी आय में वृद्धि।
(५) आवश्यक वस्तुओं के क्रय के लिए पर्याप्त विदेशी मुद्रा की प्राप्ति।
(६) शत्रु देश द्वारा क्रय-शक्ति के प्रयोग की रोक-थाम।
(७) ऋणों और ब्याज के भुगतान को सुगम करना।
(८) अन्य महत्वपूर्ण देशों की करंसियों के साथ सम्बन्धों का स्थिरीकरण।
(९) स्वतन्त्र दर से भिन्न विनिमय दर की स्थापना।

(६) शत्रु देश द्वारा क्रय-शक्ति के प्रयोग की रोक-थाम—युद्धकाल में विभिन्न क्रियाओ द्वारा विनिमय नियन्त्रण इस कारण भी किया गया था कि शत्रु देश को या उसके एजेण्टों को, जो कि तटस्थ देशों मे या कण्ट्रोल लगाने वाले देशों में रहते है, क्रय-शक्ति का प्रयोग करने से रोका जा सके।

(७) ऋणों और ब्याज के भुगतान की सुगमता—अपने ऋणों एवं उन पर अर्जित ब्याज का भुगतान विदेशियों को करने के लिए देशी करेंसी प्राप्त करने हेतु भी सरकारों ने विनिमय का नियन्त्रण किया।

(८) अन्य महत्त्वपूर्ण देशों की करंसियों के साथ अपनी करंसी के सम्बन्धों को स्थिर रखना—यह विचार भी बहुत से देशो की विनिमय-नियन्त्रण नीति का एक आधार रहा है। उदाहरण के लिये, जब सन् १९३१ में ब्रिटेन द्वारा स्वर्णमान का

स्थगन कर दिया गया था तो स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों ने लन्दन के साथ अपनी विनिमय दरें स्थायी रखने के उद्देश्य से विनिमय नियन्त्रण की कार्यवाही की थी।

(६) स्वतन्त्र दर से भिन्न विनिमय दर की स्थापना—कभी-कभी सरकार यह अनुभव करती है कि विदेशी विनिमय बाजार की माँग और पूर्ति सम्बन्धी शक्तियों को स्वतन्त्र छोड़ देने से विनिमय दर एक उचित मार्ग का अवलम्बन नहीं कर रही है। ऐसी दशा में वह विनिमय नियन्त्रण अपनाती है ताकि विनिमय दर उचित स्तर पर निर्धारित हो जाय। यदि विनिमय दर स्वतन्त्र रूप से स्वतः ही उचित स्तर पर निर्धारित होने की कोशिश में है, तो फिर सरकार को विनिमय नियन्त्रण करने की आवश्यकता नहीं है।

शान्तिकालीन एवं युद्धकालीन उद्देश्य—जबकि शान्तिकाल में विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य विनिमय दर को स्थिर रखना, पूँजी के बहिर्गमन को रोकना, भुगतान सन्तुलन की विषमता को सुधारना, योजनाओं को कार्यान्वित करने के हेतु आवश्यक वस्तुएँ खरीदने के लिये विदेशी मुद्रा प्राप्त करना, ऋणों और ब्याज के भुगतान को सुगम करना महत्त्वपूर्ण दशों की करेंसियों के साथ सम्बन्धों को स्थिर रखना, तथा प्रतिकूल दर को अनुकूल करना हो सकता है, तब युद्धकाल में विनिमय नियन्त्रण प्राय. निम्न उद्देश्यों के लिये किया जा सकता है : सरकारी आय को बढ़ाने के लिये, शत्रु द्वारा क्रय-शक्ति के प्रयोग की रोक-थाम के लिये, विदेशी-विनिमय के साधनों को सुरक्षित रखने तथा देश हित में प्रयोग करने के लिये।

विनिमय नियन्त्रण की रीतियाँ

विनिमय का नियन्त्रण करने के लिये यह आवश्यक है कि करेंसी की माँग और पूर्ति का नियन्त्रण किया जाय। करेंसी की माँग और पूर्ति का नियन्त्रण करने की दो मुख्य रीतियाँ हैं:—

(I) अप्रत्यक्ष रीतियाँ एवं (II) प्रत्यक्ष रीतियाँ। इन पर संक्षेप में नीचे प्रकाश डाला गया है।

(I) विनिमय नियन्त्रण की अप्रत्यक्ष रीतियाँ

करेंसी की माँग और पूर्ति पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालने वाली रीतियों को 'नियन्त्रण की अप्रत्यक्ष रीतियाँ' (Indirect Methods of Exchange Control) कहते हैं। अप्रत्यक्ष रीतियों का मौद्रिक संसार में अधिक उपयोग नहीं होता है, क्योंकि इनकी दो सीमायें हैं—(i) यदि अन्य देश भी इसी प्रकार की समान रीतियाँ अपना लें, तो इनका प्रभाव जाता रहता है तथा (ii) ये रीतियाँ विनिमय दरों पर केवल प्रभाव ही डाल सकती हैं, उनका नियन्त्रण नहीं कर सकती हैं। अतः ये रीतियाँ प्रायः साधारण काल में ही प्रयोग की जाती हैं, संकट काल में इनका उपयोग प्रभावशाली नहीं होता। इन रीतियों के कई रूप हैं, जिनका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है—

(१) ब्याज की दरों में परिवर्तन:—ब्याज की दरों का प्रभाव पूँजी के आयात-निर्यात पर पड़ता है। जब देश में ब्याज की दरें ऊँची कर दी जाती हैं, तो अधिक लाभ कमाने के लिये विदेशों से इस देश में अल्पकालीन विनियोग के लिये पूँजी आने लगती है और इस तरह देशी करेंसी की माँग बढ़ने के कारण विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है। किन्तु, जब देश में ब्याज की दरें कम कर दी जाती

हैं, तो वहाँ विनियोग से अधिक लाभ न देख कर विदेशी पूँजी बाहर जाने लगती है। यहाँ तक कि देशवासी भी अपनी पूँजी बाहर (अधिक ब्याज वाले देशों में) लगाना आरम्भ कर देते हैं। इससे देशी चलन की माँग कम हो जाती है और विदेशी चलन की माँग बढ़ जाती है तथा विनिमय दर देश के विरुद्ध हो जाती है।

(२) आयात कर—आयात पर कर दो प्रकार से स्थापित किया जा सकता है—(i) आयात कर लगा कर तथा (ii) कोटा व लाइसेन्स के द्वारा। जब आयात की वस्तु पर कर लगाया जाता है, तो उसका मूल्य बढ़ जाता है, जिससे उसकी माँग कम हो जाती है। जब आयात-वस्तुओं के सम्बन्ध मे व्यापारियों को कोटे व लाइसेन्स देने की प्रथा रखी जाती है, तब आयात की मात्रा कम हो जाती है। इस प्रकार दोनों ही दशाओं में आयात घटने से विदेशी मुद्रा की माँग और अपने देश की मुद्रा पूर्ति कम हो जाती है। परिणाम यह होता है कि विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है।

(३) निर्यात करों में छूट—निर्यात करों मे छूट देने से निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है। यदि निर्यात की वस्तुओं के उत्पादन में आर्थिक सहायता दी जाय, तो भी निर्यातों की वृद्धि होती है। इस प्रकार निर्यात बढ़ जाने से विदेशों मे हमारी मुद्रा की माँग अधिक होगी, जिससे उसका मूल्य बढ़ जायगा। इस रीति का प्रयोग जर्मनी ने किया था।

विनिमय नियन्त्रण की रीतियाँ

I. अप्रत्यक्ष रीतियाँ :

(१) ब्याज की दरों में परिवर्तन।
(२) आयात कर।
(३) निर्यात करों में छूट।

II. प्रत्यक्ष रीतियाँ :

(१) हस्तक्षेप—
  (अ) विनिमय दर को ऊँचा टाँकना।
  (ब) विनिमय दर को नीचा टाँकना।
(२) विनिमय प्रतिबन्ध—
  (अ) अवरुद्ध खाते।
  (ब) बहु-विनिमय दरें।
(३) विनिमय निकासी समझौते।
(४) स्वर्ण-नीति।

(II) विनिमय नियन्त्रण की प्रत्यक्ष रीतियाँ

करेंसी की माँग एवं पूर्ति पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालने वाली रीतियों को 'विनिमय नियन्त्रण की प्रत्यक्ष रीतियाँ' (Direct Methods of Exchange Control) कहते है। ये रीतियाँ संकट काल में बहुत ही उपयोगी प्रमाणित होती है। प्रमुख-प्रमुख प्रत्यक्ष रीतियाँ निम्नलिखित है—

(१) हस्तक्षेप (Intervention)—जब कभी सरकार अपनी करेंसी की विनिमय दर को किसी प्रचलित या सामान्य विनिमय दर से बहुत ऊँचे स्तर पर या इससे बहुत नीचे स्तर पर किसी विशेष बिन्दु पर निर्धारित करना चाहे, तो वह 'हस्तक्षेप' करने की प्रत्यक्ष रीति का अवलम्बन कर सकती है। इस रीति के दो रूप होते हैं—(अ) विनिमय दर को ऊँचा टाँकना (Pegging up), और (ब) विनिमय दर को नीचा टाँकना (Pegging Down)। जब सरकार विनिमय दर को एक ऊँचे स्तर पर निश्चित कर देती है, तो इसे 'विनिमय दर को ऊँचा टाँकना' और जब एक नीचे स्तर पर निर्धारित कर देती है, तो इसे 'विनिमय दर को नीचा टाँकना'

कहते हैं। इस रीति के अन्तर्गत सरकार (या केन्द्रीय बैंक) विदेशी विनिमय बाजार में विदेशी मुद्राओं के बदले में अपने देश की मुद्रा बेचना या खरीदना आरम्भ कर देती है, तो देशी चलन की पूर्ति बढ़ने और विदेशी मुद्राओं की पूर्ति कम होने से विनिमय दर धीरे-धीरे ऊँची चढ़ने लगती है और जब वह विदेशी मुद्राओं के बदले अपने देश की मुद्रा खरीदने लगती है, तो विनिमय दर नीचे गिरने लगती है। अतः किसी देश की सरकार को विनिमय दर के ऊँचा टाँकने में कितनी सफलता मिलेगी यह उस देश के विदेशी मुद्राओं के कोषों की स्थिति पर निर्भर करती है।

(२) **विनिमय प्रतिबन्ध (Exchange Restrictions)**—'विनिमय प्रतिबन्ध' का आशय मुद्रा अधिकारियों की उन क्रियाओं से है, जिनके द्वारा विनिमय बाजारों में माँग और पूर्ति को प्रभावित करने के उद्देश्य से विनिमयों की अबाधता प्रतिबन्धित की जाती है। इस प्रणाली को सबसे पहले जर्मनी ने सन् १९३१ में अपनाया था।

युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था के सुधार के लिये जर्मनी ने विशाल ऋण लिये और उनको चुकता करने के लिये जर्मन मार्क की पूर्ति में बहुत वृद्धि कर दी। चूँकि जर्मनी का निर्यात व्यापार लगभग शून्य था, इसलिये विदेशों में मार्क की माँग बहुत कम थी। ऋणदाताओं को यह भय था कि जर्मन अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जायगी। अतः उन्होंने जर्मन मार्क में भुगतान लेना अस्वीकृत कर दिया। हालत इतनी खराब हो गई थी कि मार्क का वाह्य मूल्य शून्य तक गिरने की आशंका थी।

उक्त कठिनाई को सुलझाने के लिये जर्मनी ने कृत्रिम अतिमूल्यन (Overvaluatiou) की नीति को अपनाया और यह प्रयास किया कि जर्मन मार्क की पूर्ति उसकी माँग के बराबर बनी रहे। इस हेतु उसने निम्न उपाय किये :—(i) समस्त विदेशी मुद्रा को केन्द्रीय अधिकारियों ने रोक लिया और विदेशी विनिमय व्यवसाय के लिये लाइसेंसिंग प्रथा चलाई; (ii) सभी नागरिकों को यह आदेश दिया कि वे अपनी विदेशी मुद्रायें, विदेशी प्रतिभूतियाँ तथा बॉंड सरकार को सौंप दें; (iii) इस प्रकार एकत्र हुई विदेशी विनिमय सम्पत्ति का एक भाग तो सरकार ने अपने पास रखा और शेष भाग को ऊँची कीमत पर उन नागरिकों को बेच दिया जिन्हें विदेशी मुद्रा की आवश्यकता थी; (iv) विदेशी मात्राओं के लिए बहुत कम मात्रा में जर्मनी या विदेशी मुद्रा दी जाती थी; (v) आयातों के लिये एक प्राथमिकता क्रम निर्धारित कर दिया गया और अनावश्यक वस्तुओं के आयात को बिल्कुल बन्द कर दिया; (vi) अवरुद्ध खाते की नीति भी अपनाई गई; जिसके अनुसार विदेशियों को अपनी सम्पत्तियाँ या प्रतिभूतियाँ और मुद्रायें जर्मनी से बाहर ले जाने का अधिकार नहीं दिया गया। प्रत्येक जर्मन ऋणी जब अपना विदेशी ऋण सरकार को चुकाता था, तो इस रकम को सरकार उस विदेशी के नाम पर 'अवरुद्ध खातों' (Blocked Accounts) में जमा कर लेती थी परन्तु विदेशियों को इसका भुगतान उनकी मुद्राओं में नहीं मिलता था। अतः विवश होकर वे जर्मनी से या तो माल खरीदकर अपना भुगतान लेते थे अथवा उस राशि को कम दाम पर बेच देते थे। दोनों ही दशाओं में जर्मनी को लाभ होता था। जर्मनी की यह महान् नीति महान् आर्थिक जादूगर डा० शाट (Schact) के मस्तिष्क की उपज थी और इसे 'नई योजना' कहा जाता था। इन उपायों के फलस्वरूप जर्मनी का तेजी से आर्थिक विकास हुआ।

(३) **विनिमय निकासी समझौते (Exchange Clearing Agree-)**—जब दो देश कोई ऐसा समझौता कर लेते हैं जिसके अनुसार अन्यान्य

भुगतानों को इस प्रकार एक दूसरे को चुकती कर दिया जाता है कि उन्हें विदेशी बाजार में जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती है, तो इसे 'विनिमय निकासी समझौते' कहते हैं। निकासी समझौते की कार्य-प्रणाली को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि 'अ' और 'ब' देशों में एक निकासी समझौता होता है। अब 'अ' देश का केन्द्रीय बैंक अपने यहाँ 'ब' देश के केन्द्रीय बैंक का खाता खोल लेता है, 'अ' देश में कुछ लोग ऐसे होंगे (जैसे कि निर्यात व्यापारी) जिनका रुपया 'ब' देश पर निकलता है और कुछ व्यक्ति ऐसे भी होंगे (जैसे कि आयात व्यापारी) जिन्हें 'ब' देश को रुपया देना है। 'अ' देश के आयात व्यापारी 'ब' देश वाले ऋणों का भुगतान अपने केन्द्रीय बैंक को अपने देश की करेंसी में ही कर देंगे। इसी प्रकार, निर्यात व्यापारी भी केन्द्रीय बैंक के पास जायेंगे और 'ब' देश पर निकलने वाले रुपयों का भुगतान उस धन में से जो कि बैंक ने आयात-व्यापारियों से संग्रह किया था, अपने देश की करेंसी ही में प्राप्त कर लेंगे। इसी प्रकार की कार्यवाही 'ब' देश में भी वहाँ के केन्द्रीय बैंक द्वारा की जायगी। इस व्यवस्था के कारण दोनों देशों में आयात-निर्यात व्यापार विदेशी मुद्रा की चिंता किये बिना चलता रहेगा।

(४) स्वर्ण नीति (Gold Policy)—स्वर्ण के क्रय एवं विक्रय मूल्यों का नियमन करके भी विनिमय नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है। ये उपाय स्वर्ण-बिन्दुओं पर प्रभाव डालते हुए विनिमय दरों पर असर करते हैं।

निष्कर्ष

अतः विनिमय नियन्त्रण की अनेक रीतियाँ हैं। प्रत्येक देश अपनी निजी आवश्यकताओं के अनुसार ही किसी खास नीति को अपनाता है। चूंकि देश की आवश्यकताओं में समय-समय पर परिवर्तन करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में विनिमय नियन्त्रण की रीतियों में सर्व-प्रयोग का गुण नहीं है। इसके अतिरिक्त एक समय में प्राय: कई रीतियों का अपनाना आवश्यक हो जाता है ताकि नियन्त्रण का उद्देश्य पूरा हो जाय।

भारत में युद्ध कालीन विनिमय निन्यत्रण : उद्देश्य, विधियाँ एवं वर्तमान उपयोगिता

भारत में युद्धकालीन विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य

युद्ध-काल में विनिमय नियन्त्रण का मुख्य उद्देश्य देश के विदेशी-विनिमय-साधनों को सुरक्षित रखना और देश हित में प्रयोग करने के लिये उन्हे पूर्णतः गतिशील बनाना होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि (i) विदेशी विनिमयों के सभी क्रय-विक्रय पर, (ii) वस्तुओं के आयात-निर्यात पर, (iii) धातुओं और देशी व विदेशी करेन्सियों के आयात-निर्यात पर तथा (iv) विदेशी प्रतिभूतियों पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित कर दिया जाय। अतः युद्ध आरम्भ होते ही भारत सरकार ने रिजर्व बैंक को एक विशेष आदेश जारी करके विदेशी विनिमय के नियन्त्रण की जिम्मेदारी सौंप दी। रिजर्व बैंक ने विनिमय नियन्त्रण विभाग पृथक से खोला।

विनिमय नियन्त्रण के लिये अपनाई गई विधियाँ

सरकार की अनुमति से रिजर्व बैंक ने विनिमय नियन्त्रण के लिये जो प्रतिबन्ध लगाये, उनके प्रमुख रूप निम्न रहे :—

युद्धकाल में रिजर्व बैंक द्वारा विनिमय नियन्त्रण के विभिन्न रूप

(१) आयात नियन्त्रण ।
(२) निर्यात नियन्त्रण ।
(३) अन्य नियन्त्रण—
- (i) मुद्रा के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध ।
- (ii) विदेशी मुद्रा में भुगतान पर प्रतिबन्ध ।
- (iii) भारतीय बैंकों में शत्रु राष्ट्रों की जमा के भुगतान पर प्रतिबन्ध ।
- (vi) स्वर्ण के आयात-निर्यात पर रोक ।
- (v) प्रतिभूतियों के निर्यात पर रोक ।

(१) आयात नियन्त्रण—प्रारम्भ मे तो बैंकों को विदेशी विनिमय के विक्रय में काफी स्वतन्त्रता थी, लेकिन युद्ध की प्रगति के साथ-साथ इस स्वतन्त्रता में निरन्तर कमी होती रही अन्त में एक ऐसी स्थिति आगई जबकि रिजर्व बैंक से अनुमति लेकर ही बैंक कुछ लाइसेन्स प्राप्त आयातों तथा वैयक्तिक विप्रेषों (Remittances) के लिये ही विदेशी विनिमय बेच सकते थे। परिणाम यह हुआ कि देश के आयातों पर बहुत कड़ा प्रतिबन्ध लगाया गया। स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर के देशों (अर्थात् दुर्लभ मुद्रा देशों से) कोई भी माल बिना लाइसेन्स नहीं मँगाया जा सकता था। इस नियन्त्रण के दो मुख्य उद्देश्य थे—(i) विदेशी व्यापार के असन्तुलन पर रोक लगाना और (ii) युद्ध कार्यों अथवा नागरिक आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आयातों को प्राथमिकता देना।

(२) निर्यात नियन्त्रण—यह भी आवश्यक समझा गया कि स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर के देशों को जाने वाली वस्तुओं के निर्यात पर भी प्रतिबन्ध होना चाहिये अतः रिजर्व बैंक ने एक निर्यात नियन्त्रण योजना भी लागू की, जिससे निर्यात की जाने वाली वस्तुओं का मूल्य विदेशों मे न रहे वरन् भारत में आ जाय और निर्यातों का भुगतान एक ऐसी रीति से हो जिससे उनका अधिक से अधिक मूल्य मिल सके। अमरीका को वस्तुयें निर्यात करके भारत जो भी मूल्य प्राप्त करता था उसे वह ब्रिटिश सरकार को दे दिया करता था। ब्रिटिश सरकार इसे साम्राज्य डालर कोष मे रखकर उसका उपयोग युद्ध सम्बन्धी सामग्री को खरीदने मे किया करती थी।

(३) अन्य नियन्त्रण—विदेशी विनिमय के नियन्त्रण की नीति को सफल बनाने के लिये कुछ अन्य नियन्त्रण और प्रतिबन्ध भी लगाये गये जो कि इस प्रकार है—(i) मुद्रा आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध—नवम्बर सन् १९४० से किसी भी प्रकार की भारतीय मुद्रा को रिजर्व बैंक के लाइसेन्स के बिना निर्यात करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया ताकि भारतीय मुद्रा को चलन से निकालकर बाहर न बेचा जा सके। सितम्बर १९४२ से भारतीय मुद्रा व कुछ अन्य मुद्राओं को छोड़ कर शेष सब मुद्राओं के आयात पर भी रोक लगा दी गई। इन प्रतिबन्धों का उद्देश्य शत्रु राष्ट्रों द्वारा चलाई गई पत्र मुद्रा को रोकना और अपनी मुद्रा का प्रयोग शत्रु राष्ट्रों को न

देने का था। (ii) विदेशी मुद्रा में भुगतान पर प्रतिबन्ध—अक्टूबर सन् १६४१ से लगा दिया गया, ताकि जो कम्पनियां अपने लाभ भारत से स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर भेजना चाहें वे रिजर्व बैंक से लाइसेन्स लेकर ही ऐसा कर सकें। (iii) भारतीय बैंकों में शत्रु राष्ट्रों की जमा के भुगतान पर भी प्रतिबन्ध (कुछ विशेष कार्यों के अतिरिक्त) रिजर्व बैंक ने लगा दिया। (iv) स्वर्ण का आयात-निर्यात भी केवल लाइसेन्स लेकर ही किया जा सकता था, और (v) प्रतिभूतियों के निर्यात पर रोक यह लगाई गई कि केवल वही व्यक्ति इनका निर्यात कर सकते थे जो कि लाइसन्स रखते हों और साथ ही यह शर्त भी रखी गई कि विदेशी विनिमय का धन भारतीय बैंक की विदेशी शाखा में जमा कराया जाय।

शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था के विकास में विनिमय नियन्त्रणों का योगदान

युद्ध समाप्त होने पर सन् १६४७ में एक विनिमय नियन्त्रण विधान पास किया गया। इसके कार्यान्वित होने पर भारतीय सुरक्षा विधान के अन्तर्गत बने नियमों का अन्त हो गया, किन्तु विनिमय नियन्त्रण का काम रिजर्व बैंक को पूर्णतः सौंप दिया गया।

रिजर्व बैंक द्वारा अपनाई गई नीति का उद्देश्य अब भी यह है कि देश के निर्यातों से प्राप्त विदेशी मुद्रा का अपव्यय नहीं होना चाहिये वरन् इसका अति आवश्यक आयातों के मूल्य-भुगतान में सदुपयोग होना चाहिये। अतः विदेशी विनिमय के सब सौदे या तो रिजर्व बैंक अथवा इसकी आज्ञा-प्राप्त बैंकों द्वारा किये जाते हैं। यह नियन्त्रण केवल साम्राज्य से बाहर वाले देशों तक ही सीमित है। नियन्त्रण सम्बन्धी कुछ अन्य बातें इस प्रकार हैं—

(i) रिजर्व बैंक का परमिट दिखा कर ही विदेशी मुद्रा खरीदी जा सकती है।

(ii) स्टर्लिंग क्षेत्र के व्यक्तियों को रिजर्व बैंक से ये परमिट नहीं लेने पड़ते। वे अपनी आय में से १५० पौंड प्रति माह अपने कुटुम्ब के व्यय के लिये भेज सकते हैं।

(iii) इस विधान का मुख्य उद्देश्य भारतीय स्वर्ण का निर्यात, विदेशों से भारत में आने वाली पूंजी व इसका भुगतान एवं विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय आदि को नियन्त्रित करना है।

(iv) भारत में रहने वाले विदेशी एक उचित मात्रा तक ही मुद्रा अपने देश को भेज सकते हैं जैसे बीमे के प्रीमियम, बालकों की शिक्षा तथा पारिवारिक व्ययों के लिये।

(v) यदि कोई भारतीय फर्म किसी विदेशी व्यक्ति की सेवायें प्राप्त करना चाहती है, तो इसे पहले रिजर्व बैंक से आज्ञा लेनी पड़ती है।

(vi) हिस्सों व प्रतिभूतियों का डिविडेन्ड, जमा व ऋणों का ब्याज व विदेशी मुद्रा में दी जाने वाली बीमा की प्रीमियम आदि को स्वतन्त्रता से भेजा जा सकता है बशर्ते भेजने वाला व्यक्ति इन हिस्सों आदि का स्वामी हो।

(vii) जब कोई विदेशी अपने देश को लौटता है, तो वह अपने वेतन की बचत, प्रोवीडेन्ट फण्ड एवं अपनी निजी सम्पत्ति का विक्रय धन अपनी स्वयं की मुद्रा में ५००० पौंड तक ले जा सकता है।

(viii) आयात-कर्त्ता विदेशों से मंगाई हुई वस्तुओं का भुगतान स्वतन्त्रता-पूर्वक कर सकता है लेकिन उसके पास आयात-लाइसेन्स होना चाहिये।

(ix) भारत मे स्थिति विदेशी व्यापारिक संस्थायें अपने लाभ को प्रधान कार्यालय को भेज सकती हैं।

(x) पूंजी, कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़ कर, स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर नही भेजी जा सकती।

परीक्षा प्रश्न

(१) विदेशी विनिमय दर के नियन्त्रण से क्या आशय है? इस नियन्त्रण के क्या ढंग हैं?

(२) विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य और पद्धतियाँ समझाइये।

(३) द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने के बाद से रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने किन उद्देश्यों से एवं किन विधियो द्वारा विनिमय नियन्त्रण किया है? यह भारत की शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था के निर्माण में किस प्रकार सहायक हो सकता है।

चतुर्थ खण्ड

साख एवं साख-पत्र

(CREDIT & CREDIT INSTRUMENTS)

"साख से अभिप्राय उस विश्वास का लिया जाता है, जो किसी मनुष्य की नीयत और आर्थिक क्षमता में होता है और जिसके कारण उसे अन्य व्यक्तियों की बहुमूल्य वस्तुयें सरलता से प्राप्त हो जाती हैं।"

—टोमस

The Great Economists & Their Words

(1) **Gide** :—"It (credit) is an exchange which is complete after the expiry of a certain period of time after payment."

(2) **Willis** :—"A negotiable instrument is one the property in which is aquired by every person who takes it bonafide and for value, notwithstanding any defect of litle in the person from whom he took it."

(3) **Indian Negotiable Instruments Act** :—"A promissory note is an instrument in writing (not being a bank note or a currency note) containing an unconditional undertaking, signed by the maker, to pay a certain sum of money only to, or to the order of, a certain person."

(4) **Indian Negotiable Instruments Act** :—"A bill of exchange is an instrument in writing containing an unconditional order, signed by the maker, directing a certain person or to the bearer of the instrument."

अध्याय १.

साख एवं साख-पत्र
(Credit & Credit Instruments)

प्रारम्भिक

यदि हम सभ्यता के इतिहास को पढ़ें, तो हमें ज्ञात होगा कि विनिमय का प्रारम्भ इसकी एक अविस्मरणीय घटना है। इससे पूर्व, जबकि मनुष्य की आवश्यकतायें थोड़ी और सरल हुआ करती थीं, मनुष्य के लिये अपने ही साधनों से अपनी समस्त आवश्यकतायें पूर्ण कर लेना संभव था। लेकिन जब आवश्यकतायें बढ़ गई और अपने स्वल्प साधनों से मनुष्य के लिये इन्हें पूरा करना कठिन हो गया, तो उसने विनिमय और श्रम विभाजन की युक्तियाँ अपनाईं। श्रम विभाजन के अन्तर्गत प्रत्येक मनुष्य अपनी योग्यतानुसार कुछ वस्तुओं का उत्पादन करता है। अन्य वस्तुओं के लिये वह दूसरों पर निर्भर रहता है। प्रारम्भ में वह अपनी फालतू वस्तुयें दूसरों को देकर उनसे अपनी अन्य आवश्यक वस्तुयें प्राप्त करता था। विनिमय का यह प्रारम्भिक रूप 'अदल-बदल' कहलाया। जब इसमें कठिनाइयाँ अनुभव हुई, तो द्रव्य का आविष्कार हुआ और फिर द्रव्य के द्वारा वस्तुओं का क्रय-विक्रय होने लगा। विनिमय का यह स्वरूप द्रव्य विनिमय कहलाया। आज श्रम-विभाजन इतना सूक्ष्म हो गया है तथा हमारी आवश्यकतायें इतनी बढ़ चुकी हैं कि विनिमय के बिना हम उनकी पूर्ति की कल्पना भी नहीं कर सकते।

आजकल द्रव्य का ही बोलबाला है। इसके द्वारा आप प्रत्येक वस्तु एवं सेवा खरीद सकते हैं। एक विद्वान के शब्दों में "यदि आपके पास एक रुपया है, तो आप इस सीमा तक बादशाह हैं" अर्थात् एक रुपये तक आप मनमानी वस्तु खरीद सकते हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि यदि आपके पास द्रव्य नहीं है अथवा कम है, और, आप कोई कीमती वस्तु खरीदना चाहते हैं, तो आप क्या करेंगे ? यदि यह वस्तु आपको प्राप्त न हुई, तो आप अपनी आवश्यकता पूर्ण नहीं कर सकेंगे। यदि आप व्यापारी हैं और आपको दुकान पर बेचने के लिए माल चाहिये किन्तु माल लाने के लिए पैसा नहीं है, तो क्या आप हाथ पर हाथ धरे बैठे रहेंगे ? यदि माल नहीं मिला, तो आपको दुकान बढ़ा देनी होगी, व्यापार बन्द कर देना पड़ेगा। यदि आप उद्योगपति हैं और कच्चा माल खरीदने के लिये आपके पास द्रव्य नहीं है, तो क्या आप कारखाने को बन्द करने के लिये विवश नहीं हो जायेंगे।

निसंदेह वर्तमान युग में द्रव्य के अभाव में आपको अपनी आवश्यकता को असंतुष्ट छोड़ना पड़ता, व्यापार बन्द करना पड़ता, कारखाने में ताला लगा देना होता यदि सौभाग्य से 'साख' के रूप में एक अनुपम सुविधा सुलभ नहीं होती। साख का अभिप्राय है उधार सौदा करना। जो व्यक्ति अपनी ईमानदारी के लिये विख्यात है जिनकी आर्थिक अवस्था अच्छी है तथा जो नियत समय पर भुगतान करने का आश्वा-

सन देते हैं, उन्हें माल बिना द्रव्य भी मिल सकता है। जब माल इस वायदे पर खरीदा-बेचा जाता है कि इसके मूल्य का भुगतान कुछ समय पश्चात् किया जायेगा, तो ऐसे उधार माल देने को 'साख पर माल बेचना' कहते हैं।

स्पष्ट है कि इस द्रव्य-युग में दो तरह से क्रय-विक्रय किया जा सकता है—नगद रुपये के आधार पर और साख या उधार के आधार पर। जब नगद रुपये दिये जाते हैं, तो सौदा तत्काल ही समाप्त हो जाता है और इसमें न माल के खरीददार को कोई असुविधा होती है न माल के विक्रेता को। परन्तु, जैसा कि ऊपर बता चुके हैं, द्रव्य के अभाव में अथवा अन्य कारणों से भी (जैसा नगद रुपये लाने ले जाने, गिनने-गिनाने म कठिनाई होने के कारण) उधार के आधार पर भी क्रय-विक्रय किया जाता है। ऐसी दशा में सौदा तत्काल ही समाप्त नहीं होता, पहले सौदा तय होता है, माल क्रेता को दे दिया जाता है परन्तु भुगतान उस समय नहीं किया जाता वरन् भविष्य के लिये स्थगित कर दिया जाता है। प्रायः क्रेता को इतनी मोहलत मिल जाती है कि वह खरीदे हुये माल को लाभ सहित बेचकर रुपया खड़ा कर ले और फिर अपने वायदे के अनुसार अपने विक्रेता को उसका मूल्य चुका दे। इस प्रकार, साख एक महत्वपूर्ण सुविधा है। यह इतनी ही महत्वपूर्ण है, जितना कि स्वयं द्रव्य। यदि द्रव्य रखने वाले बाजार से मनचाही वस्तु खरीद सकते हैं, तो अच्छी साख रखने वाले व्यक्ति भी अपनी इच्छित वस्तु बाजार से मोल ले सकते हैं। द्रव्य के बारे में आप इस पुस्तक के प्रथम खण्ड के बारे में पढ़ चुके हैं, प्रस्तुत खण्ड में साख के बारे में आपको समुचित जानकारी दी जायेगी।

साख की परिभाषा

साख क्या है? साख के कई अर्थ समाज में प्रचलित हैं। आर्थिक दृष्टिकोण से साख का अर्थ है भविष्य म भुगतान करने के आश्वासन पर वस्तुयें अथवा सेवायें प्राप्त करना। संक्षेप मे उधार लना-देना ही 'साख' कहलाता है व्यापारिक दृष्टिकोण से 'साख' का अभिप्राय किसी व्यक्ति या संस्था की बाजार मे प्रतिष्ठा (Goodwill) से होता है। उदाहरण के लिये जब हम कहते हैं कि बाजार में अमुक व्यक्ति की अच्छी 'साख' है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि उस व्यक्ति की बाजार में बहुत प्रतिष्ठा है। ऐसे व्यक्तियों को बाजार मे सरलता से माल उधार मिल जाता है। बही-खाते के दृष्टिकोण से साख का तात्पर्य खाते की क्रेडिट साइड से होता है। यह उल्लेखनीय है कि 'बैंकिंग' विषय के अन्तर्गत 'साख' की आर्थिक परिभाषा ही मान्य है। अर्थशास्त्र के विद्वानों द्वारा दी गई कुछ परिभाषायें निम्नलिखित हैं :—

(१) **जीड (Gide)**—"साख एक ऐसा विनिमय कार्य है जो कुछ समय बाद भुगतान करने पर पूरा हो जाता है।"[1]

(२) **टामस (Thomas)**—"साख मे अभिप्राय उस विश्वास का है, जो किसी मनुष्य की नीयत और आर्थिक सक्षमता से होता है और जिसके कारण उसे अन्य व्यक्तियों की बहुमूल्य वस्तुयें सरलता से प्राप्त हो जाती हैं।"[2]

---

1. "It is an exchange which is complete after the expiry of a certain period of time after payment."
2. The term credit is now applied to that belief in a man's probity and slovency which will permit of his being entrusted something of value belonging to another whether that something consists of money, goods, service or even credit itself."

साख के प्रमुख तत्व

किसी सौदे को 'साख' का सौदा तब कहेंगे जब उसमें नीचे दी हुई विशेषतायें मौजूद हों अथवा यह कहिये कि साख का होना या न होना निम्न तत्वों की उपस्थिति या अनुपस्थिति पर निर्भर है :—

साख के मुख्य ६ तत्व

(१) विश्वास (Confidence)।
(२) सामर्थ्य (Capacity)।
(३) चरित्र (Character)।
(४) ऋणी की पूँजी व सम्पत्तियाँ।
(५) ऋण की रकम।
(६) साख की अवधि।

(१) विश्वास—साख का मुख्य आधार विश्वास है, क्योंकि यदि किसी व्यक्ति को यह विश्वास नही है कि ऋण की राशि लौटा दी जायेगी, तो वह ऋण देने का विचार भी नही करेगा। वास्तव मे विश्वास ही साख का मूल्य तत्व है। अन्य बातें तो उसमें दृढ़ता उत्पन्न करती हैं।

(२) सामर्थ्य—किसी व्यक्ति में विश्वास उत्पन्न होने के लिए यह आवश्यक है कि उसमे अपने व्यवसाय को सफल बनाने की सामर्थ्य हो। शिक्षा और अनुभव ऋणी की सामर्थ्य पर प्रभाव डालते है।

(३) चरित्र—यदि उधार लेने के इच्छुक व्यक्ति का चरित्र सामान्यत: निष्कलंक है और अपनी सच्चाई के लिये वह प्रसिद्ध है, तो उसकी साख अधिक होती है।

(४) ऋणी की पूँजी एवं सम्पत्तियाँ—साख देने का मुख्य साधन बैंक है, जो पहले यह देख लेता है कि ऋणी के पास उपयुक्त जमानत है या नही। यदि ऋणी के पास अधिक पूँजी व सम्पत्तियाँ हैं, तो वह अधिक ऋण प्राप्त कर सकता है।

(५) ऋण की रकम—साख इस बात पर भी निर्भर होती है कि कितनी रकम का आदान-प्रदान होना है। प्राय: बड़ी रकमें कठिनता से उधार मिलती हैं जब कि छोटी रकमों के ऋण सरलता से मिलते हैं।

(६) साख की अवधि—समय परिवर्तनशील है। जो आज धनाढ्य है वह कल भिखारी बन सकता है। अत: लम्बी अवधि के लिये ऋण देने मे जोखिम अधिक होती है, क्योंकि इस बीच ऋणी की आर्थिक अवस्था बिगडने से रकम डूब सकती है। अल्प अवधि के ऋणों में इतनी जोखिम नहीं होती। अत: साख देने वाला अन्य बातों के साथ-साथ इस बात पर भी ध्यान देता है कि ऋण कितनी अवधि के लिये माँगा जा रहा है।

साख का वर्गीकरण

साख का वर्गीकरण करते समय साख के प्रयोग, साख लेने देने वालों की स्थिति ऋण का मूल्य, अवधि आदि बातों को ध्यान में रखा जाता है। विभिन्न दृष्टियों से साख के निम्न भेद किये जा सकते हैं :—

(१) व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक साख

सरकार द्वारा लिये गये ऋण 'सार्वजनिक साख' के अन्तर्गत आते हैं जबकि व्यक्तियों एवं संस्थाओं द्वारा लिये गये ऋण 'व्यक्तिगत साख' की श्रेणी में आते हैं।

(२) व्यापारिक एवं औद्योगिक साख

जब कोई व्यक्ति माल का उत्पादन करने अथवा माल का व्यापार (क्रय-विक्रय) करने की योजना बनाता है, तो उसे प्रायः बहुत विशाल मात्रा में पूंजी की आवश्यकता पड़ती है। एक साधारण व्यापारी की तुलना में एक निर्माणकर्ता को अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है, भूमि, भवन, मशीनों व अन्य स्थायी सम्पत्तियों के लिये दीर्घकालीन एवं अधिक मात्रा में पूंजी की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिये जो ऋण लिये जाते हैं, उन्हें 'औद्योगिक साख' अथवा 'विनियोजन साख' की श्रेणी में सम्मिलित किया जाता है। यह साख बड़े-बड़े पूंजीपतियों, विनियोग गृहों (Investment Houses), सरकार द्वारा स्थापित विशेष अर्थ-संस्थाओं (जैसे औद्योगिक वित्त निगम) आदि से मिलती है।

किन्तु विनियोग के लिये साख मिलने से ही आवश्यकताओं का अन्त नहीं हो जाता। दैनिक व्यापारिक कार्यों के लिये भी कुछ पूंजी की आवश्यकता पड़ती है। जैसे, कच्ची सामग्री खरीदने, श्रमिकों को मजदूरी देने, विज्ञापन व अन्य व्यय चुकाने के लिये पूंजी आवश्यक होती है। यह पूंजी औद्योगिक पूंजी की अपेक्षा कम मात्रा में तथा अल्प अवधि के लिये आवश्यक है। इसके लिये जो ऋण प्राप्त किये जाते हैं उन्हें 'व्यापारिक साख' कहते हैं। प्रायः १ माह से लेकर १ वर्ष तक की अवधि के लिये व्यापारिक साख ली जाती है और यह व्यापारिक बैंकों व महाजनों से मिल सकती है।

स्पष्ट है कि व्यापारिक साख का सम्बन्ध अल्पकालीन ऋणों से होता है जबकि औद्योगिक साख का सम्बन्ध दीर्घकालीन ऋणों से।

(३) बैंक साख तथा अन्य साख

'बैंक साख' से अभिप्राय उस साख का है जो कि बैंकिंग संस्थायें दिया करती हैं जबकि अन्य साख के अन्तर्गत उन सब साख को कहते हैं या सम्मिलित करते हैं जो सरकार, व्यक्ति एवं अन्य संस्थायें देती हैं। ऋण देने के लिये बैंक विभिन्न साख-पत्रों का प्रयोग करते हैं। अपने पास जमा धन के आधार पर बैंक ग्राहकों को यह अधिकार देते हैं कि वे साख-पत्र लिखकर बैंक से ऋण ले लें। प्रायः बैंक उत्पादक कार्यों के लिये ही साख प्रदान करते हैं।

(४) उपभोग साख एवं उत्पादन साख

उपभोग साख वह है, जो उपभोग सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दी जाती है। इसके विपरीत, जो ऋण उत्पादक कार्यों के लिए दिये जाते हैं, उन्हें 'उत्पादन साख' के अन्तर्गत गिना जाता है। उपभोग साख और उत्पादन साख में एक विशेष अन्तर यह है कि उपभोग साख के अन्तर्गत ऋणी को कोई आय नहीं होती है, जिससे उसे मूलधन एवं ब्याज के भुगतान की व्यवस्था अपनी अन्य आय में से करनी पड़ती है। लेकिन, उत्पादन साख से ऋणी को आय प्राप्त होती है और वह इस आय में से ही मूलधन एवं ब्याज के भुगतान की व्यवस्था कर सकता है।

इस प्रकार, उपभोग साख की अदायगी एक कठिन समस्या होती है जबकि उत्पादन साख के बारे में ऐसा नहीं है। दूसरे, उत्पादन-साख प्रायः बड़ी मात्रा में आवश्यक होती है। इससे इसे एक या दो व्यक्ति नहीं जुटा पाते। अतः उत्पादकगण यह साख प्रायः अनेक व्यक्तियों, फर्मों, कम्पनियों, बैंकों, वित्त निगमों और यहाँ तक कि सरकार से भी लेते हैं। इसके विपरीत, उपभोग-साख थोड़ी मात्रा मे आवश्यक होती है और इसका प्रबन्ध एक दो व्यक्तियों से ऋण लेकर किया जा सकता है। तीसरे, उत्पादन साख की तुलना में उपभोग साख पर ब्याज अधिक देना पड़ता है।

एक उदाहरण देकर 'उत्पादन साख' एवं 'उपभोग साख' के अन्तर को स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिये कि एक किसान ने ४०० रु० किसी महाजन से बैल खरीदने के लिये उधार लिया। यह 'उत्पादन साख' है। बैलों की सहायता से वह अधिक फसल पैदा कर सकेगा और उसे अधिक आय होगी, जिसमें से वह धीरे-धीरे मूलधन एवं ब्याज दोनों ही चुका सकता है। इसके विपरीत, यदि वह ४०० रु० विवाहोत्सव पर व्यय करने के लिये उधार ले, तो यह 'उपभोग साख' है। इससे उसकी आय में कोई वृद्धि न होगी तथा मूलधन और ब्याज की अदायगी के लिये उसे वर्तमान फसल में से ही व्यवस्था करनी होगी, जो कि एक कठिन बात है।

साख और पूँजी

क्या साख पूँजी है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये हमें 'पूँजी' शब्द का अर्थ समझना जरूरी है। पूँजी वह धन है जो अधिक धन उत्पन्न करने में सहायक होता है। कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि चूँकि साख भी अधिक धन का उत्पादन करने में सहायक होती है, इसलिये यह 'पूँजी' है। इसके विपरीत, अन्य अर्थशास्त्रियों का मत है कि साख को पूँजी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि साख-पत्र स्वयं धन नहीं होते, वरन् धन दिलाने के अधिकार मात्र है। जब साख 'धन' ही नहीं, तो उसके पूँजी होने या न होने का प्रश्न उठाना ही व्यर्थ है।

निस्सन्देह साख-पत्रों को हम धन नहीं कह सकते। यदि आपके पास एक सौ रुपये का चैक है और इसे देकर मोहन का ऋण चुकता करना चाहते है, तो आप मोहन को चैक स्वीकार करने के लिये बाध्य नहीं कर सकते। इसके विपरीत यदि आपके पास १०० रु० का नोट हो, तो इसे ऋण के भुगतान मे लेने के हेतु आप मोहन को विवश कर सकते है। इसके अतिरिक्त, धन देकर बाजार से आवश्यक वस्तुओं का क्रय किया जा सकता है। यदि क्रय करने पर भुगतान नगद मुद्रा में किया गया है, तो सौदा वहीं समाप्त हो जाता है। लेकिन यदि क्रय करते समय कोई साख-पत्र (जैसे चैक या प्रोनोट) दिया गया है, तो सौदा तत्काल ही समाप्त नहीं होता, क्योंकि यहाँ धन का भुगतान नहीं किया गया वरन् स्थगित रखा गया है। जब साख-पत्र की रकम मुद्रा में चुक जावेगी, तब ही क्रय का सौदा समाप्त होगा। इस प्रकार, साख-पत्र की उपयोगिता धन का भुगतान स्थगित कराने में है।

एक अन्य तरीके से भी साख-पत्रों की उपयोगिता पर प्रकाश डाला जा सकता है। जब किसी व्यापारी को अधिक पूँजी की आवश्यकता है और यह उसके पास नहीं है, तो वह साख-पत्र के आधार पर इसे उन लोगों से प्राप्त कर सकता है, जिनके पास वह निष्क्रिय पड़ी हुई है। साख पर पूँजी लेकर वह अपना व्यवसाय बढ़ा सकता है और लाभ कमा सकता है तथा बाद में सुविधानुसार साख-पत्र का भुगतान कर सकता है। इस प्रकार, साख के आधार पर एक व्यक्ति की पूँजी दूसरे व्यक्ति को, जो इसे अधिक लाभ सहित प्रयोग कर सकता है, मिल जाती है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि साख पूंजी नहीं है वरन् वह धन के भुगतान को स्थगित रख कर तथा पूंजी के हस्तांतरण को संभव बनाकर, पूंजी की लाभदायकता में वृद्धि कर देती है।

साख और मूल्य

मिल (Mill) के मतानुसार साख के प्रसार और संकुचन का वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्यों पर उसी प्रकार प्रभाव पड़ता है जिस प्रकार मुद्रा के प्रसार और संकुचन का पड़ता है, क्योंकि साख-पत्रों में मुद्रा की भाँति ही क्रय-शक्ति होती है। किन्तु वॉकर (Walker) के मत में साख का वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य पर कोई असर नहीं पड़ता, क्योंकि बिक्री की पूर्ति के लिये अन्ततः भुगतान नगद करना पड़ता है। वास्तविकता इन दोनों मतों के बीच में है। बैंक साख देते समय कुछ नगद कोष अपने पास रख लेते हैं ताकि अपने दायित्वों को पूरा कर सकें। इस प्रकार साख के प्रसार से वस्तुओं के मूल्यों में उतनी वृद्धि नहीं होने पाती, जितनी तब होती जबकि कोई नगद कोष न रखा जाता। अन्य शब्दों में, वस्तुओं के मूल्य पर साख के प्रसार का उतना प्रभाव नहीं होता जितना कि मुद्रा के प्रसार का, किन्तु प्रभाव होता अवश्य है।

साख की सीमायें

साख के अनेक लाभ हैं और व्यावहारिक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति साख लेता है। विशेषत. व्यापारियों और उत्पादकों को नित्य प्रति इससे काम पड़ता है। किन्तु साख देने की भी सीमा है। यह सीमा अनेक बातों पर निर्भर है, जिनका अध्ययन हम निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं :—(i) साख लेने वाले व्यक्ति से सम्बन्धित बातें, (ii) साख देने वाले व्यक्ति के सम्बन्ध में बातें, तथा (iii) देश की *सामान्य परिस्थितियाँ।*

(I) साख लेने वाले व्यक्ति से सम्बन्धित बातें

साख लेने वाले व्यक्ति से सम्बन्धित निम्न बातें साख की सीमा को प्रभावित करती हैं :—

(१) साख लेने वाले का चरित्र (Character)—यदि साख लेने वाले का चरित्र अच्छा है, और उसने समय पर अपने ऋण चुकाने में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है, तो उसे *कोई भी व्यक्ति साख देने में हिचकिचाहट अनुभव नहीं करेगा।* इसके विपरीत, जो व्यक्ति ईमानदार नहीं है, ऋण सम्बन्धी शर्तों को तोड़ते रहते हैं, ऐसे व्यक्तियों को साख मिलना कठिन होता है और यदि वह मिलती भी है तो कम मात्रा में अथवा अधिक ब्याज पर।

(२) साख लेने वाले की अपनी पूंजी (Capital)—प्रायः बैंक उसी व्यक्ति को अधिक साख देते हैं जिसके पास पूंजी की मात्रा अधिक होती है।

(३) साख के सम्बन्ध में दी जाने वाली प्रतिभूति (Security)—यदि साख माँगने वाला व्यक्ति मूल्यवान और बाजार में सरलता से बिकने योग्य प्रतिभूति दे सकता है, तो उसे साख अधिक मात्रा में व सरलता से मिल जाती है। उदाहरण के लिये, बैंक *अचल सम्पत्ति पर ऋण देने में संकोच करते हैं किन्तु शेयर, डिबेन्चर, स्टॉक,* बान्ड आदि पर तत्काल रुपया दे देती हैं।

(४) **साख लेने वाले की सामर्थ्य (Capacity)**—साख देने वाला न केवल साख लेने वाले के चरित्र, उसकी पूँजी और उसके द्वारा दी जाने वाली प्रतिभूति को देखता है वरन् वह अपने अनुभव से तथा बाजार मे स्थापित ख्याति के आधार पर साख लेने वाले की सामर्थ्य का अनुमान लगाता है। यदि साख लेने वाला व्यक्ति समय पर अनेक साधनों से रुपया एकत्र करके भुगतान कर सकता है, तो उसकी वर्तमान अवस्था अधिक तरल (Liquid) न होते हुए भी उसे पर्याप्त मात्रा में साख मिल सकती है।

(II) साख देने वाले से सम्बन्धित बातें

साख देने वाले से सम्बन्धित निम्न बातें भी साख की मात्रा को प्रभावित करती हैं :—

(१) **साख देने वालों की पूँजी**—जिन लोगों के पास अधिक बचत होती है वे अधिक साख दे सकते है। औद्योगिक देशों मे जीवन-स्तर बहुत ऊँचा होता है। वहाँ के निवासी अपने धन का अधिक विनियोग कर सकते हैं। अत. इन देशों में साख देने की क्षमता बहुत होती है। लेकिन अर्ध-विकसित देशों मे जीवन-स्तर अति निम्न कोटि का होता है, लोगो के पास कुछ बचता नही है और यदि बचता भी है तो कम। अत: वे अधिक विनियोग नहीं कर सकते।

(२) **आय की दर (Rate of Return)**—यदि किसी विशेष व्यक्ति, फर्म या उद्योग को साख देने से अच्छी आय हो सकती है, तो साख देने वाले अधिक साख देने के लिये प्रोत्साहित होते हैं।

(III) देश की सामान्य परिस्थितियाँ

देश की निम्न परिस्थितियाँ भी साख के लेन-देन को प्रभावित करती हैं :—

(१) **व्यापार की दशा**—तेजी या व्यापारिक समृद्धि के काल में व्यापारी अधिक रुपया उधार लेकर व्यापार-व्यवसाय में लगाते हैं और बैंक व पूँजीपति भी अधिक उधार देने लगते है क्योंकि दोनों पक्षों को अधिक लाभ होने की सम्भावना रहती है लेकिन मन्दी के काल में कम रुपया उधार लिया-दिया जाता है, क्योंकि जोखिम अधिक और लाभ कम होता है।

(२) **राजनैतिक दशा**—राजनैतिक शान्ति के समय व्यापार उद्योग की बहुत वृद्धि होती है जिससे साख का बहुत विस्तार होता है लेकिन राजनैतिक अशान्ति के समय व्यापार उद्योग घटने लगते हैं जिससे साख का प्रसार नहीं होने पाता।

(३) **सट्टा बाजार की दशा**—जब सटोरिये भविष्य में मूल्य बढ़ने की आशा करते हैं, तो व्यापारियो द्वारा नये-नये सौदे खरीदे जाते है, जिससे ऋणों की माँग बढ़ जाती है। किन्तु, मूल्य गिरने की आशंका होने पर ऋणो की माँग हो जाती है।

(४) **केन्द्रीय बैंक नीति**—जब केन्द्रीय बैंक 'सस्ती मुद्रा नीति' (Cheap Money Policy) अपनाता है, अर्थात् बैंक दर नीची रखता है तो ब्याज कम होने से लोग अधिक ऋण लेते है, जिससे देश में साख की वृद्धि होती है। लेकिन जब वह 'मँहगी मुद्रा नीति' (Dear Money Policy) अपनाता है अर्थात् बैंक दर ऊँची

रखता है तो ब्याज अधिक होने से लोग कम ऋण लेते हैं जिससे देश में साख का संकुचन होने लगता है।

(५) **बैंकिंग प्रणाली का विकास**—बैंक साख-सृजन के प्रमुख साधन हैं। अतः जिस देश में बैंकिंग प्रणाली सुव्यवस्थित होगी वहाँ साख का अधिक प्रसार होगा और जिस देश मे बैंकिंग प्रणाली अव्यवस्थित होगी वहाँ साख का प्रसार कम होगा।

(६) **साख मुद्रा के प्रयोग की आदत**—भारत जैसे देश में लोगो को नगद मुद्रा के प्रयोग की बहुत आदत है अतः वहाँ साख मुद्रा का प्रसार भी कम हुआ है। लेकिन इंगलैंड जैसे देश में लोगो को साख मुद्रा के प्रयोग की बहुत आदत पड़ गई है, अतः वहाँ साख मुद्रा का प्रसार भी अधिक है।

परीक्षा प्रश्न

(१) 'साख' शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिये और इसके मुख्य तत्वों पर प्रकाश डालिये।

(२) साख और पूंजी में क्या अन्तर है? साख का मूल्य स्तर पर क्या प्रभाव पड़ता है?

(३) क्या साख द्वारा पूंजी का निर्माण होता है?

(४) साख का वर्गीकरण करिये।

(५) उत्पादन साख और उपभोग साख से आप क्या समझते हैं? दोनों का अन्तर स्पष्ट कीजिये।

(६) साख की क्या सीमायें हैं?

२.

साख का महत्व

(लाभ एवं हानियां)

[Importance of Credit]

प्रारम्भिक

साख के आधार पर वस्तुओं का क्रय-विक्रय किया जा सकता है। यह एक महत्वपूर्ण सुविधा है, क्योंकि हर समय पर्याप्त द्रव्य पास नही होता। इसके अतिरिक्त रुपया साथ लेकर चलने में जोखिम रहती है तथा गिनने व परखने में असुविधा भी होती है। किन्तु साख के कारण ये सभी कठिनाइयाँ बच जाती हैं। आधुनिक युग में साख का महत्व बहुत बढ़ गया है। यदि इसे 'व्यापार व्यवसाय की आत्मा' कहें, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है। यदि हम साख के लाभ-हानियों का विवेचन करें, तो साख का महत्व भली प्रकार स्पष्ट हो जायेगा।

साख से लाभ

डेनियल वैब्सटर (Daniel Webster) ने लिखा है कि "राष्ट्रों को समृद्ध बनाने में विश्व की सब खानों (mines) ने जो सहयोग दिया है, उससे हजार गुना योग साख (credit) ने दिया है" साख से मुख्य लाभ निम्न हैं :—

(१) धातु की मुद्रा के प्रयोग में बचत—साख के कारण साख-पत्रों की उत्पत्ति हुई। ये साख पत्र धातु मुद्रा के स्थान में कार्य करते हैं, जिससे धातु की घिसाई बचती है और धातु के लाने व ढालने का खर्च भी बच जाता है। जब धातु की कमी के कारण अधिक मुद्रा न निकाली जा सकती हो, तो साख-पत्रों के प्रसार द्वारा उस अभाव को पूरा किया जा सकता है।

(२) पूंजी का सुविधा से हस्तान्तरण—एक स्थान से दूसरे स्थान को अथवा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को रुपया हस्तांतरित करने में साख-पत्रों के प्रयोग से बड़ी सुविधा हो जाती है, क्योंकि रकम की गिनने व परखने की मेहनत व समय बच जाता है, और मंगाने व भेजने में खर्च भी कम पड़ता है।

(३) व्यापार को प्रोत्साहन—जब कोई व्यापारी एक निश्चित समय के लिये उधार पर माल बेचता है, तो वह ऋणी पर एक साख-पत्र (जैसे बिल) जारी कर देता है और उसे भुनाकर निश्चित समय के पूर्व ही रुपया प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार साख के कारण ग्राहकों को उधार माल मिल जाता है और साथ ही व्यापारी

का कार्य भी रुपयों के प्रभाव से नहीं रुकने पाता। स्पष्ट ही इससे व्यापार की वृद्धि होती है।

साख का महत्व

साख से ६ लाभ :

(१) धातु की मुद्रा के प्रयोग में बचत।
(२) पूंजी का सुविधा से हस्तान्तरण।
(३) व्यापार को प्रोत्साहन।
(४) पूंजी की लाभदायकता में वृद्धि।
(५) वस्तुओं के मूल्य में स्थिरता।
(६) आर्थिक संकटों में सहायता।

साख से ४ हानियाँ :

(१) अत्यधिक प्रसार की आशंका।
(२) व्यापारिक दोषों का छिपाव।
(३) फिजूलखर्ची को प्रोत्साहन।
(४) एकाधिकारों की स्थापना।

(४) पूंजी की लाभदायकता में वृद्धि—बैंकों में विश्वास होने के कारण लोग अपना अतिरिक्त धन डिपाजिट करा देते हैं। इस प्रकार बैंको के पास विशाल कोष एकत्र हो जाता है जिसे वे व्यापारियों को उधार दे देते हैं। जो पूँजी छोटी-छोटी बचतों के रूप में जनता के पास व्यर्थ पड़ी हुई थी वह बैंकों के पास पहुँच कर अधिक उपयोगी बन जाती है, क्योंकि उसके सहारे बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे स्थापित किये जाते हैं। यह सब साख के प्रचलन के कारण ही संभव होता है।

(५) *वस्तुओं के मूल्य में स्थिरता*—जब देश में तेजी या मंदी आने की आशंका होती है, तो बैंक पहले से ही साख पर नियन्त्रण लगा देते हैं और उसकी मात्रा को कभी कम और कभी अधिक करके वस्तुओं के मूल्यों में अधिक घटा-बढ़ी नहीं होने देते।

(६) आर्थिक संकटों में सहायता—जब किसी व्यक्ति के पास धन न हो, तो वह साख पर रुपया या वस्तुयें प्राप्त कर अपनी आवश्यकतायें पूरी कर सकता है। इसी प्रकार राष्ट्रीय संकट के समय (जैसे युद्ध-काल में) देश की सरकार भी रुपया उधार लेकर ही काम चलाया करती है। भारत सरकार विदेशों से ऋण लेकर पंचवर्षीय योजनायें पूरी करने का प्रयास कर रही है। यह साख के कारण ही संभव हो सकता है।

साख से हानियाँ

साख एक निष्कलंक वरदान नहीं है। अनेक लाभों के साथ-साथ इससे कुछ हानियाँ भी हैं :—

(१ साख के अत्यधिक प्रसार का भय—अधिक लाभ कमाने के लोभ में कर्भ-कर्भ साख का अत्यधिक लेन-देन होने लगता है, व्यापारियों में सट्टेबाजी की प्रवृत्ति बढ़ जाती है और वस्तुओं की उत्पत्ति आवश्यकता से बहुत अधिक होने लगती है, जिससे देश में आर्थिक संकट उत्पन्न हो जाता है।

(२) व्यापारिक दोषों का छिपाव—व्यापार में हानि होते रहने पर भी व्यापारीगण साख की सहायता से रुपया प्राप्त कर उसे चलाते रहते हैं, जिससे लोगों को व्यापार की दुर्बलता का पता नहीं लगता। जब कोई बड़ी व्यापारिक असफलता होती है, तो लोगों को पता चलता है और साख पर रुपया देने वालों को भी हानि उठानी पड़ती है।

(३) फिजूलखर्ची को प्रोत्साहन—जब साख पर वस्तुयें और सेवायें मिलने लगती है, तो फिजूलखर्ची को प्रोत्साहन मिलता है।

(४) एकाधिकारियों की स्थापना—साख के प्रसार से देश में बड़े-बड़े उद्योग कायम हो जाते है और छोटे-छोटे पूंजोपतियों का अन्त होने लगता है क्योंकि वे उनकी प्रतिस्पर्धा मे टिक नहीं पाते। बड़े-बड़े उद्योगपति श्रमिकों का भी शोषण करते हैं।

निष्कर्ष

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अन्य सब उपयोगी और नाजुक चीजों की भांति (जैसे एटम शक्ति) साख भी हानिप्रद प्रमाणित होती है जबकि उसका दुरुपयोग होने लगता है अथवा, यों कह सकते हैं कि एक दासी के रूप में अच्छा काम करती है लेकिन एक स्वामिनी के रूप में वह बहुत हानिकारक होती है। यही कारण है कि सब देशों में वहाँ की सरकारों द्वारा साख पर उचित नियंत्रण रखा जाता है।

परीक्षा प्रश्न

(१) 'साख' शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिये और आधुनिक व्यापार में यह जो महत्वपूर्ण भूमिका रखती है उस पर प्रकाश डालिये।

(२) 'वर्तमान प्रगति साख पर ही निर्भर है' इस कथन को प्रमाणित कीजिये।

(३) 'साख के महत्व' पर एक लघु निबन्ध लिखिये।

(४) साख से समाज को क्या हानि होती है?

अध्याय ३

साख-पत्र

(प्रोनोट, बिल, चैक आदि)

[Credit Instruments]

'साख-पत्र' से आशय

जब उधार पर कोई सौदा किया जाता है, अर्थात् कोई ऋण लिया जाता है या वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है, तो इसके प्रमाण के लिये किसी न किसी प्रकार का लिखित ठहराव होना आवश्यक है। यह लिखित ठहराव ही 'साख-पत्र' कहलाता है। उदाहरण के लिये, जब कोई व्यक्ति ऋण लेता है, और २ महीने बाद रुपया लौटाने का आश्वासन देता है, तो ऋणदाता इस सौदे के साक्ष्य स्वरूप उससे प्रोनोट (प्रण-पत्र) लिखवा सकता है। इसी प्रकार, माल के उधार क्रय-विक्रय की दशा में प्राय: हुण्डी अथवा बिल लिखे जाते हैं। ये सब पत्र अथवा लिखित ठहराव जो कि उधार सौदे का आधार होते हैं, साख-पत्र कहलाते हैं। ये साख-पत्र मुद्रा की भाँति कार्य करते हैं। किन्तु कई बातों में वे इससे भिन्न भी होते हैं। प्रमुख भिन्नतायें निम्नलिखित हैं :—

(१) साख-पत्र व्यक्तियों या बैंकों द्वारा जारी किये जाते हैं जबकि मुद्रा सदैव सरकार द्वारा या सरकार के आदेश से केन्द्रीय बैंक द्वारा निकाली जाती है।

(२) साख-पत्र ऐच्छिक ग्राह्य है जबकि मुद्रा विधि ग्राह्य (Legal tender)।

(३) मुद्रा सारे देश में चलती है लेकिन साख-पत्र केवल परिचित व्यक्तियों के क्षेत्र में चलता है।

(४) साख-पत्र में मुद्रा का भुगतान करने की प्रतिज्ञा या आदेश होता है जबकि मुद्रा तो स्वयं ही मुद्रा है।

(५) साख-पत्रों में देनदारी से तब ही छुटकारा मिलता है जबकि अन्ततः उनका मुद्रा द्वारा भुगतान कर दिया जाय, लेकिन मुद्रा की दशा में जैसे ही वह एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष को हस्तांतरित की जाती है वैसे ही देनदारी से छुटकारा मिल जाता है।

भारत में प्रयोग में आने वाले प्रमुख साख-पत्र

यों तो भारतीय समाज में अनेक प्रकार के साख-पत्रों का प्रचलन है तथापि यहाँ कुछ प्रमुख साख-पत्रों पर ही प्रकाश डाला गया है। ये साख-पत्र निम्नलिखित

हैं—(i) चैक (Cheque); (ii) बिल ऑफ एक्सचेन्ज या विनिमय विपत्र (Bill of Exchange); (iii) हुण्डी (Hundi); (iv) प्रतिज्ञा-पत्र, प्रोनोट या प्रामिसरी नोट (Promissory Note); (v) ऋण-स्वीकृति (I. O. U.); (vi) बैंक ड्राफ्ट (Bank Draft) एवं (vii) सरकारी हुण्डियां (Treasury Bills)।

(I) चैक (Cheque)

चैक की परिभाषा—चैक एक शर्त रहित आज्ञा-पत्र है, जो किसी निश्चित लिखा जाता है, जिस पर लेखक के हस्ताक्षर होते हैं और जिसमें यह आदेश दिया बैंक पर जाता है कि वह मांग पर एक निश्चित धन-राशि निश्चित व्यक्ति को या उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति को अथवा चैक के वाहक को दे दे।

उपर्युक्त परिभाषा का विश्लेषण करने से चैक के निम्नलिखित आवश्यक लक्षण प्रगट होते हैं। यदि किसी पत्र में ये लक्षण न हुये, तो वह चैक नहीं कहा जा सकता :—

(१) यह एक आदेश के रूप में होता है।

(२) इसका भुगतान बिना किसी शर्त पर होना चाहिये।

(३) रुपया दिलाने की आज्ञा लिखित होनी चाहिये, मौखिक नहीं।

(४) लिखित आज्ञा किसी निश्चित बैंक पर ही होनी चाहिये।

(५) आज्ञा-पत्र पर लेखक के हस्ताक्षर होना आवश्यक है, अन्यथा बैंक इसका भुगतान नहीं करेगा।

(६) आज्ञा रुपयों की एक निश्चित रकम चुकाने के लिये होनी चाहिये।

(७) माँगने पर तुरन्त ही रुपया देने का आदेश होना आवश्यक है।

(८) चैक का भुगतान किस व्यक्ति को किया जाय इसका आज्ञा-पत्र में स्पष्ट उल्लेख होना चाहिये।

चैक के पक्षकार—प्रत्येक चैक के तीन पक्ष होते हैं :—(१) लेखक (Drawer), जिसका बैंक में खाता है, और जो चैक लिखता है, (२) लेख-पत्र (Drawee) अर्थात् बैंक जिसे चैक का भुगतान करने के लिये आज्ञा दी जाती है; एवं (३) प्राप्तकर्त्ता (Payee), जिसे चैक का धन पाने का अधिकार है अथवा जिसके पक्ष में चैक लिखा जाता है। प्रायः ऐसा भी हो सकता है कि चैक का लेखक और प्राप्तकर्त्ता एक ही व्यक्ति हो। यह तब होता है जबकि लेखक स्वयं अपने प्रयोग के लिये रुपया निकलवाना चाहता है।

चैक लिखने की विधि—चैक के दो भाग होते है (देखिये चैक का नमूना जो कि नीचे दिया गया है) :—चैक और प्रतिपत्रक (Counterfoil)। प्रति-पत्रक में उन्हीं बातों को संक्षेप मे लिखा जाता है जो कि चैक में लिखी जाती हैं, जैसे दिनांक, प्राप्तकर्त्ता का नाम, धनराशि और चैक देने का कारण। बीच में बनी हुई छिद्र-युक्त रेखा से चैक अलग करके प्राप्तकर्त्ता को दे दिया जाता है तथा प्रतिपत्रक भविष्य में हवाले के लिये लेखक के पास रह जाता है। चैक लिखते समय निम्न बातों का बहुत ध्यान रखना चाहिये :—

चैक का नमूना (Specimen of a Cheque)

(हिन्दी में)

क्र० सं० २६१	क्र० सं० २६१ दिनांक : २७-३-१६६२
दिनांक : २७-३-१६६२	दी सैंट्रल बैंक ऑफ इन्डिया लि०
श्री सतीशचन्द्र मीतल	बेलनगंज ब्रान्च, आगरा
आगरा को इनकी रायल्टी के भुगतान में	श्री सतीशचन्द्र मीतल अथवा वाहक को रुपये दस हजार मात्र दीजिये
रु० १०,०००)	रु० १०,०००)
कन्हैयालाल बंसल	कन्हैयालाल बंसल प्रोपराइटर, साहित्य भवन आगरा।

(अंग्रेजी में)

S. No. 261	S. No. 261 *Dated* : 27-3-1962
Dated : 27-3-1962	**The Central Bank of India Limited**
	Balanganj Branch, Agra.
Shri Satish Chandra Mittal, in payment of his Royalty	***Pay to*** Shri Satish Chandra Mital ***or bearer Rupees*** **Ten thousand only**
Rs. 10,000/-	Rs. 10,000.-
Kanahiya Lal Bansal	Kanahiya Lal Bansal *Prp.* Sahitya Bhawan AGRA.

(१) दिनांक—चैक मे तारीख लिखना न भूलिये, क्योंकि ऐसे चैकों पर बैंक 'अपूर्ण' होने की आपत्ति लगा कर लौटा देता है। साधारणतः जिस दिन चैक लिखते है वही तारीख भरी जाती है। किन्तु आवश्यकता होने पर आगे की तारीख भी डाली जा सकती है। लेकिन जब तक यह तारीख न आवेगी तब तक चैक का भुगतान नही मिलेगा। ऐसे चैक को 'आगामी तिथि का चैक' कहते है। छह माह तक कभी भी चैक का भुगतान लिया जा सकता है किन्तु इससे अधिक पुराने चैक (Stale cheque) का भुगतान नही लिया जा सकता।

(२) प्राप्तकर्ता—जिस व्यक्ति को भुगतान दिलाना हो तो उसका नाम साफ-साफ बिना काटे लिखना चाहिये। नाम के साथ आदरसूचक शब्द, पद, डिग्रियाँ

लिखने की आवश्यकता नहीं है। यदि लेखक स्वयं अपने लिये रुपया लेना चाहे, तो प्राप्तकर्त्ता के स्थान में 'स्वयं को' (To Self) लिख सकता है। यदि प्राप्तकर्त्ता के नाम के आगे 'या आदेशानुसार' (or order) शब्द लिखे हों, तो चैक का भुगतान उस नाम लिखे व्यक्ति को या उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति को मिलेगा। परन्तु जब या 'वाहक' (Or bearer) शब्द लिखे हों, तो उसका भुगतान किसी भी व्यक्ति को, जो भी चैक प्रस्तुत करे, मिल सकता है। किसी-किसी बैंक के चैक में दोनों ही प्रकार के शब्द छपे होते हैं (जैसे वाहक को या आदेशानुसार (Bearer/Order)। ऐसी दशा में अपने उद्देश्य के अनुसार ही हमें अनावश्यक शब्द काट देना चाहिये।

(३) धनराशि—चैक की रकम बिना काटे, निश्चित रूप में अंकों तथा शब्दों दोनों में लिखनी चाहिये। इससे जालसाजी करना कठिन हो जाता है। रकम लिखते समय यह सावधानी रखनी चाहिये कि शब्दों और अंकों की रकम में कोई अन्तर न हो, अन्यथा बैंक चैक का भुगतान नहीं करेगा।

(४) हस्ताक्षर—लेखक को अपने हस्ताक्षर स्पष्ट और ठीक उसी प्रकार करने चाहिये, जिस तरह उसने हस्ताक्षर पुस्तिका (Autograph Book) में नमूने के लिये किये थे। इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि हस्ताक्षर की मुहर स्तैमाल न की जाय, क्योंकि चैक के लिये यह जानना कठिन है कि मुहर लेखक की इच्छा से लगाई गई है या नहीं। इसी प्रकार पैंसिल से किये गये हस्ताक्षर नहीं माने जाते। यदि ग्राहक चैक पर स्वयं हस्ताक्षर नहीं करता, तो उसकी ओर से कोई अन्य व्यक्ति चैक पर हस्ताक्षर कर सकता है बशर्ते उसे ऐसा करने का कानूनी अधिकार दे दिया गया हो। इस दशा में बैंक इस व्यक्ति के हस्ताक्षर का नमूना भी अपने पास रखती है। किसी सार्वजनिक संस्था या कम्पनी के अध्यक्ष को अपने हस्ताक्षर करते समय संस्था का नाम भी (अपने हस्ताक्षरों के पहले न कि बाद में) दे देना चाहिये ताकि यह प्रगट हो जाय कि वह कम्पनी या संस्था के प्रतिनिधि के रूप में हस्ताक्षर कर रहा है, व्यक्तिगत रूप में नहीं।

चैक के भेद

पाने वाले की दृष्टि से चैक के दो भेद होते हैं—वाहक चैक (Bearer Cheque) एवं आदेशानुसार चैक (Order Cheque)।

'वाहक चैक' वह चैक होता है, जिसका भुगतान कोई भी व्यक्ति, जो इसे बैंक की खिड़की (Counter) पर प्रस्तुत करे, ले सकता है। जब किसी चैक में प्राप्तकर्त्ता के नाम के सामने छपे हुये 'वाहक' शब्द को काटा नहीं गया हो या प्राप्तकर्त्ता के स्थान में किसी संस्था या व्यक्ति का नाम न लिखा होकर कोई अव्यक्तिगत नाम लिखा हो, (जैसे इन्कम टैक्स एकाउन्ट), तो ऐसे चैक का रुपया कोई भी व्यक्ति बैंक की खिड़की पर ले सकता है। अतः यह एक वाहक चैक कहलायेगा। यदि किसी व्यक्ति के पास एक वाहक चैक है और वह किसी अन्य व्यक्ति को इसका स्वा- बनाना चाहता है अर्थात् इसका भुगतान स्वयं न लेकर किसी अन्य व्यक्ति को दिलाना चाहता है, तो ऐसा वह केवल चैक की सुपुर्दगी द्वारा ही कर सकता है। चैक पृ- बेचान करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

. कर

दूसरी ओर, एक 'आदेशानुसार चैक' वह है, जिसका भुगतान प्रत्येक पर्याप्त नहीं ले सकता है। केवल वही व्यक्ति ले सकता है, जिसका नाम अपनी दशा में क्रमश: में चैक में लिखा हो अथवा जिसे यह व्यक्ति दिलाना चाहे। ऐसे चैक इनमें से किसी

अन्य व्यक्ति को दिलाना हो, तो प्राप्तकर्त्ता द्वारा चैक की सुपुर्दगी से ही काम नहीं चलेगा, वरन् उसे अपनी इच्छा के साक्ष्य स्वरूप चैक की पीठ पर हस्ताक्षर करके तब सुपुर्दगी करनी होगी। अर्थात् आदेशानुसार चैक का स्वामित्व किसी अन्य व्यक्ति को अर्पण करने के लिये प्राप्तकर्त्ता को चैक पर 'बेचान' करके इसकी सुपुर्दगी करनी होगी। एक आदेशानुसार चैक की पहचान यह है कि इसमें प्राप्तकर्त्ता के नाम के आगे छपा हुआ 'वाहक' (Bearer) शब्द कटा होता है अथवा प्राप्तकर्त्ता के नाम के आगे कोई शब्द नहीं लिखा होता। जब एक आदेशानुसार चैक पर 'रिक्त बेचान' किया जाता है तब वह एक 'वाहक चैक' बन जाता है। सुरक्षा के लिये देनदार बैंक इस बात पर जोर देता है कि एक आदेशानुसार चैक का भुगतान पाने के लिये उसका प्राप्तकर्त्ता (जिसका नाम चैक में लिखा है) चैक को 'खिड़की' पर प्रस्तुत करने के बजाय उसे किसी बैंक के द्वारा (जिसमें उसका खुद का खाता है) संग्रह कराये। यदि खिड़की पर ही भुगतान लेना हो तो किसी व्यक्ति से जिसे बैंक अच्छी तरह जानता हो, यह साक्षी दिलाये कि वही उस चैक का वास्तविक प्राप्तकर्त्ता है।

चैक का बेचान

जब चैक का प्राप्तकर्त्ता (Payee) चैक की धन-राशि का भुगतान स्वयं नहीं लेकर किसी अन्य व्यक्ति को दिलाना चाहे, तो इस हेतु उस चैक का स्वामित्व बदलना आवश्यक है अर्थात् अपने बजाय अन्य व्यक्ति को चैक उस अन्य व्यक्ति के सुपुर्द कर देने से पूर्ण नहीं होता, वरन् अपने इस इरादे की लिखित घोषणा करनी पड़ती है, जिससे बैंक को भुगतान करने में कोई संकोच न रहे। चैक की पीठ पर चैक का स्वामित्व बदलने के इरादे से हस्ताक्षर सहित जो शब्द लिखे जाते हैं उसे "चैक का बेचान" (endorsement) कहते हैं। जो व्यक्ति चैक का बेचान करता है अर्थात् चैक सम्बन्धी अपना स्वामित्व किसी अन्य व्यक्ति को देने के लिये चैक की पीठ पर हस्ताक्षर करता है, उसे 'बेचानकर्त्ता' (Endorser) कहते हैं और जिस व्यक्ति के पक्ष में बेचान किया जाता है अर्थात् जिसे अब स्वामी बनाया जाता है उसे 'बेचान पात्र' (endorsee) कहते हैं। यह उल्लेखनीय है कि एक वाहक चैक की सुपुर्दगी मात्र से ही स्वामित्व बदला जा सकता है उस पर बेचान की आवश्यकता नहीं है।

चैक पर बेचान कई प्रकार से किया जा सकता है :—(१) सामान्य बेचान, (२) विशेष बेचान, (३) प्रतिबन्धित बेचान, (४) आंशिक बेचान, (५) शर्त युक्त बेचान, एवं (६) दायित्व रहित बेचान। प्रत्येक पर नीचे विस्तार सहित प्रकाश डाला गया है :—

(१) सामान्य बेचान (Blank Endorsement)—जब बेचानकर्त्ता चैक की पीठ पर बेचान करते समय केवल अपने हस्ताक्षर ही कर देता है, तो इसे सामान्य या रिक्त बेचान कहते हैं। एक आदेशानुसार चैक पर रिक्त बेचान करने से वह वाहक चैक में परिणित हो जाता है तथा कोई भी व्यक्ति उसका भुगतान कर सकता है।

(२) विशेष बेचान (Special Endorsement)—जब बेचानकर्त्ता चैक की पीठ पर बेचान करते समय उस व्यक्ति का नाम भी स्पष्ट लिख देता है, जिसे वह बेचान कर रहा है, तो ऐसे बेचान को विशेष बेचान कहते हैं। ऐसी दशा में बेचान में उल्लेखित व्यक्ति द्वारा ही चैक का भुगतान लिया जा सकेगा।

Pay to Krishna Kumar or Order S. C. Mital 3/1/63.

al.
(२) प्राप्त
बिना काटे

उक्त चैक का भुगतान कृष्णकुमार को मिल सकता है। यदि वह किसी अन्य व्यक्ति को इसका भुगतान दिलाना चाहें, तो उस अन्य व्यक्ति के पक्ष में उसे इस चैक पर बेचान करना होगा।

(३) प्रतिबन्धित बेचान (Restrictive Endorsement)—जब बेचानकर्त्ता इस तरीके से चैक पर बेचान करे कि आगे उस चैक का पुन: बेचान न हो सके, तो इसे प्रतिबन्धित बेचान कहेंगे। ऐसी दशा में बेचानकर्त्ता बेचान पात्र के नाम के साथ 'केवल' (only) शब्द जोड़ देता है।

केवल कृष्णकुमार को दीजिए, एस० सी० मित्तल, ३-१-१९६३

अब कृष्णकुमार किसी अन्य व्यक्ति के पक्ष में चैक पर बेचान नहीं कर सकेंगे।

(४) आंशिक बेचान (Partial Endorsement)—जब बेचानकर्त्ता चैक की सम्पूर्ण राशि के बजाय इसके एक अंश के लिये ही बेचान करे, तो इसे 'आंशिक बेचान' कहेंगे। उदाहरण के लिये, यदि चैक १,००० रु० का हो, और इस पर बेचान केवल ६०० रु० के लिये लिखा जाय तो यह आंशिक बेचान है। आंशिक बेचान असुविधाजनक होने के कारण व्यवहार में प्रचलित नहीं है।

Pay Rs. Six hundred only to Krishna Kumar S. C. Mital 3-1-63

(५) शर्तयुक्त बेचान (Conditional Endorsement)—जब बेचान करते समय बेचानकर्त्ता कोई शर्त लगा दे कि अमुक दशा में ही भुगतान दिया जाय, अन्यथा नहीं, तो इसे 'शर्त रहित बेचान' कहते हैं।

कृष्णकुमार को भुगतान दीजिये यदि वह बिल्टी है। एस० सी० मित्तल ३-१-६३

(६) दायित्व रहित बेचान (Sans Recourse Endorsement)—साधारणत: चैक के लेखक और इसके बेचानकर्त्ताओं पर यह दायित्व होता है कि यदि चैक के धारी को भुगतान न मिले, तो वह उनमें से प्रत्येक को पृथक्-पृथक् एवं संयुक्त रूप से दायी बना सकता है। मान लीजिये, राम का हिसाब स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया आगरा में है। उसने घनश्याम को एक चैक लिखा जो १०,००० रु० का था। घनश्याम ने इसे मोहन को और मोहन ने इसे कृष्णकुमार को बेचान कर दिया। जब कृष्णकुमार ने चैक बैंक के समक्ष प्रस्तुत किया, तो हिसाब में पर्याप्त रुपया न होने के कारण बैंक ने चैक को तिरस्कृत कर दिया। ऐसी दशा में कृष्णकुमार चैक की धन-राशि राम, घनश्याम और मोहन तीनों से अथवा इनमें से किसी

से भी वसूल कर सकता है तथा न्यायालय में उन पर दावा कर सकता है। यदि कोई वेचानकर्त्ता (जैसे मोहन) अपने इस दायित्व से बचना चाहे, तो वह वेचान में इस आशय के शब्द लिख कर अपने को मुक्त रख सकता है। ऐसा वेचान ही दायित्व रहित वेचान कहलाता है।

कृष्णाकुमार को दीजिये घनश्याम (दायित्व रहित) १-३-१९६३	Pay to Krishna Kumar Ghanshyam (Sans Recourse) 1-3-1963

जब कृष्णाकुमार ने दायित्व रहित वेचान किया हो, तो चैक के अप्रतिष्ठित होने की दशा मे घनश्याम उसको दायी नही बना सकेगा।

वेचान करते समय आवश्यक सावधानियाँ

चैक वेचान करते समय निम्न सावधानियाँ रखना आवश्यक है—

(i) वेचानकर्त्ता को चाहिये कि अपने हस्ताक्षर उन्ही वर्णाक्षरों में करे जिनमे कि लेखक या पूर्व वेचानकर्त्ता ने चैक उसके पक्ष में लिखा या वेचान किया था। यदि अक्षर विन्यास मे कोई त्रुटि है, तो उसे भी वैसा ही अक्षर-विन्यास (Spelling) रखना चाहिये। हाँ, वह चाहे, तो बाद में अपने सही हस्ताक्षर भी बना सकता है।

(ii) रबड़ की मुहर द्वारा वेचान करना उचित नही है। वेचानकर्त्ता अपने हस्ताक्षर पैंसिल से कर सकता है लेकिन इसके मिट जाने के भय से प्राय: वैंक स्याही से ही वेचान कराते हैं।

(iii) वेचान करते समय शिष्टाचार सूचक शब्दों (जैसे लाला, श्री, बाबू आदि) का प्रयोग नही करना चाहिये। उपाधि सूचक शब्द अवश्य लिखे जा सकते हैं।

(iv) विवाहित स्त्री के पक्ष में वेचान करते समय उसके नाम के साथ उसके पति का नाम भी लिखा जाना चाहिये।

(v) जब कोई अपढ़ व्यक्ति वेचान करना चाहे, तो उसे अपने अंगूठे का निशान किसी सम्मानित व्यक्ति की उपस्थिति में लगाना पड़ता है। यह सम्मानित व्यक्ति वैंक का कर्मचारी नही होना चाहिये।

(vi) यदि कोई व्यक्ति एजेन्ट के रूप में वेचान कर रहा है, तो उसे स्पष्ट शब्दों मे 'अधिकारानुसार' (Per Procuration, Per Pro.) शब्द अंकित कर देना चाहिये।

(vii) यदि किसी फर्म द्वारा वेचान किया जा रहा हो, तो फर्म का नाम उन्ही वर्णाक्षरो मे लिखना चाहिये जो कि चैक पर लिखे हुये हैं।

(ix) जब तक किसी एक व्यक्ति को ऐसा करने का अधिकार न हो, तो दो या दो से अधिक व्यक्तियों के नाम पर लिखे गये चैक पर वेचान करते समय सभी व्यक्तियों को हस्ताक्षर करना होगा।

(x) यदि कम्पनी की ओर से उसका मैनेजर या सेक्रेटरी हस्ताक्षर करे, तो उसे For (लिये) लिखकर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होता है।

चैक को अधिक सुरक्षित बनाना (चैक का रेखांकन)

मुद्रा को साथ लेकर चलने व गिनने, परखने में कठिनाई होती है तथा आवश्यकता पड़ने पर बाहर भेजने के लिये व्यय भी अधिक होता है। यही कारण है कि मुद्रा के स्थान पर साख-पत्रों का, विशेषतः चैकों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। चैक विनिमय साध्य होता है अर्थात् इसमें यह कल्पना कर ली जाती है कि चैक पाने वाले ने प्रतिफल दिया है। एक यथाविधिधारी के अधिकार पर चैक देने वाले के अधिकार मे कुछ दोष रहने का कोई प्रभाव नही पड़ता। इन परिस्थितियों मे यह आवश्यक हो जाता है कि ऐसे कदम उठाये जायें, जिनसे गलत व्यक्ति चैक का भुगतान न ले पायें।

चैक को सुरक्षित बनाने के लिये उसे 'वाहक को देय' न बनाकर 'आदेशानुसार देय' बनाया जा सकता है। 'वाहक को देय' चैक का भुगतान कोई भी व्यक्ति ले सकता है और इसका स्वामी बनाने के लिये केवल हस्तांतरण ही पर्याप्त होता है। परन्तु आदेशानुसार चैक का भुगतान केवल वही व्यक्ति ले सकता है, जिसका नाम चैक मे दिया गया है अथवा उसके आदेश प्राप्त व्यक्ति को भी चैक का भुगतान मिल सकता है किन्तु किसी अन्य व्यक्ति को नही मिल सकता। इसके अतिरिक्त, एक आदेशानुसार चैक का स्वामित्व देने के लिये उसे हस्तांतरित करने के पूर्व बेचान करना भी आवश्यक होता है। अतः स्पष्ट है कि वाहक चैक की अपेक्षा आदेशानुसार चैक अधिक सुरक्षित होते हैं। किन्तु आदेशानुसार चैक में भी इस बात का डर रहता है कि कोई गलत व्यक्ति बेईमानी से चैक को हथियाकर जाली बेचान लिखकर बैंक से रुपया प्राप्त न करले, क्योंकि बैंक तो प्राप्तकर्त्ता या बेचानकर्त्ता के हस्ताक्षरों से परिचित नहीं होता।

अधिक सुरक्षित बनाने के लिये चैकों को रेखांकित किया जाता है। किसी चैक पर दो समानान्तर तिरछी रेखायें, कुछ शब्दों सहित अथवा कुछ शब्दों के बिना, खींचना ही 'चैक को रेखांकित करना' (Crossing a Chequr) कहते हैं। ऐसा चैक जिस पर रेखांकन किया गया हो 'रेखांकित' (Crossed Cheque) कहलाता है। एक रेखांकित चैक का नमूना नीचे दिया गया है :—

क्रम संख्या १२३३ दिनांक : [illegible]

दी सेन्ट्रल बैंक ऑफ इंडिया लि०
बेलनगंज ब्रान्च, [illegible]

श्री गोपाल माहेश्वरी [illegible]

रुपये एक हजार [illegible]

रु० १,०००/-

[illegible]

चेक को रेखांकित करने का प्रभाव यह होता है कि प्राप्तकर्त्ता या कोई अन्य धारी उसका भुगतान नगद बैंक की खिड़की पर नहीं ले सकता। उसे चैक का भुगतान किसी बैंक के द्वारा मिलेगा। यदि धारी का किसी बैंक में खाता खुला हुआ है, तो वह उस चैक को अपने खाते मे संग्रह के लिये जमा करा देगा। रुपया संग्रह होने पर बैंक उसकी पासबुक में रकम क्रेडिट कर देगा तथा धारी अपने चैक द्वारा उसे चाहे जब निकाल सकता है। यदि धारी का खाता नही है, तो वह अपने किसी परिचित व्यक्ति के द्वारा, जिसका बैंक मे खाता हो, भुगतान ले सकता है, क्योंकि बैंक ऐसे व्यक्तियों के चैक संग्रह के लिये स्वीकार नही करते, जिनका खाता उनके यहाँ न हो। धारी चैक पर बेचान करके अपने परिचित व्यक्ति को दे देगा और उससे नगद रुपया ले लेगा तथा वह परिचित व्यक्ति चैक को अपने खाते में संग्रह के लिये जमा करा देगा।

इस तरह यदि कोई गलत व्यक्ति चैक पर कब्जा प्राप्त करके जाली बेचान द्वारा देनदार बैंक से रुपया पाने चाहे, तो उसे यह चैक किसी बैंक के द्वारा, जिसमें स्वयं उसका या उसके किसी परिचित का खाता हो, भुगतान के लिये भेजना होगा। जाँच होने पर इस बैंक से यह पता लग सकता है कि अमुक व्यक्ति ने चैक का भुगतान लिया था और उसे गिरफ्तार किया जा सकता है।

रेखांकन के भेद—रेखांकन दो तरह का होता है—साधारण और विशेष। यदि चैक को रेखांकित करते समय रेखाओं के बीच किसी विशेष बैंक का नाम भी दे दें, तो इसे **'विशेष रेखांकन' (Special Crossing)** कहते हैं। विशेष रूप से रेखांकित चैक का रुपया केवल उस बैंक के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, जिसका नाम रेखाओं के अन्दर दिया गया है। यदि रेखाओं के बीच किसी विशेष बैंक का नाम न दिया जाय, तो ऐसे रेखांकन को **'साधारण रेखांकन' (General Crossing)** कहते हैं। साधारण रूप से रेखांकित चैक का रुपया किसी भी बैंक के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। स्पष्ट है कि विशेष रूप से रेखांकित चैक साधारण रूप मे रेखांकित चैक की अपेक्षा अधिक सुरक्षित होता है।

इससे भी अधिक सुरक्षित होता है वह रेखांकित चैक जिसमें रेखाओं के बीच **'अविनिमय साध्य' (Not Negotiable)** लिखा हो। इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐसे चैक का विनिमय या हस्तांतरण नहीं हो सकता। वरन् इसका आशय यह है कि हस्तांतरण द्वारा चैक को पाने वाले व्यक्ति का चैक पर वैसा ही अधिकार होगा जैसा कि देने वाले का है। यदि देने वाले का अधिकार दूषित है तो पाने वाले का अधिकार भी दूषित माना जायेगा, भले ही वह यथाविधिधारी हो अर्थात् भले ही धारी ने उसे मूल्य देकर, सद्विश्वास के साथ तथा परिपक्वता के पूर्व पाया हो। एक विनिमय साध्य चैक मे यह बात नही होती अर्थात् यथाविधिधारी के अधिकार पर देने वाले के दूषित अधिकार का प्रभाव नही पड़ता। अतः इसमें इस बात की संभावना रहती है कि कोई चालबाज व्यक्ति गलत तरीके से प्राप्त किये गये चैक को किसी सीधे-सादे व्यापारी के मत्थे मढ़ दे और स्वयं अलग हो जाय। अतः अविनिमय साध्य रेखांकित चैक सबसे अधिक सुरक्षित है। हमें किसी अपरिचित व्यक्ति से ऐसा चैक स्वीकार नहीं करना चाहिये, क्योंकि यदि उसका अधिकार दूषित हुआ तो हमें निर्दोष होते हुए भी वास्तविक धारी के प्रति दायी बनना पड़ेगा।

प्रायः रेखांकन में **'एण्ड कम्पनी' (& Co.)** शब्द लिख दिये जाते हैं। इनका कोई महत्व नहीं होता। केवल प्रचलित प्रथा के अनुसार ही इन्हे लिखा जाता है। कभी-कभी रेखांकन के मध्य **'केवल पाने वाले के खाते में' (Account Payee**

only) लिख दिये जाते हैं। उक्त शब्दों द्वारा लेखक (Drawee) बैंक को यह निर्देश देता है कि उस चैंक का रुपया पाने वाले (Payee) के खाते में ही जमा करे। अतः जब ऐसा है तो देनदार बैंक भुगतान लेने वाले बैंक से यह आश्वासन लेता है कि धन चैक के प्राप्तकर्त्ता के खाते में ही जमा किया जायेगा। जब रेखांकन के मध्य '............रुपये से कम' (Under Rupees............) शब्द लिखे हों, तो इनका केवल इतना महत्व है कि देनदार बैंक यह जान ले कि भुगतान लिखित धनराशि से कम रकम का होगा। इससे रकम में जालसाजी का भय दूर हो जाता है।

रेखांकन कौन कर सकता है?—(i) एक खुले चैंक (Open cheque) पर कोई भी व्यक्ति दो समानान्तर लकीरें खींच कर उसे सामान्य रूप से रेखांकित कर सकता है। (ii) एक सामान्य रेखांकित चैंक की समानान्तर रेखाओं के मध्य किसी विशेष बैंक का नाम लिखकर कोई भी व्यक्ति उसे एक विशेष रूप से रेखांकित कर सकता है। (iii) विशेष रूप से रेखांकित चैक की समानान्तर रेखाओं के भीतर रुपया वसूल करने वाली बैंक पुनः अपने किसी एजेन्ट बैंक का नाम लिख सकती है। ऐसी दशा में चैक का रुपया केवल वही एजेन्ट बैंक देनदार बैंक से वसूल कर सकती है।

यदि कोई चैक धोखे से रेखांकित कर दिया गया है अथवा आशय यह है कि इसका रुपया देनदार बैंक इसके उपस्थित करने पर ही प्राप्तकर्त्ता को दे दे तो केवल चैंक का लेखक ही इस त्रुटि को, 'नगद दीजिये' (Pay cash) शब्द हस्ताक्षर सहित लिख कर, सही कर सकता है। ऐसा हो जाने पर अब वह चैक एक खुला चैक (Uncrossed or open cheque) समझा जायेगा। पाने वाले (Payee) को रेखांकन रद्द करने का अधिकार नहीं होता। किन्तु, जब किसी चैंक को वसूल करने के लिये किसी बैंक ने चैक पर रेखांकन किया था, तो वह उस रेखांकन को चैक की पीठ पर, 'हमारी समस्त मुहरें रद्द की गई' (All our stamps cancelled) शब्द लिख कर रद्द कर सकती है।

चिन्हित चैंक, कोरा चैंक एवं विकृत चैंक

जब लेखक कहे या जब प्राप्तकर्त्ता अपना सन्तोष करना चाहे, तो देनदार बैंक चैक पर अपना चिन्ह लगाकर हस्ताक्षर कर देता है, जिसका आशय यह है कि लेखक के खाते मे चैंक के भुगतान के लिये पर्याप्त धन जमा है। ऐसे चैक को **'चिन्हित चैंक' (Marked cheque)** कहते हैं। कभी-कभी देनदार बैंङ्क यह भी लिख देता है कि 'समय के अन्दर भुगतान योग्य' (Good for payment if present in time)। इन शब्दों के लिखने का अभिप्राय प्राप्तकर्त्ता को यह विश्वास दिलाता है कि लेखक के खाते में पर्याप्त रुपया है।

जब चैंक लिखते समय लेखक को भुगतान की निश्चित राशि पता नहीं होती, तो पाने वाले के नाम बिना रकम भरे ही चैंक भेज देता है और पाने वाला उस पर नियत रकम लिख लेता है। ऐसे चैंकों को **'कोरा चैक' (Blank cheque)** कहते हैं। सावधानी के लिये लेखक चैंक में प्रायः ऐसी रकम लिख देता है कि जिससे पाने वाला उससे अधिक रकम न लिख ले, जैसे 'एक सौ रुपयों से अधिक नहीं' (Not over hundred rupees) अथवा 'पाँच सौ रुपये से कम' (Under Rs. five hundred)।

जब चैक का फार्म अपठनीय, भद्दा, कटा-फटा या मुड़ा-तुड़ा हो जाता है, तो ऐसे चैक को **'विकृत चैक' (Muttiliated cheque)** कहते हैं। देनदार बैंक विकृत

चेक का रुपया देने से मना कर देता है। जब कोई चेक विकृत हो जाय तो धारी को चाहिये कि लेखक से इसके बदले दूसरा चेक ले ले।

चेक का भुगतान

जब कोई चेक प्राप्त हो, तो इसका भुगतान पाने की समस्या उठती है। इस सम्बन्ध में निम्न बातें स्मरण रखनी चाहिये :—

(i) यदि वह वाहक चेक (Bearer cheque) है तो कोई भी व्यक्ति बैङ्क की खिड़की पर जाकर उसका भुगतान ले सकता है।

(ii) यदि वह आर्डर चेक (*Order cheque*) है, तो उसका स्वामी स्वयं बैङ्क की खिडकी पर भुगतान ले सकता है अथवा किसी व्यक्ति के नाम उसका बेचान कर सकता है।

(iii) यदि वह रेखांकित चेक (Crossed cheque) है, तो उसका भुगतान बैङ्क की खिड़की पर नहीं मिल सकता। यदि ऐसे चेक के स्वामी का किसी बैंक में खाता हो, तो वह अपने खाते में उस चेक को जमा करा देगा। उसका बैंक चेक का रुपया देनदार बैंक से संग्रह करके उसके खाते में चेक की रकम जमा करा देगा। यदि चेक पाने वाले का किसी भी बैंक में खाता नहीं है; तो वह अपने किसी मित्र को, जिसका किसी बैंक में खाता हो, चेक का बेचान कर देगा और यह मित्र इस चेक को अपने बैङ्क में जमा करा देगा। जब मित्र के खाते में चेक का रुपया संग्रह होकर आ जाय तो वह चेक के पूर्व स्वामी को नगद रुपया दे सकता है। चैकों का रुपया संग्रह करने के लिये बैंक कुछ कमीशन चार्ज करते हैं।

यह आवश्यक है कि चेक का स्वामी भुगतान के लिये चेक को उचित समय के भीतर ही बैंक के सामने प्रस्तुत कर दे। यदि उसने ऐसा नहीं किया, और इस बीच बैंक दिवालिया हो गया, तो वह चेक के लेखक को उत्तरदायी न बना सकेगा। ऐसी दशा में वह बैंक के ऋणदाता के रूप में बैंक की शेष सम्पत्ति में अंशानुसार भुगतान ही पा सकेगा। यदि लेखक के खाते में पर्याप्त धन नहीं था अथवा उसका खाता ही नहीं था और फिर भी उसने चेक लिख दिया था, तो अवश्य उसे बैंक के दिवालिया होने पर, उचित समय के बाद भी दायी बनाया जा सकेगा।

जब कोई चेक बैंक के सामने भुगतान के लिये प्रस्तुत किया जाता है, तो बैंक यह देख लेता है कि लिखक के हस्ताक्षर नमूने के अनुसार हैं या नहीं, चेक उचित समय के भीतर प्रस्तुत किया गया है या नहीं, बेचान ठीक हो रहा है या नहीं, ग्राहक के खाते में पर्याप्त धन है या नहीं, आदि।

चेक का अनादर

बैंक अपने ग्राहक के एजेन्ट के रूप में कार्य करता है। अतः जब कभी उस पर ग्राहक कोई चेक लिखे, तो उसका भुगतान करना बैंक के लिये अनिवार्य है। परन्तु कभी-कभी बैंक चेक को बिना भुगतान किये ही लौटा देते हैं। वे ऐसा तभी करते हैं जब इसके लिये पर्याप्त कारण हो। जिन कारणों से बैंक चेक का आदर (Honour) नहीं करता उनका चेक पर उल्लेख करके उसे वापिस कर देता है। ये कारण निम्नलिखित हो सकते हैं :—

चेक की वापिसी का विवरण-पत्र

Cheque No.....................for Rs.......................

IS RETURNED FOR REASON NO.......................

1. Effects not yet cleared, please present again.
2. Not arranged for.
3. ....payee's endorsement required.
4. ....payee's endorsement irregular.
5. Refer to drawer.
6. Drawer's signature differs.
7. Endorsement requires bank's guarantee.
8. Alteration requires full signature.
9. Cheque is post-dated.
10. Cheque is out of date.
11. Amount in words and figures differs.
12. Crossed cheque, must be presented through a bank.
13. No advice.
14. Payment stopped by the drawer.
15. Payee's separate discharge to the Bank required.
16. ....
17. ....
18. ....

STATE BANK OF INDIA,

....

.... Agent.

(१) लिखने वाले के खाते में चेक के भुगतान के लिये पर्याप्त धन न होना (Insufficient Funds),

(२) चेक के शब्दों में और अंकों में लिखी हुई धनराशि में अन्तर होना (Amount in words and figures differ),

(३) लिखने वाले द्वारा चेक का भुगतान रोकने की लिखित आज्ञा देना (Payment stopped by the drawer),

(४) चेक पर आगे आने वाली तिथि पड़ी होना (Cheque is post dated),

(५) चेक पर ६ माह की तिथि पड़ी होना (Cheque is out of date),

(६) चेक पर वेचान अशुद्ध होना (Payee's endorsement irregular),

(७) चैक में किसी परिवर्तन पर लेखक के हस्ताक्षर न होना (Alteration requires drawer's signature),

(८) लेखक के हस्ताक्षर नमूने के हस्ताक्षरों से न मिलना (Drawee's signature differ),

(९) चैक में कोई आवश्यक बात लिखने से छूट जाना (Incomplete),

(१०) चैक विकृत होना (Muttiliated),

(११) लेखक के संग्रहणार्थ आये हुए चैक संग्रह न हो पाने से खाते में अपर्याप्त रकम होना (Effects not yet cleared),

(१२) लेखक द्वारा खाता बन्द कर देना (Account closed),

(१३) लेखक की मृत्यु का समाचार बैंक को मिलना (Drawer deceased),

(१४) लेखक के पागल या दिवालिया होने की सूचना मिलना (Drawer declared insane or insolvent),

(१५) लेखक के अन्य खातों में पर्याप्त धन होना किन्तु सम्बन्धित खाते में पर्याप्त धन न होना (Not arranged for),

(१६) सरकार से भुगतान रोकने का आदेश मिलना (Garnishee order)।

चैक के प्रयोग से लाभ

चैकों के बढ़ते हुए प्रयोग ने आर्थिक संसार को विशेषत: व्यापारियों को बहुत लाभ पहुँचाया है, जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

(१) कम व्यय पर धन का स्थानान्तर—चैक द्वारा बड़ी से बड़ी रकम का भुगतान दूर-दूर के स्थानों को बहुत कम व्यय पर किया जा सकता है।

(२) स्थानीय भुगतानों में सुविधा—स्थानीय भुगतानों में चैक के प्रयोग से सुविधा हो जाती है, जैसे—नगदी परखने व गिनने का समय व श्रम बच जाता है, और नये पैसों तक रकम का भी भुगतान किया जा सकता है, क्योंकि चैक पर देय रकम लिखी जा सकती है और फुटकर रेजगारी खोजने के लिये जेब नहीं देखनी पड़ती या अन्य लोगों से याचना नहीं करनी पड़ती, क्योंकि आजकल बाजार में छोटे सिक्कों की कमी है।

चैकों के प्रयोग से मुख्य ६ लाभ

(१) कम व्यय पर धन का स्थानान्तर।
(२) स्थानीय भुगतानों में सुविधा।
(३) करेंन्सी की बचत।
(४) भुगतान का साक्ष्य।
(५) भुगतान की सुरक्षा।
(६) शीघ्र भुगतान।

(३) करेंन्सी की बचत—जनता में चैक का प्रयोग करने की आदत बढ़ने के साथ-साथ चैक विनिमय कार्य में अधिक इस्तेमाल होने लगे हैं। बैंक में भुगतान के आने के पूर्व प्रत्येक चैक कई सौदे निपटा देता है। इससे करेंन्सी (सरकारी मुद्रा) की बचत होती है।

(४) भुगतान का साक्ष्य—नगद भुगतान करने पर रसीद लेनी पड़ती है लेकिन चैक द्वारा भुगतान करने पर रसीद लेना आवश्यक नहीं है क्योंकि चैक की प्रतिलिपि पर चैक देते समय प्राप्तकर्त्ता से कराये गये हस्ताक्षर भुगतान का पर्याप्त साक्ष्य होते हैं।

(५) भुगतान की सुरक्षा—चैक को रेखांकन करके उसे अधिक सुरक्षित बनाया जा सकता है, क्योंकि ऐसे चैक का रुपया प्राप्तकर्ता को किसी बैंक के द्वारा ही मिलता है।

(६) शीघ्र भुगतान—चैक से भुगतान भेजने में समय भी कम लगता है।

(II) बिल ऑफ एक्सचेन्ज

(Bill of Exchange)

बिल ऑफ एक्सचेन्ज की परिभाषा एवं विशेषतायें

भारतीय निगोशियेबिल इन्स्ट्रूमेंटस एक्ट (Indian Negotiable Instruments Acts) के अनुसार बिल ऑफ एक्सचेन्ज (विनिमय-बिल) बिना शर्त का एक लिखित आज्ञा-पत्र है जिसमें लिखने वाला किसी विशेष व्यक्ति को यह आज्ञा देता है कि वह एक निश्चित धन या तो स्वयं या उसकी आज्ञानुसार किसी अन्य व्यक्ति को या उस पत्र के वाहक को, माँगने पर या एक निश्चित अवधि के बाद दे दे।

उपरोक्त परिभाषा से यह स्पष्ट है कि बिल ऑफ एक्सचेन्ज कहलाने के लिये पत्र में निम्नलिखित विशेषताओं का होना बहुत आवश्यक है :—

(१) वह एक आज्ञा के रूप में होना चाहिये, निवेदन या प्रतिज्ञा के रूप में नहीं।

(२) यह आज्ञा-पत्र लिखित होना चाहिये।

(३) इसमें कोई शर्त नहीं लगानी चाहिये।

(४) जो व्यक्ति आज्ञा दे उसके इस पर हस्ताक्षर होने चाहिये।

(५) यह आज्ञा एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति को दी जानी चाहिये।

(६) इसका धन माँग पर अथवा एक निश्चित अवधि के बीतने पर देय होना चाहिये।

(७) इनमें किसी निश्चित व्यक्ति को धन चुकाने का निर्देश हो।

(८) जिस रकम के चुकाने की बात हो वह द्रव्य की एक निश्चित और स्पष्ट मात्रा होनी चाहिये।

(९) आदेशित व्यक्ति को यह निर्देश दिया गया हो कि वह लेखक को या किसी निर्दिष्ट व्यक्ति को अथवा उसके आदेशानुसार या वाहक को धन चुकाये।

(१०) मियादी बिलों पर उचित स्टाम्प भी लगना चाहिये।

विनिमय बिल के पक्षकार

बिल ऑफ एक्सचेन्ज में प्राय. तीन पक्ष (Parties) होते हैं :—(१) लेखक (Drawer), जो बिल को लिखता है। यह प्राय: लेनदार होता है। (२) लेखपात्र (Drawee), जिस पर बिल लिखा जाता है। यह प्राय: ऋणी होता है और (३) प्राप्तकर्ता (Payee), जिसे बिल की रकम मिलती है। कभी-कभी बिल के

लेखक को ही बिल की रकम प्राप्त होती है। ऐसी दशा में केवल दो ही पक्ष होते हैं—लेखक एवं लेखपात्र।

बिल ऑफ एक्सचेन्ज का नमूना

नीचे एक देशी बिल का नमूना दिया गया है :—

स्टाम्प | रु० ५००)

बेलनगंज
आगरा।
२७-७-१९६२

इस बिल की तिथि से ६० दिन पश्चात् मुझे या मेरे आदेशानुसार केवल पांच सौ रु० दीजिये, जिसका मूल्य मिल गया है।

सेवा में,

गोपाल माहेश्वरी,
ग्वालियर।

सतीश एण्ड कं०
सतीशचन्द्र मीतल,
साझेदार।

स्वीकार है।
गोपाल माहेश्वरी
२७-७-१९६२

(अंग्रेजी में)

Rs. 500/–

Stamp

Belanganj,
Agra.
27–7–1962

Sixty days after date pay to me or my order the sum of Rupees five hundred only for value received.

Per Pro. Satish & Co.
Satish Chandra Mital
Partner.

To,
Gopal Maheshwari,
Gwalior.

Accepted
G. Maheshwari
28–7–1962

विनिमय बिल का लेखन

एक बिल आफ एक्सचेन्ज लिखते समय निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिये (१) तिथि, (२) बिल की अवधि; (३) बिल की धन राशि; (४) पक्षों के नाम; एवं (५) स्टाम्प। इन बातों पर विस्तार से नीचे प्रकाश डाला गया है :—

(१) तिथि (Date)—विनिमय बिल में तिथि का बहुत महत्व है, क्योंकि इसी के आधार पर, बिल की अवधि जोड़ कर, भुगतान करने का दिन मालूम किया जाता है। साधारणतः जिस दिन बिल लिखा जाता है उसी दिन की तिथि बिल में उल्लेख की जाती है। किन्तु बिल में तिथि बाद को भरने के लिये भी छोड़ी जा सकती है। ऐसी दशा में बिल में तिथि डालने वाले धारी को चाहिये कि तिथि की सूचना लेख-पात्र को दे दें, जिससे कि वह भुगतान की व्यवस्था कर सके।

(२) बिल की अवधि (Tenor of the Bill)—वह समय जिसके व्यतीत होने पर लेख-पात्र या देनदार (Drawee) बिल के धन का भुगतान करता है 'बिल की अवधि' कहलाता है। दर्शनी बिलों में 'अवधि' की समस्या नहीं है, क्योंकि उनका भुगतान बिल को देखते ही अथवा भुगतान की माँग किये जाने पर करना पड़ता है किन्तु अवधि वाले बिलों का भुगतान 'अवधि' बीतने पर किया जाता है।

बिल का भुगतान करने वाले की सुविधा को ध्यान में रखकर अवधि बीतने पर उसे तीन दिन अनुग्रह के रूप में दिये जाते है। अत: बिल की तिथि में अवधि जोड़कर जो तिथि निकले उसमें तीन दिन और जोड़ दिये जाते हैं। इस प्रकार जो तिथि निकले उसे 'परिपक्वता दिवस' (Date of Maturity) कहते हैं। इस दिन तक बिल का भुगतान अवश्य हो जाना चाहिये। यदि ऐसा न हुआ तो बिल तिरस्कृत समझा जावेगा तथा बिल के देनदार के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही की जा सकेगी। अनुग्रह के रूप मे जो तीन दिन दिये जाते हैं उन्हें अनुग्रह दिवस (Days of Grace) कहते हैं।

विनिमय बिल लिखते समय स्मरणीय प्रमुख बातें

(१) जिस दिन बिल लिखा जाय उसी दिन की तिथि बिल में दीजिये।
(२) बिल की अवधि स्पष्ट लिखिये।
(३) बिल की धन राशि स्पष्टतः शब्दों में व अंकों में लिखिये।
(४) बिल के देनदार का नाम अन्त में बायीं ओर तथा प्राप्तकर्त्ता का नाम बिल के मुख्य भाग में दीजिये।
(५) 'मूल्य प्राप्त' शब्द बिल के मुख्य भाग में अवश्य दीजिये।
(६) लेखक के रूप में अपना नाम स्पष्टतः हस्ताक्षर कीजिये।

(३) बिल की धनराशि (Amount of the Bill)—बिल की धनराशि स्पष्ट रूप से बिना काटे लिखनी चाहिये। चैक की भाँति बिल में भी धनराशि दो बार लिखी जाती है—एक बार शब्दों में (in words) बिल के मुख्य भाग में और, दूसरी बार अंकों में (in figures) बिल में स्टाम्प के ऊपर।

(४) पक्षों के नाम (Parties to the Bill)—जैसा कि हम आपको ऊपर बता चुके है, एक बिल आफ एक्सचेन्ज में निम्न पक्ष होते हैं—लेखक, लेखपात्र (अथवा देनदार) एवं प्राप्तकर्ता। लेखक का नाम उसके हस्ताक्षरों के रूप मे बिल के लेख के अन्त मे दायी ओर दिया जाता है। प्राप्तकर्त्ता का नाम बिल के मुख्य भाग में तथा लेखपात्र का नाम बिल के नीचे बायी ओर लिखा जाता है।

(५) स्टाम्प (Stamp)—एक दर्शनी बिल के अतिरिक्त अन्य सभी बिलों पर उनकी धनराशि के अनुसार स्टाम्प लगाना आवश्यक है।

नोट—प्राय: बिलों पर 'मूल्य प्राप्त' (Value received) शब्द लिखे रहते हैं। इन शब्दों से यह प्रमाणित होता कि लेखपात्र को बिल की धनराशि का भुगतान करने के बदले में उचित धन या सेवा दी जा चुकी है। भारतीय अनुबन्ध अधिनियम के अन्तर्गत किसी अनुबन्ध को तब ही कानूनी रूप से लागू कराया जा सकता है जबकि उसमें प्रतिफल (बदला) उपस्थित हो।

बिलों के भेद

बिलो के भेद निम्न प्रकार किये जाते हैं :—

(१) वाहक बिल एवं आदेशानुसार बिल—पाने वाले की दृष्टि से बिल दो प्रकार के हो सकते हैं :—(i) वाहक बिल (Bearer Bill), जिसका भुगतान कोई भी व्यक्ति, जो बिल का धारी है, ले सकता है; एवं (ii) आदेशानुसार बिल (Order Bill) जिसका भुगतान केवल वही व्यक्ति ले सकता है जिसका नाम प्राप्तकर्ता के रूप मे बिल के मुख्य भाग मे दिया गया है अथवा जिसे इस व्यक्ति की अनुमति या आदेश प्राप्त हो। आदेशानुसार बिल का स्वामित्व बदलने के लिये, चैकों की भांति इस पर भी बेचान करना आवश्यक है।

(२) देशी बिल एवं विदेशी बिल—स्थान की दृष्टि से बिलों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—(i) देशी बिल (Inland Bill), वह है जो एक ही देश मे रहने वाले व्यक्तियो द्वारा परस्पर लिखा एवं स्वीकार किया जाता है; एवं (ii) विदेशी बिल (Foreign Bill) वह है जो किसी अन्य देश के व्यक्ति पर लिखा गया अथवा अन्य देश के व्यक्ति द्वारा भुगताया जाय।

(३) व्यापारिक बिल एवं अनुग्रह बिल—उद्देश्य को ध्यान में रखते हुये बिलो को निम्न दो श्रेणियों मे रखा जा सकता है :—(i) व्यापारिक बिल, (Trade Bill) जो किसी सौदे के भुगतान के लिये प्रयोग मे लाया जाय, एवं (ii) अनुग्रह बिल (Accommodation Bill), जो एक मित्र दूसरे मित्र की आर्थिक सहायता के लिये लिखता है। इसमे धन का भुगतान करने वाले को कोई प्रतिफल नही मिलता। बिल के भुनाने से जो रुपया प्राप्त होता है उसे वे परस्पर बांट लेते हैं तथा परिपक्वता दिवस पर अपने-अपने अंशानुसार रुपया एकत्र करके विनिमय बिल का भुगतान कर देते हैं।

(४) मियादी बिल एवं दर्शनी बिल—भुगतान के समय के आधार पर बिलों के निम्न भेद किये जाते हैं :—(i) दर्शनी बिल (Demand Bill), जिसका भुगतान बिल को प्रस्तुत करने पर तुरन्त ही देना पड़ता है, तथा (ii) मियादी बिल (Tenor Bill), जिसका भुगतान एक निश्चित अवधि व्यतीत होने पर ही किया जाता है।

बिल का स्वीकरण

चैक और बिल मे एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि चैक को भुगतान के लिये वैध बनाने के लिये उस पर देनदार बैंक की स्वीकृति की आवश्यकता नही है लेकिन बिल को भुगतान के लिये तब ही वैध बनाया जा सकता है जबकि उस पर देनदार (Drawee) की स्वीकृति मिल जाय। स्वीकृति के बिना बिल का कोई उपयोग नही है वह व्यर्थ है। इसके आधार पर कथित देनदार को दायी नहीं ठहराया जा सकता, स्वीकृति के पहले बिल वास्तव में एक 'ड्राफ्ट' मात्र है। उस पर स्वीकृति मिलने पर ही वह कानूनी पूर्णता प्राप्त करता है और बिल आफ एक्सचेन्ज कहलाता है।

जब बिल का लेखपात्र बिल के सन्मुख भाग पर इस आशय से अपने हस्ताक्षर करता है कि वह बिल में निर्देशित रकम निश्चित समय पर निर्देशित व्यक्ति को देने के लिये तैयार है, तो इसे 'बिल की स्वीकृति' (Acceptance of a Bill) कहते हैं। हस्ताक्षर के साथ 'स्वीकृत' शब्द लिखना या न लिखना महत्वपूर्ण नहीं है। स्वीकृति देने पर 'लेखपात्र' को स्वीकर्ता (Acceptor) भी कहते हैं। एक स्वीकर्ता बिल के भुगतान के लिये कानून दायी होता है।

'स्वीकृति' कई प्रकार से दी जा सकती है। विभिन्न प्रकार की स्वीकृतियों पर नीचे प्रकाश डाला गया है :—

(I) सामान्य स्वीकृति (General Acceptance)—जब बिल का देनदार बिल के सब निर्देशों को ज्यों का त्यों मानते हुये उस पर अपनी स्वीकृति देता है अर्थात् बिल की सब शर्तों को मान लेता है, अपनी ओर से उसमें घटा-बढ़ी नहीं करता, तो ऐसी स्वीकृति को 'सामान्य स्वीकृति' कहते हैं। कभी-कभी बिल का देनदार अपनी स्वीकृति में भुगतान के स्थान का भी उल्लेख कर देता है, जिसे बिल का अधिवास (Domicile) कहते हैं। सामान्य स्वीकृति का नमूना नीचे दिया जाता है :—

Accepted S. C. Mital 5/1/63	Accepted payable at Agra office S. C. Mital 5/1/63

(II) विशेष स्वीकृति (Qualified Acceptance)—जब बिल का देनदार बिल को सम्पूर्ण रूप में स्वीकृत नहीं करता, वरन् कुछ मर्यादाओं (Limitations) के साथ स्वीकृत करता है, तो इसे 'विशेष' या 'मर्यादित स्वीकृति' कहते हैं। विभिन्न मर्यादायें निम्न हो सकती है :—

(१) भुगतान के समय को बढ़ाना—जब बिल का देनदार बिल की धनराशि उल्लेखित अवधि से अधिक समय के बाद भुगतान करने की मर्यादा के साथ बिल को स्वीकार करता है, तो इसे 'समय मर्यादित स्वीकृति' (Acceptance qualified as to time) कहते है। इसका नमूना नीचे दिया गया है :—

Accepted payable three months after date. Satish Chandra Mital 5-1-63.	तिथि के तीन माह बाद भुगतान के लिये स्वीकृत सतीशचन्द्र मीतल ५-१-६३

(बिल की उल्लेखित अवधि दो माह थी)

(२) भुगतान को स्वीकृति उल्लेखित धनराशि के एक अंश के लिये देना—जब बिल का देनदार बिल की सम्पूर्ण धन-राशि के बजाय इसके एक अंश का ही भुगतान देना स्वीकार करे (जैसे ५ ०००) के बिल को ३,०००) के लिये स्वीकार

करे), तो ऐसी स्वीकृति को 'आंशिक स्वीकृति' (**Partial Acceptance**) कहते हैं।

Accepted payable for Rupees Three thousand only Satish Chandra Mital 5-1-63.	केवल तीन हजार रु० के लिए स्वीकृत सतीश चन्द्र मीतल ५-१-६३

(३) विशेष स्थान पर भुगतान करने के प्रतिबन्ध वाली स्वीकृति—जब बिल का देनदार बिल को स्वीकार तो करता है लेकिन इसके साथ यह मर्यादा जोड़ देता है कि वह अमुक स्थान पर ही बिल का भुगतान करेगा अन्यत्र नहीं, तो ऐसी स्वीकृति को 'स्थानीय स्वीकृति' (**Local Acceptance**) कहते है।

Accepted payable at Allahabad Bank Ltd. *and there only.* Satish Chandra Mital 5-1-63.	भुगतान इलाहाबाद बैंक में और वहीं होने के लिए स्वीकृत सतीश चन्द्र मीतल ५-१-६३

(४) कुछ ही देनदारों द्वारा स्वीकृति देना—जब किसी बिल के कई देनदार (**Drawees**) हों, और इनमें से कुछ ही देनदार बिल पर स्वीकृति देते हैं, सब देनदार स्वीकृति नहीं देते, तो इसे 'कुछ ही देनदारों द्वारा स्वीकृति' (**Acceptance by some of the Drawees only**) कहते है। मान लीजिये, एक बिल राम, श्याम, मोहन एवं हरेश पर सम्मिलित रूप से लिखा गया है, और इसे केवल राम और मोहन ही स्वीकार करते हैं, तो यह 'कुछ ही देनदारों को स्वीकृति' कही जायेगी।

Accepted Ram Mohan 5-1-63.	स्वीकृत राम मोहन ५-१-६३

(५) भुगतान को किसी घटना विशेष पर आधारित करना—जब बिल का देनदार किसी विशेष घटना के आधार पर ही भुगतान देना स्वीकार करे, तो इसे 'शर्तयुक्त स्वीकृति' (**Conditional Acceptance**) कहेंगे।

Accepted payable on realisation of my debts. Satish Chandra Mital 5-1-63	मेरे ऋण वसूल हो जाने पर भुगतान के लिए स्वीकृत। सतीश चन्द्र मीतल ५-१-६३

यह उल्लेखनीय है कि जब बिल का देनदार बिल पर मर्यादित स्वीकृति देता है, तो लेखक को यह अधिकार है कि वह ऐसे बिल को ग्रहण न करे तथा यह मान ले कि बिल अप्रतिष्ठित हो गया है। दर्शनी बिल पर 'स्वीकृति' की आवश्यकता नहीं है। बिल का भुगतान करना ही ऐसे बिल की स्वीकृति होता है। यदि लेखक बिल को स्वीकृति के लिये देनदार के पास भेजे, क्योंकि उधार माल बेचते समय परस्पर ऐसा तय हो चुका था, किन्तु देनदार उस पर स्वीकृति न दे, तो लेखक बिल को अप्रतिष्ठित मान सकता है और उचित कानूनी कार्यवाही द्वारा माल का मूल्य वसूल कर सकता है। बिल के आधार पर कानूनी कार्यवाही तब ही की जा सकेगी जबकि उस पर स्वीकृति मिल गई हो। स्वीकृति के अभाव में देनदार के विरुद्ध मूल अनुबन्ध के आधार पर ही दावा किया जा सकता है, बिल के आधार पर नहीं।

आवश्यकता के समय देनदार

जब बिल के लेखक को यह पूर्ण विश्वास नहीं होता कि बिल का देनदार इसे स्वीकार करेगा या नहीं अथवा स्वीकृति के पश्चात् उसका उचित समय पर भुगतान करेगा या नहीं, तो बिल के धारी को असुविधा से बचाने तथा अपनी प्रतिष्ठा-रक्षा के लिये वह बिल में एक अन्य विश्वसनीय व्यक्ति का नाम भी देनदार के रूप में लिख देता है। ऐसे व्यक्ति को 'आवश्यकता के समय देनदार' (Drawee in case of need) कहा जाता है। यदि मुख्य देनदार बिल पर स्वीकृति या भुगतान न दे, तो उक्त व्यक्ति ऐसा कर देगा। 'आवश्यकता के समय देनदार' का नाम बिल के अन्त में नीचे लिखा जाता है। विदेशी बिलों में प्रायः ऐसी व्यवस्था करदी जाती है :—

In case of need apply to
Ms .V. K. & Sons,
London

बिल का धारी, यथाविधिधारी एवं मूल्यार्थधारी

किसी विशेष समय पर जिस व्यक्ति के पास बिल हो, उसे उस समय उस बिल का 'धारी' (**Holder of a Bill**) कहते है।

'यथाविधिधारी' (Holder in due course)—उस व्यक्ति को कहते है जिसने विपत्र को परिपक्वता दिवस के पहले, पूर्ण सद्भावना के साथ, सम्पूर्ण मूल्य का भुगतान करके तथा विपत्र सम्बन्धी दोषों के अन्जान में पाया हो। ऐसे व्यक्ति को अपने बेचानकर्त्ता की अपेक्षा श्रेष्ठ स्वत्वाधिकार प्राप्त होता है।

मूल्यार्थधारी (Holder for value)—वह व्यक्ति है, जो बिल का स्वामी तो है लेकिन जिसने उसका मूल्य न दिया हो। उदाहरण के लिये, यदि सतीश के पास एक १०,००० रु० का बिल है, जो उसने राम से माल की बिक्री के सम्बन्ध मे प्राप्त किया था, और इसे वह अग्रवाल इन्टर कालेज को दान में दे देता है, तो अग्रवाल इन्टर कालेज इस बिल का 'मूल्यार्थ धारी' कहलायेगा, क्योंकि बिल का मूल्य कालिज द्वारा नहीं चुकाया गया है। हाँ, सतीश बिल का यथाविधिधारी है, क्योंकि उसने बिल को परिपक्वता दिवस के पूर्व, सद्भावना के साथ तथा मूल्य का भुगतान करके पाया था।

जबकि यथाविधिधारी को अपने पूर्व बेचानकर्ताओं की अपेक्षा श्रेष्ठ अधिकार मिलता है तब मूल्यार्थ धारी के बारे में यह बात नहीं है। यदि सतीश का अधिकार दूषित था, तो बिल के प्रति अग्रवाल कालेज का अधिकार भी दूषित माना जायेगा और ऐसी दशा मे वह आवश्यकता पड़ने पर राम के विरुद्ध वाद प्रस्तुत करने का अधिकारी नहीं होगा।

विदेशी बिल

स्थान की दृष्टि से बिल दो तरह का हो सकता है। देशी बिल (Inland-Bill) एवं विदेशी बिल (Foreign Bill)। देशी बिल वह है जो भारत में लिखा जाय और जिसका भुगतान भारत मे करना होगा या जिसका लेखपात्र (Drawee) भारत मे रहता हो। जो बिल इस प्रकार नही लिया जाता या जिसका भुगतान इस प्रकार नही करना होता उसे 'विदेशी बिल' कहते हैं। विदेशी बिल प्राय: 'तीन प्रतियों' में (in a set of three) लिखे जाते हैं। प्रत्येक प्रति दूसरी प्रति की 'सहप्रति' (via) कहलाती है। तीन प्रतियाँ लेने का कारण यह है कि जब विदेश को डाक द्वारा बिल भेजा जाता है, तो उसके खोने पर स्वीकरण करने या भुगतान करने में देरी होगी। इसे बचाने के लिये बिल की तीन प्रतियाँ तैयार की जाती हैं और उन्हें अलग-अलग डाक से भेजा जाता है ताकि कोई न कोई प्रति तो पहुँच ही जाय। सबसे पहले जो प्रति पहुँच जावे, उस पर ही स्वीकृति या भुगतान होगा। अन्य प्रतियाँ स्वत: रद्द हो जाती हैं।

विदेशी बिल किसी भी उपयुक्त कागज पर लिखा जा सकता है। किन्तु इस पर दो बार स्टाम्प लगाना पड़ता है। एक बार तो लेखक के देश मे और दूसरी बार लेख-पात्र के देश मे। यह प्राय: अंग्रेजी भाषा में लिखा जाता है। अप्रतिष्ठित होने पर इसे नोट कराना आवश्यक है। विदेशी बिलों मे 'आवश्यकता के समय लेखपात्र' (Drawee in case of need) का नाम भी दे दिया जाता है, जो बिल के वास्तविक लेखपात्र द्वारा बिल को स्वीकृति न देने पर या भुगतान न करने पर यथाविधि-धारी को स्वयं स्वीकृति या भुगतान दे देता है।

एक विदेशी बिल का नमूना नीचे दिया जाता है :—

विदेशी बिल का नमूना (हिन्दी में) (द्वितीय प्रति)

पौंड ३५० बेलनगंज,
आगरा
१८–७–१९६३

स्टाम्प

इस द्वितीय विपत्र के दर्शन के साठ दिन बाद (यदि इस तिथि एवं मियाद के प्रथम एवं तृतीय विपत्र का भुगतान किया गया हो) पंजाब नेशनल बैंक आफ इंडिया को केवल तीन सौ पचास पौंड दीजिये, जिसका मूल्य दिया जा चुका है।

सेवा में
सर्वश्री पार्किन्सन एन्ड सन्स
लन्दन

सतीश एण्ड कम्पनी के लिये,
सतीशचन्द्र
साझेदार।

(अंग्रेजी में)

£ 350-0-0 | Belanganj, Agra 18-7-1963

Stamp

Sixty days after sight of this Second of Exchange (First and Third of the same tenor and date being unpaid) pay to the Punjab National Bank of India Ltd., Pounds three hundred and fifty only, for value received.

To
M/s. Parkinson & Sons.
London

For Satish & Co.
Satish Chandra
Partner.

बिल और चैक में समानतायें एवं भिन्नताएं

बिल और चैक की तुलना करने पर उनमें निम्न समानतायें एवं भिन्नतायें दृष्टिगोचर होती हैं :—

समानतायें

(१) दोनों में तीन पक्षकार होते हैं—लेखक, लेखपात्र एवं प्राप्तकर्ता है।
(२) दोनों पर बेचान किया जा सकता है।
(३) दोनों लिखित आदेश के रूप में व शर्तरहित होते हैं।
(४) दोनों पर लेखक के हस्ताक्षर होना आवश्यक है।
(५) दोनों ही विनिमय साध्य होते हैं।
(६) दोनों ही वाहक को अथवा आदेशानुसार देय हो सकते हैं।

भिन्नतायें

(१) बिलों पर स्वीकृति आवश्यक होती है जबकि चैक पर स्वीकृति का प्रश्न ही नहीं उठता।
(२) बिल पर रेखांकन नहीं किया जाता है लेकिन चैक पर किया जाता है।
(३) बिल में किसी व्यक्ति, फर्म या कम्पनी को आज्ञा दी जाती है किन्तु चैक में सदैव किसी बैंक को ही आज्ञा दी जाती है।
(४) बिल का भुगतान परिपक्वता दिवस (Maturity) पर होता है किन्तु चैक का भुगतान तुरन्त उपस्थित करने पर मिल जाता है।
(५) बिल के अप्रतिष्ठित होने की सूचना सभी सम्बन्धित पक्षों को देना आवश्यक है जबकि चैक की अप्रतिष्ठा की सूचना देना आवश्यक नहीं है।
(६) यदि बिल का धारी बिल को परिपक्वता दिवस पर भुगतान के लिए प्रस्तुत नहीं करे, तो इससे बिल के लेखक और बेचानकर्त्ताओं का दायित्व समाप्त हो जाता है। किन्तु, यदि चैक को उचित समय के भीतर बैंक की खिड़की पर भुगतान के लिये प्रस्तुत न किया जाय, तो इससे लेखक की देनदारी समाप्त नहीं होती।

(७) परिपक्वता दिवस पर बिल का भुगतान करने के लिए लेखक और स्वीकर्त्ता दोनों ही दायी हैं लेकिन जब चैक का लेखक भुगतान रोक दे या उसकी मृत्यु हो जाय अथवा वह दिवालिया हो जाय तो बैंक दायी नहीं होता।

बिलों के लाभ

विनिमय बिलों के प्रयोग से व्यापारी-समाज को अनेक लाभ हैं, जिनको संक्षेप में नीचे बताया गया है :—

(i) विनिमय बिल 'विनिमय साध्य पत्र' (Negotiable Instrument) होने के कारण ऋण के भुगतान मे एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को और दूसरे से तीसरे व्यक्ति को सरलतापूर्वक हस्तांतरित होते रहते हैं।

(ii) विदेशों का भुगतान भेजने के लिये बिल एक सस्ता व सरल साधन है। बिलो के कारण विभिन्न देशो की मुद्रा मे ही भुगतान किया जाना संभव हो गया है।

(iii) यदि बिल का धारी परिपक्वता के पूर्व ही इसका भुगतान पाना चाहे, तो किसी अन्य व्यापारी से अथवा अपने बैंक से छूट पर बिल को भुना कर ऐसा कर सकता है।

(iv) यह ऋणी की एक लिखित स्वीकृति है, जिसके अन्तर्गत वह बिल की धनराशि एक निर्देशित व्यक्ति को एवं एक निश्चित समय पर चुकाने का आश्वासन देता है। अतः भुगतान न मिलने की दशा मे इस प्रमाण के आधार पर वाद प्रस्तुत करना सरल हो जाता है।

(v) ऋणी को बिल स्वीकार करने की दशा मे भुगतान की तिथि का स्पष्ट ज्ञान होता है। अत: वह पहले से इसकी व्यवस्था कर लेता है तथा ऋणदाता को बार-बार स्मरण कराने की आवश्यकता नही पड़ती है।

(vi) बिलो के चलन से व्यापार को बहुत प्रोत्साहन मिला है क्योंकि इसके आधार पर उधार माल देना अत्यन्त सरल हो गया है। यदि कोई देनदार अपने बिल का भुगतान नहीं करे, तो उसकी साख गिर जाती है तथा वह बाजार में बदनाम हो जाता है। अत: प्रत्येक व्यापारी बिलों को समय पर प्रतिष्ठित करने का भरसक प्रयत्न करता है।

(III) हुन्डी (Hundi)

'हुण्डी' से आशय

बिलों से मिलती-जुलती हुण्डियाँ है, जो प्राय: हिन्दी या मुड़िया में लिखी जाती हैं। 'हुण्डी' वास्तव में भारतीय बिल ऑफ एक्सचेन्ज है, जिसका भारतीय व्यापारी, महाजन आदि बहुत प्रयोग करते हैं। बिलो की भाँति इसमें भी तीन पक्ष होते हैं, वह माँग पर देय अथवा मियादी हो सकती है, स्टाम्प बिल की भाँति लगता है, बट्टे पर भुनाई जाती है, बेचान हो सकता है तथा इसमे भी रियायती दिन देने की प्रथा है।

हुण्डी के भेद

पाने वाले की दृष्टि से हुण्डी के निम्न भेद हो सकते हैं—

(१) शाह जोग हुण्डी—जिसका भुगतान केवल शाह के द्वारा होता है। प्रत्येक ः मे कुछ व्यक्ति शाह माने जाते हैं। यह कुछ रेखांकित चैक के समान है।

(२) नाम जोग हुण्डी—इसका भुगतान केवल उस व्यक्ति को ही किया जाता है, जिसका नाम इसमें लिखा हो। अतः भुगतान करने वाले को यह देख लेना चाहिए कि वह वास्तविक अधिकारी को भुगतान कर रहा है या नहीं, क्योंकि अनुचित भुगतान करने पर उसे हानि उठानी पड़ेगी।

(३) फरमान जोग हुण्डी—इसका भुगतान उस व्यक्ति को, जिसका नाम हुन्डी में निर्दिष्ट किया गया है, या उसके फरमान (अर्थात् आदेश) के अनुसार किया जायेगा। यह एक आर्डर बिल या चेक की भाँति है और इस पर बेचान आवश्यक होता है।

(४) देखनहार हुण्डी—इसका भुगतान वाहक को दिया जायेगा। इस पर बेचान की आवश्यकता नहीं है।

समय की दृष्टि से हुन्डी के दो भेद हैं—(१) मिती हुन्डी, जो एक निश्चित अवधि (प्राय. ६० या ६१ दिन) के पश्चात् देय (Due) होती है। १ से लेकर ११ दिन तक अनुग्रह दिवस (जिन्हें 'मिलास' कहते हैं) भी प्रदान किये जाते हैं। धनराशि के अनुसार इन पर स्टाम्प भी लगाना पड़ता है। (२) दर्शनी हुण्डी, जो माँग पर देय है। इस पर कोई स्टाम्प नहीं लगाया जाता।

अन्य भेद—(१) जोखमी हुण्डी एक प्रकार की अन्य हुन्डी भी है, जो शर्त युक्त होती है। यह 'जोखमी हुण्डी' कहलाती है। इसका भुगतान माल की सुपुर्दगी पर होता है। यह विनिमय साध्य लेखपत्रों के अन्तर्गत शामिल नहीं की जाती, क्योंकि यह शर्तयुक्त होती है। (२) जिकरी चिट्ठी विदेशी बिलों की भाँति हुन्डी में भी वास्तविक लेख-पात्र के भुगतान न करने पर भुगतान दिलाने के उद्देश्य से लेखक प्राप्तकर्ता को एक ऐसे व्यक्ति के नाम पत्र दे देता है, जो भुगतान कर दे। यह 'जिकरी चिट्ठी' कहलाती है।

हुन्डी का नमूना

नीचे एक दर्शनी हुन्डी का नमूना दिया गया है, जिसमें लेखक (Drawer) आगरे के मनोहरदास हैं और जो ग्वालियर के प्रेमप्रकाश गुप्ता पर लिखी गई है। इसकी रकम ५००) है और इसके पाने वाले हरीप्रकाश खन्ना हैं।

दर्शनी हुण्डी का नमूना

सिद्ध श्री ग्वालियर शुभस्थान भाई प्रेमप्रकाश गुप्ता आगरे से मनोहरदास की राम-राम बंचना। आगे हुन्डी कीनी नग १ आपके ऊपर दिया रुपया ५००) अंकेन पाँच सौ के नीमे ढाईसौ के दूने पूरे देना। यहाँ रक्खे भाई हरीप्रकाश खन्ना पास मिती पौष बदी ८ हुन्डी पहुँचे तुरन्त शाह जोग चलन बाजार ठिकाना लगाय दाम चौकस कर देना।

हुन्डी लिखी मिती, पौष बदी २ सम्वत् २०१९
मनोहरदास

नोट—हुन्डी की पीठ पर यह भी लिखा जायेगा—

नीमे के नीमे रुपया सवासौ के चौगुने पूरे रुपया चौकस कर देना।
५००)
श्री पत्री भाई प्रेमप्रकाश गुप्ता
ग्वालियर।

मिती हुन्डी का नमूना

टि क ट

सिद्ध श्री ग्वालियर शुभस्थान भाई प्रेमप्रकाश गुप्ता आगरे से मनोहरदास की राम-राम बंचना। आगे हुन्डी कीनो नग १ आपके ऊपर दिया रुपया ५००) अंकेन पांच सौ के नीमे ढाई सौ के दूने पूरे देना। यहाँ रखसे भाई हरीप्रकाश खन्ना पास मिती पौष बदी ८ के दिन इकसठ पीछे शाह जोग चलन बाजार ठिकान लगाय दाम चौकस कर देना।

मनोहरदास

नोट—हुन्डी की पीठ पर पहले की भाँति लिखा जायेगा।

(IV) प्रोनोट (प्रण-पत्र) (*Promissory Note*)

प्रोनोट की परिभाषा एवं विशेषतायें

प्रोनोट या प्रामिसरी नोट एक शर्त रहित लिखित पत्र है (बैंक अथवा करेन्सी नोटों के अतिरिक्त) जिसमें उसका लेखक (Maker) एक व्यक्ति विशेष को अथवा उसके आदेशानुसार किसी व्यक्ति को या वाहक को माँगने पर या एक निश्चित समय के पश्चात् एक निश्चित रकम चुकाने का वचन देता है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया जो नोट चालू करता है वे सब प्रोनोट हैं किन्तु कानून ने उन्हें साधारण प्रोनोटों की श्रेणी से अलहदा कर दिया है। कानून के अनुसार कोई भी व्यक्ति 'माँग पर देय' एवं 'वाहक को देय' दोनों ही बातें एक प्रोनोट में नहीं लिख सकता।

प्रोनोट के पक्षकार

प्रामिसरी नोट में केवल दो ही पक्ष होते हैं—लेखक (Maker), जो प्रोनोट लिखता है। यह प्राय: ऋणी होता है; और (२) प्राप्तकर्त्ता (Payee), जिसके पक्ष में प्रतिज्ञा की जाती है। यह व्यक्ति प्राय: लेनदार होता है। चूँकि ऋणी स्वयं प्रोनोट लिखता है इसलिये इसके स्वीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है। हाँ, प्रोनोट पर रकम के अनुसार रेवेन्यू स्टाम्प लगाना आवश्यक है चाहे वह मियादी हो या दर्शनी।

प्रोनोट के भेद

प्रोनोट के भेद निम्न चार्ट में दिखाये गये हैं :
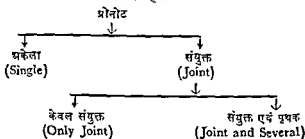
अकेला प्रोनोट वह है जिसमें प्रतिज्ञा करने वाला अर्थात् रकम चुकाने वाला केवल एक अकेला व्यक्ति हो। संयुक्त प्रोनोट वह है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति मिल कर रकम चुकाने की प्रतिज्ञा करते हों। यदि प्रोनोट केवल संयुक्त है, तो प्राप्तकर्त्ता को भुगतान न मिलने की दशा में सब व्यक्तियों पर दावा करना होगा। यदि प्रोनोट संयुक्त एवं पृथक हैं; तो केवल कुछ प्रतिज्ञा करने वालों पर ही वसूली के लिये दावा किया जा सकता है। बाद में, पूरी रकम वसूल न होने पर, अन्य व्यक्तियों पर भी दावा किया जा सकता है। नीचे अकेले प्रोनोट का नमूना है :—

(हिन्दी में)

आगरा
२७ जुलाई,१६६२।

१,०००)

स्टाम्प

आज से तीन महीने पश्चात् मैं श्री डी० पी० अग्रवाल को या आदेशानुसार केवल एक हजार रु० देने की प्रतिज्ञा करता हूँ, जिसका मूल्य मिल गया है।

सतीशचन्द्र

निम्न एक संयुक्त प्रोनोट का नमूना (अंग्रेजी मे) है :—

Agra
27th July, 1962

1,000/-

Stamp

One month after date we Promise to pay Shri D. P. Agrawal, a sum of Rs. one thousand only, value received.

Satish Chandra
Mahesh Chandra

बिल तथा प्रोनोट में अन्तर

एक विनिमय विपत्र या बिल आफ एक्सचेन्ज और प्रतिज्ञा-पत्र अथवा प्रोनोट में अन्तर की ६ बातें हैं :—

(१) पक्षकार—एक बिल में तीन पक्ष होते है जबकि प्रोनोट में केवल दो।

(२) लिखने वाला—बिल को प्राय: लेनदार (Creditor) लिखता है जब कि प्रोनोट एक देनदार द्वारा लिखा जाता है।

(३) स्वरूप—बिल में धन चुकाने का आदेश होता है जबकि प्रतिज्ञापत्र में धन चुकाने की प्रतिज्ञा होती है।

(४) स्वीकृति—दर्शनी बिलों को छोड़कर अन्य सब बिलों पर स्वीकृति की आवश्यकता रहती है लेकिन प्रोनोट मे स्वीकृति की आवश्यकता नहीं है।

(५) प्रतियाँ—विदेशी बिल की तीन प्रतियाँ तैयार की जाती हैं जबकि प्रोनोट सर्वव एक ही लिखा जाता है।

(६) दायित्व—यदि बिल को कई व्यक्तियों ने स्वीकार किया है, तो उसे चुकाने के लिये वे सब सामूहिक रूप से जिम्मेदार होते हैं लेकिन एक प्रोनोट के कई लिखने वालों की जिम्मेदारी सामूहिक एवं व्यक्तिगत होती है।

(७) स्टाम्प—दर्शनी बिल पर टिकट नहीं लगता लेकिन दर्शनी प्रोनोट पर लगता है।

चैक तथा प्रतिज्ञापत्र (प्रोनोट) में अन्तर

एक चैक और एक प्रोनोट में निम्नलिखित अन्तर है :—

चैक (Cheque)	प्रतिज्ञा-पत्र (Pronote)
(१) इसमें तीन पक्ष होते हैं :— लेखक (Drawer), प्राप्तकर्त्ता (Payee) एवं लेखपात्र (Drawee)	(१) इसमें केवल दो ही पक्ष होते हैं :— निर्माणकर्त्ता (Maker) एवं प्राप्तकर्त्ता (Payee)।
(२) इसमें लेखपात्र सदा कोई बैंक ही होता है।	(२) इसमें लेखपात्र कोई भी व्यक्ति, संस्था या फर्म हो सकती है।
(३) यह आज्ञा-पत्र है।	(३) यह प्रतिज्ञा-पत्र है।
(४) यह माँग पर देय होता है।	(४) यह माँग पर देय एवं मियादी भी हो सकता है।
(५) यह विनिमय के माध्यम का काम करता है।	(५) यह प्राय: ऋण लेने के काम में आता है।
(६) चैक रुपया जमा करने वाला जारी करता है।	(६) यह स्वयं ऋणी (Debtor) लिखता है।

(V) ऋण स्वीकृति (I. O. U.)

यह ऋण लेने की एक लिखित स्वीकृति है। इसका लेखक यह स्वीकार करता है कि उसने इस पत्र में लिखी हुई रकम ऋण के रूप में पाई है। इसका अर्थ है कि 'मैं तुम्हारा ऋणी हूँ' (I owe you)। इसमें ऋणी को लेनदार का नाम, धनराशि, ऋण लेने की तिथि और अपना हस्ताक्षर देना आवश्यक है, परन्तु भुगतान की निश्चित तिथि नहीं दी जाती।

ऋण-स्वीकृति का नमूना—एक ऋण स्वीकृति का नमूना इस प्रकार है :—

आगरा
२७ जुलाई, १९६१

श्री डी० पी० अग्रवाल,
मैं आपका पाँच सौ रुपये से ऋणी हूँ।
रु० ५००)

सतीशचन्द्र मीतल

(VI) बैंक ड्राफ्ट (Bank Draft)

परिभाषा—'बैंक ड्राफ्ट' वह चैक है जो एक बैंक किसी दूसरे बैंक के नाम या किसी शाखा के नाम लिखता है। इसमें यह आदेश होता है कि ड्राफ्ट में लिखे

व्यक्ति को या उसके आदेशानुसार व्यक्ति को या ड्राफ्ट के धारक (Bearer) को उसमें लिखित रकम दे दी जाय।

STATE BANK OF INDIA AGRA	
No. 390 Rs. 10,000/-	*Date* Jan. 5, 1963
	On Demand pay to
Satish Chandra Mital	*or order*
the sum of ______________________	
______________________	*value received*
To The State Bank of India Gwalior	For and on Behalf of State Bank of India
Sd. Cashier	Sd. Accountant Sd. Manager

जो व्यक्ति किसी दूसरे स्थान को कुछ रुपया भेजना चाहते हैं वे बहुधा रुपया बैंक-ड्राफ्ट द्वारा भेजा करते हैं। वे आवश्यक रकम को बैंक-कमीशन सहित बैंक के पास जमा करा देते हैं। इसके बदले में बैंक उसे एक ड्राफ्ट दे देता है, जिसे वह उस व्यक्ति के पास डाक द्वारा भेज देता है, जिसे रुपया दिलाना हो। रुपया पाने वाला इस ड्राफ्ट को देनदार बैंक (Drawee Bank) में ले जायेगा तथा ड्राफ्ट के बदले में रुपया प्राप्त कर लेगा। इस प्रकार ड्राफ्ट द्वारा कम व्यय पर रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजा जा सकता है।

(VII) सरकारी हुण्डियाँ (Treasury Bills)

सरकार भी थोड़े समय के लिये जनता से ऋण लेती रहती है। इसके लिये वह हुण्डियाँ देती है, जिन्हें 'सरकारी हुण्डियाँ' कहते हैं। इनकी अवधि प्रायः ३ महीने होती है। कभी-कभी सरकार इन हुण्डियों पर ६, ९ और १२ महीनों के लिये भी ऋण ले लेती है। प्रति मंगलवार को इन हुण्डियों के टेन्डर माँगे जाते हैं। जो व्यक्ति कम से कम ब्याज वसूल करके हुण्डी द्वारा अधिक से अधिक रुपया देना स्वीकार करता है उसी का टेन्डर मान लिया जाता है। ये हुण्डियाँ अत्यन्त सुरक्षित हैं; अतः इन्हें बाजार में सरलता से विनिमय किया जा सकता है।

विनिमय साध्य साख-पत्र

विनिमय साध्य साख-पत्रों से आशय

'विनिमय साध्य साख-पत्रों' से अभिप्राय उन साख-पत्रों का है जिनका स्वामित्व एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को केवल सुपुर्दगी देने या बेचान लिखकर सुपुर्दगी देने से हस्तांतरित हो जाता है। जो साख-पत्र 'विनिमय साध्य' नहीं हैं उनकी तुलना में विनिमय साध्य-पत्रों (Negotiable Instruments) की निम्न चार विशेषतायें हैं :—

(१) **केवल हस्तान्तर या बेचान सहित हस्तान्तर द्वारा अधिकार देना**—अविनिमय साध्य पत्रों का अधिकार दूसरे व्यक्तियों को तब ही मिल सकता है जबकि

आवश्यक ढंग से कानूनी शर्तों के अनुसार उन्हें दूसरों को दिया जायेगा, लेकिन विनिमय साध्य-पत्रों का अधिकार केवल हस्तांतर द्वारा अथवा वेचान सहित हस्तांतर द्वारा अन्य व्यक्तियों को दिया जा सकता है।

(२) धारी को अपने नाम से मुकद्दमा चलाने का अधिकार होना—जबकि अविनियम साध्य-पत्र के पाने वाले को पत्र का अधिकार प्राप्त करने की सूचना देनदार को देनी ही पड़ेगी तब ही वह अपने नाम से देनदार पर मुकद्दमा चला सकता है। लेकिन विनिमय साध्य-पत्र का पाने वाला ऐसी सूचना दिये बिना भी देनदार के भुगतान न करने पर उसके विरुद्ध अपने नाम से ही वाद प्रस्तुत कर सकता है।

(३) प्रतिफल देने का अनुमान कर लेना—विनिमय साध्य-पत्रों के बारे में कानून यह मान कर चलता है कि धारी (Holder) ने उसे उचित बदला देकर प्राप्त किया होगा। अतः यदि कोई व्यक्ति इस विषय में शंका करे, तो इसका प्रतिकूल सिद्ध करने का भार उस पर ही होगा। किन्तु अ-विनिमय साध्यपत्रों के बारे में यह मान कर नहीं चला जाता है और पत्र के धारी को ही यह सिद्ध करना होगा कि उसने पत्र को उचित बदला देकर प्राप्त किया था।

(४) यथाविधिधारी को दोष रहित अधिकार मिलना—विनिमय साध्य-पत्रों को हस्तांतरित करने वाले के अधिकारों में यदि कोई दोष है, तो इसका पत्र के यथाविधिधारी के अधिकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु एक अविनिमय साध्य-पत्र के यथाविधिधारी पर लाछन अवश्य आवेगा।

विनिमय साध्य-पत्रों के भेद

विनिमय साध्य-पत्रों को हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं :—

(१) कानूनी विनिमय साध्य-पत्र—जैसे चैक, बिल एवं प्रामिसरी नोट, जिन्हें कानून ने विनिमय साध्य-पत्र लिया है; और

(२) प्रचलित चलन के विनिमय साध्य-पत्र—जैसे स्टॉक, शेयर एवं डिबेंचर जिन्हें व्यापारियों के बीच प्रचलित चलन के अनुसार अदालत में कानूनी स्वीकृति मिल गई है।

परीक्षा प्रश्न

(१) 'साख पत्र' से क्या आशय है? भारत में प्रचलित विभिन्न प्रकार के साख-पत्रों का वर्णन करिये।

(२) विभिन्न प्रकार के साख-पत्रों की परिभाषा दीजिये तथा प्रत्येक की मुख्य-मुख्य विशेषतायें भी बताइये।

(३) 'विनिमय साध्य साख-पत्र' किसे कहते हैं? उनकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिये। भारत में प्रयोग में आने वाले किन्हीं दो साख-पत्रों की तुलना कीजिये।

(४) एक विनिमय-पत्र और एक प्रतिज्ञा-पत्र में क्या अन्तर है? इसका विवेचन करिये तथा दोनों के एक-एक उदाहरण दीजिये।

(५) चैक तथा प्रतिज्ञा-पत्र में क्या अन्तर है? इसको उचित रूप में बना कर दिखाइये।

पंचम खण्ड

बैंकिंग

(BANKING)

लेखक
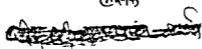
"साहस व्यापार का जीवन है, परन्तु सावधानी,
न कि भीरुता, आधुनिक बैंकिंग
का सार है।"

—बैंजहाट

The Great Men & Their Words

¢¢¢

1. **Findlay Shiras** :—"A banker is a person, firm or company, having a place of business where credits are opened by the deposit or collection of money or currency, subject to be paid or remitted upon draft, cheques, order or where money is advanced or loaned on stocks, bonds, bullion and B/E and P/N are received for discount and sale."

2. **Bagehot** :—"Adventure is the life of Commerce, but caution, if not timidity, is the essence of modern banking."

3. **Bank for International Settlements**—"A Central Bank is the bank in any country to which has been entrusted the duty of regulating the volume of currency and credit in the country."

4. **Hawtray** :—"Bank rate and open market operations are two weapons of credit control, in the hands of a Central Bank."

5. **Taussig** :—"Clearing House is a general organisation of banks of a given place having for its main purpose the off-setting of cross obligations in the form of cheques."

अध्याय १.

बैंक—विकास, परिभाषा, वर्गीकरण एवं कार्य

(Bank—Its Origin, Definition, Classification & Functions)

प्रारम्भिक

आजकल उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जाता है। इसके लिये बहुत विशाल मात्रा में पूंजी की आवश्यकता पड़ती है। जबकि छोटे पैमाने पर उत्पादन करने में लोग अपने मित्रों, सम्बन्धियों और आढ़तियों आदि से रुपया उधार लेकर काम चला लेते हैं तब बड़े व्यवसाय के हेतु आवश्यक पूंजी उन्हें प्रायः बैंकों से ही मिलती है।

बैंकों का उदय

(Origin of Banks)

"बैंक" (Bank) शब्द की उत्पत्ति "Banco" से हुई है, जिसका प्राचीन इटली में अर्थ 'बैंचों' पर बैठ कर द्रव्य बदलना था। प्राचीन समय मे यूरोप व भारत तथा अन्य देशों मे सर्राफ या धनी लोग बैंचों पर बैठकर द्रव्य परिवर्तन (Money Exchange) का कार्य करते थे और बड़ी मात्रा मे देश-विदेश की मुद्रायें इस कार्य के लिये रखते थे। यदि कोई सर्राफ अपने कार्य मे असफल हो जाता था, तो उसकी बैंच तोड़ कर टुकड़े-टुकड़े करदी जाती थी। धीरे-धीरे उन सर्राफों मे जनता का विश्वास जम गया और वह अपना धन सुरक्षा के लिये इनके पास जमा कराने लगी। यह धन चाहे जब वापिस लिया जा सकता था। कालान्तर में सर्राफों ने यह अनुभव किया कि बहुत सा जमा धन उनके पास बेकार पड़ा रहता था, क्योंकि सभी जमा *कराने वाले एक ही समय पर रुपया निकालने नही आते थे, अतः वापिसी की माँग* की पूर्ति के लिये थोड़ा नगद कोष कर, शेष जमा धन वह ऋण पर देने लगे। इससे उन्हें ब्याज की आय होती थी। इधर जमा धन की मात्रा बहुत बढ़ने पर उन्होने न केवल सुरक्षा व्यय लेना बन्द किया वरन् उस पर ब्याज भी देने लगे। इस प्रकार डिपाजिट बैंकिंग का श्रीगणेश हुआ। जनता के विश्वास के कारण जमा की रसीदें लेन-देन मे मुद्रा की भाँति हस्तांतरित होने लगी और इस प्रकार इन रसीदों से चैक प्रणाली का आविष्कार हुआ, जिसे आधुनिक बैंकिंग जगत का एक महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। एक आधुनिक ढंग के बैंक का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम १७ वी शताब्दी में हुआ जबकि इंग्लैण्ड में बैंक ऑफ इंगलैंड की स्थापना हुई।

बैंक की परिभाषा
(Definition of a Bank)

विभिन्न लेखकों द्वारा बैंक की परिभाषा

आधुनिक बैंक विभिन्न प्रकार के कार्य करते हैं। अतः इन विभिन्न कार्यों को करने वाली संस्था (अर्थात् बैंक) की परिभाषा नपे-तुले शब्दों में करना अत्यन्त कठिन है। नीचे कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई परिभाषाओं का उल्लेख किया जाता है :—

(१) किनले (Kinley)—"बैंक एक ऐसी संस्था है जो सुरक्षा का ध्यान रखते हुये ऐसे व्यक्तियों को ऋण देती है जिन्हें इसकी आवश्यकता है, और, जिसके पास व्यक्ति अपना ऐसा रुपया जमा कर देते हैं जो उनके पास अनावश्यक पड़ा है।"[1]

(२) एच० एल० हार्ट (H. L. Hart)—"बैंकर वह व्यक्ति है, जो अपने साधारण व्यवसाय के अन्तर्गत रुपया प्राप्त करता है और जिसे वह उन व्यक्तियों के चैकों का भुगतान करके चुकाता है जिन्होंने या जिनके खातों में यह रुपया जमा किया गया है।"[2]

(३) जौन पैगट (John Paget) कोई भी व्यक्ति या संस्था तब तक बैंकर नहीं कहला सकता जब तक कि वह (i) द्रव्य को डिपाजिट के रूप में नहीं लेता, (ii) चालू खाते में रुपया जमा नहीं करता, (iii) चैकों को निर्गमित करने और अपने ऊपर लिये गये चैकों का भुगतान करने का कार्य नहीं करता, (iv) सादे या रेखांकित चैकों को अपने ग्राहकों के लिये एकत्र नहीं करता और (v) उपरोक्त कार्यों को करने के साथ-साथ निम्न शर्तें भी पूरी करता है—(अ) बैंकिंग उसका मान्य या ज्ञात व्यवसाय हो; (ब) वह अपने को बैंकर मानता हो तथा जनता भी उसे ऐसा ही समझती हो; (स) वह बैंकिंग के कार्य द्वारा लाभ अर्जित करने का उद्देश्य रखता हो तथा (द) उसका यह व्यवसाय मुख्य व्यवसाय हो।"[3]

---

1. "Bank is an establishment which makes to individuals such advances of money as may be required and safely made and to which individuals entrust money when not required by them for use."

2. "A Banker is one who in the ordinary course of his business receives money which he pays by honouring cheques of persons from whom or on whose account he receives it."

3. "No one and no body, corporate and otherwise, can be a banker who does not, (i) takes deposit accounts, (ii) take current accounts, (iii) issue and pay cheques drawn upon himself, (iv) collect cheques—crossed and uncrossed, for his customers and it might be said that even if all the above functions are performed by a person or body corporate, he or it may not be a banker or bank unless he or it fulfills the following conditions—(i) Banking is his or its known occupation ; (ii) he or it may profess himself as a banker and public also think him in the same way ; (iii) To earn the profit from banking is his main aim ; (iv) This mast be his main profession.

(४) फिंडले शिराज (Findlay Shiras)—"बैंकर उस व्यक्ति, फर्म या कम्पनी को कहते हैं जिसके पास एक व्यवसाय-स्थान है, जहाँ पर मुद्रा या करैन्सी के संग्रह या डिपाजिट के आधार पर (जो कि ड्राफ्ट, चैक या आदेश द्वारा लौटाया या भुगतान किया जाने वाला है) साख का कार्य किया जाता है अथवा जहाँ पर स्टाक के आधार पर मुद्रा उधार दी जाती है और बोंड, बुलियन, बिल और प्रोनोट बट्टे पर भुनाये तथा बेचे जाते हैं।"[४]

विभिन्न लेखकों की परिभाषाओं की आलोचना

उपरोक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि प्रत्येक लेखक ने परिभाषा के स्थान पर अधिक महत्व दिया है अर्थात् वे बैंक की परिभाषा देते समय उसके आवश्यक कार्यों को गिनवाते हैं। श्री किनले की परिभाषा में केवल उधार देने और उधार लेने के कार्यों पर बल दिया गया है जबकि बैंक के कई अन्य महत्वपूर्ण कार्य भी हैं। अतः उनकी परिभाषा दोषपूर्ण हैं। किनले की भाँति हार्ट की परिभाषा भी दोषपूर्ण है, क्योंकि उन्होंने, बैंक के समस्त कार्य अपनी परिभाषा में सम्मिलित नहीं किये हैं। श्री पैगट की परिभाषा बहुत निश्चित होते हुये भी उसमें कानूनी दृष्टि से एक दोष है। *पैगट ने बैंक के चार कार्य और उनके साथ चार शर्तें* आवश्यक बताई हैं। लेकिन कानून की दृष्टि से इन शर्तों का कोई महत्व नहीं होता। अतः यदि कोई संस्था उन्हें पूरा न करते हुये भी उक्त कार्य करती है, तो वह व्यावहारिक रूप में बैंक ही कहलायेगी। **फिंडले शिराज** की परिभाषा बहुत संतोषजनक है, क्योंकि इसमें न केवल बैंक के उधार लेने और उधार देने के कार्य वरन् साख उत्पन्न करने तथा एजेन्सी के कार्य भी सम्मिलित कर लिये गये हैं। कुछ व्यक्तियों की सम्मति में यह परिभाषा पूर्ण निर्दोष नहीं है, क्योंकि इसमें बैंक द्वारा करैन्सी के विनिमय और द्रव्य द्वारा व्यापार को सहायता पहुँचाने वाले कार्यों का समावेश नहीं है।

बैंक की सही परिभाषा

सच तो यह है कि तर्क के दृष्टिकोण से भी उपरोक्त परिभाषायें दोषपूर्ण हैं। वास्तव में बैंक की कोई ऐसी परिभाषा होनी चाहिये जो कि सरल हो तथा जिसमें उसकी प्रमुख विशेषतायें स्पष्ट हो सकें। इस आवश्यकता को ध्यान में रखते हुये बैंक की एक उचित परिभाषा इस प्रकार हो सकती है—'बैंक वह व्यक्ति या संस्था है जो मुद्रा और साख में व्यवहार करती है।"[५]

जिस प्रकार एक साधारण दुकान वस्तुओं का क्रय-विक्रय करती है उसी प्रकार *बैंक भी मुद्रा और साख का क्रय-विक्रय करती है।* एक साधारण दुकानदार कम मूल्य पर माल खरीद कर उसे अधिक मूल्य पर बेचता और लाभ कमाता है। यह उसका कुल लाभ है। इसमें से उसके व्यय (जैसे दुकान किराया आदि) घटा कर शुद्ध लाभ निकाला जा सकता है। इसी प्रकार एक बैंकर मुद्रा और साख खरीदता है

4. "A banker is a person, firm or company, having a place of business where credits are opened by the deposit or collection of money or currency; subject to be paid or remitted upon draft, cheques, order or where money is advanced or loaned on stocks, bonds, bullion and B/E and P/N are received for discount and sale."

5. "Bank is an institution dealing in money and credit."

अर्थात् जमा के लिये लेता है और बदले में विक्रेताओं (*जमाकर्ताओं*) को ब्याज रूपी मूल्य देता है। वह मुद्रा और साख को बेचता भी है अर्थात् व्यापारियों को मुद्रा और साख उधार देता है तथा बदले में उनसे ब्याज रूपी मूल्य लेता है। लिया गया ब्याज दिये गये ब्याज से अधिक होता है। इस प्रकार ब्याज के अन्तर से बैंक को कुल लाभ की प्राप्ति होती है और इसमें से अपने तरह-तरह के व्यय घटा कर वह शुद्ध लाभ मालूम कर लेता है। स्पष्ट है कि एक बैंक मुद्रा और साख का व्यवहार करने वाली संस्था है। चूंकि महाजन केवल मुद्रा में ही व्यवहार करता है साख में नहीं, इसलिये उसे बैंक की श्रेणी में सम्मिलित नहीं किया जा सकता है।

भारत में बैंक की परिभाषा—भारत में "बैंक" की परिभाषा सर्वप्रथम **हिल्टन यंग कमीशन** ने सन् १९२५ में दी थी, जो इस प्रकार है :—"बैंक या बैंकर का आशय उस व्यक्ति, फर्म या कम्पनी से है जो स्वयं अपना नाम बैंक या बैंकर रखे, मुद्रा को जमा के रूप में प्राप्त करे तथा चैक, ड्राफ्ट अथवा आज्ञा-पत्रों द्वारा उस जमा राशि को लौटा दे।" सन् १९३६ के **भारतीय कम्पनी विधान** के अनुसार "*बैंकर वह है जिसका मुख्य व्यवसाय जनता से जमा स्वीकार करना है। यह जमा* चैक, ड्राफ्ट आदि की सहायता से निकाली जा सकती है।" (इस विधान में कुछ कार्यों का भी उल्लेख किया गया था जिनके अतिरिक्त कोई अन्य कार्य बैंक नहीं कर सकता था।) **भारतीय बैंकिंग कम्पनीज एक्ट, १९४९** ने बैंकिंग व्यवसाय की अत्यन्त स्पष्ट परिभाषा दी है, जो इस प्रकार है :—

> "*बैंकिंग व्यवसाय वह है जिसमें जनता को उधार देने अथवा विनियोग* के उद्देश्य से जनता का ही धन जमा के रूप में रखा जाय जो माँग पर चैक द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार के आदेश के अनुसार भुगतान किया जाय।"

बैंकों का वर्गीकरण
(Classification of Banks)

आजकल प्रत्येक आर्थिक क्षेत्र में विशिष्टीकरण देखा जाता है। बैंकिंग *व्यवस्था भी इसका अपवाद नहीं है। यही कारण है कि अलग-अलग उद्देश्यों के लिये* अलग-अलग प्रकार के बैंक खोले गये हैं। जो कार्य ये बैंक करते हैं उनके आधार पर इन्हें (विशेषतः भारत में) निम्न तरीके से वर्गित किया जा सकता है :—

(१) **व्यापारिक बैंक (Commercial Banks)**—अधिकांश बैंक व्यापारिक बैंकों की श्रेणी में आते हैं और उनकी स्थापना संयुक्त स्कन्ध कम्पनियों के रूप में होती है। *इनका मुख्य कार्य रुपया जमा करना व उधार देना है। ये तीन सामान्य* कार्य करते हैं—(i) साख-पत्रों का निर्गमन, हुण्डियों और बिलों को भुनाना तथा मूल्यवान वस्तुओं की सुरक्षा। वे अनेक फुटकर कार्य भी करते हैं, जैसे धन का *स्थानान्तरण, यात्री-चैकों का निर्गमन*, ग्राहकों का रुपया संग्रह करना, प्रीमियम भेजना, शेयरों का क्रय-विक्रय, ब्याज व लाभांश का संग्रह और ट्रस्टी आदि का कार्य करना।

(२) **औद्योगिक बैंक (Industrial Banks)**—जैसा कि इनके नाम से स्पष्ट है, औद्योगिक बैंक उद्योगों को आर्थिक सुविधा देने के लिये स्थापित किये जाते हैं। व्यापारिक बैंकों के कोष *अल्पकालीन होते हैं, अतः वे दीर्घकाल के लिये ऋण* नहीं दे सकते, जबकि औद्योगिक बैंकों के कोष दीर्घकालीन होते हैं, अतः वे दीर्घकाल

के लिये ऋण दे सकते हैं। दीर्घकालीन ऋणों की सुविधा के कारण नये मिलों की स्थापना एवं पुराने मिलों के विस्तार में बड़ी सहायता मिलती है। ऋण देने के अतिरिक्त औद्योगिक बैंक अन्य कार्य भी कर रहे हैं, जैसे—औद्योगिक कम्पनियों के शेयरों का खरीदना, बेचना व उन्हें आर्थिक परामर्श देना आदि। भारत में स्वतन्त्रता के पश्चात् ऐसी कई संस्थाओं की स्थापना हुई है जो कि उद्योग-धन्धों को दीर्घकालीन ऋण देती हैं जैसे इण्डस्ट्रियल फायनेन्स कारपोरेशन ऑफ इण्डिया।

बैंकों के ८ भेद :

(१) व्यापारिक बैंक।
(२) औद्योगिक बैंक।
(३) विदेशी विनिमय बैंक।
(४) कृषि अथवा सहकारी बैंक।
(५) डाकखाना बचत बैंक।
(६) देशी बैंकर।
(७) केन्द्रीय बैंक।
(८) विशेष राष्ट्रीय बैंक।

(३) विदेशी विनिमय बैंक (**Exchange Banks**)—इन बैंकों का मुख्य कार्य विदेशी बिलों का क्रय-विक्रय करके विदेशी भुगतान में सहायता पहुँचाना है। विनिमय बैंक की एक देश की शाखा बिल खरीदती है और कीमत चुकाती है तथा फिर दूसरे देश की शाखा इसी बिल को बेचती है और धन वसूल करती है। इस प्रकार बिना धन का हस्तांतरण किये अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन सुगमता-पूर्वक तय हो जाते हैं। विनिमय बैंकों की सहायता के कारण विदेशी व्यापार बहुत बढ़ जाता है। भारत में अब तक विदेशी बैंकों की भारत स्थित शाखायें ही विनिमय बैंकों का कार्य कर रही थीं। अब कुछ भारतीय व्यापारिक बैंकों ने भी इस कार्य में रुचि लेना आरम्भ कर दिया है।

(४) कृषि बैंक अथवा सहकारी बैंक (**Agricultural or Cooperative Banks**)—व्यापारिक एवं औद्योगिक बैंक प्राय: उपयुक्त प्रतिभूति पर ऋण दिया करते हैं जबकि भारतीय कृषक के पास ऋण के लिये कोई प्रतिभूति नहीं होती। इसके अतिरिक्त, उन्हें अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन दोनों ही तरह की साख की आवश्यकता पड़ती है। अत: कृषि की वित्त-व्यवस्था के लिये पृथक बैंकों की आवश्यकता अनुभव की गई। फलस्वरूप देश में सहकारी साख समितियों और भूमि बन्धक बैंकों की स्थापना हुई। सहकारी साख-समितियां, अल्पकालीन एवं भूमि बन्धक बैंक दीर्घ-कालीन ऋणों की व्यवस्था करती हैं।

(५) पोस्ट आफिस सेविंग्ज बैंक (**Post Office Savings Banks**)—बैंकों की शाखायें प्राय बड़े-बड़े नगरों एवं कस्बों में ही होती हैं तथा अधिक बचत करने वाले (अर्थात् धनी) व्यक्ति ही उनमें खाता खोलते हैं। किन्तु भारत की अधिकांश जनता निधन है एवं गाँवों मे निवास करती है। इनकी सुविधा के लिए डाक विभाग ने देश भर मे फैले हुए अनेक डाकखानों में बचत बैंक खोल दिये हैं। ग्रामीण जनता भी इन तक पहुँच सकती है और खाता खोलने के लिए न्यूनतम रकम केवल २ रु० है, जिससे गरीब लोग भी खाता खोल सकते है। इस प्रकार डाकखाने का बचत विभाग देश की अल्प बचतों को प्रोत्साहित करने में बड़ी सहायता करता है।

(६) देशी बैंकर (**Indigenous Bankers**)—इनके अन्तर्गत महाजन और साहूकार आते हैं। ये लोग आन्तरिक व्यापार और कृषि कार्यों के लिए आर्थिक सुविधायें देते हैं।

(७) केन्द्रीय बैंक (Central Banks)—देश के अन्य बैंकों को मार्ग दिखाने, सहायता करने व नियंत्रण में रखने, सरकारी काम-काज में सहायता देने तथा मुद्रा की निकासी की व्यवस्था करने के लिये प्रत्येक देश में एक विशेष बैंक होता है जिसे केन्द्रीय बैंक कहते हैं। इसे कुछ विशेष अधिकार दिये जाते हैं ताकि वह अपने विशेष कर्तव्यों को पूरा कर सके। भारत में रिजर्व बैंक केन्द्रीय बैंक के कार्य कर रहा है।

(८) विशेष राष्ट्रीय बैंक (Special National Banks)—इस श्रेणी में उन बैंकों को रखते हैं जो देश का केन्द्रीय बैंक तो नहीं है किन्तु सरकार द्वारा नियंत्रित हैं अथवा सरकार से उन्हें कुछ विशेष सुविधायें मिली हुई हैं। अतः अन्य बैंकों की तुलना में उनकी एक विशिष्ट स्थिति होती है। वे अपनी विशिष्ट स्थिति का प्रयोग अन्य बैंकों के हितों के विरुद्ध न कर सकें इसलिये सरकार द्वारा उन पर विशेष प्रतिबन्ध भी होते हैं। भारत में स्टेट बैंक ऑफ इंडिया (भूतपूर्व इम्पीरियल बैंक ऑफ इंडिया) इस श्रेणी का ज्वलन्त उदाहरण है।

बैंक के कार्य
(Functions of a Bank)

व्यापारिक बैंकों के कार्य

अधिकांश बैंक 'व्यापारिक बैंक' ही होते हैं। अतः जब कभी केवल 'बैंक' शब्द का प्रयोग किया जाय, तो उसमें संकेत व्यापारिक बैंकों का समझना चाहिये। व्यापारिक बैंक मुख्यत व्यापारियों को अल्पकालीन ऋण देते हैं, जिनकी अवधि ३ महीने की होती है किन्तु कभी-कभी ऋण १२ माह के लिये भी दे दिया जाता है। भारत में अधिकांश मिश्रित पूंजी वाले बैंक इसी प्रकार के हैं। मिश्रित पूंजी के बैंकों की यह विशेषता है कि इनकी पूंजी एक से अधिक व्यक्तियों और संस्थाओं द्वारा दी जाती है। विनिमय और औद्योगिक बैंकों की पूंजी भी मिश्रित हो सकती है। किन्तु परम्परा के कारण केवल व्यापारिक बैंकों को ही मिश्रित पूंजी के बैंक कहा जाता है। व्यापारिक बैंकों अथवा मिश्रित पूंजी के बैंकों की स्थापना कम्पनीज एक्ट के अनुसार होती है। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना एक पृथक एक्ट के अन्तर्गत हुई है। अतः यद्यपि वह व्यापारिक बैंकों के कुछ कार्य करता है तथापि उसे व्यापारिक बैंकों की श्रेणी में नहीं रखते।

व्यापारिक बैंक अनेक प्रकार के कार्य करते हैं, जिनमें व्यापार वाणिज्य को बहुत प्रोत्साहन मिलता है। अध्ययन की सुविधा के लिये इन कार्यों का वर्णन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—(I) मुख्य कार्य, (II) सहायक कार्य एवं (III) फुटकर कार्य।

(I) बैंकों के मुख्य कार्य

बैंकों के दो मुख्य कार्य हैं—(१) रुपया जमा के लिये प्राप्त करना और (२) रुपया उधार देना। इन कार्यों पर नीचे सविस्तार प्रकाश डाला गया है :—

(१) रुपया जमा के लिये प्राप्त करना—बैंकों का एक प्रधान कार्य जनता से धन जमा प्राप्त करना है। ऐसा वे अपने विविध खातों द्वारा करते हैं। जनता चाहे जिस खाते द्वारा अपना धन बैंक को जमा रखने के लिये दे सकती है। ये खाते ... में इस प्रकार हैं :—

(i) चालू खाता (Current Account)—इस खाते में जमा की गई रकम चाहे जब निकाली जा सकती है। चूंकि ग्राहक चाहे जब रुपया निकाल सकता है इसलिये बैंक इस खाते का धन प्रयोग करने में स्वतन्त्र नहीं होता। अतः वह इसका लाभदायक प्रयोग नहीं कर सकता। यही कारण है कि बैंक इस खाते की जमा रकम पर कोई ब्याज नहीं देते या बहुत मामूली देते हैं। इस खाते में रुपया चैक द्वारा निकाला जाता है। यह खाता व्यापारियों के लिये विशेष रूप से उपयोगी है।

(ii) स्थायी जमा खाता (Fixed Deposit Account)—इस खाते में रकम केवल एक निश्चित अवधि के लिये जमा कराई जाती है और कुछ विशेष दशाओं को छोड़कर इस रकम को उस अवधि के खतम होने के पहले नहीं निकाला जा सकता। रुपया जमा कराते समय एक रसीद प्राप्त होती है जिसे स्थाई जमा की रसीद कहते है। रुपया लौटाते समय यह रसीद वापिस कर दी जाती है। इस खाते की रकम का प्रयोग करने के लिये बैंक पूर्णतः स्वतन्त्र होते हैं और उचित विनियोग करके वे पर्याप्त लाभ कमाते हैं। अतः अधिक स्थाई जमा आकर्षित करने के लिये वे काफी ब्याज देते है।

(iii) बचत खाता (Savings Bank Account)—इस खाते से रकम सप्ताह में केवल एक या दो बार ही निकाली जा सकती है। चूंकि बैंक इस खाते की जमा रकमों का सीमित प्रयोग ही कर सकता है, इसलिये वह ब्याज देता तो अवश्य है लेकिन इतनी नहीं देता जितनी कि स्थाई जमाओं पर दी जाती है। एक निश्चित सीमा से अधिक रकम होने पर, ग्राहकों को चैक द्वारा रुपया निकालने की सुविधा भी होती है। यह खाता मुख्यतः गृहस्थियों के लिये ठीक होता है। बचत की आदत बढ़ाने के लिये कुछ बैंक एक गोलक (Home safe) भी ग्राहक को घर के लिये दे दिया करते है।

(२) रुपया उधार देना—बैंकों का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य ऋण देना है, जो प्रायः उत्पत्ति कार्यों के लिये ही दिये जाते हैं। इन पर वसूल की जाने वाली ब्याज-दर उससे अधिक होती है, जो कि बैंक जमा कराने वालों को देता है। इन दोनों का अन्तर ही बैंक का लाभ है। ऋण निम्न किसी भी तरीके से दिया जा सकता है—

(i) नगद साख (Cash Credit)—इस व्यवस्था के अन्तर्गत बैंक अपने ग्राहकों को बॉंड, व्यापारिक माल या अन्य स्वीकृत प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण देते है। जब ऋण व्यापारिक माल की जमानत पर दिया जाता है, तो बैंक उस माल को अपने गोदामो मे रख लेते हैं। प्रायः माल की जमानत पर उसके मूल्य के ७५% से अधिक ऋण नहीं दिया जाता जिससे माल के मूल्य मे थोड़ी बहुत कमी हो जाने से बैंक को माल बेचने पर हानि न उठानी पड़े। जब ऋणी रकम लौटा देता है, तो बैंक जमानती-माल को छोड़ देते हैं। इस प्रकार से दिये गये ऋण प्रायः अल्पकालीन होते है और ब्याज केवल उस रकम पर देना पड़ता है, जो कि वास्तव मे प्रयोग की गई हो। यही नहीं, ऋण की अवधि समाप्त होने तक जब चाहे रुपया वापिस दिया जा सकता है और जब चाहे पुनः लिया जा सकता है।

(ii) अधिविकर्ष (Overdraft)—'अधिविकर्ष' का आशय यह है कि बैंक डिपाजिटर को आवश्यकता पड़ने पर उसकी जमा राशि से कुछ अधिक रुपया निकालने की सुविधा दे देता है। इसके लिये एक अधिकतम सीमा पहले से ही निश्चित कर दी जाती है। बैंक आधिक्य सीमा के केवल उस भाग पर ही ब्याज लेता है जो कि ऋणी प्रयोग में लाये। इस प्रकार की सुविधा के लिये कोई जमानत नहीं ली

जाती। इस प्रकार के ऋण भी अल्पकालीन होते हैं तथा ऋण की अवधि समाप्त होने तक चाहे जब रुपया वापिस दिया और चाहे जब पुनः लिया जा सकता है। नगद साख और अधिविकर्ष की रीतियों का एक मुख्य अन्तर यह है कि अधिविकर्ष की सुविधा केवल खातेदारों को (अर्थात् पुराने व प्रसिद्ध ग्राहकों को) ही दी जाती है जबकि नगद साख की सुविधा का कोई भी प्रयोग कर सकता है।

(iii) साधारण ऋण और अग्रिम (Ordinary Loans & Advances)– इस विधि के अन्तर्गत बैंक सर्व प्रथम ऋणी की आर्थिक दशा के बारे में अच्छी तरह से जाँच पड़ताल करता है और प्रायः पर्याप्त व उचित जमानत पर ऋण देता है। इस हेतु बैंक अपने यहाँ ऋणी का खाता खोल लेता है और ऋण की रकम क्रेडिट कर देता है। ऋणी इसे बैंक की सहायता से आवश्यकतानुसार निकाल सकता है। ब्याज ऋण की पूरी रकम पर लिया जाता है चाहे ऋणी उसका अंशतः प्रयोग करे। इस प्रकार के ऋण प्रायः दीर्घकालीन होते हैं। एक बार भुगतान करने पर दुबारा रुपयों की आवश्यकता होने पर बैंक से नया ऋण स्वीकार कराना होगा।

(II) सहायक कार्य

उपरोक्त प्रधान कार्यों के अतिरिक्त एक आधुनिक बैंक निम्न सहायक कार्य भी करते हैं :—

(१) पत्र-मुद्रा की निकासी—आजकल पत्र-मुद्रा की निकासी का कार्य प्रायः सभी देशों में वहाँ के केन्द्रीय बैंक द्वारा ही किया जाता है।

(२) साख मुद्रा का निर्गमन—चैक, बिल व हुण्डी आदि साख-पत्रों का प्रयोग बैंकिंग के विकास के साथ-साथ बढ़ता जाता है। इनसे मुद्रा-प्रणाली में लोच उत्पन्न होती है। इन साख-पत्रों के द्वारा रुपया कम खर्च पर दूर-दूर तक भेजा जा सकता है।

(३) हुण्डियों तथा बिलों को भुनाना—आजकल अधिकतर व्यापार साख पर होता है। माल का विक्रेता क्रेता के नाम एक बिल लिख देता है, जिसका रुपया उसे कुछ समय बाद प्राप्त होगा। किन्तु वह चाहे तो अपने बैंकर से बिल को बट्टे पर भुना कर तत्काल ही रुपया प्राप्त कर सकता है और परिपक्वता पर बिल का रुपया बैंक को मिल जायेगा। इस प्रकार विक्रेताओं को बड़ी सुविधा हो जाती है, क्योंकि पूँजी के बिना उनका काम नहीं रुकता।

(४) मूल्यवान वस्तुओं की रक्षा—अनेक बैंक बड़े-बड़े नगरों में 'लाकर व्यवस्था' रखते हैं। इस व्यवस्था के अन्तर्गत ग्राहक अपनी मूल्यवान वस्तुयें व व्यापारिक कागजात कम खर्च पर बैंक के स्ट्राग रूम (Strong Rooms) में रख सकते हैं, जहाँ से उनके चोरी जाने या खोने का भय नहीं होता।

(५) व्यापारिक सूचना व आंकड़े एकत्र करना—बड़े-बड़े बैंक व्यापार सम्बन्धी उपयोगी आंकड़े और सूचना एकत्र करते हैं तथा प्रकाशित करते हैं अथवा माँगने पर ग्राहकों तक पहुँचा देते हैं।

(६) सरकार व अन्य संस्थाओं के ऋण-पत्रों का अभिगोपन करना—बैंक अन्य व्यापारिक संस्थाओं और सरकार के ऋण-पत्रों का अभिगोपन करते हैं, जिससे इन्हें ऋण प्राप्त करने में बहुत सुविधा हो जाती है। इसके बदले बैंक केवल थोड़ा कमीशन लेते हैं।

चालू खाता, स्थायी जमा खाता एवं बचत खाता-अन्तर

स्थाई अवधि खाता, बचत खाता एवं चालू खाता में अन्तर की प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं :—

(१) **उपयोगिता**—बचत खाता गृहस्थियों के लिए, चालू खाता व्यापारियों के लिए और स्थाई अवधि खाता उन लोगों के लिए विशेष रूप से उपयोगी है, जिनके पास काफी रकम एक लम्बी अवधि के लिए बेकार हों।

(२) **ब्याज**—सबसे अधिक ब्याज स्थाई अवधि खाते पर, उससे कम बचत खाते पर और सबसे कम ब्याज चालू खाते पर मिलती है।

(३) **चैक**—रुपया निकालने के लिए चालू खाते के अन्तर्गत चैकों का प्रयोग करना अनिवार्य है। स्थाई जमा खाते से रुपया वापिस लेते समय जमा की रसीद लौटानी पड़ती है और बचत खाते से रुपया निकालने के लिए एक विशेष फार्म (Withdrawal Form) भरना पड़ता है। यदि रकम ३०० रु० से अधिक जमा हो और ग्राहक इसमे कम रकम न होने का वचन दे, तो बचत खाते से चैक द्वारा रुपया निकालने की सुविधा दी जाती है।

(४) **रुपया निकालने की सीमा**—स्थाई अवधि खाते से अवधि समाप्त होने के पूर्व रुपया निकालने की अनुमति नही होती, बचत खाते से सप्ताह मे दो बार रुपया निकाला जा सकता है और चालू खाते से कितनी ही बार रुपया निकाला जा सकता है।

बैंक में चालू खाता खोलने की रीति

बैंक जनता से जमायें विभिन्न खातों के अन्तर्गत प्राप्त करता है, यथा—स्थाई अवधि खाता, बचत, खाता एवं चालू खाता। चालू खाते की रीति से रुपया जमा कराना व्यापारियों के लिये बहुत सुविधाजनक है, क्योंकि वे इसमें से रुपया कभी भी और किसी भी मात्रा में निकाल सकते हैं। यह सच है कि इस खाते पर ब्याज नहीं मिलता या बहुत कम मिलता है, तथापि इस खाते के स्वामी को बैंक से अनेक सुविधायें प्राप्त होती है, जिनके कारण ब्याज सम्बन्धी हानि की पर्याप्त रूप से क्षतिपूर्ति हो जाती है। प्रस्तुत प्रश्नोत्तर मे चालू खाता खोलने की रीति पर प्रकाश डाला गया है।

बैंक में खाता खोलने से सम्बन्धित ७ मुख्य बातें

(१) खाता खोलने का आवेदन-पत्र भरना।
(२) सम्मानित व्यक्ति द्वारा परिचय।
(३) नमूने के हस्ताक्षर।
(४) जमा की प्रथम रकम।
(५) पास बुक।
(६) जमा की किताब।
(७) चैक बुक।

चालू खाता खोलने की रीति

(१) **खाता खोलने का आवेदन-पत्र भरना**—जिस बैंक में खाता खोलना हो (यथासंभव यह बैंक व्यापारी के कार्यालय के निकट होना चाहिये और साथ ही अच्छी आर्थिक दशा व ख्याति वाला बैंक हो) वहाँ से एक प्रार्थना-पत्र का फार्म लेकर जो कि मुफ्त मिलता है, भरना चाहिये। इसमें खाता खोलने वाले व्यक्ति की स्थिति, व्यवसाय, सज्जनता तथा तत्सम्बन्धी बातें मालूम करने के लिये प्रश्न होते हैं, जिनका उत्तर उनके सामने की खाली जगह में प्रार्थी को भरना पड़ता

है। प्रार्थी को यह भी उल्लेख करना पड़ता है कि उसने बेंक के नियम पढ़ लिये हैं और उनका पालन करना उसे स्वीकार है।

(२) सम्मानित व्यक्ति द्वारा परिचय—तत्पश्चात् प्रार्थी को बैंक के किसी पुराने सम्भावित ग्राहक से अपना परिचय दिलाना पड़ता है। इसका उद्देश्य अवांछनीय ग्राहकों को बैंक से दूर रखना है, क्योंकि उनकी कार्यवाहियों से बैंक के प्रति जनता का विश्वास गिर सकता है।

(३) नमूने के हस्ताक्षर—प्रार्थना-पत्र स्वीकार होने पर प्रार्थी को नमूने के हस्ताक्षर देने पड़ते हैं जो तीन अलग-अलग कार्डों पर लिये जाते हैं। इन हस्ताक्षरों को इन हस्ताक्षर पुस्तिका में फाइल करके रखा जाता है ताकि इनसे मिला कर चैकों पर ग्राहक के हस्ताक्षर की पुष्टि की जा सके। अतः ग्राहक को चाहिये कि भविष्य में चैक इत्यादि पर उसी प्रकार हस्ताक्षर करे जैसे नमूने के रूप में बैंक को दिये हैं अन्यथा चैकों को बिना भुगतान लौटा दिया जायेगा। यदि खाता किसी फर्म के नाम से खोला जा रहा है, तो सभी साझेदारों को अपने नमूने के हस्ताक्षर देने पड़ते है, क्योंकि कोई भी साझेदार चैक काटने का अधिकार रखता है। यदि उनमें परस्पर यह तय हो गया है कि केवल साझेदार चैक लिखा करेंगे, अन्य नहीं, तो खाता खोलते समय उन्हें बैंक के समक्ष इस आशय की लिखित घोषणा करनी पड़ती है। कम्पनी के नाम से खाता खोलने पर कम्पनी के कानूनी दस्तावेजों की प्रमाणित नकलें, संचालक-सभा का अनुमति-प्रस्ताव तथा अनुमति प्राप्त मैनेजर या प्रबन्ध संचालक के नमूने के हस्ताक्षर लिये जाते हैं।

(४) जमा की प्रथम रकम—तत्पश्चात् जमा की प्रथम रकम बैंक की खिड़की पर दी जाती है। यह १०० रु० से कम नहीं होनी चाहिये। कुछ बैंकों में चालू खाता खोलने के लिये न्यूनतम रकम ५०० रु० रखी गई है। प्रथम जमा कराने पर प्रार्थी को, जो अब से बैंक का ग्राहक कहलाता है, तीन पुस्तकें मुफ्त मिलती हैं—पास बुक, जमा की किताब और चैक बुक।

(५) पास बुक—पास बुक बैंक के लैजर में खुले हुये ग्राहक के खाते की एक प्रतिलिपि मात्र है। इसे देखने से यह मालूम हो जाता है कि कब-कब कितना रुपया निकाला गया, जमा कराया गया अथवा शेष है। यह बैंक की सम्पत्ति होती है और इसमें बैंक के कर्मचारियों द्वारा ही एन्ट्री की जाती है। अतः इसमें लिखा हुआ विवरण बैंक के ऊपर बाधित होता है। यदि इसमे कोई त्रुटि मालूम पड़े तो तुरन्त बैंक भेज कर सही करा लेना चाहिये और ब्याज की एन्ट्री के लिये समय-समय पर बैंक भेजते रहना चाहिये।

(६) जमा की किताब (Pay-in Slips Book)—इस पुस्तक में १०, २०, ५० या १०० की संख्या मे जमा पर्चियाँ (Pay-in Slips) होती है, जो बैंक में रुपया जमा कराते समय प्रयोग की जाती हैं। जो भी नोट, सिक्के या चैक आदि बैंक में जमा कराये जायें, उनका विवरण जमा पर्ची की लिपि और प्रतिलिपि दोनों में भरा जाता है और रकम के साथ बैंक के खजांची को दी जाती है। बैंक का खजांची आई हुई रकम को संभाल कर अपने और मैनेजर के हस्ताक्षर पर्चियों पर कराने के पश्चात् प्रतिलिपि फाड़कर रख लेता है तथा लिपि लगी हुई जमा की किताब को ग्राहक को लौटा देता है, जो जमा कराई गई रकम की रसीद का कार्य करती है।

(७) चैक बुक (Cheque Book)—इसमें २०–२५ चैक के फार्म होते हैं, जिनका प्रयोग खाते मे सहायता निकालने के लिये किया जाता है। चैक के दो भाग होते हैं—मुख्य भाग और प्रतिलिपि। प्रतिलिपि तो हवाले के लिये ग्राहक अपने पास रख लेता है और चैक (मुख्य भाग) काटकर उस व्यक्ति को दे देता है जिसे वह रुपया दिलाना चाहे। प्रत्येक चैक पर एक क्रम संख्या पड़ी होती है, जो हवाले के लिये उल्लेख की जा सकती है।

परीक्षा प्रश्न

(१) बैंक शब्द की परिभाषा दीजिये।

(२) *आधुनिक बैंक के कार्य तथा सेवाओं पर प्रकाश डालिये।*

(३) भारतीय व्यापारिक बैंक क्या कार्य करते है? उनकी कठिनाइयाँ तथा दोष बताइये।

(४) *भिन्न-भिन्न प्रकार के बैंको तथा उनके कार्यों को लिखिये।*

(५) राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था में बैंकिंग का क्या स्थान है? संक्षेप में लिखिये।

(६) व्यापारिक बैंक मे बहुधा तीन प्रकार के खाते होते हैं—चालू खाता, मुद्दती खाता और बचत खाता। इन तीनों के अन्तर को पूर्णतः समझाइये।

(७) कोई व्यक्ति किसी अधिकोष मे अपना चालू खाता कैसे खोल सकता है? इस रीति को समझाओ और उन प्रलेखों का उल्लेख करो जो उसे अधिकोष द्वारा मिलेंगे।

अध्याय २.

बैंक का संगठन

[पूँजी का एकत्रीकरण एवं साख का निर्माण]
[Organisation of a Bank]

प्रारम्भिक

प्रत्येक देश में बैंक अमूल्य सेवायें करते हैं, जिससे वहाँ की अर्थ-व्यवस्था में उनका एक महत्वपूर्ण स्थान होता है। प्रस्तुत अध्याय में बैंक की कार्य-पद्धति पर प्रकाश डाला गया है।

बैंकों द्वारा पूँजी प्राप्त करने के स्रोत

अन्य व्यवसायों की भांति बैंकिंग के कारोबार के लिये भी पूँजी की आवश्यकता पड़ती है और पूँजी की मात्रा बैंक के कार्य-क्षेत्र पर निर्भर होती है। बैंक द्वारा पूँजी प्राप्त करने के विभिन्न साधन संक्षेप में निम्नलिखित हैं :—

(1) शेयर बेचकर

आजकल अधिकांश बैंक संयुक्त स्कन्ध कम्पनियों के रूप में संगठित किये जाते हैं और हिस्से (Shares) बेच कर उन्हें जनता से पूँजी प्राप्त होती है। जो लोग शेयर खरीदते हैं, वे शेयरहोल्डर कहलाते हैं। ये ही बैंक के स्वामी होते हैं और इनके द्वारा प्राप्त शेयर धन ही बैंक की वास्तविक पूँजी होती है। इस पूँजी का अधिकांश भाग भवन बनवाने एवं साज-समान खरीदने में लग जाता है। बैंकिंग के कारोबार के लिये अधिकतर कार्यशील पूँजी अन्य साधनों से ही मिलती है, जिसे वास्तविक पूँजी तो नहीं कह सकते, लेकिन इसके प्रयोग में बैंक को स्वतन्त्रता होने के कारण उसे 'पूँजी' में ही गिनते हैं।

शेयर पूँजी का वर्गीकरण—बैंक की शेयर पूँजी के सम्बन्ध में निम्न बातें उल्लेखनीय हैं :—

(i) अधिकृत पूँजी (Authorised Capital)—बैंक के उद्देश्यों एवं कार्यकलापों को ध्यान में रखकर बैंक का संचालक मण्डल एक ऐसी अधिक से अधिक धन राशि निश्चित कर लेता है जिसकी बैंक को आवश्यकता पड़ सकती है। चूँकि इस राशि से अधिक के शेयर नहीं बेचे जा सकते और इसमें परिवर्तन करना भी कठिन होता है, इसलिये इसका निश्चय करने में सावधानी से काम लेना चाहिये। पूर्व निश्चित इस अधिकतम राशि को ही बैंक की 'अधिकृत पूँजी' कहते हैं। यह

पूँजी अंशों (Shares) मे विभाजित होती है। **(ii) निर्गमित पूँजी (Issued Capital)**—अधिकृत पूँजी के समस्त शेयर प्रारम्भ मे ही बेचने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। कारण, प्रारम्भ मे बैंक का कारोबार थोड़ा होता है, जिससे वह थोड़ी ही पूँजी से काम चला लेता है। अधिकृत पूँजी के उस भाग को, जो कि जनता के क्रय के लिये प्रस्तुत किया जाता है, 'निर्गमित पूँजी' कहते हैं। मान लीजिये कि सेंट्रल बैंक की अधिकृत पूँजी १० लाख रु० है जो कि १००-१०० रु० के १०,००० शेयरों मे विभाजित है। इसमे से केवल ६००० अंश ही जनता को क्रय के लिये प्रस्तुत किये गये। ऐसी दशा मे ६ लाख रु० बैंक की निर्गमित पूँजी है। **(iii) प्रार्थित पूँजी (Subscribed Capital)**—निर्गमित पूँजी का वह भाग, जिसके लिये जनता प्रार्थना-पत्र भेजती है, 'प्रार्थित पूँजी' कहलाती है। प्रार्थना-पत्र के साथ निर्धारित आवेदन राशि आना आवश्यक है। उपरोक्त ६,००० अंशों मे से यदि जनता केवल ५,००० अंशो के लिये ही आवेदन करती है, तो (५,०००×१००) ५,००,००० रु० प्रार्थित पूँजी होगी। **(iv) माँगी हुई पूँजी (Called-up Capital)**—बैंक को समस्त पूँजी की आवश्यकता एक साथ नहीं पड़ती है। अतः वह धीरे-धीरे शेयरहोल्डरों से पूँजी की माँग करता रहता है। किश्तों मे शेयरों का रुपया चुकाने से शेयरहोल्डरो को भी सुविधा हो जाती है। प्रार्थित पूँजी का वह भाग जो कि बैंक द्वारा शेयरहोल्डरों से माँगा गया है, 'माँगी हुई पूँजी' कहलाता है। यदि ५,००० शेयरो पर १०० रु० मे से ८० रु० प्रति शेयर माँगा गया है, तो बैंक की माँगी हुई पूँजी ४,००,००० रु० होगी। **(v) दत्त पूँजी (Paid-up Capital)**—समस्त माँगी हुई पूँजी शेयरहोल्डरों द्वारा नहीं चुकाई जाती। कुछ शेयरहोल्डर अपने शेयरो पर सम्पूर्ण माँगी हुई राशि देने मे असमर्थ होते हैं। अतः जो रुपया शेयरो पर वास्तव मे बैंक को प्राप्त हो गया है, वही उसकी वास्तविक शेयर पूँजी या दत्त पूँजी है। यदि शेयरहोल्डरों ने अपने १०० शेयरों पर ६० रु० प्रति शेयर ही चुकाया है जबकि अन्य शेयरो पर सम्पूर्ण माँगा हुआ रुपया चुका दिया गया है, तो ऐसी दशा मे बैंक की दत्त पूँजी ३,९८,००० रु० है।

(II) डिपाजिट लेकर

बैंको को अपनी कार्यशील पूँजी का अधिकतर भाग डिपाजिटों से प्राप्त होता है, जो कि जनता विभिन्न खातों के अन्तर्गत बैंक में रखती है। इन खातों की विस्तृत चर्चा हम पिछले अध्याय में बैंक के कार्यों के सम्बन्ध मे कर चुके हैं। यहाँ पर केवल इतना और जान लेना आवश्यक है कि सभी बैंकों को जनता से, विभिन्न खातों द्वारा, जमा के लिये पर्याप्त धन प्राप्त नहीं हो जाता वरन् कुछ बैंकों को अन्य बैंको की अपेक्षा जनता से विशाल मात्रा मे डिपाजिट प्राप्त होते हैं। इस भिन्नता का कारण कुछ बातों का अनुकूल या प्रतिकूल होना है :—

बैंकों के लिये पूँजी प्राप्त करने के पाँच साधन

(i) शेयर बेच कर।
(ii) डिपाजिट लेकर।
(iii) ऋण द्वारा।
(iv) साख के निर्माण द्वारा।
(v) सुरक्षित कोष द्वारा।

जमा राशि (डिपाजिटों) की मात्रा को प्रभावित करने वाली बातें

साधारणतः निम्न छः बातें बैंक के डिपाजिटों की मात्रा को प्रभावित करती है :—

(१) **जनता की बचत करने की क्षमता**—जितना अधिक बचत जनता कर सकेगी, उतना ही अधिक धन वह बैंकों में जमा करा सकेगी। किन्तु जनता की बचत-क्षमता स्वयं भी दो बातों पर निर्भर है—(i) आय की मात्रा एवं (ii) व्यय का ढंग। यदि देश मे रोजगार-स्तर ऊँचा है और लोगों को यथेष्ठ आय होती है, तो वे अधिक बचत कर सकेंगे। साथ ही, यह भी आवश्यक है कि लोग अपनी आय को विवेकपूर्ण तरीके से व्यय करें। जब आय कम हो किन्तु व्यय का तरीका विवेकपूर्ण है, तो भी बचत संभव है, जबकि आय अधिक होने पर भी, यदि व्यय का तरीका दोषपूर्ण है, बचत कम या बिलकुल भी नही हो सकती है। ग्रामीण क्षेत्र के बैंकों के डिपाजिट शहरी क्षेत्र के बैंकों के डिपाजिटों की तुलना मे कम होने का कारण यह है कि ग्रामीण जनता को आय कम होती है और साथ ही वे मुकद्दमों, गहनों, उत्सवों आदि पर अनाप-शनाप व्यय करते है। इस प्रकार उनकी बचत-क्षमता शहरी जनता की तुलना में कम होती है।

(२) **बैंकों में जनता का विश्वास**—जिन बैंकों में जनता को अधिक विश्वास होता है और वह अपना रुपया सुरक्षित समझती है उनको डिपाजिट अधिक मिलते हैं जबकि ऐसे बैंकों को, जिनमें जनता का कम विश्वास है अर्थात् जिनमें जनता अपना रुपया सुरक्षित नहीं समझती है, डिपाजिट कम मिलते हैं। उदाहरण के लिये, देश की राष्ट्रीय बैंकों को अन्य बैंकों की अपेक्षा अधिक डिपाजिट मिल जाते हैं यद्यपि उनकी ब्याज-दर नगण्य होती है। इसका कारण यह है कि जनता को राष्ट्रीय बैंकों (जैसे, स्टेट बैंक ऑफ इंडिया) में अधिक विश्वास होता है। पिछड़े हुए देशों मे जनता को बैंकों पर कम विश्वास होता है, जिससे वह प्राय: अपना धन अपने पास ही रखती है। लेकिन औद्योगिक देशों में जनता प्राय: अपना सब धन बैंकों मे ही रखती है, क्योंकि वहाँ उसे बैंकों पर विश्वास होता है। पिछड़े हुए और औद्योगिक देशों में बैंकों के प्रति जनता का इस विश्वास-भिन्नता का कारण यह है कि पिछड़े हुए देशों में *बैंकिंग व्यवस्था अव्यवस्थित होती है, जनता अशिक्षित एवं अमितव्ययी होती है* जबकि औद्योगिक प्रगतिशील देशों में बैंकिंग व्यवस्था सुव्यवस्थित, जनता शिक्षित एवं मितव्ययी होती है।

(३) **बैंकों द्वारा सुरक्षा पर दिया गया ध्यान**—बैंक प्राय. अन्य लोगों के धन को, जो कि उन्हे विविध खातों के अन्तर्गत प्राप्त होता है, व्यापारियों आदि को उधार दिया करते हैं। इससे उन्हें ब्याज के रूप में आय होती है। जैसा कि हम आगे चलकर सविस्तार समझायेंगे, अपने डिपाजिटों से कई गुना राशि बैंक उधार दे सकते है, क्योंकि अनुभव यह बताता है कि सब ही डिपाजिटर एक दम बैंक से रुपया नहीं निकालेंगे। अत: नगद कोष के रूप में कुछ धन अपने पास रखकर वे नगद जमाओं व साख जमाओं के रूप में वास्तविक जमा का अनेक गुना रुपया उधार दे देते हैं। लेकिन इस प्रकार से उधार देने की एक *सीमा होती है। यदि इस सीमा से अधिक* उधार दिया गया, तो डिपाजिटरों की भुगतान सम्बन्धी माँग को पूरा न किया जा सकेगा और बैंक के फेल होने का अवसर भी आ जायेगा। जबकि कुछ बैंक इस सम्बन्ध मे अपनी सुरक्षा का ध्यान रखते हैं, तब अनेक बैंक ब्याज कमाने के प्रलोभन में सुरक्षा की सीमा को पार कर जाते हैं। अभी हाल में पलाई बैंक के साथ भी ऐसा ही हुआ। उसने उधार देने मे बैंकिंग मर्यादाओं का पालन नहीं किया, जिससे उसे बन्द होना पड़ा। ऐसी बैंकिंग दुर्घटनायें जनता मे सभी बैंको के प्रति सामान्य अविश्वास को जन्म देती है और फलत: डिपाजिट कम होने लगते है।

(४) **डिपाजिटरों को बैंक से मिलने वाली सुविधायें**—जमा कराने वालों को विभिन्न बैंक विभिन्न सुविधायें देते हैं। *जिन बैंकों से डिपाजिटरों को अधिक सुविधायें* प्राप्त होती हैं, अन्य बातें समान रहने पर, उन्हें डिपाजिट भी अधिक मिलते हैं। ये सुविधायें निम्न हो सकती हैं—(i) *खाते पर अधिक ब्याज मिलने की सुविधा;* (ii) खाते से रुपया निकालने की सुविधा; (iii) स्वदेशी भाषा में पत्र-व्यवहार व चैक की सुविधा; (iv) बैंक की अधिक शाखायें होना आदि।

(५) **अन्य बैंकिंग संस्थाओं से प्रतिस्पर्धा**—प्राय: देश में बैंकों के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में महाजन, सरकार, डाकखाने आदि भी होते हैं, जो जनता से अपनी ओर डिपाजिट आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं। प्राय: लोग अधिक ब्याज-दर के लोभ से महाजनों के पास और अधिक सुरक्षा की दृष्टि से सरकार के पास रुपया जमा करते हैं। किन्तु छोटी-छोटी रकमों के लिये वे डाकखाने में हिसाब खोलना पसन्द करते हैं। अत: यदि केवल बैंक ही देश में रुपया जमा करने वाली संस्था होतें, तो उनके पास जमा-राशि बहुत बढ़ जाती।

(६) **देश में मुद्रा सम्बन्धी स्थिति**—मुद्रा सम्बन्धी दशा का भी बैंकों की डिपाजिट-राशि पर गहरा असर पड़ता है। जब देश में मुद्रा-प्रसार की दशा होती है *(जैसे कि युद्ध काल में या युद्ध के तत्काल समाप्त होने के बाद), तो व्यापारियों को* बहुत लाभ होता है, उद्योग धन्धे तरक्की करते हैं। इसके फलस्वरूप बैंकों के डिपाजिट बढ़ जाते हैं। लेकिन मुद्रा-संकुचन के दिनों में बैंकों की जमा-राशि कम हो जाती है, क्योंकि व्यापार व्यवसाय की हालत खराब होने से व्यापारी अपने संचित धन में से काम चलाते हैं और नई जमायें प्राप्त होना भी प्राय: रुक जाता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यदि जनता अधिक बचत कर सकती है, बैंक में उसे विश्वास है, बैंक भी जनता की माँग को पूरा करने के लिये काफी नगद कोष रखते हैं, डिपाजिटरों को विशेष सुविधायें मिलती हैं, अन्य बैंकिंग संस्थाओं से प्रतिस्पर्धा कम है तथा देश में मुद्रा-प्रसार की स्थिति है, तो डिपाजिटों की मात्रा बढ़ जायेगी, अन्यथा विपरीत दशाओं में कम हो जायेगी।

(III) ऋण द्वारा

बैंक अन्य संस्थाओं और केन्द्रीय बैंक से, प्राय: संकट काल में जबकि उनके पास नगद कोष कम हो जाता है, ऋण लेकर भी अपनी पूँजी में वृद्धि करते हैं। *किन्तु ये ऋण अल्पकाल के लिये होते हैं।*

(IV) साख के निर्माण द्वारा

जमाकर्त्ताओं के विश्वास का लाभ उठा कर बैंक बड़े पैमाने पर साख का निर्माण कर देते हैं। इस कार्य से भी उन्हें यथेष्ठ पूँजी मिल जाती है। बैंक साख का *निर्माण क्यों और कैसे करते हैं, इन प्रश्नों पर नीचे विचार किया गया है।*

(V) सुरक्षित कोष

बैंक अपने वार्षिक लाभ की सम्पूर्ण राशि शेयरहोल्डरों में लाभांश (Dividend) के रूप में वितरित नहीं करते वरन् इसका कुछ भाग बचाकर एक

कोष में जमा करते जाते हैं, जिसे सुरक्षित कोष (Reserve Fund) कहते हैं। इस कोष का धन भी व्यवसाय के विस्तार के लिये प्रयोग किया जा सकता है।

बैंकों द्वारा साख का निर्माण

साख के निर्माण से आशय

जब एक व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को ऋण देता है, तो वह पहले यह सोचता है कि उसके पास कितना धन ऐसा है जो वह सुगमता से कुछ समय के लिये अन्य व्यक्ति को उधार दे सकता है। यह निश्चय करने के पश्चात ऋण देने वाला एक निश्चित रकम मांगने वाले को दे देता है। लेकिन *बैंकों द्वारा ऋण देने की पद्धति* इससे कुछ भिन्न है। वह जो ऋण अथवा साख देते हैं उसकी मात्रा उनके पास उपलब्ध नगद कोष तक ही सीमित नहीं रहती है वरन् वे इससे कई गुना मूल्य की साख दे देते हैं। इसी कारण यह कहा जाता है कि बैंक साख का निर्माण करते हैं। सेयर्स के शब्दों में *"बैंक केवल द्रव्य जुटाने वाली संस्थायें नहीं हैं वरन् द्रव्य की निर्माता भी हैं।*

बैंकों द्वारा साख सृजन के ढंग

एक बैंक के पास जितना नगद धन उसके कोष में है उससे अनेक गुना वह ऋणों के रूप में व्यापारियों और उत्पादकों को दे सकता है। यह कैसे संभव होता है अथवा साख-सृजन के ढंग क्या हैं? साख-सृजन के निम्नलिखित तरीके हैं—

(i) नोटों के निर्गमन द्वारा—कुछ समय पहले, जब प्राय: सब बैंक अपने-अपने नोट (Bank Notes) निकाला करते थे, तब प्रत्येक बैंक नोटों का निर्गमन करके *साख का निर्माण किया करता था। नोट भी एक तरह का साख-पत्र है।* नोट जारी करने वाली संस्था (बैंक) यह प्रतिज्ञा करती है कि उक्त नोट के बदले वह देश के मौद्रिक प्रमाप के अनुसार सोना या चांदी दे देगी। इस प्रकार, नोट का प्रकाशन करके बैंक, नोट के स्वामी को, नोट के मूल्य के बराबर सोना या चांदी प्राप्त करने का अधिकारी बना देता है। जब कोई बैंक नोट जारी करता है, तो उसे अपने पास कुछ मूल्यवान धातु (सोना या चांदी) कोष में रखनी पड़ती है, क्योंकि न जाने कब नोट भुनाने वाले आ पहुँचें और यदि बैंक के पास आवश्यक धातु कोष में न हुई तो नोट भुनाने से अस्वीकार करना पड़ेगा। ऐसा होने पर बैंक की साख गिर जायेगी, लोग उसके नोटों को स्वीकार करने में हिचकिचायेंगे तथा बैंक और उसके नोटों के फेल होने का भय हो जावेगा। यही कारण है कि नोट जारी करते समय बैंक अपने पास पर्याप्त मूल्यवान धातु कोष में रखते हैं।

किन्तु अनुभव से बैंक यह भी जानते हैं कि सभी नोट-धारी एक साथ नोट भुनाने के लिये कभी नहीं आते। अत: जितने मूल्य के नोट निकाले गये हैं यदि उसके कुछ प्रतिशत मूल्य के बराबर की ही धातु कोष में रखी जाय तो भी नोट भुनाने का दायित्व सरलता से निभाया जा सकता है। तद्नुसार बैंक कुछ प्रतिशत मूल्य की धातु कोष में रखकर विशाल मात्रा में नोटों की निकासी कर सकते हैं। प्राय: बैंक ४०% मूल्य की धातु कोष में रखते हैं, अर्थात्, ४० रु० की धातु अपने कोष में रखकर १०० रु० के नोट प्रकाशित कर देते हैं। इसे ही 'साख का निर्माण' कहते हैं।

आजकल देश के केन्द्रीय बैंक को ही नोटों के प्रकाशन का एकाधिकार होता है, क्योंकि इससे नोटों में एकरूपता आती है और मुद्रा व साख की मात्रा पर नियंत्रण रखना भी सरल हो जाता है। केन्द्रीय बैंक द्वारा नोटों के निर्गमन की विधि भी उपर्युक्त ही होती है। वह कुछ प्रतिशत मूल्यवान धातु अपने कोष में रखकर देश की व्यापारिक आवश्यकताओं को देखते हुए नोटों का प्रकाशन करता है और इस प्रकार साख का सृजन होता है। भारत में नोटों के प्रकाशन का अधिकार रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया को प्राप्त है।

> **बैंकों द्वारा साख-सृजन की ४ विधियाँ**
>
> (१) नोटों के निर्गमन द्वारा।
> (२) नगद जमा और साख जमा।
> (३) अधिविकर्ष की सुविधा द्वारा।
> (४) प्रतिभूतियों के क्रय द्वारा।

(II) 'नगद जमा' और 'साख जमा' की रीति —यह साख के निर्माण की सबसे महत्वपूर्ण रीति है। प्रायः सभी बैंक इस रीति से साख का निर्माण किया करते हैं। इस रीति पर नीचे प्रकाश डाला गया है।

'जमायें ऋणों की वृद्धि करती हैं और ऋण जमाओं की वृद्धि करते हैं'—प्रत्येक बैंक को विविध खातों के अन्तर्गत नगद रकम जमा के लिये जनता से प्राप्त होती है। इसे 'नगद जमा' (Cash Deposit) कहते हैं। प्रायः जमाकर्त्ता अपनी आवश्यकतानुसार इसे थोड़ा-थोड़ा करके निकालते रहते हैं। एक बैंकर अपने अनुभव से यह जानता है कि कुल जमा का केवल १०-१५% ही उक्त प्रकार निकाला जाता है और शेष धन बैंकार बंधा रहता है। अतः वह १०-१५% रुपया ग्राहकों की माँग को पूरी करने के लिये सुरक्षित रख कर शेष धन ऋण के रूप में उठा देता है ताकि उसे ब्याज की आय हो। जो रुपया नगदी के रूप में सुरक्षित रखा जाता है, उसे 'नगद कोष' (Cash Reserve) कहते हैं। इस प्रकार, नगद जमाओं के कारण ऋणों की उत्पत्ति होती है, अतः कहा जाता है कि "जमायें ऋणों की वृद्धि करती हैं" (Deposits create Loans)।

अब चित्र के दूसरे पहलू को भी देखिये। जो ऋण बैंक दिया करता है वह नगदी में नहीं देता वरन् ऋणी के खाते में जमा कर देता है और फिर ऋणी उसे आवश्यकतानुसार चैक लिखकर निकाल सकता है। इस प्रकार खाते में जमा की हुई रकम को 'साख जमा' (Credit Deposits) कहते हैं। साख जमा के कारण बैंक की कुल जमा में वृद्धि होती है। इसी कारण कहा जाता है कि "ऋण जमाओं की वृद्धि करते हैं" (Loans Create Deposits)। बढ़ी हुई जमा के आधार पर बैंक अब पहले से भी अधिक मात्रा में (ऋण या साख) देने में समर्थ हो जाता है।

एक उदाहरण द्वारा साख-निर्माण की उक्त रीति को भली प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिये, पंजाब नेशनल बैंक में मोहन ने खाता खोला और तुरन्त ५००० रुपये जमा कराये। इसका १०% नगद कोष के रूप में रखकर बैंक ४,५००) रु० एक अन्य व्यापारी सोहन को ऋण दे देता है। यह ऋण 'साख जमा' के रूप में खाते में जमा हो जाता है और सोहन आवश्यकतानुसार चैक लिखकर

निकाल सकता है। इन ४५०० रु० का १०% भाग बैंक नगद रखकर ४०५० रु० पुन: ऋण दे देता है। इस प्रकार बैंक ने अब तक केवल ५००० रुपये नगद जमा के लिये प्राप्त किये किन्तु उसने ४५००) + ४०५०) = ८५५०) रु० साख पर दे दिये। अर्थात् उसने ३,५५० रु० की साख का निर्माण किया। उसे ५,००० रु० ब्याज देना पड़ेगा जबकि मिलेगा ८,५५० रु० पर। इस लाभ के कारण ही बैंक साख का निर्माण करने के लिये प्रोत्साहित होते हैं।

अत: स्पष्ट है कि बैंक जितना अधिक ऋण देता है उतनी ही अधिक जमायें (साख जमा) उसे प्राप्त होती है और जितनी अधिक जमायें (नगद व साख जमायें) उसे प्राप्त होती है उतनी ही अधिक साख या ऋण वह दे सकता है।

(III) अधिविकर्ष की सुविधा द्वारा—अधिविकर्ष (Overdraft) की सुविधा उन व्यापारियों को दी जाती है जो अपनी साख के लिये प्रसिद्ध होते है। इस सुविधा के अन्तर्गत बैंक अपने ग्राहकों को, उनके खाते में जमा राशि से अधिक धन चैक द्वारा निकालने की अनुमति दे देता है। जमा राशि से अधिक निकाली गई राशि बैंक द्वारा निर्मित साख ही तो है।

(IV) प्रतिभूतियों के क्रय द्वारा—बैंक अपने ग्राहकों से उनकी प्रतिभूतियाँ (जैसे बिल आफ एक्सचेन्ज) खरीद लेते हैं और इसका भुगतान चैक द्वारा करते हैं। यदि उन्हे अपने लिये नगदी की आवश्यकता हो, तो वे इन्हे केन्द्रीय बैंक से भुना सकते हैं। इस प्रकार, बैंक निसंकोच होकर प्रतिभूतियाँ खरीदते हैं, जिससे बड़ी मात्रा मे साख का सृजन होता है।

साख का निर्माण क्यों सम्भव होता है ?

बैंक जमा धनराशि की तुलना में कई गुना धन उधार देने में क्यों समर्थ होते है, अथवा, वे कौनसी परिस्थितियाँ है, जो बैंक को अपनी जमा राशि से अधिक धन ऋण देने में समर्थ बनाती है ? बैंकों को जमा राशि से अधिक धन ऋण देने या साख का निर्माण करने में समर्थ बनाने वाली परिस्थितियाँ निम्नलिखित हैं :—

साख का सृजन संभव बनाने वाली ४ परिस्थितियाँ

(१) जनता को बैंक की आर्थिक दशा में विश्वास।
(२) बैंकों से तत्काल ही सब रुपया निकालने की प्रवृत्ति न होना।
(३) साख-पत्रों का प्रयोग बढ़ना।
(४) समाशोधन गृह की पद्धति।

(१) जनता को बैंक की आर्थिक दशा में विश्वास—जमा कराने वालों को बैंक की आर्थिक दशा में विश्वास होता है, जिससे वे अपना धन उसके पास जमा कराने के लिये प्रेरित होते है। इस जमा के आधार पर ही बैंक साख का निर्माण करते हैं। यदि बैंक में जनता को विश्वास न रहे, तो वह जमायें उठाने लगती है और बैंक की आर्थिक स्थिति बिगड़ जाती है तथा वह फेल तक हो जाता है।

(२) बैंकों से तत्काल ही सब रुपया निकालने की प्रवृत्ति न होना—जिस प्रकार बीमा कम्पनियों के लाभों का आधार यह मान्यता है कि समस्त आगोपित व्यक्ति एक ही दिन में नहीं मरेंगे, वरन् कुछ आगोपित व्यक्ति बीमा काल के प्रारम्भ

में, कुछ मध्य में, कुछ इसकी समाप्ति पर या इसके बाद मरेंगे उसी प्रकार बैंकों द्वारा साख सृजन का लाभ इस आधार पर कमाया जाता है कि सब डिपाजिटर एक साथ रुपया नही निकालेंगे। यदि सभी भागोपित किसी एक दिन को ही मरने का षड्यन्त्र रच लें, तो बीमा कम्पनियाँ फेल हो जायें, उसी प्रकार यदि सारे डिपाजिटर एक ही समय पर बैंक से रुपयों के भुगतान की माँग करें, तो बैंक की महान् साख संरचना ताश के पत्तों के महल की भाँति ढह जाय। जो लोग बैंक में धन जमा कराते हैं तो उन्हें उसकी एकदम आवश्यकता नही पड़ती वरन् वे चैंक द्वारा आवश्यकतानुसार धीरे-धीरे निकालते रहते हैं। इससे बैंक को साख निर्माण करने का अवसर मिल जाता है।

(३) साख-पत्रों के प्रयोग में वृद्धि—आजकल चैंक, बिल आदि साख-पत्रों का प्रयोग तेजी से बढ़ रहा है। इससे बैंकों को साख के निर्माण में बहुत सुविधा हो गई है।

(४) समाशोधन गृह की पद्धति—चैंक द्वारा भुगतान किये जाने में बैंक प्रत्येक चैंक का भुगतान नगद नहीं करते, वरन् ये चैंक दूसरे बैंक में या इसी बैंक की दूसरी शाखा के खाते में जमा होते हैं और समाशोधन गृह पद्धति के अन्तर्गत कागजी लिखा-पढ़ी द्वारा विभिन्न शाखाओं, बैंकों और खातों के मध्य चैंक की रकमों का हस्तांतरण हो जाता है। इस प्रकार, वास्तविक नगदी के लेन-देन की बहुत कम आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि थोड़े से नगद कोष के आधार पर ही बैंक विशाल मात्रा में ऋण दे देते हैं।

उदाहरण के लिये, पंजाब नेशनल बैंक जयपुर में नगद जमा १,००,००० रु० है। वह समझता है कि यदि उसके पास १०% नगद कोष रहे, तो वह माँग की देनदारियों (Demand Liabilities)[१] को निभाता हुआ अपना काम उचित ढंग से चला सकता है। अतः वह १०,००,००० रु० तक के ऋण आसानी से दे देता है। ये ऋण नगद रुपयों में नहीं दिये जाते, वरन् ऋण की रकम ऋण लेने वालों के खाते में जमा करदी जाती है। ऋण लेने वाले ग्राहक जब चाहे अपनी आवश्यकतानुसार चैंक द्वारा रुपया निकालते रहते हैं। यदि कोई चैंक ऐसे व्यक्ति के नाम काटा गया है, जिसका खाता उसी बैंक में है, तो बैंक को कोई रुपया नहीं देना पड़ेगा, वरन् कागजी लिखा-पढ़ी (Entry) द्वारा एक खाते में से रुपया कम करके दूसरे खाते में जमा कर देगा। यदि पंजाब नेशनल बैंक जयपुर के ग्राहक ने इलाहाबाद बैंक के ग्राहक के पक्ष में चैंक काटा है, तो इलाहाबाद का ग्राहक वह चैंक इलाहाबाद बैंक में अपने खाते में संग्रह के लिये जमा करा देगा। इलाहाबाद बैंक उस चैंक को लेकर नगर के समाशोधन गृह (Clearing House) में जावेगा। सम्भव है कि जिस प्रकार इलाहाबाद बैंक को पंजाब नेशनल बैंक से पाना है उसी प्रकार पंजाब नेशनल बैंक को भी इलाहाबाद बैंक से कुछ पाना हो। रिजर्व बैंक या स्टेट बैंक की देख-रेख में, प्राय: प्रत्येक नगर में समाशोधन गृह कार्य करते हैं। वहाँ प्रत्येक बैंक अन्य बैंकों के सामने अपने लेने-देने का हिसाब प्रस्तुत करता है और एक दूसरे के ऊपर लिखे हुए चैंक दिखाकर हिसाब को चुकता कर लेते हैं। इस प्रकार, बैंक को नगद रुपये देने की आवश्यकता नहीं रहती।

---

१. 'माँग की देनदारियों' से आशय ग्राहकों द्वारा चालू खाते में चैंक द्वारा रकम निकालने से है।

साख निर्माण की सीमायें

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बैंक कैसे और क्यों साख का निर्माण कर लेते है। यहां पर एक स्वाभाविक प्रश्न उदय होता है—*क्या बैंक किसी भी सीमा तक साख का निर्माण कर सकते हैं?* इसका स्पष्ट उत्तर है 'नही'। बैंकों द्वारा साख निर्माण की एक सीमा होती है। इस सीमा से अधिक साख का निर्माण नही *किया जा सकता और यदि किया गया,* तो बैंक अपने माँग-दायित्वों को उचित प्रकार नही निभा सकेगा। इससे जनता का विश्वास हटने लगेगा तथा बैंक के अस्तित्व को खतरा उत्पन्न हो जायेगा। साख के निर्माण की सीमा निम्न बातों पर निर्भर होती है —

(१) देश में मुद्रा की कुल मात्रा—यदि केन्द्रीय बैंक अधिक मुद्रा निकालेगा, तो जनता बैंकों में अधिक जमा करायेगी और बैंक भी उसके आधार पर अधिक साख निर्मित कर सकेंगे। मुद्रा की कम निकासी होने पर कम साख निर्मित हो सकेगी।

(२) बैंकिंग की आदत का विकास—यदि जनता को चैक और अन्य साख-पत्रों के प्रयोग की आदत है तो वह अपने पास मामूली नगद धन रख कर शेष को बैंक मे जमा करा देगी। बैंक में नगद जमा अधिक आने पर वह अधिक साख दे सकेगा। इसके विपरीत यदि लोगों को चैक के प्रयोग की आदत नही है, तो वे अपने पास अधिक नगद धन रखेंगे, बैंकों में नगदी जमा कम होगी और फलस्वरूप साख का निर्माण भी घट जायेगा।

(३) कुल दायित्व का नगद कोष से अनुपात—सुरक्षा के दृष्टिकोण से प्रत्येक देश में बैंकिंग विधान यह निश्चित करता है कि बैंकों को अपने कुल दायित्व का कम से कम कितना प्रतिशत नगद कोष के रूप म रखना चाहिये। यदि यह प्रतिशत अधिक रखा गया है, तो बैंक साख का निर्माण कम कर पायेंगे और यदि उक्त प्रतिशत कम रखा गया है तो उनकी साख-सृजन की शक्ति बढ़ जायेगी।

(४) केन्द्रीय बैंक के पास रखा जाने वाला कोष—प्रत्येक बैंक को अपने दायित्वों का कुछ प्रतिशत भाग केन्द्रीय बैंक के पास सुरक्षित कोष के रूप में रखना पड़ता है। इस कोष की मात्रा मे दायित्वों की मात्रा के अनुसार कमी या वृद्धि होती रहती है। इससे भी बैंक के साख-निर्माण करने की शक्ति सीमित हो जाती है क्योंकि यदि वह अधिक साख का निर्माण करना चाहे तो उसे केन्द्रीय बैंक के पास अधिक कोष रखना होगा।

(५) केन्द्रीय बैंक का प्रतिबन्ध—देश में आर्थिक स्थिरता रखने के दृष्टिकोण से केन्द्रीय बैंक अपने खुले बाजार की क्रियाओं, बैंक दर नीति तथा सुरक्षित कोष के अनुपात में परिवर्तन करके देश की आवश्यकतानुसार बैंकों के साख-प्रसार और साख-संकुचन पर अंकुश रखता है।

(६) जमाकर्त्ताओं का विश्वास—चूंकि जमाकर्त्ताओं को इस बात का विश्वास होता है कि मांगने पर उनका रुपया तुरन्त वापिस मिल जायेगा, इसलिये वे बैंक में अपना धन जमा कर देते है। यदि उन्हे बैंक में विश्वास न हो, तो वे धन कम जमा करायेंगे जिससे बैंक अधिक साख न दे पायेगा।

(७) ऋण की जमानत का स्वभाव—बैंक केवल अच्छी प्रतिभूतियों पर ऋण देता है। यदि देश में अच्छी प्रतिभूतियों का चलन है, तो बैंक अधिक ऋण दे सकेंगे अन्यथा नहीं।

परीक्षा प्रश्न

(१) बैंक को 'पूंजी' किस प्रकार प्राप्त होती है? विस्तार से लिखिये।

(२) व्यापारिक बैंक साख का सृजन किस प्रकार करते हैं? साख के सृजन की सीमायें बताइये।

(३) बैंकों के डिपाजिटों की मात्रा को प्रभावित करने वाले घटकों पर प्रकाश डालिये।

(४) "यदि समस्त आगोपित व्यक्ति एक ही दिन को मरने का षड्यन्त्र रच लें तो बीमा कम्पनियाँ फेल हो जायें। इसी प्रकार, बैंकिंग भी कुछ परिस्थितियों पर आधारित है, जो बैंकरों को साख का विशाल ढाँचा खड़ा करने में सहायक होती हैं।" साख के निर्माण को सम्भव बनाने वाली इन परिस्थितियों को समझाइये।

अध्याय ३.

बैंक का संगठन

(ऋण एवं विनियोग)

[Organisation of a Bank]

प्रारम्भिक

पिछले अध्याय में हमने उन स्रोतों की चर्चा की थी, जिनसे बैंक अपनी पूँजी एकत्र करते हैं। विभिन्न स्रोतों से एकत्र हुई पूँजी के विनियोग द्वारा जो लाभ होता है उसे अंशधारियों में बांट दिया जाता है। लेकिन बैंक के सभी विनियोग लाभप्रद नहीं होते। जबकि कुछ विनियोग लाभप्रद होते हैं तब कुछ विनियोग अलाभप्रद भी होते हैं। लाभप्रद एवं अलाभप्रद विनियोग में पूँजी किस प्रकार लगाई जाय, इसका निश्चय करते समय बैंक को सुरक्षा, तरलता लाभदायकता आदि बातों का ध्यान रखना पड़ता है। प्रस्तुत अध्याय में बैंकों की विनियोग-नीति एवं उनके विभिन्न प्रकार के विनियोगों पर प्रकाश डाला गया है।

बैंकों की विनियोग नीति

(Investment Policy of Banks)

बैंकों का मुख्य कार्य है रुपया जमा के लिये लेना और रुपया उधार देना। बैंक अपनी पूँजी उधार नहीं देता, क्योंकि वह बैंक के कार्यालयों और साज-सामान की व्यवस्था करने में ही प्रयोग हो जाती है। अतः जमा पर प्राप्त की हुई पूँजी ही वह उधार देता है और लाभ कमाता है। जो रकम वह उधार देता है चाहे जब उससे वापिस माँगी जा सकती है। यदि उसने उधार में रकम को इस प्रकार फंसा दिया है कि उचित समय पर डिपाजिटरों को भुगतान के लिये पर्याप्त कोष न रहे, तो बैंक की साख गिर जाती है और वह फेल हो जाती है। अतः अपने कोष को विनियोग करने में बैंक को बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिये। एक कुशल बैंक वह है जो कोषों को विनियोग करने, वापिसी की माँग और उनके विनियोगों के मध्य उचित सामंजस्य स्थापित करने में सफल होता है। यह उल्लेखनीय है कि इस बंटवारे का कोई निश्चित नियम नहीं हो सकता क्योंकि विभिन्न देशों में विभिन्न परिस्थितियाँ होती हैं। एक बैंक अपने देश की परिस्थितियों के अनुसार अपनी विनियोग नीति निर्धारित करता है और इस हेतु उसके अधिकारियों को दूरदर्शिता, अनुभव और अनुमान की आवश्यकता पड़ती है। बैजहाट (Bagehot) के शब्दों में—"साहस व्यापार का जीवन है, परन्तु सावधानी (Caution) न कि भीरुता (Timidity) आधुनिक बैंकिंग का सार है।"[1]

---

1. "Adventure is the life of commerce, but caution, if not timidity, is the essence of modern banking." *Bagehot.*

एक बैंक निम्न घटकों (अथवा सिद्धान्तों) को ध्यान में रखकर अपने धन का विनियोग करता है :—

विनियोग नीति के ६ सिद्धान्त
(१) सुरक्षा ।
(२) तरलता ।
(३) विविधता ।
(४) स्थायी व पर्याप्त आय ।
(५) करों से छूट ।
(६) विनियोगों के मूल्य में स्थिरता ।

(१) **सुरक्षा**—बैंक को विनियोग की सुरक्षा का ध्यान कभी नहीं भूलना चाहिये चाहे विनियोग कितना ही लाभदायक हो । यदि सुरक्षा का ध्यान नहीं रखा गया, तो बैंकों के फेल होने का अवसर आ सकता है । सुरक्षा के हेतु बैंक को चाहिये कि ऋणी के आचरण की पूर्व जांच करे, सस्ती साख नीति न अपनावे, केवल अस्थाई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ऋण दे, सारे कोष एक ही व्यवसाय में न फंसावे और जमानत के मूल्य की जाँच कर ले ।

(२) **तरलता**—बैंक को इस प्रकार के कार्य में अपने कोष का विनियोग करना चाहिये कि आवश्यकता के समय विनियोग को बेचकर तत्काल रुपया मिल जाय । इस दृष्टि से अचल सम्पत्तियाँ अच्छा विनियोग नहीं कही जा सकती हैं, क्योंकि ऐसा करने पर विनियोग की तरलता समाप्त हो जायेगी । यही कारण है कि श्री एम० एल० टंनन (**M. L. Tannan**) ने कहा है—"एक सफल बैंकर को 'विनिमय बिल' और 'बंधक' का अन्तर समझ लेना चाहिए ।" अर्थात् विनिमय बिल एक अल्पकालीन साख पत्र होता है तथा इसे आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय बैंक या अन्य बैंकों से भुनाया भी जा सकता है । किन्तु बन्धक में इसके विपरीत गुण हैं । वह अत्यन्त अ-तरल है, अतः जमाकर्त्ताओं को नगदी की माँग होने पर इसे आसानी से नगदी में नहीं बदला जा सकेगा, जिससे बैंकों को आर्थिक संकट का भय रहेगा । इसी कारण, कुशल बैंक अपना धन सरकारी या प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियाँ अथवा उत्तम कम्पनियों के शेयरों आदि में लगाते हैं ।[1]

(३) **विविधता**—बैंक को चाहिये कि अपने कोष विभिन्न व्यवसायों में, विभिन्न स्थानों पर तथा विभिन्न व्यक्तियों व संस्थाओं में लगाये ताकि बैंक के पास नगदी की नियमित वापिसी होती रहे और अपने ग्राहकों की मांग को पूरा करने में उसे कोई कठिनाई न हो । एक टोकरी में सारे अण्डे रखने की भाँति एक ही व्यवसाय या स्थान में अधिकांश कोष लगा देना हानिकारक प्रमाणित हो सकता है ।

(४) **स्थायी व पर्याप्त आय**—बैंक को नियमित रूप से पर्याप्त लाभांश अपने शेयरहोल्डरों को देना पड़ता है, अन्यथा लोग बैंकों की स्थापना में रुचि क्यों लें ? अतः कोषों का विनियोग करते समय बैंक को यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि विनियोगों से उसे पर्याप्त एवं नियमित आय होती है ।

१. सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट ने बैंक के विनियोगों की तरलता बनाये रखने के लिये निम्न नियम बनाये हैं—(i) एक्ट के अनुसार प्रत्येक बैंक को अपनी कुल-जमा का २०% नगद मुद्रा, सोना और स्वीकृत प्रतिभूतियों के रूप में रखना अनिवार्य है, एवं (ii) बैंक को कुल स्थाई जमा का २% और चालू खाते की जमा का ५% रिजर्व बैंक के पास रखना अनिवार्य है ।

(५) करों से मुक्ति—जहाँ तक संभव हो, अन्य बातों का ध्यान रखते हुए, बैंक को अपने कोष ऐसी प्रतिभूतियों मे लगाने चाहिये, जिन पर आय-कर व अन्य कर न लगते हों या कम लगते हों।

(६) विनियोगों के मूल्य में स्थिरता—बैंक जिन प्रतिभूतियों में विनियोग करे उनके मूल्यों मे अधिक घट-बढ़ नही होनी चाहिये। अव्यवस्था से बैंक को मूल्यों मे अचानक कमी होने से हानि उठानी पड़ सकती है।

बैंकों के विविध विनियोग

(Various Channels for Investment by Banks)

बैंक जिन मदों में अपनी पूंजी का प्रयोग करते हैं उन्हें दो वर्गों में बाँटा जा सकता है:—(I) लाभहीन विनियोग, जो सुरक्षा और तरलता की दृष्टि से किये जाते हैं; तथा (II) लाभकर विनियोग, जो नियमित एवं पर्याप्त आय प्राप्त करने के दृष्टिकोण से किये जाते हैं। सुरक्षा व तरलता और नियमित व पर्याप्त आय दोनों ही आवश्यक हैं। अत: बैंक को चाहिये कि अपने लाभहीन एवं लाभकर विनियोग में उचित संतुलन रखे।

(I) लाभहीन विनियोग (Profitless Investments)

इनके अन्तर्गत निम्न विनियोग सम्मिलित किये जाते हैं:—

(१) नगद कोष (Cash Reserve)

बैंकों के 'नगद कोष' से अभिप्राय उस नगद धन से है जो कि वे अपने यहाँ अथवा अन्य बैंकों के पास इस आशय से रखते हैं कि समय समय पर आने वाली ग्राहकों की द्रव्य सम्बन्धी माँग को अविलम्ब पूरा कर सकें। प्रारम्भ में महाजन दूसरे व्यक्तियों द्वारा अपने पास जमा कराये गये धन को सुरक्षित रखा करते थे (अर्थात् विनियोग नहीं करते थे) और माँग पर उसी रकम को लौटा देते थे। जब उनके पास यथेष्ठ रुपया एकत्र होने लगा, तो उन्होंने रुपये का विनियोजन प्रारम्भ किया। एक व्यक्ति का रुपया कहो लगा दिया, दूसरे व्यक्ति का रुपया पहले की माँग को पूरा करने में किया, तीसरे व्यक्ति का रुपया नगद रखा और चौथे का रुपया किसी लाभप्रद विनियोग में लगा दिया। यही रूप आज बैंक का है। वह कुछ रुपया नगद रख कर शेष का विनियोग कर देता है। कुछ नगद कोष रखना इसलिये आवश्यक होता है कि जनता का विश्वास अत्यन्त दुर्बल होता है। तनिक अफवाह पर लोग धड़ाधड़ बैंकों से रुपया निकालना प्रारम्भ कर देते हैं। उदाहरण के लिये, जब पिलाई बैंक का कारोबार बन्द हुआ, तो जनता ने अन्य बैंकों से भी अपनी जमा राशि को निकालना प्रारम्भ कर दिया था। अत: बैंकों के लिये नगद कोष रखना अत्यन्त आवश्यक है।

नगद कोष निर्धारित करने वाली बातें

यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि बैंक अपने पास कितना नगद कोष रखें। इस विषय में कोई निश्चित नियम नही है जो सब स्थानों अथवा सब बैंकों में काम में लाया जा सके। यह निधि मुख्यत: बैंक के पूर्व अनुभव, उसकी दूरदर्शिता और उसके क्षेत्र की व्यापारिक स्थिति पर निर्भर होती है। फिर भी कुछ सामान्य नियम ऐसे हैं,

जिनका पालन करने से बैंको को आवश्यकता पड़ने पर नगदी का भुगतान करने में कोई असुविधा नही होगी। ये नियम इस प्रकार हैं:—

नगद कोष को प्रभावित करने वाली १० बातें

(१) चैक के प्रयोग की आदत।
(२) बैङ्क के प्रति जनता का विश्वास।
(३) ग्राहकों की संख्या व जमाओं का आकार।
(४) विनियोगों की तरलता।
(५) सबसे अधिक जमा करने वाले ग्राहक की मांग।
(६) सटोरिये ग्राहकों की मांग।
(७) समाशोधन गृहों की सुविधा।
(८) कृषि-क्षेत्र की मौसमी मांग।
(९) बिलों का प्रयोग।
(१०) विधान द्वारा निश्चित प्रतिशत।

(१) चैक के प्रयोग की आदत—जिस देश में चैक का प्रयोग अधिक किया जाता है तथा लोग चैक द्वारा भुगतान करते हो, वहाँ बैंक कम नगद कोष रख कर काम चला सकते हैं। उदाहरण के लिये, इंगलैड मे बैंक ६% या ८% नगद रखकर ही काम चला लेते हैं जब कि हमारे देश में बैंकों को ८% से १३% तक नगद कोष रखना पड़ता है। इसका कारण यह है कि यहाँ चैकों का प्रयोग कम किया जाता है तथा लोग नगद भुगतान पसन्द करते हैं।

(२) बैंक के प्रति जनता का विश्वास—यदि जनता को बैंक में अपार विश्वास है और वह अपना समस्त धन बैंक मे जमा करा देती है यहाँ तक कि अपने समस्त लेन-देन बैंकों द्वारा ही निपटाती है, तो बैंकों को नगद रुपये का अभाव नही रहता, क्योंकि उनके पास प्रतिदिन यथेष्ठ रुपया आता रहता है और एक से प्राप्त करके वे दूसरे को देते रहते है। स्पष्ट ही ऐसी दशा मे बैंक कम नगद रख कर भी काम चला सकते हैं।

(३) ग्राहकों की संख्या एवं जमाओं का आकार—यदि बैंक के ग्राहकों की संख्या कम है और प्रति ग्राहक बैंक मे अधिक रकम जमा कराई जाती है, तो बैंक को अधिक मात्रा मे नगदी रखने की आवश्यकता पड़ेगी। किन्तु जब ग्राहकों की संख्या अधिक हो, तब बैंक के पास यथेष्ठ मात्रा मे रुपया समय-समय पर आता रहेगा, जिससे वह कम नगद कोष रखकर ही काम चला सकता है।

(४) विनियोगों की तरलता—यदि बैंक अपना धन अल्पकालीन ऋणों मे लगता है, तो उसे कार्य सम्पादन के लिये कम नगद कोष रखना पड़ेगा, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर अल्पकालीन-विनियोग तत्काल ही अन्य बैंको से भुनाये जा सकते हैं। दीर्घकालीन या अ-तरल विनियोगों मे अधिकांश धन फँसाने वाले बैंक को अधिक मात्रा में नगद कोष रखना होगा।

(५) सबसे अधिक जमा कराने वाले ग्राहक की मांग—नगद कोष इसलिये रखा जाता है, जिससे कि रुपया जमा कराने वालों की द्रव्य सम्बन्धी मांग को पूरा किया जा सके। अतः बैंक को कम से कम इतना नगद कोष तो अवश्य रखना चाहिये, जो कि सबसे अधिक जमा करने वाले ग्राहक की मांग की पूर्ति के लिये पर्याप्त हो।

(६) सटोरिये ग्राहकों की मांग—जिस बैंक में सटोरियों (Speculators) के खाते अथवा चालू खाते अधिक संख्या में खुले होते हैं उसके पास धन बहुत जल्दी ... रहता है अतः उसे नगद कोष भी अधिक रखना पड़ता है।

(७) समाशोधन गृहों की सुविधा—जहाँ समाशोधन गृहों की सुविधा है वहाँ बैंकों को अधिक मात्रा मे नगद कोष नही रखना पड़ता, क्योंकि पारस्परिक दायित्वों का निपटारा थोडे ही द्रव्य के हस्तांतरण से हो जाता है।

(८) कृषि-क्षेत्र की मौसमी माँग—व्यापारिक क्षेत्र के बैंकों की तुलना में कृषि-क्षेत्र के बैंकों को कम नगद कोष रखना पड़ता है, क्योंकि कृषकों को कम रुपये की आवश्यकता पड़ती है। हाँ, मौसमी माँग की पूर्ति के लिये उनको अधिक ध्यान देना पड़ता है।

(९) बिलों का प्रयोग—यदि देश मे बिलो का बहुत प्रयोग होता है और इनके पुन: भुनाने की सुविधायें भी पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हैं, तो बैंक अपना अधिक धन बिलो म लगा देते है और नगद कोष कम रखते हैं, क्योंकि वे बिलों को अन्य बैंकों से या केन्द्रीय बैंक से पुन: भुना कर नगद द्रव्य का प्रबन्ध कर सकते हैं।

(१०) विधान द्वारा निश्चित प्रतिशत—उक्त बातों को ध्यान मे रखते हुये तथा अपने अनुभव के संदर्भ में बैंक यह निश्चित कर लेते हैं कि उनको अपने पास कितना नगद कोष रखना चाहिये। कुछ देशों मे विधान द्वारा नगद कोष की न्यूनतम मात्रा निश्चित कर दी जाती है। जहाँ ऐसा हो, वहाँ उतना कोष तो बैंकों को अपने पास अवश्य ही रखना पड़ेगा। इसे 'वैधानिक नगद कोष' (Statutory Cash-Reserve) कहते है। कुछ देशों मे बैंकों को नगद कोष विधानतः अपने ही पास रखना पड़ता है और कुछ देशों में उसका कुछ अंश केन्द्रीय बैंक के पास रखना पड़ता है।

भारत में समाशोधन गृहों का अभाव है, लोगों को साख-पत्रों के प्रयोग की अधिक आदत नही है और छोटे-छोटे खातों की संख्या अधिक है। यही कारण है कि यहाँ बैंकों को अपने पास अधिक नगद कोष रखना आवश्यक है। विधानतः शिड्यूल्ड बैंकों को रिजर्व बैंक के पास चालू खाते का ५% और सावधि जमा खाते का २% हर समय नगद जमा रखना पड़ता है। जो बैंक शिड्यूल्ड नहीं है उन्हें भी यह आवश्यक है कि वे अपने ही पास अपने चालू खाते का ६% और सावधि जमा खाते का २½% नगद कोष में रखें। किन्तु भारतीय परिस्थितियों को देखते हुये विधान निश्चित उक्त न्यूनतम रकम ही नगद रखना भारतीय बैंकों के सफल संचालन के लिये अपर्याप्त प्रतीत होता है।

(२) मृत स्कन्ध (Dead Stocks)

इन विनियोगों से भी बैंक को कोई लाभ नहीं होता किन्तु ये नित्य प्रति के कार्यों को करने के लिये आवश्यक होते है, जैसे फर्नीचर, भूमि व इमारत आदि। ये विनियोग आसानी से बेचे नहीं जा सकते हैं। इसी कारण इन्हें 'मृत स्कन्ध' कहा गया है। सच तो यह है कि अपनी ख्याति गिरने के भय से बैंक इन्हें बेचना पसन्द भी नहीं करते है। कभी-कभी बैंकों को अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये विशाल एवं सुन्दर भवन बनवाने पड़ते हैं।

(II) लाभकर विनियोग
(Profitable Investments)

बैंक एक व्यावसायिक संगठन है, जिसका स्वामित्व शेयरहोल्डरों के हाथ में होता है यद्यपि संचालन के लिये बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स, मैनेजिंग डाइरेक्टर या मैनेजर

होते हैं। स्वभावत: शेयरहोल्डर अपने शेयरों के धन पर वार्षिक लाभ (या ब्याज) की अपेक्षा रखते हैं। अत: बैंकों को अपने धन का विनियोग-सुरक्षा का उचित ध्यान रखते हुये इस प्रकार करना चाहिये कि उन्हें पर्याप्त आय हो, जिससे अपने व्यय पूरे करने के बाद वे अपने शेयरहोल्डरों को समुचित लाभांश दे सकें। आय प्राप्त करने के दो मुख्य स्रोत हैं :—(i) ग्राहकों के प्रति विविध सेवायें कुछ कमीशन या शुल्क लेकर करना, जैसे उनके चैकों का संग्रह करना, मूल्यवान वस्तुओं की सुरक्षा, धन का हस्तातरण आदि; और (ii) अपने धन को लाभ देने वाले विनियोगों में लगाना। नीचे इन लाभकर विनियोगों पर प्रकाश डाला गया है :—

(१) अल्पसूचनार्थ ऋण (Money at Short Notice)

ये ऋण प्राय: १ सप्ताह या १५ दिन के लिये दिये जाते हैं। पर ब्याज की दर ½ से ¾% तक होती है। इन्हें अल्पकालीन नोटिस देकर (बहुत बार बिना नोटिस दिये) वापिस लिया जा सकता है। सुरक्षा के दृष्टिकोण से नगद कोषों के बाद इन्हीं का नम्बर है। एक दृष्टि से ये उनसे भी अच्छे हैं, क्योंकि इनसे आय भी होती है। अत: ऐसे ऋणों को बैंक की द्वितीय रक्षा पंक्ति (Second Line of Defence) भी कहते हैं। टाजिग ने इन्हे (Cold Blooded Loans) कहता है। ये ऋण बिल ब्रोकरों, डिसकाउन्ट गृहो व स्टाक ब्रोकरों द्वारा लिये जाते हैं। भारत मे इनका प्रयोग प्रथम महायुद्ध के बाद प्रारम्भ हुआ है किन्तु यहाँ अल्पसूचनार्थ ऋण इसलिये अधिक विकसित नही हो पाये हैं कि बिलो को भुनाने वाले गृहों तथा निर्गमित करने वाले गृहों का बहुत अभाव है। अतः इस प्रकार के ऋण बैंक ही परस्पर लिया-दिया करते हैं।

(२) बिलों को क्रय करना व भुनाना (Purchasing or Discounting of Bills)

इन विनियोगो को बैंक की 'तीसरी रक्षा पंक्ति' कहा गया है। प्रत्येक बिल की अवधि प्राय: ६० दिन से ६० दिन की होती है। बिलो पर जो डिसकाउन्ट लिया जाता है उसमे शेष अवधि का वर्तमान दर से ब्याज, जोखिम व प्रबन्ध सम्बन्धी प्रतिफल सम्मिलित होता है। बिलों की तरह प्रोमिजरी नोट व ट्रेजरी बिलों का भी क्रय-विक्रय किया जाता है। बिलों का रुपया अवधि के समाप्त होने पर बैंक को मिल जाता है। यदि पहले आवश्यकता पड़े, तो इन्हे केन्द्रीय बैंक से या अन्य बैंकों से भुनाया जा सकता है।

बिलो में रुपया लगाने मे बैंको को निम्न लाभ हैं :—(i) बिल भुनाने से ग्राहक को उसकी आवश्यकता के समय रुपया मिल जाता है वहाँ बैंक को भी ब्याज (या डिसकाउन्ट) के रूप मे समुचित आय होती है। (ii) बैंक को यह ज्ञात रहता है कि बिलों का भुगतान कब-कब प्राप्त होगा। अत: वह सरलता से यह अनुमान लगा लेता है कि कितनी देनदारियों के लिये उसे कब और कितना रुपया मिल जायगा। (iii) आवश्यकता पड़ने पर बिलों को केन्द्रीय बैंक से या अन्य बैंकों अथवा अपने धनाढ्य ग्राहकों से भी भुनाया जा सकता है। इससे बिलों में लगी हुई पूँजी सदा तरल अवस्था में ही रहती है।

भारत में बैंक इस मद में बहुत थोड़ा रुपया लगाते हैं (कुल जमा का प्रायः ५ या ६% ही), क्योंकि बिल बाजार का पर्याप्त विकास नहीं हो पाया है।

बिलों में रुपया लगाते समय बैंक को सावधानी से यह देख लेना चाहिये कि (i) वे नियमानुसार लिखे और स्वीकृत किये गये हों, (ii) उस पर बेचान सही ढंग से किया गया हो, तथा (iii) बिल के पक्षों की आर्थिक दशा सन्तोष जनक हो। यदि ये सावधानियाँ न रखी जायें, तो बैंक को धोखा हो सकता है।

(३) प्रतिभूतियों में विनियोजन (Investment in Securities)

अल्प सूचनार्थ ऋणों और बिलों में धन थोड़े समय के लिये ही लगाया जाता है ; इससे उस पर ब्याज कम मिलता है। अत: बैंक अपना सब धन इनमें नहीं लगाते। नगद कोष, अल्पसूचनार्थ ऋण और बिलों के भुनाने आदि का पहली, दूसरी और तीसरी रक्षा-पंक्तियों में इतना धन लगाने के बाद कि किसी भी समय संकट को टाला जा सके, बैंक अधिक लाभप्रद (यद्यपि कम सुरक्षित) विनियोगों में अपना धन लगाता है। इस दृष्टि से प्रतिभूतियों का स्थान सर्वोपरि है।

प्रतिभूतियों के प्रमुख भेद

प्रमुख प्रतिभूतियाँ निम्न होती हैं :—

(१) केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियाँ (Government securities)। इन्हें सर्वोत्तम प्रतिभूतियाँ (Gilt Edged Securities) माना जाता है, क्योंकि मुद्रा बाजार में इनकी साख सबसे अधिक होती है।

(२) अर्ध सरकारी प्रतिभूतियाँ (Semi Government Securities), जो जिला बोर्ड, नगर निगम, सुधार-ट्रस्टों आदि के द्वारा निर्गमित की जाती हैं। इनकी साख सरकारी प्रतिभूतियों से कुछ कम होती है।

(३) जन उपयोगी संस्थाओं की प्रतिभूतियाँ—रेलवे, बिजली कम्पनियों आदि के शेयर, डिबेन्चर व बॉड इस वर्ग में गिने जाते है। साख की दृष्टि से ये तृतीय श्रेणी की प्रतिभूतियाँ हैं।

प्रतिभूतियों के ४ वर्ग

(१) सरकारी प्रतिभूतियाँ।
(२) अर्ध-सरकारी प्रतिभूतियाँ।
(३) जनोपयोगी संस्थाओं की प्रतिभूतियाँ।
(४) अन्य स्टॉक एवं डिबेन्चर।

(४) अन्य स्टॉक और डिबेंचर—इनमें मिश्रित पूंजी वाली औद्योगिक एवं व्यापारिक कम्पनियों के शेयर व डिबेन्चर सम्मिलित है। इनकी साख सबसे कम होती है तथा इनके बाजार मूल्य में भी घटा-बढ़ी होती रहती है।

प्रतिभूतियों में धन लगाने से लाभ

प्रतिभूतियों में धन लगाने से लाभ इस प्रकार हैं—(i) इनके स्वामित्व के बारे में प्राय: कोई विवाद नहीं होता। अत: इन्हें सरलता से बेचा सकता है। (ii) इनके बाजार मूल्य में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं होते, अत: इनसे बैंक को हानि की अधिक सम्भावना नही रहती है। (iii) साख अच्छी होने के कारण इन्हें सरलता व शीघ्रता से बेचा जा सकता है। (iv) ब्याज और लाभांश के रूप में नियमित एवं पर्याप्त आय होती रहती है तथा इसके वसूल करने में भी कोई कठिनाई नही होती है। (v) इन्हें अन्य बैंकों और केन्द्रीय बैंक के पास गिरवीं रख कर ऋण लिया जा सकता है।

प्रतिभूतियों में विनियोजन करते समय स्मरणीय बातें

प्रतिभूतियों मे धन का विनियोग करते समय बैंक को निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिये :—

(१) धन की सुरक्षा—बैंक को ऐसी प्रतिभूतियों में ही अपना धन लगाना चाहिये, जिनमें धन सुरक्षित रहे। इस हेतु उसे चाहिये कि धन का विनियोग करने के पूर्व प्रतिभूति निर्गमित करने वाली संस्था को आर्थिक दशा और साख के बारे मे अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करले।

(२) उचित लाभ—ऐसी प्रतिभूतियो मे धन लगाना चाहिये, जिनमें बैंक को उचित लाभ भी मिले। किन्तु अधिक लाभ कमाने के लोभ में सुरक्षा का कभी त्याग नही करना चाहिये। इस दृष्टि से एक सट्टेबाज और बैंकर मे भेद होता है। एक सट्टेबाज अपना ही धन लगाता है, अत: उसका रुपया डूबने पर वह स्वयं ही हानि को सहन करता है। लेकिन एक बैंकर दूसरों के धन का विनियोग करता है, अत: उसे बडी सावधानी से काम लेना चाहिये। यदि उसकी असावधानी से रुपया डूब गया, तो बैंक के फेल हो जाने का डर है तथा अन्य बैंकों पर भी बुरा प्रभाव पड़ेगा।

(३) सरलता से विक्रय योग्य—बैंक को ऐसी प्रतिभूतियों में धन लगाना चाहिये, जिन्हें सरलतापूर्वक बेचा जा सके। यदि नगद धन को आवश्यकता पड़ने पर वह प्रतिभूतियों को बेच कर धन इकट्ठा न कर सका, तो उसे बहुत हानि सहनी पड़ेगी।

(४) स्थिर बाजार-मूल्य—प्रतिभूति के बाजार मूल्य में अधिक घटा-बढ़ी न होनी चाहिये। यदि मूल्य मे बहुत उतार-चढ़ाव वाली प्रतिभूतियों में धन लगाया गया, तो न केवल बैंक को हानि होने की संभावना है वरन् उन प्रतिभूतियों को सरलता से बेचना भी संभव न होगा।

(४) ऋण एवं अग्रिम (Loans and Advances)

बैंक प्राय: तीन तरीकों से ऋण देता है—साधारण ऋण, नगद साख एवं अधिविकर्ष। इन पर वह ६ से ९% तक ब्याज लेता है। इनके बारे में हमने प्रस्तुत खण्ड के पहले अध्याय मे विस्तार से प्रकाश डाला था। ये बैंकों की आय का अच्छा साधन है यद्यपि उपरोक्त विनियोगों की तुलना में इनमें तरलता बहुत कम होती है। साधारण ऋण देते समय बैंक को चाहिये कि ऋणी की साख और आर्थिक दशा के बारे मे भली प्रकार जाँच-पड़ताल कर ले। यह जाँच-पड़ताल निम्न उपायों से की जा सकती है—(i) साख सम्बन्धी सूचना देने वाली संस्थाओं के द्वारा; (ii) अन्य बैंकों से पूछ-ताछ द्वारा, जहाँ ऋणी का खाता रहा हो; (iii) ऋणी से व्यापारिक सम्बन्ध रखने वाली फर्मों से पूछ-ताछ द्वारा; (iv) यदि ऋणी एक पुराना ग्राहक है, तो उसका पिछला रिकार्ड देख कर; (v) अपना प्रतिनिधि भेज कर, जो ऋणी के व्यापार स्थल पर स्वयं सब हाल देखकर रिपोर्ट भेजे; एवं (vi) ऋणी के अन्तिम खातों का निरीक्षण करके।

बैंक के ऋण

(Loans by a Bank)

ऋण देते समय सावधानियाँ

यह एक सामान्य अनुभव की बात है कि सभी व्यक्ति विश्वासपात्र नहीं होते। अत: उधार देते समय बैंकर को यह ध्यान रखना पड़ता है कि उसका रुपया

ऐसी जगह न फँस जाय, जिससे उसकी वसूली में कठिनाई हो। साधारणतः एक बैंक को ऋण देते समय निम्न सावधानियाँ रखनी चाहिये :—

(१) रुपया बहुत लम्बी अवधि के लिये उधार न दिया जाय—क्योंकि इस बीच ग्राहक की आर्थिक दशा में परिवर्तन हो सकता है।

(२) रुपया सट्टे के लिये व उपभोग के लिये न दिया जाय—क्योंकि सट्टे मे लगा रुपया डूब जाने का बहुत भय है तथा उपभोग में लगे रुपये से कोई आय नहीं होती। अतः दोनों ही दशाओं में ऋण के चुकाने में कष्ट होता है।

(३) ऋण की सारी रकम ही व्यक्ति, व्यवसाय अथवा स्थान को नहीं देनी चाहिये—वरन् थोड़ा-थोड़ा रुपया अनेक व्यक्तियों, अनेक व्यवसायों, अनेक स्थानों और अनेक जमानतों पर देना चाहिये। इससे बैंक के रुपये के डूबने का डर कम हो जाता है। साथ ही कभी कोई ऋण वापस होने और कभी कोई ऋण आने पर धन की तरलता भी बनी रहती है।

ऋण देते समय स्मरणीय बातें

(१) लम्बी अवधि के लिये ऋण न दें।
(२) सट्टे व उपभोग के लिए ऋण न दें।
(३) *एक ही व्यक्ति या व्यवसाय को सारी रकम ऋण में न दें।*
(४) ऋणों को बार-बार नया न करें।
(५) उचित एवं पर्याप्त जमानत लें।
(६) ऋणी की साख सन्तोषजनक होनी चाहिए।
(७) बड़ी रकम उधार नहीं देनी चाहिए।

(४) **ऋणों को बार-बार नया नहीं करना चाहिये**, क्योंकि इससे उनकी वसूली अन्ततः कठिन हो जाती है।

(५) **ऋण के लिये जमानत उचित व पर्याप्त होनी चाहिये**—बैंक को अपने पक्ष में सदैव काफी मार्जिन रखना चाहिये, जिससे जमानत के मूल्य मे घटा-बढ़ी होने से बैंक के लिये यथेष्ठ गुंजायश रहे। जमानत के स्वामित्व को भी भली प्रकार जाँच लेना चाहिये।

(६) **ऋणी की साख संतोषजनक होनी चाहिये**—रुपया ऐसे व्यक्ति को उधार देना चाहिये जो नेक व ईमानदार हो, भुगतान करने मे तत्पर हो और बाजार मे जिसकी साख संतोषजनक हो।

(७) **बड़ी रकम उधार नहीं देनी चाहिये**—केवल इतना ही ऋण देना चाहिये जो ग्राहक की अल्पकालीन आवश्यकताओं के लिये पर्याप्त हो। साथ ही ऋणी द्वारा निजी साधनों से एकत्र की गई पूंजी की मात्रा को भी विचार में लेना चाहिये।

ऋण के हेतु दी जाने वाली जमानतें

जब कभी बैंक ऋण देते हैं, तो वे किसी न किसी प्रकार की जमानतें अवश्य ले लेते हैं। ये जमानतें दो प्रकार की होती हैं—(I) व्यक्तिगत जमानत एवं (II) सहायक जमानत।

(I) **व्यक्तिगत जमानत (Personal Security)**—कभी-कभी बैंक कोई माल या अन्य सम्पत्ति जमानत के रूप में लिए बिना ही ग्राहकों को ऋण दे देते हैं।

इन्हें 'ग्ररक्षित' या 'स्वच्छ' (Uncovered or Clean Loans) कहते हैं। इनका आधार केवल व्यक्तिगत जमानत होती है, जिसका तात्पर्य उस जमानत से है जो ऋणी के व्यक्तित्व द्वारा प्रस्तुत की जाती है। चूँकि इन ऋणों में जोखिम होती है इसलिए बैंक सावधानी से कार्य करते हैं—ग्राहक की साख, चरित्र व आर्थिक दशा और व्यवसाय प्रणाली की जाँच पड़ताल भली-भाँति करते हैं। यदि वे आवश्यक समझें तो ऋणी की व्यक्तिगत जमानत के अलावा एक अन्य व्यक्ति की व्यक्तिगत जमानत भी माँग लेते हैं। ऐसी दशा में इसे दो नाम के कागजी ऋण कहा जाता है। यह ऋण प्रोनोट लिखा कर दिया जाता है। व्यक्तिगत जमानत विशिष्ट हो सकती है अथवा चालू। विशिष्ट (Specific) जमानत के अन्तर्गत केवल एक विशिष्ट ऋण के लिये ही जमानत देने वाले व्यक्ति जमानती माने जायेंगे। किन्तु चालू (Continuing) जमानत के अन्तर्गत ग्राहक जब-जब ऋण लेगा, तब-तब वे व्यक्ति सदैव जमानती माने जाते रहेंगे।

(II) सहायक जमानत (Collateral Security)—सहायक जमानत से आशय उस भौतिक सम्पत्ति का है, जो कि ऋण की सुरक्षा के लिए बैंक के पास जमानत स्वरूप रखी जाती है। भौतिक जमानत प्रायः तीन प्रकार से रखी जाती है :—

(i) रहन (Lien)—इसमें जमानत बैंक के पास रहती है। जब तक ऋण चुक न जाय तब तक बैंक इसे अपने पास रखता है। ऋण वसूल न होने पर वह अदालत से हुकम लेकर आड़ रखी हुई वस्तुओं को बेच सकता है।

(ii) प्रतिज्ञा (Pledge)—जमानत की वस्तु बैंक के पास रहती है जब तक कि रुपया चुक न जाय। ऋण का भुगतान न करने पर बैंक ऋणी को समुचित सूचना देकर जमानत की वस्तु बेच सकता है और आधिक्य रकम, यदि कोई है, उसे लौटा देता है।

(iii) बन्धक (Mortgage)—अचल सम्पत्ति की 'प्रतिज्ञा' को ही बन्धक कहते हैं। यदि रुपया वापिस न किया जाय, तो सम्पत्ति का स्वामित्व स्वतः बैंक को प्राप्त हो जाता है और वह उसे बेच सकता है।

सहायक जमानत के स्वरूप

भारत में सहायक जमानत के निम्नलिखित रूप हैं :—

(१) स्टाक एक्सचेन्ज प्रतिभूतियाँ

इन प्रतिभूतियों के अन्तर्गत सरकारी, अर्ध सरकारी तथा स्थानीय अधिकारियों द्वारा जारी की गई प्रतिभूतियाँ और औद्योगिक एवं व्यावसायिक कम्पनियों के शेयर आदि सम्मिलित किये जाते हैं।

गुण—(i) इन्हें शीघ्रता से बेचा जा सकता है। (ii) इनके स्वामित्व के परिवर्तन में कोई कठिनाई नहीं होती। (iii) इनके मूल्यों में अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व होता है। (iv) इनकी जमानत पर अन्य बैंकों से ऋण मिल सकता है। (v) इनका बाजारी मूल्य स्टाक एक्सचेन्ज पर सरलता से मालूम किया जा सकता है।

दोष—(i) प्रायः शेयर अंशतः दत्त होते हैं। अतः कम्पनी द्वारा शेष रकम की माँग करने पर अदत्त रकम चुकाने की आवश्यकता पड़ सकती है। (ii) कुछ प्रतिभूतियाँ पूर्णतः विक्री साध्य नहीं होती हैं।

अतः स्टाक एक्सचेन्ज सिक्योरिटियों को जमानत के रूप में स्वीकार करते समय बैंक को यह ध्यान रखना चाहिए कि उनमें स्वामित्व सम्बन्धी दोष न हो, मूल्यों पर उतार-चढ़ाव अधिक न हो, अंशतः दत्त प्रतिभूतियाँ स्वीकार न की जायें।

(२) माल और माल के अधिकार-पत्र

बैंक माल या माल के अधिकार-पत्रों की भी आड़ में रखकर ऋण दे देते हैं, जैसे—गोदाम रक्षक का प्रमाण-पत्र, रेलवे की रसीद, बिल आफ लेडिंग, डाक वारन्ट, डिलीवरी इत्यादि।

गुण—(i) बेचना सुविधाजनक होता है; (ii) ऋण अल्पकालीन होने के कारण हानि का भय कम रहता है और (iii) रुपया मारे जाने का भय नहीं होता क्योंकि बैंक माल को बेच सकता है।

दोष—(i) माल रखने के लिए गोदाम मिलने में बैंक को कठिनाई होती है; (ii) गोदामों में माल खराब होने का डर रहता है; (iii) आराम व विलासता की वस्तुओं के मूल्य में अधिकतर चढ़ाव होते रहते हैं; (iv) सही मूल्य आँकने में कठिनाई पड़ती है; (v) थोड़ा-थोड़ा माल छोड़ना बैंक के लिए असुविधाजनक होता है; (vi) माल के अधिकतर पत्रों में धोखा होने की सम्भावना रहती है।

अतः इन जमानतों के आधार पर ऋण देते समय बैंक को कई सावधानियाँ रखनी चाहिए, जैसे—ऋण की रकम व माल के मूल्य में काफी मार्जिन रखा जाय, केवल सुरक्षित गोदामों में ही माल रखाया जाय, जल्दी बिकने वाला माल ही गिरवी रखा जाय, माल के अधिकार-पत्रों की भली प्रकार जाँच करा ली जाय तथा मूल्य की जाँच कराने में भी सतर्कता बरती जाय।

(३) जीवन बीमा पालिसी

जीवन बीमा पत्रों पर इनके सरेन्डर मूल्य के ९०% से अधिक ऋण नहीं दिया जाता।

गुण—(i) इनका मूल्य मालूम करना सरल है तथा वह समय के साथ-साथ बढ़ता भी जाता है। (ii) पालिसी की रकम पर ग्राहक के दिवालिये होने पर भी बैंक का पूर्वाधिकार होता है। (iii) पालिसी का अभिहस्तांकन करा लेने से उसे किसी अन्य को बेच कर रुपया खड़ा किया जा सकता है। (iv) स्वामित्व का सही-सही पता बीमा कम्पनी से लग जाता है।

दोष—(i) यदि बीमा पत्र में कोई दोष निकला, तो बीमा कम्पनी उसका भुगतान करना अस्वीकार कर सकती है (ii) जमानत में अध्यर्पण मूल्य की अनिश्चितता रहती है जिससे बैंक ऋण देने में कठिनाई अनुभव करता है जिससे पालिसी चालू रहे।

अतः जीवन-बीमा पत्रों पर ऋण देते समय बैंकर को यह ध्यान रखना चाहिये कि पालिसी में ऋणी की आयु स्वीकृत हो, बैङ्क के पक्ष में अभिहस्तांकन उचित रूप से करा दिया जाय, आमरण बीमा-पत्रों की अपेक्षा मियादी बीमा पत्रों को प्राथमिकता दे और अध्यर्पण मूल्य निश्चित करा ले।

(४) सम्पत्ति

सम्पत्ति या तो चल हो सकती है, जैसे सोना, जेवरात, अनाज, शेयर, माल आदि अथवा अचल हो सकती है, जैसे जमीन जायदाद। अचल सम्पत्तियों का गुण

केवल यह है कि इनकी आड़ पर ऐसे लोग भी ऋण प्राप्त कर लेते है जिनकी कोई व्यक्तिगत साख नही होती और न अन्य वस्तु ही आड़ में रखने के लिये होती है।

दोष—(i) इनका मूल्यांकन विशेषज्ञो से कराना पड़ता है। (ii) शीघ्र बिक्री साध्यता नही होती। (iii) मूल्य ह्रास का भय रहता है। (iv) स्वामित्व सम्बन्धी झगड़े उठते हैं।

अत: अचल सम्पत्तियों की जमानत पर ऋण देने के पूर्व वकील की सहायता से स्वामित्व सम्बन्धी सही-सही जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये तथा सम्पत्ति के मूल्य और ऋण की रकम मे पर्याप्त मार्जिन रखना चाहिये।

(५) विनिमय बिल

बैङ्क इन्हे ऋण देने के लिए एक अच्छी प्रतिभूति मानते हैं, क्योंकि इनके मूल्य मे परिवर्तन नही होता, इनमें अत्यधिक तरलता होती है और ऋण बड़ी सरलता से वसूल हो जाता है। दोष केवल इतना है कि अप्रतिष्ठा की दशा मे बैङ्क को ऋण की रकम वापिस पाने में बहुत असुविधा उठानी पड़ती है।

परीक्षा प्रश्न

(१) बैंक अपनी पूँजी का किस प्रकार उपयोग करते है ? स्पष्टत: समझाइये।

(२) बैक नगद कोष क्यों रखते हैं ? नगद कोष की मात्रा को प्रभावित करने वाली बातें कौन-कौनसी हैं ?

(३) बैंकों के लाभ सम्बन्धी स्रोत क्या है ? बैंको के लाभकर विनियोगों पर प्रकाश डालिये।

(४) बैंकों द्वारा ऋण देने के स्वरूप बताइये। ऋण देते समय उन्हें किन बातों का ध्यान रखना चाहिये।

(५) 'जमानत' से क्या आशय है ? इसके विभिन्न स्वरूपों एवं इनके गुण-दोषो को समझाकर लिखिये।

(६) नगद साख, अधिविकर्ष, ऋण एवं पेशगियाँ क्या होती हैं ? इनसे बैंकर एवं ग्राहकों को क्या लाभ हैं ? विस्तारपूर्वक लिखिये।

(७) व्यापारिक बैंक कौन-कौन सी चीजें गिरवी रखकर रुपया उधार देता है ? इस सम्बन्ध मे भारतीय व्यापारिक बैंको की नीति पर प्रकाश डालिये।

अध्याय ४.

बैंकर तथा ग्राहक के सम्बन्ध

(Relation of a Banker and a Customer)

'बैंक के ग्राहक' से आशय

'बैंकर' से आशय

प्रस्तुत खण्ड के पहले अध्याय में आप यह पढ़ चुके है कि एक बैंक के दो प्रमुख कार्य हैं—रुपया जमा के लिये लेना और उधार देना। अनेक व्यक्ति (जैसे गाँव का महाजन) रुपया जमा के लिये नहीं लेते वरन् अपनी निज की पूँजी से लोगों को रुपया उधार देते हैं। इसके विपरीत, अनेक व्यक्ति (जैसे शहरों की प्रतिष्ठित व्यावसायिक कम्पनियाँ) दूसरों का रुपया तो अपने पास सुरक्षित रखने के लिये जमा कर लेते है लेकिन उधार देने का कार्य नहीं करते। स्पष्ट है कि उक्त दोनों ही प्रकार के व्यक्ति बैंकर नहीं कहे जा सकते। बैंकर वह व्यक्ति है जो जमा के रूप में धन प्राप्त करता है और इसे उधार देता है। आजकल चैक बहुत चलन में आ गये है, यहाँ तक कि इनका प्रयोग बैंकिंग का एक आवश्यक तत्व बन गया है। इसी बात को लक्ष्य करके श्री हार्ट ने कहा है कि "बैंकर वह है जो अपने सामान्य व्यापार में उन चैकों का भुगतान करता है जो उन व्यक्तियों ने, जिनका धन वह चालू खाते में जमा करता है, उस पर खीचे है।" अत: वह व्यक्ति या संस्था जो माँग होने पर खाते में अपने यहाँ जमा हुए रुपये का चैक द्वारा भुगतान करता है, बैंकर कहा जा सकता है। बैंकर दूसरे व्यक्तियों के धन से, जो इनसे जमाओं के रूप में मिला है, अन्य व्यक्तियों को धन देता है। इस तरह से वह ऋणी और ऋणदाता के मध्य एक मध्यस्थ मात्र है।

'बैंक के ग्राहक' से आशय

बैंकर की उक्त परिभाषा के आधार पर 'बैंक के ग्राहक' की परिभाषा भी दी जा सकती है। उस व्यक्ति, फर्म, कम्पनी या कानूनी संस्था को 'ग्राहक' (**Customer**) कहते हैं, जिसका किसी बैंक में खाता है और जिसे उसमें से बिना पूर्व सूचना के चैक द्वारा या अन्य किसी तरह से रुपया निकालने का अधिकार है। इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि 'ग्राहक' कहलाने के लिये दो शर्तों की पूर्ति आवश्यक है।

(i) बैंक और ग्राहक के बीच स्वाभाविक व्यवहार होना चाहिये—जिस तरह दुकान के एक आकस्मिक खरीदार एवं नियमित रूप से वस्तुयें खरीदने वाले ग्राहक में भेद होता है, उसी प्रकार बैंक से कभी-कभी व्यवहार करने वाले और नियमित

रूप से व्यवहार करने वाले ग्राहकों में भेद होता है। 'बैंक के ग्राहक' वाक्यांश के अन्तर्गत बैंक से केवल नियमित व्यवहार करने वाले व्यक्ति ही आते हैं।

(ii) उसका खाता नियमित बैंकिंग व्यापार से सम्बन्धित होना चाहिये—इस खाते में वह समय-समय पर रुपया जमा करता और निकालता रहता है, चाहे रुपया नगद जमा के रूप में हो या साख जमा के रूप में। यह स्मरणीय है कि ग्राहक बनने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह व्यक्ति बैंक के साथ काफी समय से व्यवहार कर रहा हो।

बैंक के ग्राहकों के भेद

बैंकों के अनेक तरह के ग्राहक होते है, जिनमे से प्रमुख निम्न है :—

(१) व्यक्ति और उसका एजेन्ट—बैंक किसी भी व्यक्ति के नाम से खाता खोल सकता है। किन्तु इससे पहले वह उसकी आर्थिक दशा और चरित्र की जाँच-पडताल कर लेता है। यही कारण है कि बैंक एक नये ग्राहक से 'परिचय' (Reference) मांगा करता है अथवा पुराने ग्राहकों या अन्य बैंको से गुप्त पूछ-ताछ करता है। कभी-कभी व्यक्ति स्वयं खाता नही चलाता वरन् अन्य व्यक्ति के द्वारा ऐसा करता है। इस हेतु उसे बैंक को उपयुक्त निर्देश देना पड़ता है। अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर भी खाते खोले जा सकते हैं। ये खाते 'संयुक्त खाते' (Joint Account) कहलाते हैं।

(२) कम्पनियाँ एवं संघ—प्रत्येक बैंक मे कम्पनियाँ, सभायें और क्लब आदि भी खाते खोलते हैं।

(३) अवयस्क—बैंक मे अवयस्क के नाम से खाता खोला जा सकता है लेकिन इसका संचालन संरक्षक ही करता है।

बैंक तथा ग्राहक के मध्य सम्बन्ध

एक बैंक और उसके ग्राहक के मध्य जो सम्बन्ध है उसका अध्ययन निम्न तीन शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :—(i) ऋणदाता एवं ऋणी के रूप में सम्बन्ध, (ii) प्रतिनिधि और प्रधान के रूप मे सम्बन्ध, तथा (iii) धरोहर-धारी और धरोहरकर्त्ता के रूप में सम्बन्ध। नीचे इन सम्बन्धों पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है :—

(I) ऋणदाता एवं ऋणी के रूप में सम्बन्ध

बैंकर और इसके ग्राहक के बीच सबसे मुख्य सम्बन्ध ऋणदाता और ऋणी (Creditor and Debtor) का होता है। कभी बैंक ग्राहक का ऋणदाता होता है तो कभी ऋणी माना जाता है। जब वह ग्राहकों से जमायें (Deposits) प्राप्त करता है तो ऋणी होता है और ऋणदाता तब माना जाता है जबकि वह उन्हें अधिविकर्ष (Overdraft) या अन्य तरह से ऋण देता है। बैंक और ग्राहक के 'ऋणदाता' और ऋणी के सम्बन्ध की कुछ अनोखी विशेषतायें हैं जो एक महाजन व उसके ऋणी व्यक्तियों के सम्बन्धों में नही पाई जाती। ये विशेषतायें निम्न है :—

(१) ऋण के भुगतान में स्वतन्त्र न होना—जबकि एक साधारण ऋणी चाहे महाजन को उसका रुपया लौटाने के लिये स्वतन्त्र होता है, एक बैंक अपने ग्राहक

का जमा धन उसे बिना मांगे वापिस नहीं कर सकता। ग्राहक इच्छानुसार बैंक में अपना खाता बन्द करा सकता है और अपना जमा धन निकाल सकता है लेकिन बैंकर उचित सूचना दिये बिना ही ग्राहक की जमा को लौटा कर उसका खाता बन्द नहीं कर सकता। वह ग्राहक के अपने ऊपर ऋण का तब ही भुगतान करेगा जबकि ग्राहक ऐसा करने के लिये उसके सामने अपनी लिखित मांग प्रस्तुत करे।

(२) **ऋण का उपयोग करने की स्वतन्त्रता**—एक साधारण ऋण साहूकार द्वारा किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिये दिया जाता है लेकिन बैङ्क ग्राहक के जमा धन का प्रयोग किसी भी काम के करने के लिये स्वतन्त्र होता है। हाँ, उस पर इतनी जिम्मेदारी रहती है कि चालू खाते में ग्राहक की मांग पर उसे रुपये का भुगतान करना पड़ेगा। सावधि जमा खाते की दशा में जब अवधि समाप्त हो जाय, तो ग्राहक की मांग पर भुगतान करने का दायित्व होता है।

(३) **मांग पर भुगतान करना**—एक साधारण ऋण निश्चित समय के लिये दिया जाता है। ऋणदाता इस समय से पूर्व ऋण लौटाने की मांग नहीं कर सकता। किन्तु ग्राहक (ऋणदाता) को यह अधिकार होता है कि वह पूर्व निर्धारित शर्तों के आधार पर चैक द्वारा अपना जमा धन (ऋण) थोड़ा-थोड़ा या सब कभी भी वापिस ले ले। यदि बैङ्क (ऋणी) उसके चैक का आदर न करे, तो वह उस पर मान-हानि का मुकद्दमा भी चला सकता है क्योंकि चैक के अनादृत होने से ग्राहक की प्रतिष्ठा व्यापारिक जगत में कम हो जाती है और उसकी आर्थिक स्थिरता के विषय में लोग शंकायें करने लगते है। अतः बैङ्क को चाहिये बिना किसी पर्याप्त कारण के ग्राहक के चैक का तिरस्कार न करे। यदि वह ऐसा करेगा तो उसे क्षतिपूर्ति देनी पड़ेगी। एक न्यायालय के फैसले के अनुसार बैङ्क जितनी छोटी रकम का चैक तिरस्कृत करता है उसे उतनी ही रकम हर्जाने में देनी पड़ सकती है।

(४) **ग्राहक के खाते से सम्बन्धित प्रत्येक बात को गोपनीय रखना**—एक बैंकर को चाहिए कि अपने ग्राहक के खाते से सम्बन्धित प्रत्येक बात को गोपनीय रखे। यदि किसी अन्य पक्ष को उसके खाते की दशा के बारे में कुछ बताता है, तो ऐसा वह अपनी जोखिम पर करता है। कारण, यदि गोपनीय न रखने से ग्राहक की ख्याति को कुछ हानि पहुँची, तो ग्राहक उस पर लाभ-हानि के लिये, हर्जाने का मुकदमा चला सकता है। हाँ, निम्न उचित अवसरों पर वह ग्राहक के खाते के बारे में सूचना दे सकता है और इस प्रकार रहस्य खोलना क्षम्य माना जायेगा—(i) जब न्यायालय ने कोई सूचना मंगाई हो; (ii) जब राज्य हित अथवा सार्वजनिक हित के लिये रहस्य भेद आवश्यक हो; (iii) जब ग्राहक ने स्वयं कोई सूचना अन्य पक्षों को देने का आदेश दिया हो; (iv) जब बैंकर को ग्राहक की आर्थिक स्थिति का संदर्भ देना हो और स्वयं ग्राहक ने बैंकर का नाम हवाले के लिये दिया था; एवं (v) जब किसी मुकद्दमे में साक्ष्य देने के लिये बैंकर को ऐसा करना आवश्यक हो जाय। इन अवसरों पर भी ग्राहक की आर्थिक दशा के बारे में सूचना देते समय बैंकर को यथेष्ठ सावधानी बरतनी चाहिये। उसकी असावधानी उसके ग्राहक की ख्याति को अनावश्यक रूप से शंकापूर्ण बना सकती है जब कि वास्तव में वह ऐसी न हो।

(५) **बैङ्कर के दिवालिया होने पर ग्राहक को एक सामान्य लेनदार के अधिकार प्राप्त होना**—जब कोई बैंक दिवालिया हो जाता है, तो उसके सभी ग्राहकों के अधिकार एक सामान्य लेनदार के समान हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में मद्रास न्यायालय का एक निर्णय उल्लेखनीय है। एक बैंक को इसके एक ग्राहक ने कुछ रकम किसी कम्पनी के शेयर खरीदने के लिये दी थी। किन्तु अंशों का क्रय करने के पूर्व ही बैंक

दिवालिया हो गया। ग्राहक ने अदालत से प्रार्थना की, कि उसका रुपया बैंक से वापिस दिलाया जाय। न्यायालय ने उसकी प्रार्थना को स्वीकार करते हुए पूर्ण रकम बैंक से दिलाने का निर्णय किया, क्योंकि यह रकम 'धरोहर' के रूप मे थी, जिससे बैंक के फेल हो जाने पर ग्राहक के अधिकार एक सामान्य लेनदार की तुलना में अधिक व्यापक थे। किन्तु, यदि ग्राहक ने बैंकों को अपने खाते में जमा कराई हुई किसी राशि के द्वारा अंश खरीदने का निर्देश दिया होता, तो बैंक के फेल होने पर वह उस राशि को पूर्ण रूप में पाने का अधिकारी नही बन सकता था क्योंकि यह राशि 'धरोहर' के रूप मे नही थी, वरन् साधारण जमा के रूप मे थी। इस जमा के आधार पर उसे बैंक के दिवालिया होने पर, एक सामान्य लेनदार के से अधिकार ही प्राप्त होते हैं अर्थात् अन्य लेनदारो के साथ बैंक की शेष सम्पत्तियों पर उसका आनुपातिक अधिकार रहता है।

(II) प्रतिनिधि और प्रधान के रूप में सम्बन्ध

बैंक और ग्राहक का एक अन्य महत्वपूर्ण सम्बन्ध एक प्रतिनिधि और प्रधान का भी है। आजकल बैंक न केवल रुपया जमा पर लेने और उधार देने का कार्य करता है वरन् ग्राहक के एजेन्ट के रूप में भी अनेक कार्य करता है—(i) चैकों का भुगतान एवं संग्रह करना; (ii) शेयरो की खरीद व बिक्री; (iii) बिलों को ग्राहक की ओर से स्वीकार करना तथा संग्रह करना; (iv) धन का हस्तांतरण करना; (v) ब्याज, लाभांश आदि संग्रह करना या भुगतान करना; (vi) ट्रस्टी, मुख्तार व एक्जीक्यूटर के रूप में कार्य करना। उपरोक्त कार्य प्राय: सशुल्क किये जाते हैं। इन कार्यों का व्यावसायिक संसार में बहुत महत्व है और इन्हीं के कारण आधुनिक बैंक लोकप्रिय बन सके है। ये सब कार्य ग्राहक के आदेशानुसार ही किये जाते है। अतः उनका दायित्व ग्राहक पर होता है, बैंक पर नही। जब तक बैंक पूरी ईमानदारी, नियमितता और विश्वास के साथ ग्राहक के आदेशानुसार कार्य करता है तब तक इन कार्यों के लिये ग्राहक ही उत्तरदायी होगा। हाँ, अधिकार या आदेश के प्रतिकूल या इसके बाहर किये गये कार्यों के लिये या असावधानी से कार्य करने की दशा मे बैंक स्वयं ही जिम्मेदार होगा। प्रधान और प्रतिनिधि के रूप मे बैंक और उसके ग्राहक के सम्बन्ध (अर्थात् इनके पारस्परिक अधिकार व कर्त्तव्य) अनुबन्ध अधिनियम से शासित होते हैं।

(III) धरोहरधारी और धरोहरधर्त्ता के रूप में सम्बन्ध

एक आधुनिक बैंक अपने ग्राहकों की मूल्यवान वस्तुयें (जैसे हीरे-जवाहरात, आभूषण, महत्वपूर्ण दस्तावेज आदि) धरोहर के रूप मे रखते हैं। यह कार्य उन्हें 'धरोहरधारी' (Bailee) और ग्राहक को 'धरोहरधर्त्ता' (Bailor) बना देता है। इसका अर्थ यह है कि ग्राहक जब भी चाहेगा, बैंक धरोहर रखी गई वस्तुओं को उसे ज्यों की त्यों लौटा देगा। उसे धरोहर की समुचित रूप से, जितनी कि स्वयं अपनी ही वस्तुओं के बारे मे एक सामान्य व्यक्ति ठीक समझता है, रक्षा करनी पड़ेगी। यदि बैंक असावधानी करता है और धरोहर को कुछ क्षति पहुँचती है, तो बैंक हर्जाना देने के लिये बाध्य होता है।

प्राय बैंक ऐसी धरोहर की प्रत्येक वस्तु एक ताले बन्द संदूक मे या दस्तावेजो को एक बन्द लिफाफे मे लेते हैं और ताले या लिफाफे पर विशेष प्रकार की मुहर (...l) लगी रहती है। ग्राहक द्वारा वापिस की माँग पर बैंक धरोहर की वस्तु उसी बन्द दशा में लौटाने के लिये दायी है। यदि वस्तु किसी अनाधिकृत व्यक्ति को

देदी जाय, तो बैंक को धरोहर की क्षति-पूर्ति करनी होगी। इस सेवा के लिये बैंक ग्राहक से कुछ शुल्क लेता है। कुछ बैंक निशुल्क ही यह कार्य करते हैं।

कभी-कभी कोई धरोहर बैंक के पास न केवल धरोहर के रूप में वरन् बैंक से लिये गये किसी ऋण की जमानत के रूप में भी रखी होती है। ऐसी दशा मे बैंकर को उस धरोहर के बारे में ठीक उसी प्रकार से सावधानी रखनी पड़ती है जिस प्रकार से वह समान परिस्थितियों में (अर्थात् उतने ही मूल्य, आकार व गुण की) अपनी निज की वस्तु के बारे में रखता। इसके अतिरिक्त, ऋण को जमानत के रूप में, उसे वस्तु पर कुछ विशेष अधिकार भी प्राप्त हो जाते हैं, जिनका प्रयोग वह ऋण न चुकाये जाने पर कर सकता है। ये अधिकार ऋण देने के पूर्व धरोहर की जमानत के रूप में रखने के समय बैंक और ग्राहक के बीच तय कर लिये जाते हैं। ये विभिन्न अधिकार निम्नलिखित हो सकते हैं :—

(१) ग्रहणाधिकार—इस अधिकार के अन्तर्गत बैंङ्क केवल जमानत को रोके रह सकता है जब तक कि उसका रुपया न चुक जाय। उसे वस्तु को बेचने का अधिकार नहीं होता। वह तब ही वस्तु को बेच सकता है जबकि वह न्यायालय से इसके लिये डिग्री और कुर्की करा ले। ग्रहणाधिकार दो प्रकार के होते है :— साधारण ग्रहणाधिकार (General lien) एवं विशेष ग्रहणाधिकार (Particular lien)।

साधारण ग्रहणाधिकार के अन्तर्गत बैंकर अच्छा अधिकार देने वाली किसी भी वस्तु को (जैसे चेक, प्रोनोट, बिल, शेयर, स्टॉक सार्टिफिकेट आदि) तब तक रोक सकता है जब तक कि इनके स्वामी से बैंङ्क को अपने खाते के अनुसार समस्त रकमें चाहे वे ऋण के सम्बन्ध में हों अथवा किसी अन्य सम्बन्ध में, चुकता न हो जायें। हाँ, निम्न परिस्थितियों में बैंङ्क अपने सामान्य ग्रहणाधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता :—(अ) जबकि जमानत की वस्तु बैंङ्कर के पास धरोहर के रूप में रखी हुई है। (आ) जबकि वस्तु बैंङ्क के पास किसी विशेष कार्य के लिये जमा कराई गई है। (इ) जबकि वस्तु गलती से बैंङ्क के पास आ गई है। (ई) जबकि चैक, प्रोनोट, बिल आदि मे कोई कमी या जालसाजी है।

विशेष ग्रहणाधिकार के अन्तर्गत बैंङ्क जमानत की वस्तु को उस समय तक रोक सकता है जब तक कि उस वस्तु के सम्बन्ध के समस्त भुगतान न कर दिये जायें। किन्हीं अन्य असम्बद्ध भुगतानों के लिये वह जमानत की वस्तु को अपने पास नहीं रोक सकता।

(२) गिरवी (Pledge)—इस अधिकार के अधीन यदि ऋण का भुगतान न हुआ, तो बैंङ्क अधिकार-पत्रों को रोक सकता है और बेच सकता है। बिक्री से जो धन प्राप्त हो उसे ग्राहक के खाते में जमा कराना पड़ता है।

(३) रेहन (Mortgage)—जब ऋण की जमानत अचल सम्पत्ति (जैसे भूमि, मकान) के रूप में दी जाती है, तो इसका रहन कराना पड़ता है। रेहन दो तरह का होता है—साधारण रेहन और कानूनी रेहन। साधारण रेहन (Equitable Mortgage) में अधिकार-पत्रों को अकेले ही या एक स्मरण-पत्र के साथ रेहन रख लेने वाले (Mortgagee) को सौंप दिया जाता है। न्यायालय की स्वीकृति मिलने पर रेहन रख लेने वाले उसे बेच सकते हैं। वैधानिक रेहन में रहन का मसविदा कागज पर लिख कर सरकारी रजिस्ट्रार के यहाँ रजिस्टर्ड कराया जाता है और फिर रजिस्टर्ड मसविदा रेहन रख लेने वाले को सौंप दिया जाता है।

ऋण न चुकाने की दशा में ऐसी सम्पत्ति को न्यायालय की अनुमति के बिना ही बेचा जा सकता है।

एक बैंक को यह अधिकार होता है कि वह अपने ग्राहक से, जब तक बैंक में उसका खाता रहे, कुछ आकस्मिक व्यय वसूल करे। यही समय-सीमा-विधान के अनुसार ३ वर्ष तक ऋण न लौटाने पर ऋणदाता ऋण से रुपया माँगने का अधिकार खो देता है। लेकिन बैंक अपने ग्राहक को यह गारन्टी देता है कि **समय-सीमा-विधान** उसके जमा धन पर लागू नहीं होगा अर्थात् चाहे तीन वर्ष बीत गये हों, ग्राहक को अपने खाते में से रुपया निकालने का पूर्ण अधिकार होगा।

ग्राहक के सम्बन्ध में बैंक की अन्य महत्वपूर्ण स्थितियाँ

निम्न स्थितियों में एक बैंकर को अपने ग्राहकों के प्रति अत्यन्त सावधानी से कार्य करना पड़ता है :—

(१) **अल्प वयस्क**—अल्प वयस्क को कानून द्वारा विशेष संरक्षण दिया गया है। उसके द्वारा किये गये सभी अनुबन्ध व्यर्थ होते हैं। वह अनुबन्धों से लाभ तो प्राप्त कर सकता है लेकिन उसे इन पर व्यक्तिगत रूप से दायी नहीं बनाया जा सकता है उदाहरण के लिये एक अल्प वयस्क को दिये गये अधि-विकर्ष की रकम उस से वसूल नहीं की जा सकती है। अतः एक बैंकर को अल्प वयस्क (miror) ग्राहकों से सम्बन्ध स्थापित करते समय बहुत सावधान रहना चाहिये। प्रायः बैंक एक अल्प-वयस्क को अपने संरक्षक के द्वारा खाता खोलने की आज्ञा दी जाती है तथा उसे खाते में जमा रकम से अधिक निकालने के लिये अनुमति नहीं देते।

(२) **संयुक्त हिन्दू परिवार**—एक संयुक्त हिन्दू परिवार का प्रबन्ध-कार्य परिवार के सबसे बड़े व्यक्ति के हाथ में होता है अतः बैंक को यह देख लेना चाहिए कि भुगतान के लिये आये हुये पारिवारिक चैकों पर परिवार के प्रबन्धकर्त्ता के हस्ताक्षर हों अन्यथा अनियमित भुगतानों के लिये बैंक को क्षतिपूर्ति करनी पड़ेगी।

(३) **साझेदारी**—जबकि एक संयुक्त हिन्दू परिवार का प्रबन्धकर्त्ता सब सदस्यों की ओर से हस्ताक्षर कर सकता है तब एक साझेदार को यह अधिकार नहीं होता कि वह अन्य साझेदारों की ओर से हस्ताक्षर कर दे। ऐसा वह तब ही कर सकता है जबकि इस आशय का अधिकार स्पष्ट रूप से दिया गया हो। अतः साधारणतः चैक पर सभी साझेदारों के हस्ताक्षर होना आवश्यक है। इस बात को ध्यान में रखना बैंकों के लिये आवश्यक है।

(४) **विवाहित स्त्री**—एक विवाहित स्त्री को अपने नाम से बैंक में खाता खोलने का अधिकार है। अतः बैंक उस स्त्री के पति को ऐसे खाते के सम्बन्ध में किसी तरह से दायी नहीं बना सकता।

(५) **ट्रस्टी**—जब बैंक में किसी ट्रस्ट का खाता हो, तो बैंक को यह ध्यान रखना चाहिये कि ट्रस्टी ट्रस्ट के खाते में से एक ट्रस्टी के रूप में ही रुपया निकाल है व्यक्तिगत रूप से नहीं। इसके अतिरिक्त, चैक पर सभी ट्रस्टियों के ...र होने आवश्यक है तथा किसी ट्रस्टी के दिवालिया होने का ट्रस्ट पर कोई नहीं पड़ता है।

(६) ग्राहक का प्रतिनिधि—जब कोई व्यक्ति बैंक के पास उसके किसी ग्राहक के प्रतिनिधि (Agent) के रूप में व्यवहार करने के लिये आवे, तो बैंक को चाहिये कि यह अच्छी तरह जांच ले कि उस व्यक्ति को प्रतिनिधित्व करने का अधिकार प्राप्त है या नहीं और यदि अधिकार है, तो क्या वह पूर्ण है या किसी विशेष अवसर अथवा विशेष अवधि के लिये है ? यदि कोई प्रतिनिधि अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर व्यवहार कर रहा है, तो बैंकर उसके स्वामी (ग्राहक) को दायी नहीं ठहरा सकेगा। अत: अपने ग्राहकों के प्रतिनिधियों से व्यवहार करते समय बैंकों को विशेष रूप से सावधान रहना चाहिये।

(७) चैकों का भुगतान—जब ग्राहक दिवालिया हो गया है, पागल हो गया अथवा मर गया है तब यदि इसकी सूचना बैंक को मिल गई है, तो उसे चाहिये कि ग्राहक के चैकों का भुगतान रोक दे। अन्यथा उसे इन भुगतानों के लिये दायी ठहराया जा सकता है। एक बैंकर को किसी ऐसे व्यक्ति का खाता भी अपने यहाँ नहीं खोलना चाहिये जो कि न्यायालय द्वारा मुक्त नहीं किया गया है।

परीक्षा प्रश्न

(१) 'बैंक के ग्राहक' से आप क्या समझते हैं ? ये कितने प्रकार के हो सकते है ?
(२) बैंकर और ग्राहक के मध्य विद्यमान सम्बन्धों का सावधानी से विवेचन करिये।
(३) किन्हीं विशेष स्थितियों में ग्राहकों के सम्बन्ध में बैंक के जो कर्त्तव्य होते हैं उन पर प्रकाश डालिये।

अध्याय ५.१

ँक का स्थिति विवरण
(Balance Sheet of a Bank)

प्रारम्भिक

रजिस्टर्ड बैङ्कों को एक निश्चित अवधि के बाद वैधानिक ढंग से अपना स्थिति विवरण या चिट्ठा (Balance Sheet) प्रकाशित करना पड़ता है, जिससे जनता को बैङ्क की वास्तविक दशा का पता लगता रहे। साधारणतः यह चिट्ठा आर्थिक वर्ष के अन्त में ही प्रकाशित होता है। लेकिन केन्द्रीय बेंक अपनी विशेष स्थिति के कारण प्रति सप्ताह छपाता है।

बैंक के चिट्ठे का नमूना

एक बैङ्क का स्थिति विवरण मोटे तौर पर निम्न प्रकार का होता है :—

……बैंक लि० का चिट्ठा

……१९६१

दायित्व (Liabilities)	रु०	सम्पत्तियाँ (Assets)	रु०
(I) पूँजी :—		(I) नगदी हाथ में	…
(१) अधिकृत	…	(II) अन्य बैंङ्कों व केन्द्रीय बैङ्क के पास जमा नगदी	…
(२) निर्गमित	…		
(३) प्राथित	…	(III) अल्पकालिक ऋण	
(४) दत्त	…	(IV) भुनाये गये या क्रय किये गये बिल	…
	…	(V) ऋण एवं पेशगियाँ	…
(II) सुरक्षित कोष एवं अन्य कोष	…	(VI) विनियोग	
(III) डिपाजिट और अन्य खाते	…	(VII) स्वीकृतियों के लिये ग्राहकों का दायित्व।	…
(IV) ग्राहकों के लिये स्वीकृतियाँ			
(V) लाभ-हानि खाता	…	(VIII) मकान, फर्नीचर आदि	…
			…

बैङ्क के स्थिति विवरण के उपरोक्त रूप से यह स्पष्ट है कि वह अन्य व्यवसायिक संस्थाओं के चिट्ठों की भाँति ही बनाया जाता है। प्रत्येक स्थिति विवरण के दो भाग होते हैं—बाईं ओर दायित्व या देनदारियाँ और दाईं ओर सम्पत्ति अथवा लेनदारी। दोनों पक्षों का प्रयोग बराबर होना चाहिये क्योंकि जितना धन बैङ्क के पास विभिन्न सम्पत्तियों के रूप में है उतना ही वह विभिन्न रूप से देनदारियाँ उठा सकता है। सम्पत्तियों से तात्पर्य उस धन का है जो कि अन्य बैंक ग्राहकों से लेता है तथा दायित्वों के तात्पर्य उस धन का है जो कि अन्य बैङ्कों या व्यक्तियों को देना होता है।

बैंक के दायित्व या देनदारियाँ
(Liabilities of a Bank)

बैंक की प्रमुख देनदारियाँ निम्नलिखित हैं :—

(I) पूँजी (Capital)—प्रत्येक व्यापार में पूँजी की आवश्यकता होती है। बैंक इस बात का प्रमाण है कि अमुक व्यक्ति ने 'शेयर' में लिखित रकम बैंक की पूँजी के रूप में दी है या देने का वचन दिया है। बैंक के संस्थापक बैंक की वर्तमान एवं भावी आवश्यकताओं का अनुमान लगाकर यह नियम बना देते हैं कि बैंक की अधिक से अधिक पूँजी कितनी होगी? यह अधिक से अधिक पूँजी जो कि बैंक अपने नियमों के अन्तर्गत रख सकता है, **'अधिकृत पूँजी' (Authorised Capital)** कहलाती है। किन्तु इतनी पूँजी की आवश्यकता बैंक को तत्काल नहीं पड़ती; अतः वह आवश्यकतानुसार पूँजी लेता रहता है। किसी बैंक ने कुल जितनी पूँजी देने के लिये जनता को शेयर बेचने का प्रस्ताव किया हो, उसे **'निर्गमित पूँजी' (Issued Capital)** कहते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि जनता ये सब शेयर ले ले और उतनी पूँजी देने को तैयार हो जाय। वह जितनी पूँजी देने को तत्पर हो जाती है, उसे **'प्रार्थित पूँजी' (Subscribed Capital)** कहते हैं। सुविधा के लिये जनता से शेयरों का रुपया किस्तों में लिया जाता है। किसी विशेष समय पर जितना रुपया इस प्रकार पूँजी के रूप में वस्तुत: प्राप्त हो गया हो उसे **'दत्त पूँजी' (Paid-up-Capital)** कहते हैं। यही उस समय के लिए बैंक की वास्तविक पूँजी है। **बैंकिंग कम्पनीज एक्ट के अनुसार अधिकृत पूँजी का ५०% प्रार्थित पूँजी और प्रार्थित पूँजी का ५०% दत्त पूंजी होनी चाहिए। चारों प्रकार की पूंजी को अलग-अलग दिखाना अनिवार्य है।**

(II) सुरक्षित कोष एवं अन्य कोष—बैंक अपने सम्पूर्ण वार्षिक लाभ को पूँजी देने वालों (अर्थात् शेयरहोल्डरों) में नहीं बाँट देता, वरन् उसका कुछ भाग विभिन्न उद्देश्यों के लिये बचा कर रखता है। इस प्रकार बचाकर रखे गये लाभ को कोष (Fund) कहते हैं। अज्ञात हानियों की पूर्ति के लिए रखे जाने वाले लाभ को 'सुरक्षित कोष' (Reserve Fund) कहते हैं। इस प्रकार अन्य उद्देश्यों के लिये भी कोष रखे जाते हैं। यदि कोष काम में नहीं आते, तो इन पर शेयर होल्डरों का अधिकार होता है। भारतीय बैंकिंग कम्पनीज एक्ट १९४९ के अनुसार सुरक्षित कोष की रकम अनिवार्य रूप से दत्त पूँजी के बराबर होनी चाहिये और जब तक ऐसा नहीं हो जाता तब तक बैंक को वार्षिक लाभ का २०% भाग सुरक्षित कोष में हस्तांतरित करते रहना होगा। इस कोष की विशालता बैंक के प्रबन्धकों की बुद्धिमत्ता का प्रमाण है क्योंकि इसका निर्माण तब ही होता है जब कि बैंक क्षमता से कार्य कर रहा है। इस कोष का रुपया प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों में विनियोग किया जाता है ताकि किसी भी समय उसे काम में लाया जा सके। कभी ... पनी

आर्थिक दशा को सुदृढ़ करने के लिये 'गुप्त कोष' बना लेते हैं, जिससे इसका प्रयोग आर्थिक संकट के समय किया जा सके और साथ ही बैंक के सदनाम (Good will) पर भी आँच न आ सके।

(III) जमा धन व अन्य खाते—बैंक को जनता से विभिन्न खातों में जमा के लिये धन प्राप्त होता है। ये खाते मुख्य रूप से तीन हैं—बचत खाते, चालू खाते तथा निश्चित अवधि खाते। प्रत्येक प्रकार के खातों के अन्तर्गत प्राप्त हुआ जमा धन चिट्ठे में अलग-अलग दिखाया जाता है। नये बैंकिंग अधिनियम से पहले इस बात की अनिवार्यता न थी। तेजी के काल में अन्य खातों की अपेक्षा चालू खातों में जमा रकम बहुत बढ़ जाया करती है क्योंकि व्यापार उद्योग प्रगति कर रहे होते हैं। दूसरी ओर मन्दी काल में इन खातों की रकम हो जाती है। इस प्रकार विभिन्न खातों में जमा के अनुपातों से देश की औद्योगिक और व्यापारिक गतिविधि का पता चलता रहता है। जमा धन का विनियोग बैंक बड़ी सावधानी से करता है, क्योंकि इस रकम की कभी भी माँग हो सकती है।

(IV) ग्राहकों के लिये स्वीकृतियाँ एवं अन्य दायित्व—इस मद के अन्तर्गत उन साख-पत्रों को सम्मिलित किया जाता है जो कि बैंक को अपने ग्राहकों से संग्रह हेतु प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त उन साख-पत्रों को भी इसमें सम्मिलित करते हैं जो कि बैंक ने अपने ग्राहकों की ओर से स्वीकार किये हों। इन साख-पत्रों के कारण बैंक अन्य व्यक्तियों के प्रति देनदार बनता है क्योंकि संग्रह किये गये साख-पत्रों का रुपया जो कि ग्राहक के खाते में जमा कर दिया जाता है, उसके द्वारा चाहे जब निकाला जा सकता है। साथ ही, स्वीकृत बिलों के लिये भी, जब तक कि ग्राहक द्वारा उनका भुगतान नहीं होता, बैंक ही उत्तरदायी रहता है।

(V) लाभ-हानि खाता—कोषों में लाभ का कुछ भाग रखने के बाद जो शुद्ध लाभ बचे उस पर शेयरहोल्डरों का अधिकार होता है और बैंक के नियमों के अनुसार उचित समय पर वह उनमें लाभांश (Dividend) के नाम से बाँट दिया जाता है। जब तक ऐसा वितरण नहीं होता, तब तक यह लाभ चिट्ठे में उक्त शीर्षक के अन्तर्गत दिखाया जाता है।

बैंक की सम्पत्ति (लेनदारियाँ)
(Assets of a Bank)

(I) नगदी हाथ में—बैंक वापिसी के वायदे पर डिपाजिट प्राप्त करता है। वह ग्राहकों की ओर से साख-पत्र स्वीकार करता है अर्थात् यदि ग्राहक साख-पत्र का भुगतान न दे सकें, तो उस पर भुगतान करने की जिम्मेदारी आ जाती है। इन सब जिम्मेदारियों की पूर्ति के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि बैंक प्राप्त हुए कुल नकद धन का कुछ भाग अपने पास रखे, तथा अन्य कार्यों में न लगावे। इस प्रकार रखी गई नगद रकम चिट्ठे में 'नगदी हाथ में' (Cash in Hand) के शीर्षक में दिखाई जाती है। इसे 'बैंक की सुरक्षा की प्रथम पंक्ति' (First Line of Defence) कहते हैं।

(II) अन्य बैंकों और केन्द्रीय बैंक में जमा—पारस्परिक भुगतानों के निपटारे के लिये बैंक अपनी कुछ नगदी अन्य बैंकों में और केन्द्रीय बैंक के पास जमा रखते हैं। केन्द्रीय बैंक के पास कुछ प्रतिशत नगदी रखना तो प्रत्येक बैंक के लिये अनिवार्य होता है। ये रकमें नगद कोष (Cash Reserve) का ही अंग होती हैं और आवश्यकता पड़ने पर इन्हें काम में लाया जा सकता है।

(III) अल्पकालिक ऋण—वह ऋण जो बेंक द्वारा व्यापारियों व अन्य संस्थाओं को इस शर्त पर दिया जाता है कि उनका भुगतान सूचना पाते ही कर दिया जायेगा '*अल्पकालिक ऋण*' (Money at Call or Short Notice) कहते हैं। ये ऋण अति अल्पकाल के लिये होते हैं और प्राय. तीन प्रकार के होते हैं—(i) रात्रि उपयोग के लिये दिये गये ऋण, जो प्राय: सट्टा व्यवहारों के लिये दिये जाते हैं, (ii) बिना पूर्व सूचना के माँग पर वापिस लिये जाने वाले ऋण और (iii) सूचना पाते ही २४ घण्टे से ५-७ दिन के अन्दर वापिस किये जाने वाले अल्पकालिक ऋण। ये सब ऋण प्राय. डिस्काउन्ट हाउसेज, बिल, दलालों और स्टॉक ब्रोकरी को उचित जमानत पर ½% से ¾% सालाना ब्याज की दर पर दिये जाते हैं। अच्छे बेंकों को भी ऐसे ऋण दिये जाते हैं। इन ऋणों को बेंक की 'दूसरी सुरक्षा पंक्ति' कहते हैं।

(IV) भुनाये गये एवं खरीदे गये बिल—बेंक अपने धन को बिलों के भुनाने और खरीदने मे इस प्रकार विनियोग करता रहता है कि एक के बाद दूसरे बिल को भुगतान वापिस मिलता रहे ताकि किसी भी समय बेंक के पास नगद रुपये का अभाव न हो। इस प्रकार विनियोग किये हुये धन को बेंक उक्त शीर्षक (अर्थात् 'भुनाये गये एवं खरीदे गये बिल') के अन्तर्गत चिट्ठे में दिखलाता है। ये बिल बेंकों की 'तृतीय रक्षा पंक्ति' कहलाते हैं। बिलों को भुनाना एक महत्वपूर्ण कार्य है। बेंकों का अधिकांश धन इसी प्रकार से विनियोग किया जाता है। भारत में बिल बाजार सुगठित एवं सुसंचालित न होने के कारण बेंक इस मद में बहुत कम रुपया विनियोग कर पाते हैं।

(V) ऋण एवं पेशगियाँ—इस शीर्षक के अन्तर्गत उन रकमों को दिखाया जाता है जो कि बेंक द्वारा अपने ग्राहकों को ऋण व पेशगी के रूप मे प्राय: ऊँची ब्याज पर दी जाती हैं। ब्याज दर प्राय: ६ से ९% तक होती है और ऋण की अवधि भी ६ से ९ माह तक होती है। इन ऋणों के साथ भी 'माँग पर वापिसी' की शर्त होती है। किन्तु बेंक इन ऋणों पर निर्भर नहीं रह सकता, क्योंकि यदि वह आर्थिक संकट काल मे इन ऋणों का भुगतान माँग लेता है, तो इससे प्रथमत: जनता का विश्वास बेंक पर से उठ जायेगा और दूसरे ग्राहकों के भी दिवालिया हो जाने का भय है। निर्भर योग्य न होने पर भी बेंकों को ऐसे ऋण देने ही पड़ते हैं क्योंकि इनसे उन्हें सबसे अधिक लाभ मिलता है। इस मद को बेंक की 'चौथी सुरक्षा पंक्ति' कहते हैं।

(VI) विनियोग—बेंक अपने धन का कुछ भाग कम्पनियों व जन-उपयोगी संस्थाओं के शेयरों, ऋण-पत्रों तथा सरकारी व अर्ध-सरकारी प्रतिभूतियो में लगाता है। इस प्रकार लगाया गया धन 'विनियोग' शीर्षक के अन्तर्गत चिट्ठे में दिखाया जाता है। इस विनियोग से बेंक को ब्याज और लाभांश के रूप मे पर्याप्त आय हो जाती है तथा जोखिम भी कम होती है। किन्तु इनमें 'तरलता' बहुत कम होती है क्योंकि संकट के समय इन्हें नगदी में परिवर्तित कराने में बहुत कठिनाई पड़ती है। जब मुद्रा की देश को बहुत आवश्यकता होती है, तब प्रतिभूतियाँ बाजार में नहीं बेची जा सकती हैं, क्योंकि वहाँ मुद्रा का पहले से ही अभाव होता है। साथ ही, प्रतिभूतियों के विक्रय से इनके मूल्य गिर जाते हैं, जिससे व्यापार में अनिश्चितता आ जाती है।

(VII) स्वीकृतियों के लिये ग्राहकों का दायित्व—इस मद के अन्तर्गत उन बिलों व साख-पत्रों की कुल रकम दिखाई जाती है, जिन्हें बेंक ने ग्राहकों की ओर से

स्वीकार किया है। ये रकमें ग्राहकों पर बैंक के ऋण स्वरूप होती हैं और दायित्व के पक्ष में दिखाई गई 'ग्राहकों के लिये स्वीकृतियाँ' शीर्षक रकमों से इनका संतुलन हो जाता है।

(VIII) मकान, फर्नीचर आदि—इस शीर्षक के अन्तर्गत बैंक की समस्त अचल सम्पत्ति का समावेश होता है। इस सम्पत्ति की तरलता सबसे कम होती है। प्राय: बैंक के बन्द होने पर ही इसे बेचा जाता है। गुप्त कोष बनाने के लिये यह सम्पत्ति प्राय. वास्तविक से कम मूल्य पर दिखाई जाती है। नवीन विधान के अनुसार पुरानी सम्पत्ति का मूल्य, उसका मूल्य ह्रास तथा नवीन सम्पत्ति की रकम चिट्ठे में अलग-अलग दिखानी पड़ती हैं।

बैंक के स्थिति विवरण से लाभ

किसी भी बैंक के स्थिति विवरण से निम्न बातों की सूचना मिल सकती है—

(१) बैंक की वर्तमान आर्थिक दशा का ज्ञान—स्थिति विवरण में बैंक की सम्पूर्ण लेनदारी और देनदारी का पूरा विवरण होता है, जिससे बैंक की पूँजी, उसका विनियोग और व्यावहारिक कुशलता का पता लग जाता है। यदि बैंक के ऋणों, विनियोगों एवं जमा धन में लगातार प्रगति हो रही है, तो हम कह सकते हैं कि बैंक की आर्थिक दशा अच्छी है।

(२) दो या अधिक बैंकों की आर्थिक दशा का मिलान—यदि हमें यह जानना है कि दो या अधिक बैंकों में से कौनसा बैंक अच्छा है, तो ऐसा उनके स्थिति विवरणों की तुलना द्वारा ही सम्भव है। जो बैंक जमा पर कम ब्याज देता है और ऋण व अन्य विनियोगों पर अधिक ब्याज लेता है उसे अच्छा बैंक कहा जा सकता है।

(३) बैंक में जनता के विश्वास का प्रमाण—किसी बैंक में जनता को कितना विश्वास है, इसका अनुमान भी उसके स्थिति विवरण का अध्ययन करने से लगाया जा सकता है। बैंक की जमा पूँजी का दत्त पूँजी से अनुपात बढ़ाना बैंक की कार्यशील पूँजी बढ़ने का सूचक है। कार्यशील पूँजी बढ़ने से बैंक को लाभ अधिक होगा और साथ ही उसका रक्षित कोष बढ़ जायेगा। इन बातों से जनता का विश्वास भी बैंक में अधिक हो जाता है।

(४) बैंक की सुरक्षा का ज्ञान—बैंक का स्थिति विवरण उसकी सुरक्षा का भी प्रमाण देता है, क्योंकि इसकी विभिन्न मदों का अध्ययन करने से यह मालूम हो जाता है कि धन का विनियोग करने में तरलता और सुरक्षा के सिद्धान्तों का कहाँ तक पालन किया गया है?

सन् १६४६ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट ने चिट्ठा बनाने की एक निश्चित विधि निर्धारित करदी है, जिसका पालन सब बैंकों को करना पड़ता है।

परीक्षा प्रश्न

(१) एक बैंक का काल्पनिक चिट्ठा बनाइये और बताइये कि इसकी विभिन्न मदों का क्या महत्व है?

(२) एक बैंक के चिट्ठे की विभिन्न मदों का वर्णन करिये और यह बताइये कि कुछ मदों को चिट्ठे के दोनों ओर क्यों दिखाया जाता है?

अध्याय ६.

केन्द्रीय बैंकिंग
(Central Banking)

प्रारम्भिक

केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता :

पहले महायुद्ध के बाद जो आर्थिक मन्दी का काल आया, उस संकट में विभिन्न देशों के अनेक बैंङ्क डूब गये। सन् १९२० में ब्रुसल्स में एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन हुआ, जिसने प्रत्येक देश में एक केन्द्रीय बैंङ्क की स्थापना का सुझाव दिया, जो देश में विभिन्न बैंकों के पथ-प्रदर्शक, मित्र एवं दार्शनिक का कार्य करें। केन्द्रीय बैङ्क को देश के बैंकिंग और मौद्रिक ढाँचे मे एक केन्द्रीय स्थान प्राप्त होता है। यह देश का मुख्य बैंङ्क होता है। निम्न कारणों से प्रत्येक देश मे एक केन्द्रीय बैंङ्क की स्थापना करना आवश्यक समझा जाता है :—

(i) मुद्रा व साख का नियंत्रण करने के लिये—मुद्रा व साख की मात्रा का प्रभाव देश के सभी उद्योग-धन्धों, उत्पादन, उपभोग आदि पर पड़ता है। अतः इसके उचित नियन्त्रण की आवश्यकता है, जो एक केन्द्रीय बैङ्क द्वारा ही सम्भव है।

(ii) देश के विभिन्न बैङ्कों के कार्य में समवन्य लाने के लिये—व्यापारिक बैंङ्क के अतिरिक्त देश मे औद्योगिक बैंङ्क, सहकारी बैङ्क, विनिमय बैंङ्क आदि भी होते हैं, जो विभिन्न क्षेत्रों मे विभिन्न प्रकार के उद्योगो का अर्थ-प्रबन्धन करते हैं। यदि इन्हें अनियंत्रित छोड़ दिया जाय, तो ये अपने मनमाने कार्य-कलापों द्वारा देश की आर्थिक-व्यवस्था को खतरे मे डाल सकते हैं, आपस में कटु प्रतिद्वन्द्विता कर सकते हैं। इनकी कुछ विशेष समस्यायें भी होती है। केन्द्रीय बैंङ्क इनका अध्ययन करके विभिन्न बैंकों को उचित परामर्श दे सकता है।

(iii) करेंन्सी सम्बन्धी कार्य करने के लिये—जब कि टंकन का कार्य सरकार के हाथों मे था, पत्र-मुद्रा का कार्य बैङ्कों पर छोड़ दिया गया था। विभिन्न बैङ्क *विभिन्न प्रकार के नोट जारी करते थे तथा उनकी नोट निर्गमन करने की नीतियाँ* भी अलग-अलग थी। इससे नोट निर्गमन मे असमानता आ गई है और व्यापारिक आवश्यकता के अनुसार नोटों का निर्गमन नही हो पाता था। अतः यह अनुभव किया गया कि नोट निर्गमन का कार्य केवल एक ही बैङ्क के जिम्मे होना चाहिये, जो अन्य बैङ्कों और व्यापारियों के सम्पर्क में आकर देश की मौद्रिक आवश्यकताओं का पता लगावे तथा इनके अनुसार ही नोट का निर्गमन व नियंत्रण करे।

उपरोक्त आवश्यकताओं के कारण प्रत्येक देश में केन्द्रीय बैंक खोलने के लिये एक महत्वपूर्ण आन्दोलन उठा, जिसके परिणामस्वरूप अब लगभग सभी देशों में केन्द्रीय बैंक स्थापित कर लिये गये हैं। सर्वप्रथम स्वीडन में रिक्स बैंक (Riks Bank) के नाम से एक केन्द्रीय बैंक स्थापित किया गया था। किन्तु इसे केन्द्रीय बैंक के समस्त अधिकार प्राप्त नहीं थे। एक आदर्श केन्द्रीय बैंक की सर्वप्रथम स्थापना का श्रेय इंग्लैण्ड को है। भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के रूप में केन्द्रीय बैंक की स्थापना सन् १९३५ में हुई थी।

केन्द्रीय बैंक की परिभाषा

बैंक ऑफ इंटरनेशनल सैटिलमेंट्स (Bank of International Settlements) के अनुसार केन्द्रीय बैंक से अभिप्राय देश के उस बैंक का है जो देश की साख और मौद्रिक नीति का जनसाधारण के कल्याण के लिये प्रबन्ध करती है।[1] इस बैंक का, देश की मुद्रा और साख की व्यवस्था में केन्द्रीय स्थान होता है। यही कारण है कि इसे 'केन्द्रीय बैंक' कहा जाता है। ऐसे बैंक को कुछ ऐसे विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं जो कि अन्य बैंकों को या तो प्राप्त ही नहीं होते या बहुत ही कम अंश तक उपलब्ध होते हैं। इन अधिकारों के कारण केन्द्रीय बैंक देश की मौद्रिक और साख नीति को बहुत सीमा तक प्रभाविक कर सकता है।

केन्द्रीय बैंक और व्यापारिक बैंक में भेद

केन्द्रीय बैंक और व्यापारिक बैंक में निम्न असमानतायें हैं :—

(१) **उद्देश्य**—केन्द्रीय बैंक का मुख्य उद्देश्य देश में आर्थिक स्थिरता स्थापित करना है; लाभ कमाना एक गौण उद्देश्य है। किन्तु व्यापारिक बैंकों का प्राथमिक उद्देश्य लाभ प्राप्त करना है। यही कारण है कि वे अधिक जोखिम के कार्यों तक में विनियोग कर देते हैं।

(२) **अन्तिम ऋणदाता**—केन्द्रीय बैंक देश की बैंकिंग संस्थाओं के अन्तिम ऋणदाता के रूप में कार्य करता है जबकि व्यापारिक बैंक इस रूप में कार्य नहीं करते।

(३) **क्रियाशील नीति**—राष्ट्र की मौद्रिक स्थिति अनुकूल न होने पर केन्द्रीय बैंक एक क्रियाशील नीति अपनाकर उसे सुधारने की चेष्टा करता है लेकिन व्यापारिक बैंक इस प्रकार की नीति नहीं अपनाते।

(४) **मुद्रा चलन पर एकाधिकार**—केन्द्रीय बैंक को मुद्रा चलन पर एकाधिकार होता है। वह सरकार के बैंक तथा बैंकों का कार्य करता है लेकिन व्यापारिक बैंक इस प्रकार के कार्य नहीं किया करते।

(५) **बाहरी प्रभाव**—केन्द्रीय बैंक को किसी राजनैतिक दल के प्रभाव में कार्य नहीं करना चाहिये तभी वह देश हित में निष्पक्षता से कार्य कर सकता है। लेकिन व्यापारिक बैंक एक राजनैतिक दल या व्यक्ति विशेष के प्रभाव में रह कर भी सुचारु रूप से कार्य कर सकते हैं।

---

1. "A central bank is the bank in any country to which has been entrusted the duty of regulating the volume of currency and credit in the country." —*Bank for International Settlements.*

यह उल्लेखनीय है कि एक केन्द्रीय बैंक एवं व्यापारिक बैंक में जहाँ इतनी असमानतायें हैं वहाँ उनमें कुछ समानतायें भी हैं, जैसे—दोनों अचल पूंजी पर रुपया उधार नही देते, दोनों ही अल्पकालीन ऋण देते हैं; तथा वे मृत प्रतिभूतियों पर ऋण देना पसन्द नही करते ।

केन्द्रीय बैंक के कार्य

आधुनिक समाज में केन्द्रीय बैंक का एक महत्वपूर्ण स्थान होता है । उसे कुछ विशेष कार्य करने पड़ते हैं, जो सब बैंकों से मूलतः भिन्न होते है । सरकार उसे कुछ विशेष अधिकार देती है, जिससे वह अपने कार्य सुचारु रूप से कर सके । जैसे—नोट प्रकाशन का अधिकार, सरकारी बैंकर का कार्य करना, अन्य बैंको के नकद कोष रखना आदि । तथा इस पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगे होते है जैसे व्यापारिक बैंकों से प्रतिस्पर्द्धा करने पर रोक । जिससे वह अपने विशेषाधिकारों का दुरुपयोग न कर सके । राष्ट्रहित के दृष्टिकोण से यह जरूरी है कि केन्द्रीय बैंक सरकार के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में काम करे ।

प्रसिद्ध विद्वान डॉ० कॉक (De Kock) ने केन्द्रीय बैंक के निम्न ७ कार्य बताये हैं :—

केन्द्रीय बैंक के ७ मुख्य कार्य

(१) नोटों का निर्गमन ।
(२) सरकार का बैंकर, एजेन्ट एवं वित्तीय परामर्शदाता ।
(३) सदस्य-बैंकों के नगद कोषों का संरक्षक ।
(४) अन्तर्राष्ट्रीय करेंन्सी के राष्ट्रीय कोष का रक्षक ।
(५) अन्तिम ऋणदाता ।
(६) समाशोधन गृह का कार्य ।
(७) साख का नियन्त्रण ।

(१) नोटों का निर्गमन—आजकल प्रत्येक देश मे नोटों के निर्गमन का एक मात्र अधिकार केन्द्रीय बैंक को होता है । नोटों के निर्गमन का कार्य केन्द्रीय बैंक को ही क्यों सौंपा गया है ? इसके निम्न कारण है—(i) साख-मुद्रा का नियन्त्रण करने में सुविधा हो जाती है, (ii) नोटों के प्रति जनता के विश्वास को बहुत ऊँचा रखा जा सकता है, (iii) व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार नोटों का निर्गमन किया जा सकता है, (iv) नोटों के निर्गमन में एकरूपता आ जाती है, (v) नोटों के निर्गमन के लाभ का भाग प्राप्त करने में सरकार को सरलता होती है, (vi) मुद्रा की आन्तरिक और बाह्य कीमतें स्थिर रखने में सुविधा होती है और (vii) राज्य को नोट निर्गमन की त्रुटियों पर नियन्त्रण रखना सरल होता है ।

(२) सरकार का बैंकर, एजेन्ट एवं वित्तीय परामर्शदाता—सभी देशों में केन्द्रीय बैक अपने देश की सरकार के एजेन्ट बैंकर एवं परामर्शदाता का कार्य करते हैं । वास्तव में पुराने समय में भी जबकि केन्द्रीय बैंकों का जन्म भी नहीं हुआ था, सरकारो को अपने देश के किसी न किसी बैंक का ग्राहक बनना ही पड़ता था । सरकार का बैंकर, एजेन्ट एवं परामर्शदाता होने के नाते एक केन्द्रीय बैंक प्रायः निम्नलिखित कार्य करता है—(i) सरकार की तमाम आय को जमा करता है और उसके व्ययों को चुकाता है, (ii) आवश्यकता पड़ने पर सरकार को अल्पकालीन ऋण

दिया करता है, (iii) संकट काल में (जैसे कि युद्धकाल में अथवा मन्दी के दिनों में) असाधारण ऋण भी देता है, (iv) विभिन्न सरकारी विभागों के खातों तथा हिसाबों को रखता है, (v) सरकारी माल तथा विदेशी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करता है, (vi) सरकार के बिनाह पर रुपया प्राप्त करता है, (vii) ऋण या ऋण पर ब्याज या अन्य किसी प्रकार रुपयों का भुगतान करता है, (viii) सरकार की ओर से मुद्रा का हस्तांतरण करता है, (ix) सरकार जितने भी ऋण जारी करती है, उनकी ... तथा उनका हिसाब-किताब व भुगतान भी यही बैंक करता है, (x) सरकार की ओर से देश-विदेश के मुद्रा-सौदे करता है, (xi) सरकार को वित्तीय मामलों में परामर्श देता है और उसकी मौद्रिक तथा बैंकिंग नीति को सफल बनाने मे सहायता देता है।

(३) **सदस्य बैंकों के नगद कोषों का संरक्षक**—केन्द्रीय बैंक का देश की अन्य बैंकों से लगभग उसी प्रकार का सम्बन्ध होता है, जिस प्रकार कि एक साधारण बैंक का अपने ग्राहकों से होता है। इस प्रकार उसे 'बैंकों का बैंक' कहा जा सकता है। बैंकों का बैंक होने के नाते उसके पास सदस्य बैंकों के नगद कोष (Cash reserve) का एक भाग जमा होता है। नगद कोषों के ऐसे केन्द्रीयकरण से कई लाभ हैं जैसे—(i) केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक बैंकों की ऋण-नीति के नियन्त्रण का अवसर मिलता है, (ii) व्यापारिक बैंकों पास विशाल नकद कोष बंधे नहीं पड़े रहते वरन् उनका कुछ भाग केन्द्रीय बैंक के पास जमा होकर राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयोग में आ सकता है और (iii) बैंकों का आपस का लेन-देन केन्द्रीय बैंकों के द्वारा, बहुत कुछ मुद्रा के प्रयोग के बिना होने ही लगता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों के मार्ग-दर्शक, मित्र एवं नेता का कार्य करता है। वह उन्हें व्यावसायिक सलाह देता है तथा देश के समस्त व्यापारिक बैंक अपने को केन्द्रीय बैंक के निर्देशों के अनुसार चलाने का यत्न करते हैं।

(४) **अन्तर्राष्ट्रीय करेन्सी के राष्ट्रीय कोष का रक्षक**—चूंकि केन्द्रीय बैंक के कंधों पर देशी चलन की बाह्य कीमत को स्थिर रखने का भार होता है, इसलिए उसे अन्तर्राष्ट्रीय करेन्सी की एक आवश्यक मात्रा अपने पास रखनी पड़ती है।

(५) **अन्तिम ऋणदाता**—केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों के बिलों को भुनाकर या उपयुक्त प्रतिभूतियों पर ऋण देकर संकट काल में उनकी सहायता करता है। आर्थिक कठिनाई के समय वह सरकार या जन-साधारण को भी ऋण दे सकता है। यही कारण है कि केन्द्रीय बैंक को 'अन्तिम ऋणदाता' (**Lender of the Last Resort**) कहा गया है। चूंकि बैंक के आर्थिक साधन बहुत विशाल होते हैं, इसलिए वह इस कर्त्तव्य को निभाने में पूर्णतः समर्थ होता है।

(६) **समाशोधन गृह का कार्य**—'विलिस' (Willis) के मतानुसार समाशोधन गृह का कार्य केन्द्रीय बैंकों का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। चूंकि देश के अन्य सब बैंकों के नगद कोष केन्द्रीय बैंक के पास जमा रहते हैं, इसलिए उन्हें आपसी लेन-देनों का अलग-अलग व्यक्तिगत रूप से निपटारा करने के बजाय केन्द्रीय बैंक के द्वारा निपटारा करने में बड़ी सुविधा होती है, क्योंकि केन्द्रीय बैंक के यहाँ खुले हुए उनके खातों में ट्रान्सफर एन्ट्रीज (Transfer Entries) मात्र कर दी जाती है, नगद भुगतान करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(७) **साख का नियन्त्रण**—यह कार्य इतना महत्वपूर्ण माना गया है कि इसका उल्लेख विभिन्न केन्द्रीय बैंकों के विधानों में स्पष्ट रूप से कर दिया जाता है।

वास्तव में साख-नियन्त्रण एक प्रारम्भिक आवश्यकता है, क्योंकि वर्तमान युग मे साख-मुद्रा की सेवायें अच्छी या बुरी दोनों तरह की हो सकती है और इनका आर्थिक क्रियाओं पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अत: सभी देशों में वहाँ के केन्द्रीय बैंक साख-मुद्रा पर समुचित नियन्त्रण रखते हैं। इसके कई उपाय हैं जैसे—बैंक दर, खुले बाजार की कार्यवाहियाँ, साख का राशनिंग आदि। आवश्यकतानुसार किसी एक रीति का या कई रीतियों का प्रयोग किया जाता है।

उपरोक्त कार्यों को गिना देने से यह सिद्ध नहीं होता है कि केन्द्रीय बैंक के सभी कार्य समाप्त हो गये। वास्तव में केन्द्रीय बैंकों के कार्यों की निरन्तर वृद्धि हो रही है। अत: किसी विशेष स्थान पर केन्द्रीय बैंक के कार्यों की सीमा निर्धारित करना उचित नहीं है।

साधारण बैंकिंग के कार्यों के बारे में केन्द्रीय बैंक पर प्रतिबन्ध

किसी देश के केन्द्रीय बैंक को कुछ विशेष अधिकार प्राप्त हैं और साथ ही उस पर कुछ विशेष जिम्मेदारियाँ भी होती हैं। यदि उसे साधारण व्यापारिक बैंकिंग के कार्यों में भाग लेने की छूट दी जाय, तो वह देश के अन्य बैंकों के लिये अपनी विशेष स्थिति के कारण एक प्रबल प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध होगा, जो कि अनुचित है और साथ ही वह स्वयं भी सुरक्षित नही रहेगा जबकि अन्य बैंकों की रक्षा का भार उस पर होता है। अत: लगभग सभी देशों में कुछ व्यापारिक बैंकिंग के कार्यों का करना केन्द्रीय बैंकों के लिये निषिद्ध कर दिया गया है। उदाहरण के लिये भारत में रिजर्व बैंक निम्न कार्य नही कर सकता—(i) वह व्यापार वाणिज्य मे भाग नहीं ले सकता, (ii) अचल सम्पत्ति पर ऋण नहीं दे सकता, (iii) शेयर नहीं खरीद सकता, (iv) मियादी बिल न लिख सकता है न स्वीकार कर सकता है, (v) जमाओं पर ब्याज नही दे सकता और (vi) अरक्षित ऋण भी नही दे सकता।

केन्द्रीय बैंक के रूप में रिजर्व बैङ्क द्वारा किया गया कार्य—इस बैंक की स्थापना सन् १९३५ में की गई थी और तब से ही वह केन्द्रीय बैंकिंग के समस्त कार्यों को सफलतापूर्वक कर रहा है। अतः उसे एक पूर्ण केन्द्रीय बैंक कह सकते हैं। वह निम्न केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्य करता है—उसे भारत में नोटों के प्रकाशन का एकाधिकार प्राप्त है, वह साख मुद्रा पर नियन्त्रण रखता है, वह केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों को तथा सरकारी संस्थाओं को बैंकिंग सम्बन्धी सुविधायें प्रदान करता है, रुपये के वाह्य मूल्य को स्थिर रखना भी रिजर्व बैंक की जिम्मेदारी है, रिजर्व बैंक देश के अन्य बैंकों का नियन्त्रण करता है, उनके मार्गदर्शन करता है, आर्थिक संकट के समय उनकी सहायता करता है तथा उनके समाशोधन-गृह का भी कार्य करता है, वह अपने कृषि साख विभाग द्वारा कृषि साख की उचित व्यवस्था करता है, औद्योगिक वित्त-व्यवस्था का संगठन करने में उसने सक्रिय भाग लिया है, उसने एक बैंकर्स ट्रेनिंग कॉलिज भी स्थापित किया है तथा वह अपने अन्वेषक एवं समंक विभाग के द्वारा उपयोगी सूचनायें व आंकड़े संग्रह करता व प्रकाशित कराता है। उसने देश के मुद्रा बाजार का संगठन करने मे भी काफी सफलता पाई है।

केन्द्रीय बैंक द्वारा व्यापारिक बैंकों को फेल होने से बचाना

केन्द्रीय बैङ्क को 'अन्तिम ऋणदाता' (Lender of the Last Resort) कहा जाता है, क्योंकि जब व्यापारिक बैङ्क को कहीं से भी व्यापार के लिये रुपया नही मिलता तब केन्द्रीय बैङ्क उचित जमानत लेकर उसे रुपया उधार देता है। इस

कार्य का प्रारम्भ सर्वप्रथम बैंक ऑफ इंगलैंड ने सन् १८३० में किया था। उसका उद्देश्य यह था कि कोई बैंक रुपये की कमी के कारण हानि न उठाये। इस हेतु उसने प्रतिभूतियों के पुन: भुनाने की सुविधायें दी। आज भी पुन: भुनाने की सुविधायें अल्पकालीन बिलों, ट्रेजरी बिलों व अन्य प्रतिभूतियों के सम्बन्ध में दी जाती हैं। केन्द्रीय बैंक से इस प्रकार साख मिलने या मिलने या मिलने की सम्भावना मात्र से निम्न लाभ होते हैं :—

(i) व्यापारिक बैंकों को अपने पास बहुत बडी मात्रा में रुपया रखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आपत्ति काल में केन्द्रीय बैंक से पुन: बट्टा करके धन प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार वे अपने नगद कोषों का अधिक उपयोग कर सकते हैं।

(ii) संकट काल में केन्द्रीय बैंक से रुपये मिलने का भरोसा बैंकों के प्रति *जनता में विश्वास का वातावरण उत्पन्न करता है।*

(iii) जब कोई बैंक केन्द्रीय बैंक से रुपया उधार माँगने आता है, तो केन्द्रीय बैंक को उसकी आर्थिक अवस्था व नीतियों का पता चल जाता है। यदि उसने कोई गलत नीति अपनाई है, तो केन्द्रीय बैंक उसे उचित नीति पर चलने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंकों को फेल होने से बचाता है।

परीक्षा प्रश्न

(१) 'केन्द्रीय बैंक' से आप क्या समझते हैं? एक व्यापारिक बैंक से यह किन बातों में भिन्न होता है?

(२) केन्द्रीय बैंक के क्या कार्य हैं? अन्य व्यापारिक बैंकों को फेल होने से यह किस प्रकार बचाता है?

(३) भारत के केन्द्रीय बैंक के रूप में रिजर्व बैंक ने जो कार्य किया है उसकी आलोचना कीजिये।

(४) 'केन्द्रीय बैंक 'बैंकों का बैंक' है" इस कथन से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट बताइये।

(५) सरकार के एजेन्ट के रूप में केन्द्रीय बैंक के कार्यों का वर्णन करिये।

(६) केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता व महत्व पर प्रकाश डालिये।

अध्याय ७.

नोट निर्गमन—सिद्धान्त एवं रीतियाँ

(Note issue—its Principles & Methods)

प्रारम्भिक

नोटों का निर्गमन केन्द्रीय बैंक का एक महत्वपूर्ण एवं विशिष्ट कार्य है। अब से कुछ समय पूर्व इस बात पर बहुत वाद-विवाद चला था कि नोटों का निर्गमन सरकार को अथवा बैंक और यदि बैंक को नोट निर्गमन का अधिकार देना उचित समझें, तो ऐसा अधिकार अनेक बैंकों को होना चाहिये या एक विशेष बैंक को। इसी प्रकार नोट-निर्गमन में सुरक्षा को प्रधानता दी जाय अथवा लोच को तथा नोटों की निकासी के लिये कौन सी विशेष पद्धति अपनानी चाहिये, ये भी विवाद-ग्रस्त प्रश्न रहे है। प्रस्तुत अध्याय में इन सब प्रश्नों पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है।

नोटों का निर्गमन कौन करे—सरकार या बैंक ?

नोटों को निर्गमन किसे करना चाहिये—सरकार को या बैंक को। इस प्रश्न का समुचित उत्तर देने के लिये हमें प्रश्न के दोनों पक्षों पर विचार करना होगा।

सरकार द्वारा पत्र-मुद्रा का निर्गमन

कुछ विद्वानों के मतानुसार सरकार ही पत्र-द्रव्य का प्रकाशन व संचालन अच्छी तरह कर सकती है। इस सम्बन्ध मे वे निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं :—

(१) सरकार द्वारा पत्र-द्रव्य चलन में अधिक सुरक्षा रहती है—इस कारण यह है कि एक प्राइवेट संस्था की तुलना में सरकार राष्ट्रीय हितों का अधिक ध्यान रखती है।

(२) सरकारी नोट अधिक विश्वासप्रद होते हैं—क्योंकि सरकार की साख अधिक होती है, जिससे सरकार द्वारा जारी किये गये नोटों में जनता का विश्वास होता है।

(३) सरकारी नोटों के लिए सम्पूर्ण राष्ट्रीय सम्पत्ति की आड़ होती है—चाहे पत्र-मुद्रा के पीछे कोई धात्विक आड़ हो या न हो, किन्तु देश की सम्पूर्ण सम्पत्ति और इस पर आधारित सरकारी प्रतिज्ञा ऐसी आड़ का कार्य करती है, जिससे सरकारी नोट अधिक विश्वासप्रद एवं सुरक्षित माने जाते हैं।

(४) मुद्रा प्रणाली के संचालन में कुशलता आती है—सरकार का संगठन अत्यन्त विस्तृत और व्यापक होता है। अत: उसे समाज की मुद्रा सम्बन्धी आवश्यक-

ताओं का ज्ञान होता रहता है। इस जानकारी के आधार पर वह मुद्रा सम्बन्धी नियमों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकती है। इससे मुद्रा-प्रणाली में लोच आ जाती है।

सरकार द्वारा पत्र-द्रव्य चलन के पक्ष में ७ तर्क

(१) सरकार द्वारा पत्र द्रव्य चलन में अधिक सुरक्षा रहती है।
(२) सरकारी नोट अधिक विश्वासप्रद होते हैं।
(३) सरकारी नोटों के लिए सम्पूर्ण *राष्ट्रीय सम्पत्ति की आड़ होती है।*
(४) मुद्रा प्रणाली के संचालन में कुशलता आती है।
(५) पत्र-निर्गमन के लाभ का उपयोग समाज के हित में किया जाता है।
(६) सरकार द्वारा पत्र-द्रव्य चलन का नियमन करती ही है, तो वह पत्र-मुद्रा स्वयं ही क्यों न निकाले।

(५) पत्र निर्गमन के लाभ का उपयोग समाज के हित में किया जाता है— पत्र-मुद्रा के निर्गमन से बहुत लाभ होता है। यह लाभ जनता के विश्वास के कारण उत्पन्न होता है। अतः यह न्यायपूर्ण होगा कि उक्त लाभ को जनता के कल्याण पर खर्च किया जाय न कि किसी व्यक्ति विशेष के सुखों की वृद्धि पर। जब सरकार पत्र-मुद्रा के निर्गमन का कार्य करती है, तो यह सब लाभ सरकारी खजाने में जाता है और वहाँ से वह साधारण जनता के हितों में लगाया जाता है। यदि यह कार्य किसी बैंक द्वारा किया जाता, तो समस्त लाभ बैंक के हिस्सेदारों की जेब में चला जाता।

(६) सरकार द्वारा पत्र-द्रव्य चलन उसका ऐतिहासिक एवं स्वाभाविक कार्य है—ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी सरकार द्वारा पत्र-द्रव्य चलन ही उचित एवं स्वाभाविक प्रतीत होता है, क्योंकि मुद्रा निर्माण का कार्य प्राचीन काल से सरकार ही करती आई है।

(७) जब सरकार पत्र-द्रव्य चलन का नियमन करती ही है, तो वह स्वयं पत्र-मुद्रा का निर्गमन भी क्यों न करे?—जिन देशों में पत्र-मुद्रा के निर्गमन एवं संचालन का कार्य बैंकों द्वारा किया जाता है, वहाँ भी सरकार बैंकों पर कड़ा नियंत्रण रखती है, क्योंकि पत्र-मुद्रा निर्गमन के सम्बन्ध में अनुपयुक्त नीति अपनाने के भयंकर परिणाम होते हैं। ऐसी दशा में यह सहज ही सुझाया जा सकता है कि सरकार ही इस कार्य को पूर्णरूप से क्यों न करे?

बैंकों द्वारा पत्र-द्रव्य चलन

बैंकों द्वारा द्रव्य चलन के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं:—

*(१) चलन में लोच रहती है—*बैंक निरन्तर व्यापार और उद्योग के निकट सम्पर्क में रहते हैं, जिससे वह सरलता से इन क्षेत्रों की मौद्रिक आवश्यकताओं का अनुमान लगा सकती है और तदनुसार नोटों की मात्रा में घटा-बढ़ी कर सकता है। इसके विपरीत, सरकार का व्यापार से अधिक सम्बन्ध नहीं होता। अतः वह मुद्रा-प्रणाली में व्यापार और उद्योग की आवश्यकतानुसार लोच नहीं ला सकती है।

(२) मुद्रा प्रणाली का संचालन सुव्यवस्थित रूप से किया जाता है—सरकार का काम प्रायः ढिलाई और विलम्ब से होता है। अतः परिस्थितिजन्य आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रा की मात्रा में तुरन्त ही परिवर्तन करना सरकार के लिये असम्भव ही होता है। इसके विपरीत, बैंक अपना कार्य सुव्यवस्थित रूप से शीघ्र निपटाते है, अतः वे आवश्यकता पैदा होने पर तुरन्त ही मुद्रा प्रणाली में उचित परिवर्तन कर सकते हैं।

(३) बैंकों द्वारा द्रव्य चलन सम्बन्धी नीति आर्थिक विचारों पर आधारित होती है—जब पत्र-मुद्रा की निकासी का कार्य सरकार द्वारा किया जाता है, तो भय रहता है कि सरकार की मुद्रा नीति केवल आर्थिक आवश्यकताओं से नहीं वरन् राजनैतिक आवश्यकताओं से भी प्रभावित होगी क्योंकि सरकार को चलाने वाले व्यक्ति राजनैतिक आधार पर चुने जाते हैं, अतः संभव है कि वे आर्थिक आवश्यकताओं की उपेक्षा कर देश की राजनीति से प्रभावित हो मुद्रा-नीति का निर्माण करें। उदाहरण के लिए सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए वे करों को कम करके उसकी क्षतिपूर्ति पत्र-मुद्रा निर्गमन से कर सकते हैं। इससे देश में मुद्रा का बहुत अधिक प्रसार होने का डर है। किन्तु बैंकों की मुद्रा-नीति केवल आर्थिक विचारों पर आधारित होती है, क्योंकि उसे किसी विशेष दल से सहानुभूति नहीं होती और न द्वेष ही होता है। उसमें प्रचार की भावना भी नहीं पाई जाती। वह देश आर्थिक आवश्यकताओं का ही मुख्यतः ध्यान रखता है।

बैंक द्वारा पत्र-द्रव्य चलन के पक्ष में ५ तर्क

(१) चलन में लोच रहती है।
(२) मुद्रा प्रणाली का संचालन सुव्यवस्थित रूप से किया जाता है।
(३) बैंक द्वारा द्रव्य चलन की नीति आर्थिक विचारों पर आधारित होती है।
(४) बैंकिंग के नियमों का पालन किया जाता है।
(५) अधिकांश लाभ सामाजिक हित में व्यय किया जाता है।

(४) बैंकिंग के नियमों का पालन किया जाता है—सरकार की अपेक्षा एक बैंक नोट निर्गमन सम्बन्धी बैंकिंग सिद्धान्त का अधिक अच्छी तरह से पालन कर सकता है।

(५) अधिकांश लाभ सामाजिक हित में व्यय होता है—पत्र-मुद्रा के निर्गमन का बहुत थोड़ा लाभ हिस्सेदारों में बंटता है। अधिकांश लाभ सरकारी खजाने में जमा होता है और वहाँ से यह सार्वजनिक कार्यों पर खर्च किया जाता है।

निष्कर्ष

बैंक द्वारा नोट-निर्गमन श्रेष्ठ है—उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बैंक द्वारा पत्र-द्रव्य चलन के पक्ष में जो तर्क हैं वे ही सरकार द्वारा पत्र-द्रव्य चलन के विपक्ष में तर्क हैं और इसी प्रकार सरकार द्वारा पत्र-द्रव्य चलन के पक्ष में जो तर्क है वे बैंक द्वारा पत्र-द्रव्य चलन के विपक्ष के तर्क हैं। इतने पर भी यह स्वीकार करना होगा कि पत्र मुद्रा की निकासी का कार्य सरकार की अपेक्षा एक बैंक अच्छी तरह से कर सकता है क्योंकि :—

(१) एक अच्छा राजनीतिज्ञ एक अच्छा बेंकर भी हो ऐसा आवश्यक नहीं है।

(२) बेंक देश की मौद्रिक आवश्यकता का सरलता से अनुमान लगा सकते हैं और शीघ्रता से उचित कार्यवाही कर सकते हैं; किन्तु सरकार पर अनेक गम्भीर दायित्व होते हैं। अतः वह पत्र-मुद्रा की निकासी पर पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाती है।

(३) यही नहीं, बेंकों द्वारा पत्र-मुद्रा की निकासी के जो दोष हैं उन पर बहुत सीमा तक उचित नियमों का निर्माण करके रोक लगाई जा सकती है। जैसे— (i) पत्र-मुद्रा का निर्गमन करने से बेंक को जो भारी लाभ होता है उसका अधिकांश भाग सरकार करों द्वारा अपने खजाने में खींच सकती है। (ii) इसी प्रकार सरकार पत्र-मुद्रा निर्गमन सम्बन्धी एक्ट के अन्तर्गत बेंकों द्वारा निकाले हुये नोटों की गारन्टी कर सकती है। इससे बेंक नोटों में जनता का विश्वास बढ़ जायगा। (iii) नोटों के पीछे कुछ धात्विक आड़ रखने का नियम बना कर बेंक द्वारा पत्र चलन को सुरक्षित भी बनाया जा सकता है।

इन्हीं सब बातों को देखते हुये आजकल सभी देशों में पत्र-मुद्रा के प्रकाशन का कार्य एक केन्द्रीय बेंक करता है।

नोटों का निर्गमन अनेक बेंक करें या एक बेंक ?

पत्र-मुद्रा का निर्गमन सरकार की अपेक्षा बेंक द्वारा अधिक अच्छी तरह किया जा सकता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि नोटों के प्रकाशन का कार्य केवल एक बेंक को सौंपा जाय या कई बेंकों को अर्थात् देशों में नोट निर्गमन की 'एकाकी नोट निर्गमन प्रणाली' (Single Note Issue System) होने चाहिये या 'बहु नोट-निर्गमन प्रणाली' (Multiple Note Issue System)।

बहु नोट-निर्गमन प्रणाली के दोष

बेंक द्वारा नोट निर्गमन करने के विपक्ष में निम्न तर्क दिये जाते हैं :—

बहु-नोट निर्गमन प्रणाली के छः दोष

(१) एकरूपता का अभाव।
(२) प्रतिस्पर्धा की भावना।
(३) नीतियों में असमानता।
(४) निरीक्षण में असुविधा।
(५) धात्विक कोषों के रूप में अधिक धातु निष्क्रिय रहना।
(६) राष्ट्रीय संकट के काल में असुविधा।

(१) एकरूपता का अभाव—जब नोटों के निर्गमन का कार्य कई बैंकों को दिया जाता है, तो वे भिन्न-भिन्न प्रकार के नोट निकालते हैं, जिससे खरी व खोटी मुद्रा की पहिचान भी नहीं होने पाती है।

(२) प्रतिस्पर्धा की भावना—बेंकों में परस्पर यह प्रतिस्पर्धा रहती है कि किस बेंक की मुद्रा अधिक मांगी जायगी। यह प्रतिस्पर्धा जन-हितों को ठेस पहुँचाती है, क्योंकि प्रत्येक बेंक अपनी-अपनी मुद्रा की मांग बढ़ाने का प्रयत्न करता है जिससे नोटों की मात्रा उचित सीमा से अधिक हो जाती है।

(३) **नीतियों में असमानता**—भिन्न-भिन्न बैंक पत्र-मुद्रा के निर्गमन के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न नीतियाँ अपनाते हैं, क्योंकि प्रत्येक बैंक के कार्य करने का ढंग अलग-अलग होता है।

(४) **निरीक्षण में असुविधा**—अलग-अलग बैंकों पर निरीक्षण रखने में भी सरकार को असुविधा होती है और त्रुटियों को रोकना कठिन हो जाता है।

(५) **धात्विक कोषों के रूप में अधिक धातु निष्क्रिय रहती है**—प्रत्येक नोट निकालने वाले बैंक को अपने पास धात्विक कोष रखना पड़ता है। इन कोषों के परिणामस्वरूप बहुत अधिक धातु कोषों के रूप में निष्क्रिय पड़ी रह जाती है।

(६) **राष्ट्रीय संकट काल में असुविधा**—राष्ट्रीय संकट काल में धातुओं का मितव्ययिता से प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है। यह तभी हो सकता है जबकि धातु कोष एक स्थान पर रहे। चूंकि कई बैंकों द्वारा नोट निर्गमन प्रणाली में धातु कई स्थानों पर बँटी होती है, इसलिये मितव्ययिता से उनका प्रयोग करना सम्भव नहीं होता।

एकाकी नोट निर्गमन प्रणाली के लाभ

जहाँ बहु नोट निर्गमन प्रणाली में अनेक दोष पाये गये हैं वहाँ एकाकी नोट निर्गमन प्रणाली को व्यवहार में कई तरह से लाभप्रद अनुभव किया गया है। एकाकी नोट निर्गमन प्रणाली के प्रमुख-प्रमुख लाभ निम्न बताये जाते हैं :—

(१) **पत्र-मुद्रा में एकरूपता**—जब नोटों का प्रकाशन एक ही बैंक द्वारा किया जाता है, तो उनमें एकरूपता होती है और इससे खरे-खोटे की पहचान करना भी सरल हो जाता है।

(२) **धातु निधि में मितव्ययिता**—धातु कोष अलग-अलग न रखे जाने कारण बहुत अधिक धातु कोष के रूप में बेकार नहीं पड़ी रहती।

(३) **निरीक्षण में सुगमता**—जब एक ही बैंक को नोटों के प्रकाशन का अधिकार होता है, तो सरकार को भी नोट प्रकाशन के कार्य पर निरीक्षण व नियंत्रण रखने में सुविधा हो जाती है। उत्तरदायित्व सौंपने व त्रुटियों को रोकने में सरलता रहती है।

(४) **पत्र-मुद्रा निर्गमन में जनता का अधिक विश्वास**—एक बैंक द्वारा नोट निर्गमन की दशा में सरकार भी उसके नोटों को मान्यता दे सकती है। इससे उस बैंक द्वारा जारी किये जाने वाले नोटों को एक विशेष आदर प्राप्त हो जाता है तथा जनता उनमें अधिक विश्वास करने लगती है। यह बात विविध बैंकों द्वारा चलाये गये नोटों की दशा में सम्भव नहीं है।

एकाकी नोट निर्गमन प्रणाली के सात लाभ

(१) एकरूपता।
(२) धातु निधि में मितव्ययिता।
(३) निरीक्षण में सुगमता।
(४) पत्र-मुद्रा निर्गमन में जनता का अधिक विश्वास।
(५) पत्र-मुद्रा निर्गमन के लाभ पर सरकार का अंकुश।
(६) पारस्परिक प्रतियोगिता का अभाव।
(७) राष्ट्रीय संकट के समय सुविधा।

(५) पत्र-मुद्रा निर्गमन के लाभ पर सरकार का अंकुश—पत्र-मुद्रा के प्रकाशन से होने वाले लाभ पर भी सरकार प्रभावपूर्ण अंकुश रख सकती है।

(६) पारस्परिक प्रतियोगिता का अभाव—एक ही बैंक द्वारा नोट निर्गमन की दशा में पारस्परिक प्रतियोगिता का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। एकाधिकार की सुविधा होने से बैंक को लाभ प्राप्त करने के लिये संघर्ष नहीं करना पड़ता तथा जन-हित सुरक्षित रहते हैं।

(७) राष्ट्रीय संकट के समय सुविधा—रक्षित कोष एक स्थान पर केन्द्रित रहने के कारण मूल्यवान धातु को राष्ट्रीय संकट के समय अधिक मितव्ययिता एवं सुविधा के साथ प्रयोग किया जा सकता है।

निष्कर्ष

सरकार द्वारा अधिकृत (केन्द्रीय) बैङ्क द्वारा निर्गमन श्रेष्ठ है—उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कई बैंकों द्वारा नोट निर्गमन की अपेक्षा एक बैंक द्वारा नोट निर्गमन अधिक श्रेष्ठ है। यदि नोटों के निर्गमन का अधिकार किसी एक बैंक को देने का निश्चय कर लें, तो फिर प्रश्न यह उठता है कि किस बैंक को यह अधिकार दिया जाय। इस सम्बन्ध में सब लोगों का मत यह है कि नोटों की निकासी का एकाधिकार देश की केन्द्रीय बैंक को मिलना चाहिये। इस बैंक पर सरकार का ही स्वामित्व भी रहता है। अतः यह आशा की जा सकती है कि वह लाभ भावना से प्रेरित होकर अपने एकाधिकार का दुरुपयोग नहीं करेगा। अन्य देशों की भाँति भारत में यहाँ के केन्द्रीय बैंक रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को नोटों के निर्गमन का अधिकार दिया गया है।

नोट निर्गमन के सिद्धान्त

(Principles of Note Issue)

अब हम नोट या पत्र-मुद्रा के प्रकाशन के सिद्धान्तों पर विचार करेंगे। नोट निर्गमन के दो मुख्य सिद्धान्त हैं:—करेंसी सिद्धान्त (Currency Principle) और (२) बैंकिंग सिद्धान्त (Banking Principle)।

पत्र-मुद्रा चलन का करेंसी सिद्धान्त

यह सिद्धान्त मुद्रा प्रसार के खतरों से मुक्ति और सुरक्षा पर अधिक जोर देता है। अतः इसे 'सुरक्षा सिद्धान्त' भी कहा जाता है। यह सिद्धान्त बताता है कि देश में नोटों को पूर्णतः सुरक्षित रखने के लिए नोटों की मात्रा के बराबर ही अर्थात् १००% धातु का कोष रखना चाहिये। सरल शब्दों में देश में जितनी रकम के नोट जारी किये जायें उतनी ही रकम के बराबर बहुमूल्य धातु (सोना या चाँदी अथवा दोनों) मुद्रा निकालने वाले अधिकारी के पास जमा रहनी चाहिये। इस सिद्धान्त के व्यावहारिक लाभ निम्नलिखित हैं:—

(१) सुरक्षितता—इस सिद्धान्त के अनुसार नोटों का प्रकाशन करने से मुद्रा-प्रसार का भय नहीं रहता, क्योंकि मुद्रा अधिकारी को नोट निकालते समय धातु की आड़ रखनी पड़ती है। इस प्रकार नोटों की निकासी के सम्बन्ध में मुद्रा अधिकारी की स्वतन्त्रता पर रोक लग जाती है।

(२) जनता का विश्वास—इस सिद्धान्त के अनुसार चलाये गये नोटों में जनता का सबसे अधिक विश्वास होता है, क्योंकि ये नोट सदा बहुमूल्य धातुओं में परिवर्तनीय होते हैं।

(३) मूल्यवान धातुओं की बचत—चूँकि नोट बहुमूल्य धातुओं के सिक्कों के स्थान में निकाले जाते है, इसलिये मुद्रा के हस्तांतरण मे सुविधा होने के साथ-साथ सिक्कों की घिसाई से होने वाली हानि भी बच जाती है।

करेंसी सिद्धान्त के गुण-दोष

गुण :

(१) सुरक्षितता।

(२) जनता का विश्वास।

(३) मूल्यवान धातु की बचत।

दोष :

(१) लोच का अभाव।

(२) धात्विक कोष के रूप में मूल्यवान धातु का बेकार पड़ रहना।

(३) अमितव्ययिता।

जहाँ करेंसी सिद्धान्त में उक्त लाभ हैं वहाँ इसमे कुछ दोष भी हैं जो कि इस प्रकार हैं :—

(१) लोच का अभाव—करेंसी सिद्धांत के अनुसार चलन का प्रसार व्यापारिक आवश्यकताओं पर नही, वरन् धातु-कोष की मात्रा पर निर्भर होता है, जिससे मुद्रा-प्रणाली मे लोच नही रहती है। यदि मुद्रा-अधिकारी के पास नये नोट निकालने के लिए पर्याप्त धातु नही है तो वह नोट नहीं छाप सकेंगे, भले ही व्यापार आदि कार्यों के लिये देश को अधिक मुद्रा की आवश्यकता हो।

(२) धात्विक कोष के रूप में मूल्यवान धातु का बेकार पड़े रहना—इस सिद्धान्त के अनुसार पत्र-मुद्रा की निकासी करने का एक दोष यह भी है कि बहुत सी धातु सुरक्षित कोष के रूप मे मुद्रा अधिकारी के पास बेकार पड़ी रहती है और इसे औद्योगिक व कला-कौशल के कार्यों में प्रयोग नही किया जा सकता।

(३) अमितव्ययिता—चूँकि इस सिद्धान्त के अन्तर्गत नोटों की निकासी शत-प्रतिशत धात्विक कोष के आधार पर की जाती है, इसलिये खानों से बहुमूल्य धातु बहुत अधिक मात्रा में निकालना आवश्यक हो जाता है। इस कार्य मे बहुत व्यय होता है।

पत्र-मुद्रा चलन का बैंकिंग सिद्धान्त

यह सिद्धांत मुद्रा की लोच को बहुत अधिक महत्व देता है। अत: इसे 'लोच सिद्धांत' भी कहते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार नोटों की निकासी के लिये शत-प्रतिशत धातु-कोष रखना अनावश्यक है। अनुभव बताता है कि कोष मे थोड़ी धातु रखकर भी नोटो की परिवर्तनीयता कायम रखी जा सकती है क्योंकि सारे नोट एक साथ ही परिवर्तित होने के लिये नहीं आते। मुद्रा अधिकारी को इस बात का निर्णय करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये कि वह कितनी मात्रा में नोट निकाले और उनकी आड़ में कितने प्रतिशत कोष रखे। इस सिद्धांत के गुण निम्नलिखित हैं :—

गुण : (१) लोच—इस सिद्धांत के अनुसार नोटों की निकासी करने पर मुद्रा प्रणाली मे लोच रहती है, क्योंकि शत-प्रतिशत धातु-कोष रखने का बन्धन न होने के कारण मुद्रा-अधिकारी (बैंक या सरकार) व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार नोटों की मात्रा में सरलता से घट-बढ़ कर सकता है।

(२) **मूल्यवान धातुओं की दोहरी बचत**—चूंकि नोटों के पीछे शत-प्रतिशत धातु रखने की आवश्यकता नहीं है, इसलिये कोष में अधिक मात्रा में सोना-चांदी बंधा नहीं पड़ा रहता। धातु के सिक्कों का प्रचलन कम होने से बहुमूल्य धातुओं की घिसाई से होने वाली हानि भी बच जाती है। सोना-चांदी खानों में से कम निकाली जाती है और इस प्रकार व्यय अधिक नहीं करना पड़ता।

बैंकिंग सिद्धान्त के गुण-दोष

गुण :
(१) लोच।
(२) मूल्यवान धातुओं की दोहरी बचत।

दोष :
(१) मुद्रा प्रसार का भय।
(२) सुरक्षा की कमी।

उक्त सिद्धान्त के निम्न दोष भी हैं :—

दोष : (१) मुद्रा प्रसार का भय—पत्र-मुद्रा की निकासी के सम्बन्ध में मुद्रा अधिकारी को बहुत स्वतन्त्रता होने से इस बात का डर रहता है कि वह नोटों को आवश्यकता से अधिक मात्रा में निर्गमित न कर दिया जाय। यदि नोटों का अधिक प्रसार हो गया, तो देश में वस्तुओं के मूल्य बढ़ जायेंगे तथा इससे जनता को बहुत कष्ट भोगना पड़ेगा।

(२) **सुरक्षा की कमी**—चूंकि नोटों की निकासी के लिए १००% धातु-कोष नहीं रखा जाता है, इसलिये मुद्रा प्रणाली में सुरक्षा कम हो जाती है।

निष्कर्ष

करेंसी एवं बैंकिंग दोनों ही सिद्धांतों का समन्वय श्रेष्ठ है—उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि पत्र-मुद्रा चलन के दोनों ही सिद्धांतों में कुछ न कुछ दोष हैं। अतः यहाँ प्रश्न उठता है कि इनमें से किस सिद्धात को अपनाया जाय अथवा कौन सा सिद्धात अधिक श्रेष्ठ है? वास्तव में एक आदर्श मुद्रा-प्रणाली वह होती है जिससे सुरक्षा के साथ-साथ लोच का गुण भी विद्यमान हो, बैंकिंग सिद्धात का प्रमुख गुण लोच है और उचित कानूनी उपायों द्वारा इसमें सुरक्षा की वृद्धि भी की जा सकती है। अतः विश्व के सभी प्रगतिशील राष्ट्रों ने अपनी मुद्रा प्रणालियों को बैंकिंग सिद्धांत के अनुसार ही संचालित किया है। इसमें कम अधिक मात्रा में धातु-कोष की व्यवस्था करके एक ओर सुरक्षा तथा जनता का विश्वास मिल जाता है और दूसरी ओर अधिक लोच भी आ जाती है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में नोटों के प्रकाशन का अधिकार प्रेसीडेन्सी बैंकों को दिया गया था। सन् १८६१ में यह अधिकार बैंकों से छीन लिया गया और अब वे अपनी ओर से नोटों का प्रकाशन न करके सरकार के प्रतिनिधि के रूप में नोट छापने लगे। सन् १९३५ में नोट छापने का एकाधिकार रिजर्व बैंक को मिल गया। रिजर्व बैंक द्वारा निकाले गये नोट असीमित विधि ग्राह्य होते हैं और इन पर भारत सरकार की ओर से गारन्टी होती है।

नोट निर्गमन की विभिन्न रीतियाँ

समय-समय पर नोट छापने की जो प्रणालियाँ अपनाई गई हैं वे ऊपर बताये गये दो प्रमुख सिद्धान्तों (करेन्सी सिद्धान्त एवं बैंकिंग सिद्धान्त) में से किसी एक पर या मिश्रित रूप में दोनों पर आधारित हैं। उदाहरणार्थ, आनुपातिक सुरक्षित प्रणाली

में दोनों सिद्धान्तों की विशेषतायें हैं यद्यपि यह रीति बैंकिंग सिद्धान्त की ओर अधिक झुकी हुई है। नोट निर्गमन की विभिन्न रीतियाँ इस प्रकार है :—

(1) निश्चित असुरक्षित नोट प्रकाशन की रीति—यह प्रणाली (Fixed Fiduciary System of Note Issue) सन् १८६१ से सन् १९२० तक भारत में प्रचलित रही। इस प्रणाली के अनुसार, मुद्रा निकालने वाले अधिकारी को यह अनुमति दी जाती है कि वह एक निश्चित मात्रा तक, किसी प्रकार का धातु कोष रखे बिना ही केवल सरकारी साख-पत्रों के आधार पर, नोटों की निकासी कर सकता है। किन्तु इस सीमा से अधिक नोट निकालने के लिए उसे अतिरिक्त नोटों के पीछे शत प्रतिशत सोने-चाँदी का धातु कोष रखना पड़ेगा। नोटों की वह मात्रा जिसके लिए धातु-कोष नहीं रखना पड़ता, असुरक्षित पत्र-मुद्रा चलन (Fiduciary Issue) कहलाती है। चूँकि एक निर्धारित सीमा तक ही मुद्रा अधिकार असुरक्षित पत्र-मुद्रा का निर्गमन कर सकता है, इसलिये इस प्रणाली को 'निश्चित असुरक्षित पत्र-मुद्रा चलन पद्धति' कहते हैं। इस प्रणाली के गुण-दोष निम्नलिखित है :—

गुण : (१) सुरक्षा—इस प्रणाली के अन्तर्गत नोटों की कुल मात्रा के एक भाग को छोड़ कर शेष सब भाग के पीछे धातु-कोष रखा जाता है। इससे नोट परिवर्तनीय रहते हैं। अतः यह प्रणाली सुरक्षित है।

(२) मुद्रा प्रसार पर रोक—चूँकि एक निर्धारित सीमा से अधिक नोटों का निर्गमन करने के लिये १००% धातु कोष रखना आवश्यक है इसलिए पत्र-मुद्रा के अधिक निर्गमन का डर नहीं रहता।

(३) अनावश्यक रूप से धातु बेकार न रहना—इस पद्धति के अन्तर्गत देश का सोना चाँदी अनावश्यक रूप से ताले में बन्द नहीं पड़ा रहता।

दोष : (१) लोच का अभाव—एक निर्धारित सीमा से अधिक नोटों का प्रकाशन करने के लिए १००% धातु कोष जुटाना पड़ता है। किन्तु संकट-काल में ऐसा करना बहुत कठिन होता है, जिससे आवश्यकता होने पर भी नोटों की मात्रा नहीं बढ़ाई जा सकती।

निश्चित असुरक्षित नोट प्रकाशन की रीति के गुण-दोष

गुण :
(१) सुरक्षा।
(२) मुद्रा प्रसार पर रोक।
(३) अनावश्यक रूप से से धातु बेकार न रहना।

दोष :
(१) लोच का अभाव।
(२) सुगमता का अभाव।
(३) मुद्रा प्रसार की सम्भावना।

(२) सुगमता का अभाव—इस प्रणाली में सुगमता का भी अभाव पाया जाता है, क्योंकि यदि किसी कारण धातु-कोष में सोने-चाँदी की मात्रा कम हो जाय, तो उतने ही मूल्य की पत्र-मुद्रा चलन में से कम करना पड़ेगी, चाहे भले ही मुद्रा की माँग उस समय अधिक हो। यदि धातु कोष के कम हो जाने पर पत्र-मुद्रा की मात्रा कम न की जाय, तो कोष सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन होता है और इससे जनता का मुद्रा अधिकारी में विश्वास घट जाता है।

(३) मुद्रा-प्रसार की सम्भावना—चूंकि असुरक्षित नोटों के प्रकाशन की सीमा को पार्लियामेंट जब चाहे तब विधानतः बढ़ा सकती है, इसलिए इसमें मुद्रा प्रसार के न होने की भी कोई विशेष सम्भावना नहीं रहती।

(II) अधिकतम असुरक्षित नोट प्रकाशन की रीति

इस प्रणाली Fixed Maximum Fiduciary System के अनुसार सरकार कानून द्वारा एक अधिकतम मात्रा नियत कर देती है। मुद्रा अधिकार इस नियत मात्रा तक बिना कोई धातु-कोष रखे केवल सरकारी साख-पत्रों के आधार पर ही नोटों का प्रकाशन कर सकता है। किन्तु इस सीमा से अधिक मात्रा में नोटों की निकासी करने का अधिकार उसे नहीं होता, चाहे वह शत-प्रतिशत कोष की व्यवस्था क्यों न करले। यह प्रणाली फ्रांस में सन् १९२८ तक प्रचलित रही। जब भी वास्तविक चलन में पत्र-मुद्रा की मात्रा अधिकतम सीमा के निकट पहुँचती थी, तो फ्रांसीसी सरकार इस सीमा को आगे बढ़ा देती थी। इस प्रणाली के गुण-दोष निम्नलिखित हैं :—

गुण : (१) मूल्यवान धातु की बचत—इसमें मूल्यवान धातु खजाने में बेकार नहीं रखी जाती और उसे अन्य कार्यों में प्रयोग किया जा सकता है। (प्रायः मुद्रा अधिकारी धातु-कोष रखने का बन्धन न होने पर भी नोटों की परिवर्तनीयता कायम रखने के लिए कुछ धातु-कोष स्वेच्छा से रखा करते हैं।)

> **अधिकतम असुरक्षित नोट-प्रकाशन की रीति के मुख्य-मुख्य गुण-दोष**
>
> गुण :
> (१) मूल्यवान धातु की बचत।
> (२) मुद्रा प्रणाली में लोच।
> (३) सरकार की प्रसिद्धि।
>
> दोष :
> (१) रूढ़िवादी प्रणाली।
> (२) व्यवहार में अधिक लचीली या अधिक स्थूल।
> (३) मुद्रा प्रसार की सम्भावना।

(२) मुद्रा प्रणाली में लोच—इस प्रणाली के अन्तर्गत नोटों की अधिकतम मात्रा का यह आंकड़ा देश की तत्कालीन व्यापारिक और आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं। इससे मुद्रा-प्रणाली में लोच आ जाती है।

(३) सरकार की ख्याति—जनता को यह विश्वास होता है कि मुद्रा अधिकारी निर्धारित मात्रा से अधिक नोटों का निर्गमन नहीं कर सकता है।

दोष : (१) रूढ़िवादी प्रणाली—यह प्रणाली एक रूढ़िवादी पद्धति है, क्योंकि यह मुद्रा प्रणाली में लोच की अपेक्षा सुरक्षा पर अधिक बल देती है।

(२) व्यवहार में अधिक लचीली या अधिक स्थूल—यदि सरकार नोट निकास की अधिकतम सीमा में परिवर्तन न करे, तो यह प्रणाली बढ़ते हुये व्यापार की माँग को पूरा न कर सकेगी। इसके विपरीत, यदि सरकार आय बढ़ाने के लिये समय-समय पर उक्त सीमा में हेर-फेर करती रहती है, तो देश में मुद्रा-प्रसार होने का डर है। इस प्रकार व्यवहार में यह प्रणाली अधिक लचीली या स्थूल प्रमाणित होती है।

(३) मुद्रा प्रसार की सम्भावना—वैधानिक रूप से इस सीमा को बढ़ाने की सम्भावना होने के कारण यह प्रणाली मुद्रा प्रसार के विरुद्ध कोई आश्वासन नहीं देती।

(III) आनुपातिक कोष पद्धति (Proportional Reserve System)

इस प्रणाली को जर्मनी ने सन् १८७५ में अपनाया और भारत में भी यह पद्धति बहुत समय तक प्रचलित रह चुकी है। इसके अन्तर्गत देश की सरकार विधान द्वारा यह निर्धारित कर देती है कि कुल नोटों का कम से कम कितना प्रतिशत भाग धातु या सिक्कों के रूप में रखा जायगा ? इस प्रणाली के गुण-दोष निम्नलिखित हैं—

गुण : (१) लोच एवं मितव्ययिता—थोड़े से ही धातु-कोष के आधार पर बैंक कई गुना पत्र-मुद्रा निकाल सकता है और आवश्यकता पड़ने पर धातु-कोष का अनुपात भी कम किया जा सकता है।

(२) परिवर्तनशीलता—चूँकि मुद्रा अधिकारी अपने पास धातु-कोष रखता है और नोट भी थोड़ी-थोड़ी मात्रा में ही परिवर्तित होने के लिए आया करते है, इसलिए इस प्रणाली के अन्तर्गत नोटों की परिवर्तनशीलता भी सरलता से बनी रहती है।

(३) मुद्रा प्रसार पर रोक—यह प्रणाली अधिक धातु-कोष न मिलने पर अत्यधिक मुद्रा प्रसार नहीं होने देती और इस तरह अधिक नोट प्रकाशन के भय से राष्ट्र को मुक्त रखती है।

दोष : (१) धातु अनावश्यक रूप से कोष में रहना—मुद्रा अधिकारी को अनावश्यक रूप में मूल्यवान धातु ताले में बन्द रखनी पड़ती है और वह किसी अन्य प्रयोग में नहीं लाई जा सकती।

> **आनुपातिक कोष पद्धति के गुण-दोष**
>
> गुण :
> (१) लोच एवं मितव्ययिता।
> (२) परिवर्तनशीलता।
> (३) मुद्रा प्रसार पर रोक।
>
> दोष :
> (१) धातु अनावश्यक रूप से कोष में रहना।
> (२) मुद्रा संकुचन में कठिनाई।

(२) मुद्रा संकुचन में कठिनाई—जब कभी धातु-कोष कम हो जाता है, तो नोटों के चलन में भी तुरन्त उतने ही अनुपात में कमी नहीं होने पाती है, क्योंकि मुद्रा अधिकारी उनका प्रचलन तभी रोक सकता है जबकि वे उसके पास लौट आवें। इस प्रकार धातु कोष की आनुपातिक दर का हर समय अनुसरण नहीं होता है।

(IV) न्यूनतम स्वर्ण-कोष वाली आनुपातिक पद्धति

यह प्रणाली (Proportional Reserve System with a Minimum Gold Reserve) आनुपातिक कोष-पद्धति का ही एक संशोधित रूप है। इसमें भी नोटों की कुल मात्रा का एक-एक निश्चित अनुपात सोने व चाँदी के कोष के रूप में रखा जाता है। लेकिन इस पद्धति की विशेष बात यह है कि जबकि आनुपातिक कोष पद्धति के अन्तर्गत शेष नोटों की आड़ में सरकार प्रतिभूतियाँ, व्यापारिक बिल व अन्य स्वीकृत-पत्र रखे जाते हैं, न्यूनतम स्वर्ण कोष वाली आनुपातिक पद्धति में शेष नोटों की आड़ में दूसरे देश के साख-पत्रों, विदेशी बैंकों की हुन्डियों व बिलों को रखा जाता है।

इस पद्धति के गुण-दोष निम्नलिखित है :—

न्यूनतम स्वर्ण कोष वाली आनुपातिक पद्धति के गुण-दोष

गुण :
(१) स्वर्ण की बचत ।
(२) आनुपातिक पद्धति के लाभ ।

दोष :
(१) आनुपातिक पद्धति के सभी दोष ।
(२) विदेशों में कोषों का विनियोग ।

गुण : (१) सोने की बचत—इस पद्धति में सोने की बहुत बचत हो जाती है ।

(२) आनुपातिक पद्धति के सभी लाभ—इस पद्धति के अन्तर्गत मुद्रा-प्रणाली में लोच, *परिवर्तनीयता* एवं मितव्ययिता के गुण भी पाये जाते हैं ।

दोष : (१) आनुपातिक पद्धति के सभी दोष—इस प्रणाली में वे सब दोष पाये जाते हैं जोकि आनुपातिक कोष पद्धति में होते हैं जैसे—मुद्रा संकुचन में कठिनाई आदि ।

(२) विदेशों में कोषों का विनिमय करना खतरे से खाली नहीं है ।

(V) साधारण जमा पद्धति (Simple Deposit System)

इस प्रणाली के अनुसार मुद्रा अधिकारी को प्रकाशित नोटों की कुल संख्या के मूल्य के बराबर अर्थात् 'शत-प्रतिशत' सोने चाँदी का कोष रखना पड़ता है । अन्य शब्दों में इस पद्धति के अन्तर्गत नोट एक प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा के रूप में चालू रहते हैं ।

गुण—(i) इसमें जनता का अधिक विश्वास होता है, क्योंकि नोट पूर्ण रूप से बदले जा सकते हैं । (ii) मुद्रा प्रसार का भी भय नहीं क्योंकि नोटों के प्रकाशन के लिए शत-प्रतिशत धातु-कोष की व्यवस्था करनी पड़ती है ।

दोष—निम्न दोषों के कारण यह पद्धति बहुत अव्यावहारिक हो गई है—(i) इसमें लोच का नितान्त अभाव है, क्योंकि नये नोटों के प्रकाशन के लिये उनकी कीमत के बराबर धातु रखना आवश्यक है । (ii) इसमें धातु अनावश्यक रूप से खजाने में बन्द पड़ी रहती है और उसे किसी अन्य प्रयोग में नहीं लाया जा सकता ।

(VI) सरकारी बॉंड जमा पद्धति (The Bonds Deposit System)

इस प्रणाली के अनुसार नोटों की सीमा बैंक की पूँजी व कोष के बराबर सीमित कर दी जाती है और बैंक को यह अधिकार दिया जाता है कि वह सरकारी साख-पत्रों व ट्रेजरी बिलों को कोष में रखकर उतने मूल्य के नोट प्रचलित कर सकता है । इस प्रकार इस पद्धति में बैंक को धातु-कोष नहीं रखना पड़ता । सरकारी बॉंड जमा पद्धति के गुण-दोष निम्नलिखित हैं :—

गुण—(i) इसमें मुद्रा प्रसार का भय कम रहता है क्योंकि बैंक सरकारी बॉंड आदि खरीदे बिना नोटों का प्रकाशन नहीं कर सकता है । (ii) कोष में मूल्यवान धातु व्यर्थ बंधी नहीं पड़ी रहती है ।

दोष—(i) यह प्रणाली अधिक विश्वासप्रद नहीं है क्योंकि इसमें धातु-कोष नहीं रखा जाता । (ii) इसमें लोच की भी बहुत कमी है, क्योंकि मुद्रा की मात्रा बैंक पूँजी की व कोष की मात्रा से सीमित होती है ।

(VII) न्यूनतम निधि प्रणाली (Minimum Deposit Method)

आजकल भारत में इसी प्रणाली का प्रचलन है। इस प्रणाली के अन्तर्गत विधान द्वारा यह नियत कर दिया जाता है कि कोष में कम से कम कितने मूल्य की मूल्यवान धातु अवश्य रखनी चाहिए। मुद्रा अधिकारी यह न्यूनतम विधि रख कर कितनी भी मात्रा में नोट जारी कर सकता है। स्पष्टत: यह प्रथा एक प्रकार से निश्चित असुरक्षित चलन पद्धति के विपरीत पड़ती है, जिसमें एक निश्चित मात्रा में नोट निकालने के बाद अधिक नोट निकालने के लिये शत-प्रतिशत कोष रखना पड़ता है। इस पद्धति के गुण-दोष निम्नलिखित है :—

> **न्यूनतम निधि प्रणाली के गुण-दोष**
>
> **गुण :**
>
> (१) अधिक लोच।
>
> (२) सोने की बचत।
>
> **दोष :**
>
> (१) मुद्रा प्रसार की सम्भावना।
>
> (२) जनता के विश्वास में कमी।

गुण : (१) अधिक लोच—इस प्रणाली में अन्य प्रणालियों की अपेक्षा सबसे अधिक लोच पाई जाती है, क्योंकि केवल कम से कम धातु-कोष रख कर ही तथा विदेशी प्रतिभूतियों के आधार पर मनचाही मात्रा मे नोट निकाले जा सकते हैं।

(२) सोने की बचत—इस प्रणाली में बहुत कम सोना कोष में बेकार रहता है।

दोष : (१) मुद्रा प्रसार की सम्भावना—अन्य प्रणालियो की अपेक्षा इस पद्धति मे मुद्रा के अधिक प्रसार होने का अधिक डर रहता है।

(२) जनता के विश्वास में कमी—यह प्रणाली तभी सफलतापूर्वक कार्य कर सकती है जबकि मुद्रा अधिकारी में जनता का विश्वास हो। यदि जनता द्वारा नोटों को परिवर्तित कराने की मांग बढ़ जाती है, तो यह पद्धति उस दशा में विफल हो जाती है।

(३) जटिलता—यह प्रणाली बहुत कृत्रिम एवं प्रबन्धित (managed) होती है। अतः जनता इसे सरलता से नहीं समझ सकती।

निष्कर्ष—नोट निर्गमन की सर्वश्रेष्ठ रीति

नोट निर्गमन की सबसे अच्छी रीति कौनसी है? उपरोक्त विवेचन से *यह स्पष्ट है कि प्रत्येक पद्धति के अपने-अपने गुण-दोष हैं। अतः यह प्रश्न उठता है* कि इनमें से किस प्रणाली को अपनाया जाय अथवा कौनसी प्रणाली सर्वोत्तम है। वास्तव में एक अच्छी नोट निर्गमन प्रणाली वह है जिसमें लोच, मितव्ययिता, सरलता एवं परिवर्तनशीलता के गुण विद्यमान हों तथा जिसमें मुद्रा प्रसार के भय से मुक्त रहे। अन्य शब्दों में नोट निर्गमन की वह प्रणाली श्रेष्ठ है जिसमें बैंकिंग नियम का करेंसी नियम के लिये अथवा करेंसी नियम का बैंकिंग नियम के लिए बलिदान नहीं किया गया हो अर्थात् लोच एवं सुरक्षा दोनों का ही ध्यान रखा गया हो। इसके अतिरिक्त देश की परिस्थितियाँ भी नोट निर्गमन प्रणाली के चुनाव पर प्रभाव डालती है। प्रत्येक राष्ट्र ने समय-समय पर अपनी आर्थिक और मौद्रिक परिस्थितियों के अनुसार नोट निर्गमन की रीति में संशोधन किये हैं।

भारत में प्रचलित पत्र-मुद्रा निर्गमन प्रणाली

भारत में सन् १९५६ तक नोट निर्गमन की आनुपातिक कोष निधि प्रणाली अपनाई गई थी। सन् १९५६ से न्यूनतम मुद्रा कोष प्रणाली को अपनाया गया है। इस नई प्रणाली में नोट निर्गमन विभाग को नोट निर्गमन के विरुद्ध कम से कम ४०० करोड़ रु० विदेशी प्रतिभूतियों में और ११५ करोड रु० सोने के सिक्के या सोने के रूप मे रखने पड़ते थे। जब द्वितीय योजना के लिए विदेशी विनिमय की अधिक आवश्यकता अनुभव हुई तो सन् १९५७ में रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया एक्ट में संशोधन करके विदेशी प्रतिभूतियों की मात्रा ४०० करोड़ रु० से घटा कर ८५ करोड़ रु० करदी गई तथा ११५ करोड रु० के मूल्य का सोना या सोने के सिक्के न्यूनतम रूप से रखना आवश्यक कर दिया गया। इस प्रकार नई प्रणाली का उद्देश्य भारतीय मुद्रा प्रणाली मे लोच और मितव्ययिता लाना व देश मे विदेशी मुद्रा के संकट को कम करना है। चूंकि भारत की इस नवीन नोट निर्गमन प्रणाली में उक्त दोनों ही सिद्धांतो का उचित समन्वय है, अतः इसे भारत के विकास के लिये संतोषजनक कहा जा सकता है।

परीक्षा प्रश्न

(१) सरकार द्वारा पत्र-द्रव्य चलन में से आप किसे श्रेष्ठ समझते हैं और क्यों ? स्पष्ट रूप से लिखिये।

(२) नोट निर्गमन की 'एकाकी नोट निर्गमन प्रणाली' श्रेष्ठ है या 'बहु नोट निर्गमन प्रणाली' ? कारण सहित उत्तर दीजिये।

(३) पत्र-मुद्रा चलन के सिद्धान्त बताइये। इनमे से आप किसे श्रेष्ठ समझते हैं और क्यो ?

(४) पत्र-मुद्रा के निर्गमन की विभिन्न रीतियों का आलोचनात्मक वर्णन करिये। हमारे देश मे इनमे से किसे अपनाया गया है ?

अध्याय ८

साख नियन्त्रण
(Credit Control)

प्रारम्भिक

केन्द्रीय बैंक की एक प्रमुख जिम्मेदारी है मुद्रा के वाह्य एवं आन्तरिक मूल्य को स्थिर रखना, क्योंकि मुद्रा-मूल्य में बार-बार परिवर्तन होने से समाज को अनेक आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। मुद्रा के मूल्य को स्थिर रखने के लिये यह आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक देश में मुद्रा (चलन+साख) की मात्रा पर नियन्त्रण रखे अर्थात्, उसे आवश्यकता से अधिक विस्तृत या संकुचित न होने दे। जहाँ तक करेंसी का सम्बन्ध है, उसका नियन्त्रण सरलता से किया जा सकता है, क्योंकि करेंसी का निर्गमन करना केवल केन्द्रीय बैंक के हाथ में होता है। वह सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर अधिक नोट छाप कर मुद्रा की मात्रा को बढ़ा सकता है और कुछ प्रतिभूतियों को रद्द करके नोट निर्गमन को कम कर सकता है। किन्तु साख का नियन्त्रण करना इतना सरल नहीं है, क्योंकि साख के निर्माण का कार्य अनेक बैंकिंग संस्थाओं के हाथ में होता है। फिर भी, साख-नियन्त्रण करना ही है। इसके लिए प्रत्येक देश में केन्द्रीय बैंक को कुछ विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं। केन्द्रीय बैंक जिन उपायों से साख का नियंत्रण कर सकता है, उन पर इस अध्याय में प्रकाश डाला गया है।

साख-नियन्त्रण के विभिन्न ढंग

साख का नियन्त्रण करने के लिये एक केन्द्रीय बैंक निम्न उपाय कर सकता है :—

(1) बैंक दर नीति (Bank Rate Policy)

'बैंक दर' ब्याज की वह कम से कम दर है जिस पर देश का केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को प्रथम श्रेणी के बिलों को पुन: भुनाने या स्वीकृत प्रतिभूतियों पर ऋण या एडवान्स देने की सुविधा देता है। इसे केन्द्रीय बैंक की 'कटौती दर' (Discount Rate) भी कहते है। 'बैंक दर' बाजार दर से भिन्न होती है। 'बाजार दर' से अभिप्राय ब्याज की उस दर से है, जिस पर व्यापारिक बैंक, डिस्काउन्ट-गृह व अन्य ऋणदाता संस्थायें प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण देती हैं।

यदि केन्द्रीय बैंक यह समझता है कि देश में मुद्रा प्रसारक परिस्थितियाँ मौजूद हैं और इन्हें रोकना चाहिये, तो वह बैंक दर (अर्थात् ब्याज की वह दर जो वह अन्य बैंकों से लेता है) में वृद्धि कर देगा। इसका परिणाम यह होगा कि व्यापा-

रिक बेंक व अन्य ऋण देने वाली संस्थायें भी अपनी-अपनी ब्याज दरें बढ़ा देंगी। इससे व्यापारियों व उत्पादकों को ऋण लेने में कम लाभ होगा। अत: वे व्यापार व उद्योग में ऋण लेकर कम रुपया लगायेंगे। इस प्रकार साख का संकुचन होगा। यदि बेंक दर मे कमी करदी जाये, तो इसका विपरीत फल होगा अर्थात् साख का प्रसार होने लगेगा।

> **साख नियंत्रण की विभिन्न रीतियाँ**
> (१) बेंक दर की नीति।
> (२) खुले बाजार की क्रियाएँ।
> (३) अन्य रीतियां :—
> (i) रक्षित कोष के अनुपात में परिवर्तन।
> (ii) साख का राशनिंग।
> (iii) प्रत्यक्ष कार्यवाही।
> *(iv) नैतिक प्रभाव।*
> (v) विज्ञापन व प्रचार।
> (vi) उपभोक्ता साख का नियमन।
> (vii) ऋणों की सीमा आवश्यकता में परिवर्तन।

बेंक दर साख का नियन्त्रण करने मे कितना सफल हो सकती है, यह दो बातो पर निर्भर है—(i) बेंक दर और व्यापारिक बेंकों की ब्याज दर के बीच सम्बन्ध तथा (ii) बेंक दर की घट-बढ के *प्रति व्यापारिक बेंकों एवं व्यापारियों की* प्रतिक्रिया। उदाहरण के लिये, पिछड़े हुये देशों मे व्यापारिक बेंक अपने बिलो को भुनाने के लिये केन्द्रीय बेंकों के पास बहुत कम जाते हैं; अत: वहाँ बेंक दर मे परिवर्तन होने से यह आवश्यक नहीं है कि बाजार दर में परिवर्तन हो। जब बाजार दर मे परिवर्तन नही होता, तो साख पर नियन्त्रण स्थापित नहीं हो सकता। इस प्रकार स्पष्ट है कि बेंक *दर नीति साख नियन्त्रण का एक बहुत* प्रभावशाली साधन नहो है।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् तो इसका *महत्व काफी कम हो गया,* क्योंकि (i) विभिन्न देशों की अर्थ-व्यवस्था मे लोच बहुत कम हो गई है; (ii) साख नियन्त्रण की अन्य प्रभावशाली विधियाँ चलन मे आ गई है; (iii) व्यापारिक बेंक डिपोजिटों पर अपनी ब्याज दर बढ़ा कर बेंक दर की वृद्धि के प्रभाव को बेकार करने का यत्न करते हैं; (iv) व्यवहार में प्रथम श्रेणी के बेंक आवश्यकता के समय केन्द्रीय बेंक से ऋण नही लेते अत उन पर बेंक दर के परिवर्तन का प्रभाव नही पड़ता। अब द्वितीय महायुद्ध के बाद नीति का प्रयोग कुछ अधिक किया है।

भारत में बेंक दर-नीति—भारत में रिजर्व बेंक की बेंक दर-नीति प्रभावपूर्ण नहीं रही है, क्योंकि (अ) देश मे मुद्रा प्रसार के कारण मुद्रा की अधिकता है, जिससे बेंक को जनता से अत्यधिक मात्रा मे जमा राशि प्राप्त हुई है, जिससे उन्हें रिजर्व बेंक पर अधिक निर्भर नहीं रहना पड़ता है; और (ब) रिजर्व बेंक व देश की अन्य बेंकिंग संस्थाओं में वह घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित नहीं होने पाया है जिससे यह पूर्ण सहयोग से कार्य कर सकें। सन् १९५१ के बाद ही रिजर्व बेङ्क को बेंक दर को नीति द्वारा साख का नियन्त्रण करने मे कुछ सफलता मिली है।

(ii) खुले बाजार की क्रियायें (Open Market Operations)

'खुले बाजार की क्रियाओं' का अर्थ है केन्द्रीय बेंक द्वारा मुद्रा बाजार में किसी भी तरह के बिलों या प्रतिभूतियों को खरीदना और बेचना, किन्तु संकीर्ण अर्थ में इसका अभिप्राय केवल सरकारी प्रतिभूतियाँ खरीदने-बेचने से है।

जब मुद्रा बाजार में मुद्रा की अधिकता होती है और केन्द्रीय बैंक उसमें कमी करना चाहता है, तो वह मुद्रा-बाजार (अर्थात् खुले बाजार) में प्रतिभूतियाँ बेचना आरम्भ कर देता है। जनता को अन्य बैंकों की अपेक्षा केन्द्रीय बैंक में अधिक भरोसा होता है। अत: वे उन बैंकों मे से अपना रुपया निकालकर या बचत करके या अपने दिये हुये ऋणों को वापिस लेकर केन्द्रीय बैंक द्वारा बेची जाने वाली प्रतिभूतियाँ खरीदने लगते है। इस प्रकार प्रचलित मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है और बैंकों के नगद कोष कम हो जाने से वे पहले की तुलना मे कम साख का सृजन कर पाते हैं। इसके विपरीत जब देश में मुद्रा की कमी होती है और देश हित में केन्द्रीय बैंक उसमें कमी करना चाहता है तो वह प्रतिभूतियाँ खरीदना आरम्भ कर देता है। इस नीति के फलस्वरूप जनता के हाथ में मुद्रा की अधिक मात्रा पहुँच जाती है, जिसे वह बैंकों में जमा कराने लगती है। व्यापारिक बैंकों के डिपाजिट बढ़ने पर वे अधिक साख देने में समर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार, प्रतिभूतियाँ खरीदने और बेचने की क्रियाओं से साख का नियन्त्रण किया जा सकता है।

खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता निम्न ४ बातों पर निर्भर होती है—

(१) केन्द्रीय बैंक की इन क्रियाओं से अन्य बैंकों के नगद कोष प्रभावित होने चाहिये—यदि केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियाँ बेचता है, तो बैंकों के नगद कोष कम हो जाने चाहिये। परन्तु यह संभव है कि ऐसा न होने पाये, क्योंकि हो सकता है कि प्रचलित मुद्रा में से कुछ नोट या मुद्रा बैंको मे वापिस आ जाय या जनता अपने गड़े हुए धन में से निकाल कर बैंक में डिपाजिट कराने लगे अथवा भुगतान सन्तुलन के अनुकूल होने से देश में विदेशों से रुपया बराबर आ रहा हो और बैंकों में जमा हो रहा हो। ऐसी दशाओं में प्रतिभूतियाँ बेचे जाने पर भी बैंकों के नकद कोष घटने के बजाय बढ़ सकते हैं। इसी प्रकार, यदि केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियाँ खरीदने लगे, तो बैंकों के कोष बढ़ने चाहिये, परन्तु यह सम्भव है कि लोगों मे संग्रह-प्रवृत्ति बढ़ने, विदेशों को पूँजी का निर्यात होने या प्रतिकूल भुगतान-संतुलन के कारण ऐसा न होने पाये। अत: खुले बाजार की क्रियायें तब ही सफल हो सकती हैं जबकि इनके साथ बैंकों के नकद कोष भी प्रभावित हों।

(२) यह भी आवश्यक है कि व्यापारिक बैंकों की अनुकूल प्रतिक्रिया हो—प्राय बैंक अपनी ऋण नीति नकद कोष के आधार पर ही नही वरन् देश की आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों का सोच विचार करके भी निर्धारण करते हैं। अतः यदि केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों को खरीद कर बैंकों का नकद कोष साख प्रसार के उद्देश्य बढ़ा देता है परन्तु हो सकता है कि ये बैंक मुद्रा-बाजार में घबराहट या अविश्वास से अपने ग्राहकों की बढ़ी हुई मुद्रा की माँग के कारण इस नकदी के आधार पर साख का निर्माण नही करे। ऐसी दशा में केन्द्रीय बैंक अपनी नीति में सफल हो सकेगा।

(३) व्यापारियों व उद्योगपतियों की अनुकूल प्रतिक्रियायें होना भी आवश्यक हैं—इसी प्रकार यह भी जरूरी है कि व्यापारियों व उत्पादकों की ऋणनीति में भी अनुकूल प्रतिक्रिया हो। अनुभव बतलाता है कि कभी-कभी व्यापारी एवं उत्पादक अपनी ऋण लेने की नीति में परिवर्तन कर देते हैं। जैसे भले ही केन्द्रीय बैंक साख प्रसार के उद्देश्य से अन्य बैंकों का नकद कोष प्रतिभूतियाँ खरीद कर बढ़ा दे, किन्तु यदि व्यापारियों को मूल्यों के कम होने की सम्भावना है, तो वे कम ब्याज की दर पर भी ऋण लेना स्वीकार नही करेंगे। परिणाम यह होगा कि बैंकों के पास रुपया फालतू पड़ा रहेगा और केन्द्रीय बैंक का साख-प्रसार का उद्देश्य अपूर्ण

रह जायगा। यद्यपि तेजी के काल में केन्द्रीय बैंक अपनी साख-संकुचन की नीति से मूल्यों में कमी करने में सफल हो जाता है लेकिन मन्दी काल में साख का निर्माण करने में वह बड़ी कठिनाई अनुभव करता है, क्योंकि बैंक किसी उत्पादक को ऋण लेने के लिए बाध्य नहीं कर सकते।

(४) उपयुक्त प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय सम्बन्धी केन्द्रीय बैंक की क्षमता—केन्द्रीय बैंक किस सीमा तक बाजार की दशाओं पर प्रभाव डाल सकता है, यह उचित प्रतिभूतियों की चालू मात्रा तथा ऊँचे मूल्यों पर प्रतिभूतियाँ खरीदने व कम मूल्यों पर उन्हें बेच कर जोखिम उठाने की तत्परता पर भी निर्भर होता है। यदि आर्थिक स्थिरता को कायम रखने की उत्सुकता में केन्द्रीय बैंक हानि उठाने को तैयार हो जाय, तो भी यह संभावना है कि चालू प्रतिभूतियों की पूर्ति अपर्याप्त हो।

यह उल्लेखनीय है कि इन सीमाओं के होते हुये भी, प्रत्येक केन्द्रीय बैंक की शक्ति और साधन प्राय: इतने विशाल होते है कि खुले बाजार की क्रियाओं का प्रभाव अवश्य प्रकट होता है। खुले बाजार की नीति के महत्त्व के कारण ही कुछ देशों मे तो केन्द्रीय बैंक के अन्तर्गत इस कार्य के लिये विशेष संस्थायें स्थापित कर दी गई हैं।

भारत में 'खुले बाजार की क्रियायें'—भारत में रिजर्व बैंक को भी अन्य देशों के केन्द्रीय बैंक की भांति खुले बाजार की क्रियायें करने का अधिकार दिया गया है। सन् १९५१ के बाद से रिजर्व बैंक, कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़ कर, प्रतिभूतियाँ नहीं खरीदता है वरन् सदस्य बैंकों की सामयिक आवश्यकतायें पूरी करने के लिये उनके आधार पर केवल ऋण ही देता है। इस नीति के फलस्वरूप अब बैंक दर पहिले की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण हो गई है, मुद्रा का पूर्ति मे लोच उत्पन्न हो गई है तथा रिजर्व बैंक का देश की बैंकिंग संस्थाओं पर समुचित नियन्त्रण कायम हो गया है।

'खुले बाजार की क्रियायें' श्रेष्ठ हैं या 'बैंक दर की नीति'

हम अभी देख चुके हैं कि साख नियन्त्रण के उपाय के रूप मे 'बैंक दर नीति एवं 'खुले बाजार की क्रियायें' दोनों ही ढंगों की अपनी-अपनी सीमायें हैं। फिर भी कुछ कारणों से, जिनकी चर्चा हम ऊपर कर आये हैं, बैंक दर की नीति अब विशेष प्रभावशाली नहीं रही है और इसका महत्त्व कम हो गया है। लेकिन खुले बाजार की क्रियाओं का महत्त्व बढ़ता जा रहा है, क्योंकि (i) इनका ब्याज-दरों पर प्रभाव तुरन्त और प्रत्यक्ष पड़ता है जबकि बैंक दर के परिवर्तनों का प्रभाव अल्पकालीन ब्याज दरों पर तुरन्त दीर्घकालीन ब्याज दरों पर धीरे-धीरे और अप्रत्यक्ष रूप में पड़ता है। (ii) खुले बाजार की क्रियायें बिना बैंक दर नीति की सहायता लिये (अर्थात् बाजार दर में परिवर्तन हुये बिना भी) प्रभावशाली हो सकती है लेकिन बैंक दर की नीति स्वतन्त्र (अकेले) कार्यशील नहीं हो सकती है वास्तव में, जैसा कि प्रोफेसर हाट्रे ने कहा है, "देश की करेन्सी और साख का तब ही समुचित नियन्त्रण हो सकता है जबकि दोनों ही रीतियों का साथ-साथ प्रयोग किया जाय।"

(II) साख नियंत्रण की अन्य रीतियाँ

(१) बैंकों के रक्षित कोष के अनुपात में परिवर्तन करना—आजकल प्रत्येक बैंकों को अपनी कुल जमा (Deposits) का कुछ न्यूनतम भाग (जो कि प्रथा या

कानून द्वारा निश्चित किया जाता है) केन्द्रीय बैंक के पास रक्षित कोष (Cash reserve) के रूप में जमा करना पड़ता है तत्पश्चात् जो जमा शेष बचे उसके आधार पर वह साख का निर्माण करता है। इस प्रकार बैंकों की साख-निर्माण शक्ति इस शेष नगद कोष से सीमित होती है। यदि केन्द्रीय सरकार बैंकों द्वारा रखे जाने वाले रक्षित कोष के अनुपात में परिवर्तन कर दे, तो उनके पास शेष नगद कोषों की मात्रा में घट-बढ़ हो जायेगी जिससे साख-निर्माण शक्ति भी कम-अधिक हो जाती है।

कुछ लोगों का मत है कि यह रीति बैंक दर नीति या खुले बाजार की क्रियाओं के ढंग की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक है। परन्तु इसके सम्बन्ध में भी निम्न सीमायें विचारणीय हैं :—

(i) यह रीति अत्यन्त कठोर होती है क्योंकि इसका सभी बैंकों पर एक साथ प्रभाव पड़ता है।

(ii) अनेक दशाओं में रक्षित कोष का अनुपात बदलना सरल नहीं होता है।

(iii) रक्षित कोष के कम या अधिक होने का बैंक इतना ध्यान नहीं रखते, जितना कि अनुकूल आर्थिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों का। अतः यह आवश्यक नहीं है कि नगद कोष अधिक होते हुये भी मन्दी के काल में वे साख का निर्माण अधिक करदें। इसी प्रकार, तेजी के दिनों में वे कम नगद कोष के साथ भी अपना कार्य चला सकते हैं।

भारत के रिजर्व बैंक को भी देश के विभिन्न बैंकों की जमा राशि पर नियन्त्रण करने का अधिकार दिया गया है। प्रत्येक अनुसूचित बैंक को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के अनुसार अपनी माँग देयता का ५% और काल देयता का २% रिजर्व बैंक के पास जमा रखना पड़ता है। सन् १९४९ में बैंकिंग कम्पनीज एक्ट बन जाने से तो अन्य बैंकों को भी रिजर्व बैंक के पास या अपने पास उक्त प्रतिशत में नगद कोष रखना पड़ता है। रिजर्व बैंक को यह अधिकार है कि वह इन प्रतिशतों में कुछ परिवर्तन कर सके। आलोचकों का मत है कि उक्त-व्यवस्था में रिजर्व बैंक साख का नियन्त्रण अधिक सफलतापूर्वक नहीं कर सका है, क्योंकि नकद कोष प्रतिशत के रूप में रखे जाने से देश की बैंकिंग संस्थायें शेष धन से ही पर्याप्त मात्रा के साख का निर्माण कर लेती है।

(ii) साख का राशनिंग—संकट काल में केन्द्रीय बैंक अन्य सब ऋणदाता संस्थाओं का अन्तिम सहारा होता है। ऐसे समय में जब अन्य बैंक ऋण लेने के लिए केन्द्रीय बैंक के पास आयें, तो वह उनकी माँग को कुछ प्रतिबन्धों के साथ पूरा करे या बिलकुल ही अस्वीकार कर सकता है। इसका परिणाम यह होगा कि बैंकों के ऋण देने के लिए राशि कम होने के कारण वे अधिक मात्रा में साख का निर्माण न कर पायेंगे। केन्द्रीय बैंक की इस नीति को साख का राशनिंग (Rationing of Credit) कहते हैं। साख का राशनिंग तीन तरह से किया जा सकता है—(अ) किसी बैंक को पुनः भुगतान की सुविधा बिल्कुल समाप्त करके; (ब) पुनः भुनाने की सीमा पर कुछ प्रतिबन्ध लगाकर, और (स) विभिन्न बैंकों या व्यवसायों के लिये साख के कोटे निश्चित करके।

इस नीति को कार्यान्वित करने में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है—पहले तो अलग-अलग व्यवसायों की साख सम्बन्धी आवश्यकताओं तथा इनसे

सम्बन्धित साख के निर्माण का अनुमान लगाना पड़ता है और फिर इस अनुमान के आधार पर विभिन्न बैंकों के कोटे निश्चित करने पड़ते हैं। यह सब कार्य केन्द्रीय बैंक सुविधा से नही कर पाता है।

सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट के अन्तर्गत भारत के रिजर्व बैंक को भी साख का राशनिंग करने के समुचित अधिकार प्राप्त हो गये हैं। चूंकि बैंकिंग संस्थाओं को रिजर्व बैंक के इन आदेशो का पालन पूर्ण रूप मे करना पड़ता है इसलिए साख नियन्त्रण की रीति काफी प्रभावयुक्त और सफल रही है।

(iii) प्रत्यक्ष कार्यवाही—यह नीति तब अपनाई जाती है जबकि मुद्रा बाजार की ऋणदाता संस्थायें केन्द्रीय सरकार की घोषित नीति का उल्लंघन करने लगती हैं। प्रत्यक्ष, सीधी या दबाव डालने वाली कार्यवाही से तात्पर्य असहयोग करने वाली संस्थाओं को पुनः भुनाने (Re-discounting) की सुविधायें न देना या कुछ प्रतिबन्धों सहित अथवा कम मात्रा मे देने का है। यदि आवश्यक समझा जाय, तो वह पब्लिक के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार भी कर सकता है।

भारत मे रिजर्व बैंक को बैंकिंग कम्पनीज एक्ट १९४९ के अन्तर्गत प्रत्यक्ष कार्यवाही सम्बन्धित अधिकार मिल गये हैं, जैसे वह किसी भी बैंक को किसी विशेष प्रकार का लेन-देन करने से मना कर सकता है, किसी भी मामले पर सलाह दे सकता है, बैंक का निरीक्षण करके अपनी निरीक्षण रिपोर्ट उसके संचालको के अवलोकनार्थ भेज सकता है तथा किसी भी बैंक को अपने सुझावों पर चलने का आदेश दे सकता है। कुछ विशेष परिस्थितियों मे रिजर्व बैंक देश-हित की दृष्टि से प्रतिभूतियों का जनता को सीधे-क्रय-विक्रय कर सकता है। व्यवहार मे इस अधिकार का अभी तक प्रयोग नही किया गया है लेकिन इसकी उपस्थिति मात्र से दोषी बैंकरों को चेतावनी मिलती है।

(iv) नैतिक प्रभाव—केन्द्रीय बैंक का मुद्रा बाजार में बहुत महत्व होता है, वह अन्य ऋणदाता संस्थाओ का नेतृत्व करता है। अतः अन्य ऋणदाता या बैंकिंग संस्थाएं केन्द्रीय बैंक के साथ सहयोगपूर्वक कार्य करती रहती हैं। इस स्थिति मे केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकिंग संस्थाओ पर अपना नैतिक प्रभाव सरलता से डाल सकता है, क्योंकि उसकी सलाह ध्यान से सुनी व तत्परता से कार्यान्वित की जायगी। नैतिक प्रभाव की नीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंको से यह प्रार्थना किया करता है कि वे सटोरियों को उधार देने के लिये रुपया न मांगे या अधिक मात्रा में साख न मांगे। वह बैंकों के सन्मुख उनकी नीति का दुष्परिणाम स्पष्ट कर देता है और इस प्रकार समझा बुझाकर उन्हें अपनी नीति मे परिवर्तन करने के लिये प्रेरित करता है। यह रीति अत्यन्त श्रेष्ठ मानी जाती है क्योंकि यह एक मित्र के रूप में अपनाई जाती है और बैंकों का ऐच्छिक व सक्रिय सहयोग सुविधापूर्वक मिलने लगता है। किन्तु इस रीति का एक दोष भी है। एक व्यक्तिगत पहुँच की रीति होने के कारण इसे केवल उस देश मे ही सफलता मिल सकती है जहाँ कि बैंक व अन्य ऋणदाता संस्थायें बहुत थोड़ी संख्या मे हों।

भारत में रिजर्व बैंक देश की बैंकिंग संस्थाओं पर अपना नैतिक प्रभाव डालने में थोड़ा बहुत सफल हुआ। उसने इस रीति के द्वारा बैंकों के कार्य सम्बन्धी अनेक दोषों को दूर किया है और कर रहा है।

(v) विज्ञापन एवं प्रचार—इस नीति का आधार यह तथ्य है कि किसी भी

नीति को सफल बनाने के लिये पहले उसके पक्ष में एक प्रभावपूर्ण जनमत तैयार कर देना चाहिये। अत: केन्द्रीय बैंक प्रचार एवं विज्ञापन द्वारा अपनी नीति विशेष के अनुकूल जनमत तैयार करने का प्रयास करता है। इस हेतु वह मुद्रा बाजार के रिव्यू तथा व्यापार, व्यवसाय, उद्योग, आयात-निर्यात और राजस्व सम्बन्धी आँकड़े व सूचनायें प्रकाशित करता रहता है और यह दिखाने का प्रयत्न करता है कि ऋणदाता संस्थायें किन नीतियों का पालन कर रही हैं और देश के आर्थिक हित में उन्हें किस नीति का पालन करना उचित होगा? नि:संदेह इस रीति में बहुत खर्च होता है, फिर भी यह बड़ी उपयोगी प्रमाणित हुई है।

भारत में रिजर्व बैंक का देश की बैंकिंग संस्थाओं से अभी तक बहुत अधिक घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाया है, इसलिए प्रकाशन द्वारा साख नियंत्रण की नीति को वह अभी नहीं अपना सका है।

(vi) उपभोक्ता साख का नियमन—इस ढंग के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक को ऐसे नियम बनाने का अधिकार दे दिया जाता है, जिनसे उपभोक्ताओं को थोड़ा-थोड़ा करके साख सुविधायें मिलें। इस व्यवस्था में ऋण का कुछ भाग नगदी के रूप में देना पड़ता है, जिससे साख का निर्माण एक निश्चित सीमा से अधिक नहीं हो पाता है। उदाहरणार्थ, कनाडा में किश्त-साख के अन्तर्गत टिकाऊ उपभोग्य माल के क्रय-मूल्य का १०% नगद रूप में दिया जाता था और इसकी अवधि १८ महीने रखी गई थी।

(vii) प्रतिभूति-ऋणों की सीमा-आवश्यकताओं में परिवर्तन—अमेरिका में प्रारम्भ हुई इस प्रणाली का मुख्य उद्देश्य केन्द्रीय बैंक की साख-राशि का सट्टे में प्रयोग रोकने में सहायता देना है। इस रीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को समय-समय पर यह आदेश देता रहता है कि वे प्रतिभूतियों में सट्टे-व्यवहारों के लिए दिए जाने वाले ऋण के हेतु कितना मार्जिन (सीमा) रखें जिससे उन्हें ऋण देने में जोखिम न रहे। अत: मार्जिन में परिवर्तन करके केन्द्रीय बैंक सट्टा-व्यवहारों द्वारा साख के अत्यधिक प्रयोग पर रोक लगा सकता है।

निष्कर्ष

विभिन्न रीतियों के उचित समन्वय से नियंत्रण—उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि साख नियंत्रण की अनेक रीतियाँ हैं। केन्द्रीय बैंक एक रीति का भी प्रयोग कर सकता है और यदि आवश्यकता हो तो कई रीतियाँ एक साथ भी अपना सकता है। अनुभव यह बतलाता है कि कई रीतियों को एक साथ अपनाने से सफलता जल्दी मिली है। प्रत्येक रीति में कुछ कठिनाइयाँ एवं दोष है। इनके उचित समन्वय से नियंत्रण सुविधा से सफल हो जाता है। कौनसी रीतियों को अपनाया जाय और कौनसी रीतियों को न अपनाया जाय, इसका निर्णय देश की आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार करना चाहिए।

भारत में रिजर्व बैंक के पास साख नियंत्रण के अनेक साधन है लेकिन अनुभव से यह पता चलता है कि वह देश साख एवं मुद्रा के नियंत्रण में अधिक सफल नहीं होने पाया है, क्योंकि—(i) देश में अभी तक एक सुव्यवस्थित और संगठित, मुद्रा बाजार का निर्माण नहीं हो पाया है, (ii) देश का आर्थिक ढाँचा लोचदार नहीं है, (iii) देशी बैंकरों पर अभी पर्याप्त नियंत्रण कायम नहीं हो सकता [illegible]) बैंकों के

पास नकद कोषों का बाहुल्य, जिससे उन्हें रिजर्व बैंक पर अधिक निर्भर नहीं रहना पड़ता है।

परीक्षा प्रश्न

(१) केन्द्रीय बैंक किसे कहते हैं? यह मुद्रा और साख का नियंत्रण किस प्रकार करता है?

(२) किसी केन्द्रीय बैंक के साख नियंत्रण के उद्देश्यों एवं ढंगों का विवेचन करिये।

(३) रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया देश में मुद्रा एवं साख का नियंत्रण करने में कहाँ तक सफल रहा है? स्पष्टत: समझाइये।

(४) साख का नियंत्रण करने के एक उपाय के रूप में आप किसे अधिक पसन्द करेंगे खुले बाजार की क्रियाओं को अथवा बैंक दर नीति को? कारण सहित उत्तर दीजिये।

—

अध्याय ६

समाशोधन गृह
(Clearing House)

'समाशोधन गृह' से आशय

समाशोधन गृह विभिन्न बैंकों के लेन-देन का इस प्रकार हिसाब करते हैं कि पारस्परिक लेन-देनों का निपटारा, कम मात्रा में नगदी देकर केवल खातों में ही आवश्यक परिवर्तन करके, किया जा सके। टॉजिग (Taussig) के शब्दों में "समाशोधन-गृह (Clearing House) किसी स्थान विशेष के बैंकों का सामान्य संगठन है जो उनके चेकों द्वारा निर्मित पारस्परिक दायित्वों का निपटारा करता है।"[1]

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—एक उदाहरण से समाशोधन गृह की कार्य-प्रणाली को अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। पंजाब नेशनल बैंक, यूनाइटेड कॉमर्शियल बैंक के खाते स्टेट बैंक में है। प्रत्येक बैंक के पास ग्राहकों द्वारा अन्य बैंकों के नाम के चैक बड़ी संख्या में आते हैं। प्रत्येक बैंक इनका रुपया वसूल करने के लिये निम्न सूची बना लेता है :—

(१) पंजाब नेशनल बैंक	(२) यूनाइटेड कॉमर्शियल बैंक	(३) हिन्दुस्तान कॉमर्शियल बैंक
यू० क० बैंक = १००० रु०	प० ने० बैंक = १,३०० रु०	प० ने० बैंक २५०० रु०
हि० क० बैंक = ३००० रु०	हि० क० बैंक = ५०० रु०	यू० क० बैंक = १७५० रु०
४,००० रु०	१,८०० रु०	४,२५० रु०

प्रत्येक बैंक के डेबिट क्रेडिट की स्थिति इस प्रकार है :—

	क्रेडिट	डेबिट	लेना या देना + या —
प० ने० बैंक	४००० रु०	३८००	+ २००
यू० क० बैंक	१८०० रु०	२७५०	— ९५०
हि० क० बैंक	४२५० रु०	३५००	+ ७५०

1. "Clearing House is a general organisation of banks of a given place having for its main purpose the off-setting of cross obligations in the form of cheques."

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि यदि पं० ने० बैंक और द्वि० क० बैंक क्रमशः २०० और ७५० रुपये यू० क० बैंक को दे दें, तो तीनों बैंकों का पारस्परिक दायित्व केवल ६५० ले देकर पूरा हो जाता है। इस कार्य को सरलता से करने के लिये प्रत्येक बैंक का प्रतिनिधि अपनी-अपनी सूची लेकर एक निश्चित स्थान पर एकत्र होंगे, जहाँ वे एक दूसरे पर जारी किये गये चैकों का प्रति भुगतान (Off-Setting) करके शेष राशि के चैक स्टेट बैंक के नाम जारी करके अपने दायित्व से मुक्त हो जाते हैं।

समाशोधन गृहों का महत्व

समाशोधन-गृहों का बैंकिंग व्यवस्था में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि इनसे कई लाभ होते हैं :—(i) बैंकों का आपस का भुगतान बहुत सरल हो जाता है क्योंकि लेने-देने का कार्य व्यक्ति का न रहकर सामूहिक होता है। (ii) मुद्रा के प्रयोग में बचत होती है क्योंकि केवल आधिक्य का आदान-प्रदान करके ही दायित्व निपट जाता है। यदि केन्द्रीय बैंक के नाम आधिक्य का चैक काट दिया जाय तो मुद्रा के लेने-देने की कतई आवश्यकता नहीं पड़ती। (iii) बैंक बहुत कम नगद कोष के आधार पर काफी मात्रा में साख सृजन करने में समर्थ हो जाते हैं।

भारत में इस समय ६६ समाशोधन गृह कार्य कर रहे हैं। इनमें से ७ का प्रबन्ध रिजर्व बैंक द्वारा ५४ का प्रबन्ध स्टेट बैंक द्वारा, ७ का प्रबन्ध स्टेट बैंक की सहायक बैंकों द्वारा एवं १ का प्रबन्ध एक व्यापारिक बैंक द्वारा किया जा रहा है।

परीक्षा प्रश्न

(१) समाशोधन गृह क्या होता है ? बैंकिंग प्रणाली में इसके महत्व को स्पष्ट कीजिये।

(२) समाशोधन गृह की कार्यप्रणाली एक उदाहरण देकर समझाइये।

षष्टम खण्ड
भारतीय बैंकिंग
(INDIAN BANKING)

"भारत में बैंकिंग व्यवसाय कोई नया नहीं है। प्राचीन काल में भी लोग यहाँ बैंकिंग का कार्य करते थे यद्यपि उनका ढंग कुछ भिन्न था। अथर्ववेद और ऋग्वेद में 'ऋण' शब्द कई स्थानों पर मिलता है। वेदों में इस बात का उल्लेख है कि उन दिनों लोग रुपया उधार लेते और देते थे। हुंडी का चलन भारत में बहुत प्राचीन है। भगवान कृष्ण के समय की एक कथा के अनुसार जूनागढ़ के नरसी भक्त ने द्वारिकापुरी के सेठ सांवलदास पर एक हुंडी लिखी थी। इसके अतिरिक्त मुगल कालीन इतिहास में भी 'जगत सेठों' का उल्लेख है।"

The Great Economists & Their Words

(1) **Bombay Banking Enquiry Committee** :—"Indeed the methods of finance adopted by the Sahukar are such that once a person gets into debt it is difficult for him to get out of it."

(2) **Cooperative Planning Committee** :—"The main causes of the limited progress of cooperative credit societies are—the laissez faire policy of the State, the illiteracy of the people and the fact that the movement did not take the life of the individual as a whole.........among the other causes, the small size of the primary unit and undue reliance on honorary services for even day today work with resultant inefficiency in management."

(3) **C. D. Deshmukh** :—"The exchange banks were inclined to show sign of the hauteur of a highly privileged class in the early years of the Reserve Bank, but, unlike Canute, they have recognized the force of the onrushing tide of nationalism and have for many years and during my tenure of office, been friendly and cooperative".

(4) **Central Banking Enquiry Committee** :— "The commercial banking system becomes slower the nearer it comes to the agriculturist and it stops entirely at the outskirts of the agricultural lines".

(5) **Reserve Bank of India Reports**—"A money market is the centre for dealings, mainly of short term character in monetary assets ; it meets the short term requirements of borrowers and provides liquidity or cash to the lenders. It is the place where short term surplus investible funds at the disposal of financial and other institutions and individuals are bid by borrowers, again comprising institutions and individuals and also the Government itself."

अध्याय १.

भारत में बैंकिंग का विकास
(Development of Indian Banking)

प्राचीन भारत में बैंकिंग का विकास

प्राचीन साहित्य से पता चलता है कि भारत के वैदिक काल में भी बैंकिंग सम्बन्धी कार्य होते थे। महाजन जनता को रुपया उधार देते थे और जमा के लिये भी लेते थे। मुस्लिम काल में उनके कार्य बहुत महत्वपूर्ण हो गये। आन्तरिक व्यापार में सहायता करने के साथ-साथ वे सरकार के बैंकर के रूप में कार्य करने लगे और विदेशियों की मदद के लिए मुद्रा परिवर्तन का कार्य भी करते थे। अंग्रेजों के आने पर इनका पतन आरम्भ हो गया। अंग्रेजी भाषा से परिचय न होने के कारण वे अंग्रेजों के व्यापार मे हाथ न बंटा सकते थे। उन्होने स्थान-स्थान पर एजेन्सी हाउसेज स्थापित किये। इनके पास अंग्रेजी नौकरों की जो राशि जमा होती थी उसी से वे बैंकिंग का कार्य करते थे।

जब १८१३ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारिक अधिकार समाप्त हो गये, तो एजेन्सी हाउसेज को बहुत धक्का लगा। कुछ एजेन्सी हाउसेज ने अपने को संयुक्त पूंजी के आधार पर पुनर्गठन करके अपनी रक्षा की और भारत मे संयुक्त पूंजी व्यापारिक बैंकिंग प्रणाली का नेतृत्व किया। इस काल मे अनेक बैंकों की स्थापना हुई और कुछ पुराने बैंक भी टूटते गये। कुछ बैंकों ने पत्र-मुद्रा भी चलाई। सन् १८०६ मे ईस्ट इंडिया कम्पनी की आज्ञा से बैंक ऑफ कलकत्ता की स्थापना हुई। तत्पश्चात् सन् १८४० मे बैंक ऑफ बम्बई एव सन् १८४३ मे बैंक ऑफ मद्रास स्थापित हुये। इनमें सरकार की हिस्सा पूंजी थी। प्रत्येक को पत्र-मुद्रा के चलन का अधिकार दिया गया।

सन् १८६० में सीमित दायित्व के सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त हुई। कोई बैंकिंग विधान न होने से सन् १८६० के बाद तो अनेक बैंकों की स्थापना हुई जिनका प्रबन्ध योरोपियनो के हाथ मे था। सन् १८८१ मे भारतीय प्रबन्ध के अन्तर्गत सर्व-प्रथम अवध कामर्शियल बैंक की स्थापना हुई। सन् १९१३ तक कुल बैंकों की संख्या ५६० तक पहुँच गई थी।

बैंकिंग संकट का काल (१९१३-१९३६)

सन् १९१३ से १९३६ तक देश मे एक व्यापक पैमाने पर बैंकिंग संकट की स्थिति रही। यह सब जानते हैं कि बैंकों का कारोबार जनता के विश्वास पर चलता है। यह विश्वास किसी भी कारण से खंडित होने पर बैंकों के सामने एक विषम परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। जनता को विश्वास होता है कि बैंक मे उनकी जमा सुरक्षित रहेगी और माँगने पर तुरन्त वापिस मिल जायेगी। इसी कारण वह उसके

पास अपना धन जमा कर देती है और आवश्यकता पड़ने पर निकालती है। बैंकों की कार्य-प्रणाली भी ऐसी है कि वह खाते से रुपया चैक द्वारा निकालने की अनुमति देते हैं तथा ऋण भी प्रायः नगद न देकर ऋणी के खाते में रकम जमा कर देते हैं जो फिर चैक या अन्य साखपत्रों द्वारा निकाली जा सकती है। वह जनता के विश्वास पर रकम ऋण के रूप में दे देता है। अतः उसकी देनदारियां उसके नकद कोष से सदैव अधिक होती हैं। स्पष्ट है कि कोई भी बैंक अपने जमाकर्त्ताओं को एकदम उनकी मांग होने पर, उनके कुल जमा-धन को नगद रूप में वापिस नहीं कर सकता है।

जब कभी किसी एक बैंक के सामने ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाय कि उसके जमाकर्त्ताओं की मांग उसके पास उपलब्ध नगद कोष से अधिक हो, तो वह भुगतान नहीं कर पाता और उसे अपने फाटक बन्द करके अपने को दिवालिया घोषित करना पड़ता है। एक बैंक की हालत खराब होने पर जनता के विश्वास को ठेस पहुँचती है और वह अन्य बैंकों से तत्काल रुपया उठाने लगती है। यदि स्थिति संभालने के लिये कोई प्रभावशाली कदम न उठाया जाये, जैसा कि पलाई बैंक के फेल होने पर भारत सरकार व अन्य बैंकों ने किया था, तो "बैंक पर दौड़" का वातावरण उत्पन्न हो जाता है और प्रत्येक बैंक की हालत संकटपूर्ण हो जाती है। यदि उन्हें तत्काल सहायता नहीं मिले तो वे भी टूटने लगते हैं। इसी दशा को 'बैंकिंग संकट" (Banking Crisis) कहते हैं।

भारत में सन् १९१३-१७ का बैंकिंग संकट उक्त प्रकार का ही था; जिसमें ८७ बैंक टूट गये। सन् १९२४ तक यह संख्या बढ़ कर १६१ हो गई। १९३१-३६ के काल में भी औसत रूप से ६४ बैंक टूटे। बैंकिंग संकट काल में जिन कारणों से बैंक टूटे उनमें से कुछ तो उसी काल से सम्बन्धित थे और कुछ बैंकिंग प्रणाली के दोषों के रूप में आज भी उपस्थित हैं। इन कारणों पर नीचे प्रकाश डाला गया है :—

(१) *अयोग्य संचालन*—देश में स्वदेशी आन्दोलन ने भारतीय बैंकों की वृद्धि को प्रोत्साहन दिया। नये बैंकों को अनुभवी एवं योग्य प्रबन्धक नहीं मिल पाये और बैंकिंग सिद्धान्तों की उपेक्षा कर दी गई।

(२) **बैंकों की धोखेबाजी**—बैंक जनता से अपनी वास्तविक स्थिति बढ़ा-चढ़ा कर बताया करते थे। उनकी अधिकृत पूंजी तो बहुत दिखाई जाती थी जबकि प्रार्थित एवं दत्त पूंजी बहुत कम होती थी। वे जनता के डिपाजिटों पर ही निर्भर रहते थे। हिसाब-किताब झूठे तैयार कराते थे, आडिट कभी-कभी कराते थे या झूठी रिपोर्टें लिखवा देते थे।

(४) **अल्पकालीन कोषों का दीर्घकालीन विनियोग**—बैंकों में परस्पर बहुत प्रतियोगिता थी। वे अधिकतर डिपोजिटों पर निर्भर रहते थे। अतः वे ऊँची से ऊँची ब्याज-दर देते थे ताकि जनता से अधिक डिपाजिट उन्हें प्राप्त हो जायें। इस प्रकार उनके व्यय बहुत बढ़ गये थे। यही नहीं, अधिक लाभ कमाने के लोभ में उन्होंने अपने नगद कोषों की मात्रा का ध्यान रखे बिना ही जमा-धन को दीर्घकालीन ऋणों में फंसा दिया। अतः पूंजी की नियमित वापिसी रुक गई और उन्हें दिवालिया होना पड़ा।

(४) **सट्टे के व्यवहारों में विनियोग**—अनेक बैंकों ने अपने कोष सट्टा व्यवसाय में लगा दिये और जब मन्दी आई तो उन्हें बहुत हानि उठानी पड़ी।

(५) **संचालकों की स्वार्थपरता**—कुछ बैंकों के संचालकों ने बैंक के आर्थिक साधनों का प्रयोग निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिये किया। उनके ऋण समय पर वापिस नहीं आ सके।

(६) दुर्भाग्य—कुछ बैंक केवल अपने दुर्भाग्य से ही टूट गये। इनकी संचालन शिथिलता के कारण जनता का विश्वास इन पर से उठ गया और उन्हें दिवालिया होना पड़ा; यद्यपि बाद को डिपाजिटरों को पूर्ण भुगतान मिल गया।

(७) नकद कोष की अपर्याप्तता—कुल जमा की अपेक्षा नगद कोष बहुत कम रखे गये। इस अपर्याप्तता के कारण कुछ बैंक अपने ग्राहकों की मांग सरलता से पूरी नहीं कर सके और टूट गये।

(८) बैंकिंग विधान का अभाव—सन् १६१३ तक भारत में कोई बैंकिंग विधान नहीं था। बैंक अपने को पूर्ण स्वतन्त्र समझते थे। नियंत्रण के अभाव में संकट उत्पन्न हो गया।

(६) शेयर होल्डर की उपेक्षा—शेयर होल्डरों ने बैंक के प्रबन्ध में रुचि नहीं ली, जिससे संचालकों को बेईमानी करने का मौका मिल गया।

(१०) केन्द्रीय बैंक का अभाव—उस काल में देश में कोई केन्द्रीय बैंक नहीं था, जो समय पर देश के बैंकों को उचित परामर्श दे सके, मार्ग दिखा सके एवं सहायता दे सके।

द्वितीय महायुद्ध काल में बैंकिंग
(१६३६–४० से १६४५–४६)

द्वितीय महायुद्ध ने भारतीय बैंकिंग पर गहरा प्रभाव डाला। नीचे इस पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है :—

(१) जमा राशि में वृद्धि—संकट के बादल भारतीय बैंकिंग के सिर से कुछ टले ही थे कि युद्ध प्रारम्भ हो गया। प्रारम्भ में जनता का विश्वास बैंकों में कम हो गया और उसने अपनी जमायें निकालनी प्रारम्भ करदीं। लेकिन धीरे-धीरे उसका विश्वास फिर जमने लगा जिससे १६४१ के बाद बैंकों की जमा राशि बहुत बढ़ गई।

(२) नये बैंक व नई शाखाओं की वृद्धि—सन् १६३६-४६ के बीच बैंकों की संख्या १६५१ से बढ़कर ५५२१ हो गई। लगभग प्रत्येक प्रसिद्ध भारतीय उद्योगपति ने अपना बैंक स्थापित कर लिया। यदि सरकार ने सन् १६४३ में मिश्रित पूंजी की कम्पनियों की स्थापना पर रोक न लगाई होती, तो उक्त संख्या और भी बढ़ जाती।

(३) बैंकों की आय में वृद्धि—एक ओर तो बैंक के कोष बहुत बढ़ गए और दूसरी ओर सरकार, उद्योगपतियों व व्यापारियों को ऋण देने में उन कोषों का उन्होंने खूब प्रयोग किया, जिससे बहुत लाभ हुआ। अधिक डिवीडेन्ड बँटने से उनके शेयरों में सट्टा भी होने लगा।

(४) विनियोग नीति में परिवर्तन—युद्ध के पूर्व बैंक अपनी ५४% जमा को व्यापार व उद्योग-धन्धों में लगाते थे लेकिन सन् १६४६ तक यह प्रतिशत केवल ३२ ही रह गया, क्योंकि व्यवसाइयों को बहुत लाभ होने से उन्हें उधार लेने की आवश्यकता कम रह गई थी। अत: बैंकों ने भी अपना धन या तो नकद कोष में रखना आरम्भ किया अथवा उसे सरकारी प्रतिभूतियों में लगाने लगे।

(५) बैंकिंग का असंतुलित प्रसार—युद्धकाल में जो विस्तार हुआ वह योजनाबद्ध न था। अनेक स्थानों में तो बैंकिंग सुविधायें पहले से ही अधिक होते हुए भी

नई-नई शाखायें व बैंक और भी खुल गए। जिससे वहाँ बैंकों में पारस्परिक प्रतियोगिता बढ़ गई। इसमें छोटे-छोटे बैंक ही अधिक हानि उठाते थे।

(६) सुयोग्य कर्मचारियों का अभाव—युद्धकाल में बैंकों की संख्या में इतनी तेजी से वृद्धि हुई कि योग्य व अनुभवी कर्मचारियों की बहुत कमी हो गई। बड़े व नये बैंकों ने तो ऊँची-ऊँची तनख्वाहें देकर पुराने बैंकों के अनुभवी कर्मचारी नियुक्त कर लिये लेकिन छोटे बैंक ऐसा नहीं कर पाये।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि युद्धकाल में बैंकिंग का विकास स्वस्थ ढंग से नहीं हुआ। प्रमुख दोष निम्न थे—बैंकिंग सेवाओं का असमान वितरण, बैंक के शेयरों में सट्टा, सुरक्षित निधि का प्रयोग लाभांश बाँटने में, बैंकिंग व्यवसाय का नियन्त्रण उन उद्योगपतियों के हाथों में, जिन्हें बैंकिंग की अपेक्षा अन्य व्यवसायों में अधिक रुचि थी तथा योग्य कर्मचारियों की कमी के कारण प्रबन्ध-स्तर गिरना व बैंकों द्वारा अपनी दुर्बलता छिपाने के लिये प्रकाशित हिसाबों में हेर-फेर आदि। इन्हीं दोषों के कारण युद्ध काल में भी बैंकों के टूटने का क्रम जारी रहा। सन् १६३६ में ६०, सन् १६४० में १०२, सन् १६४१, ४२, ४३, ४४, ४५ व ४६ में क्रमशः ७७, ४६, ५१, २२, २६ व २६ बैंक फेल हुए। स्पष्ट ही जैसे-जैसे बैंकों की आर्थिक दशा ठीक होती गई वैसे ही वैसे उनके फेल होने की प्रवृत्ति कम होती गई।

भारत विभाजन का बैंकिंग पर प्रभाव

सन् १६४७ में देश का जो अवांछनीय विभाजन हुआ उसका प्रभाव पंजाब के बैंकों पर अधिक पड़ा। अनिश्चितता के कारण सट्टा व्यवहारों को प्रोत्साहन मिला और इससे अकेले सन् १६४७ में बैंक टूट गये। विभाजन होने ही अनेक बैंकों को पश्चिमी पंजाब में अपनी शाखायें बन्द करनी पड़ीं। थोड़े से बैंकों को छोड़ कर, जिन्होंने विभाजन की वार्ता प्रारम्भ होते ही अपने प्रमुख कार्यालय भारत की ओर हटा लिये थे, शेष बैंकों को अत्यधिक हानि उठानी पड़ी, क्योंकि वे अपने कारोबार को समेट नहीं सके। इस परिस्थिति में बैंकों को अत्यधिक कुप्रभावों से बचाने के लिए निम्न सामयिक कदम उठाये गए—(i) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट में संशोधन करके रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया कि वह अनुसूचित बैंकों तक को उचित प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण दे सकता है। (ii) एक आदेश के अनुसार दिल्ली और पूर्वी पंजाब में प्रधान कार्यालय रखने वाले बैंकों के विरुद्ध तीन माह तक कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती थी। इस काल में बैंक अपने भारत स्थित चालू डिपाजिटों का केवल १०% या २५० रु० (जो भी कम हो) का भुगतान कर सकते थे। (iii) सरकार ने निर्वासित बैंकों को पुनर्वास के लिये १ करोड़ रु० की सहायता दी। (iv) रिजर्व बैंक को किसी भी बैंक का निरीक्षण करने तथा सरकार के प्रति रिपोर्ट देने का अधिकार दिया गया।

बैंकिंग व्यवसाय की वर्तमान स्थिति

देश में बैंकिंग व्यवसाय की वर्तमान दशा का अध्ययन करने के लिये हम रिजर्व बैंक के अनुसूचित बैंक, गैर-अनुसूचित बैंक, सहकारी बैंक, विनिमय बैंक, समाशोधन गृह पद्धति की सुविधायें आदि के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे। अनुसूचित बैंकों में स्टेट बैंक, विनिमय बैंक व अन्य भारतीय सदस्य बैंकों को सम्मिलित किया जाता है।

१९६०-६१ में अनुसूचित बैंकों की संख्या ८४ थी। इनके कार्यालयों की ४,३२६ थी। रिपोर्ट करने वाले गैर-अनुसूचित बैंकों की संख्या सन् १९६१-६२ में २१२ थी। इनकी शाखाओं की संख्या १९६१ के अन्त में ७०० थी। सहकारी साख संस्थाओं की संख्या २ लाख से ऊपर है। देश में ६६ समाशोधन गृह क्रियाशील है।

भारतीय बैंकिंग संगठन के दोष एवं सुधार

भारतीय बैंकिंग प्रणाली के दोष

युद्धोत्तर काल में भारतीय बैंकिंग प्रणाली के अनेक दोष सामने आये, जिनमें से मुख्य इस प्रकार हैं :—(i) अनेक बैंकिंग कम्पनियों (विशेषतः छोटी-छोटी कम्पनियों) का होना, (ii) प्रबन्धकों व अधिकारियों की स्पर्द्धा, (iii) बैंकों के प्रबन्ध में भिन्नता, (iv) व्यापार के तरीकों मे भिन्नता, (v) अचल सम्पत्ति पर बहुत मात्रा में ऋण देना, (vi) अपर्याप्तता प्रतिभूति पर ऋण देना, (vii) अनियोजित ढंग से शाखाओं का विस्तार, (viii) बैंको को अनुचित रूप से अन्य प्रकार के व्यापारो से सम्बन्धित करना और (ix) झूठे आंकड़ों का प्रकाशन।

इन दोषों को दूर करने के लिए दिए गये सुझाव

समय-समय पर रिजर्व बैंक ने देश के बैंकिंग व्यवसाय की जांच करके उसके दोषों को दूर करने के लिए जो सुझाव दिये हैं, वे इस प्रकार हैं :—

(१) प्रबन्ध विषयक सुझाव—योग्य, अनुभवी एवं प्रशिक्षित प्रबन्धकों के अभाव में बैंकों का संचालन ठीक से नहीं हो पाता था व आन्तरिक निरीक्षण और अंकेक्षण में बहुत त्रुटियां रह जाती थी। अत: रिजर्व बैंक ने बैक के कर्मचारियों के शिक्षण व चुनाव मे सावधानी बरतने का सुझाव दिया और कहा कि प्रबन्ध व संचालक ऐसे व्यक्ति होने चाहिये, जो कि बैंक के कार्य में पटु, रुचि लेने वाले व अनुभवी हों।

(२) विनियोग विषयक सुधार—जांच से यह पता लगा था कि बैक सरकारी प्रतिभूतियों में बहुत कम विनियोग करते थे, अपने पास नकद कोष कम रखते थे, ऐसे शेयर खरीद लेते है जो कम बिक्री साध्य होते थे, संचालकों के स्वार्थ वाली कम्पनियों में बिना उचित प्रतिभूति धन लगा दिया जाता था, कुछ बैंकों की सम्पत्ति में तो तरलता का बहुत अभाव था। असूचीबद्ध बैकों की दशा तो बहुत ही खराब थी। अत: रिजर्व बैंक ने समय-समय पर यह सुझाव दिया कि बैंक अपना अधिक से अधिक धन सरकारी प्रतिभूतियों में लगायें।

(३) ऋण-नीति विषयक सुझाव—कुछ बैंक बिना पर्याप्त जाँच किये ऋण दे देते है, पर्याप्त जमानत नहीं लेते, तरलता पर ध्यान नहीं देते तथा अपने साधनों से अधिक ऋण दे देते हैं। रिजर्व बैंक ने सुझाव दिया कि उन्हे ऋणी की आर्थिक दशा की भली प्रकार परीक्षा कर लेनी चाहिये, अचल सम्पत्ति पर कम ऋण देना चाहिए व जोखिम का विभिन्न व्यवसायों व स्थानों में उचित बंटवारा करना चाहिए। अब तो नये बैंकिंग विधान ने बैंकों को न्यूनतम नकद कोष रखना अनिवार्य कर दिया है।

(४) लाभ-विभाजन विषयक सुझाव—अनेक बैंक अपने अधिकांश लाभ को डिवीडेन्ड के रूप मे बांट देते थे, रक्षित कोष बढ़ाने पर कम ध्यान देते थे जिससे

उनकी आर्थिक स्थिति दृढ़ नहीं हो पाती थी। नये विधान ने यह आवश्यक कर दिया कि प्रत्येक बेंक अपने लाभ का २०% भाग रक्षित कोष में अनिवार्यत: जमा करे, जब तक कि वह दत्त पूंजी के बराबर न हो जाय। रिजर्व बेंक का सुझाव यह है कि बेंकों को इस न्यूनतम सीमा से भी अधिक सुरक्षित कोष रखने चाहिए तथा अशोध्य ऋणों व सम्पत्ति की घिसाई के लिए पर्याप्त आयोजन कर लेना चाहिए।

(५) नई शाखाओं की स्थापना से सम्बन्धित सुझाव—ग्रामीण बेंकिग जाँच समिति का यह सुझाव था (जिसे रिजर्व बेंक ने अब अपना रखा है) कि नई शाखायें खोलने की अपेक्षा वर्तमान बेंकिग व्यवस्था को ही दृढ़ आधार पर रखना चाहिए। ग्रामीण क्षेत्रों व छोटे-छोटे नगरों में अच्छे बेंक अपनी शाखायें खोलें, बेंकिग प्रसार व्ययपूर्ण तरीके से न हो और प्रतियोगिता उत्पन्न नहीं होनी चाहिए।

(६) बेंकिग रीतियों से सम्बन्धित सुझाव—बेंकों को चाहिए कि ठोस बेंकिग के सिद्धान्तों को समुचित पालन करें जिससे देश में स्वस्थ बेंकिग का विकास हो।

व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण

राष्ट्रीय जीवन में बेंकों का बहुत महत्व है। अत: कुछ समय से इनका राष्ट्रीयकरण करने की आवाज प्रबलता से उठाई जाने लगी है।

बेंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में तर्क

बैंकों का राष्ट्रीयकरण निम्न कारणों से उचित ठहराया जाता है—

(१) साख का राष्ट्र हित में प्रयोग—जहाँ साख से बहुत लाभ होता है वहाँ बहुत हानि भी। अत: इस पर राष्ट्र का नियन्त्रण होना चाहिए ताकि व्यक्तिगत स्वार्थ में इसका प्रयोग न हो सके। यह केवल राष्ट्रीयकरण द्वारा ही सम्भव है।

(२) व्यापार चक्रों के प्रभाव में कमी—बेंकों की दोषपूर्ण नीति के कारण व्यापार चक्रों का जन्म होता है। यदि ये समुचित नीति अपनायें, तो व्यापार चक्रों का जन्म होगा और हुआ भी तो उनकी क्रूरता में कमी आ जायेगी। बेंको को समुचित नीति पर चलाने के लिये राष्ट्रीयकरण आवश्यक है।

(३) अनुचित प्रतियोगिता में कमी—राष्ट्रीयकरण हो जाने पर सभी बेंक एक समान नीति अपनायेंगे, प्रतियोगिता समाप्त हो जायेगी व जनता का विश्वास बढ़ेगा।

(४) लाभों का उपयोग समाज के लिये—बेंक जनता के धन से और उसके विश्वास का आधार लेकर कारोबार करते हैं तथा लाभ उठाते हैं। अत: यह उचित है कि इनके लाभ का प्रयोग जनहित में होना चाहिये व्यक्तिगत हित के लिये नहीं। ऐसा राष्ट्रीयकरण के अन्तर्गत ही सम्भव है।

(५) भारतीय बेंकिग की निजी विशेषतायें—भारतीय बेंकिग की कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जिनके कारण इसके स्वस्थ विकास के लिये राष्ट्रीयकरण करना बहुत आवश्यक है, जैसे—जनता का बेंकों में विश्वास कम हो जाना व्यापारिक बेंकों की प्रधानता, विनिमय बेंकों पर विदेशी प्रभुत्व तथा औद्योगिक कृषि साख का न्यून विकास।

राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में तर्क

बैंकों के राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध निम्न तर्क दिये जाते हैं :—

(१) राजकीय व्यवसाय की अकुशलता—सरकारी व्यवस्था में लालफीताशाही का जोर रहता है, भाई-भतीजावाद व भ्रष्टाचार भी पनपता है, लोच व मितव्ययिता की कमी होती है।

(२) योग्य कर्मचारियों का अभाव—देश में योग्य बैंक-कर्मचारियों का अभाव है। अतः सरकार राष्ट्रीयकृत का सुचारु रूप से संचालन नहीं कर सकेगी।

वैसे तो बैंकों का राष्ट्रीयकरण उचित है और इम्पीरियल बैंक तथा रिजर्व बैंक का तो राष्ट्रीयकरण तो हो भी गया है लेकिन वर्तमान परिस्थितियों में सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली का राष्ट्रीयकरण करना बुद्धिमत्तापूर्ण न होगा। इससे देशी व विदेशी पूँजी उद्योगों के लिए उपलब्ध नहीं हो पायेगी, क्योंकि पूँजीपतियों का भय का वातावरण उत्पन्न हो जायेगा। फल यह होगा कि हमारी विकास योजनायें पूँजी के अभाव में ठप्प हो जायेंगी। यही कारण है कि सरकार ने राष्ट्रीयकरण के बजाय बैंकों पर कड़े नियन्त्रण की नीति अपनाई है।

बैंकों का एकीकरण

'बैंकों के एकीकरण' से आशय

बैंकों के एकीकरण का अभिप्राय दो बैंकों द्वारा अपना कारोबार मिला लेने और भविष्य में एक इकाई के रूप में कारोबार चलाने से है। कभी-कभी ऐसा होता है कि दो या अधिक बैंकों के मिलने से एक नई संस्था का जन्म होता है और पुराने बैंकों का अस्तित्व नहीं रहता और कभी-कभी छोटे बैंक बड़े बैंक में मिल जाते हैं और बड़ा बैंक अपने नाम से ही कारोबार जारी रखता है। एकीकरण के पहले रूप का उदाहरण है सन् १६२१ में तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिलाकर इम्पीरियल बैंक का निर्माण, जबकि दूसरे रूप का उदाहरण हैं अभी हाल में ही ४०० छोटे-छोटे बैंकों का स्टेट बैंक ऑफ इन्डिया में मिलाया जाना।

एकीकरण के गुण-दोष

एकीकरण के निम्न गुण बताये जाते हैं :—(i) विशेषज्ञों का अभाव दूर होना, (ii) प्रतियोगिता कम होना, (iii) बड़े पैमाने के संगठन के लाभ होना, (iv) नगद कोषों के उपयोग में किफायत, (v) बैंकिंग सम्बन्धी जोखिम का प्रादेशिक वितरण, (vi) आर्थिक संकटों का सामना करने में सरलता, (vii) केन्द्रीय बैंक को निरीक्षण में सुविधा।

कुछ दोष इस प्रकार हैं—(i) आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण, (ii) रोजगार का संकुचन, (iii) बड़े पैमाने पर संगठन के दोष, (iv) भ्रष्टाचार व सट्टा व्यवहार को अवसर, (v) जनता के शोषण की सम्भावना।

भारतीय बैंकिंग की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

भारतीय बैंकिंग की कुछ आधुनिक प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं—(i) देश के केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है; (ii) इम्पीरियल बैंक को स्टेट बैंक में परिणित कर दिया गया है ताकि कृषि-साख की समुचित व्यवस्था हो सके;

(iii) भारतीय बैंकों को सुदृढ़ करने के लिए सरकार व रिजर्व बैंक ने बैंकों के एकीकरण को मान्यता दी है, जैसे भारत बैंक को पंजाब नेशनल बैंक में मिलाया गया; (iv) बैंकिंग व्यवस्था के उचित विकास व नियन्त्रण के लिए बैंकिंग कम्पनीज एक्ट १६४६ में बनाया गया, जिसमें समय-समय पर आवश्यक संशोधन होते रहते हैं, (v) रिजर्व बैंक बैंकिंग शिक्षा के उचित आयोजन पर भी ध्यान दे रहा है। उसने एक स्टाफ ट्रेनिंग कालिज भी स्थापित किया है और (vi) बैंकों द्वारा अपनी पूंजी बढ़ाने के लिये प्रयत्न किये जा रहे है। (vii) केन्द्रीय सरकार ने बैंकों में जमा धन के बीमे (Deposit Insurance) के लिये एक निगम स्थापित किया है। यह निगम एक स्वशासी संस्था होगी और इसकी चुकता पूंजी एक करोड़ रु० होगी। पूरी पूंजी रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया लगायेगा। निगम के **निदेशक मंडल के पांच** सदस्य होंगे और रिजर्व बैंक आफ इंडिया के गवर्नर इसके अध्यक्ष होंगे। निगम के अधिनियम में यह व्यवस्था की गयी है कि निगम बनने के एक महीने के भीतर सब बैंक निगम में अपना नाम रजिस्टर कराएं। आशा है कि सब २६३ बैंक जो कि नियम के अन्तर्गत बीमा करा सकते हैं, निर्धारित अवधि में, निगम में अपना नाम रजिस्टर करा लेंगे।

बैंकों में जमा पूंजी के बीमे की व्यवस्था (१ जनवरी १६६२ से लागू)

आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में बैंकों का महत्व अद्वितीय है। वे जनता के अतिरिक्त धन को गति प्रदान करते हैं, साखपत्रों एवं चलन को संगठित करते हैं, और राशि-स्थानान्तरण की सुविधा प्रदान कर औद्योगिक और व्यापारिक कार्यों में उसे विनियोजित करते हैं सुरक्षा के साधनों को प्रोत्साहित कर जनता में बचत की आदत निर्माण कर पूंजी-निर्माण को प्रोत्साहन देते हैं। राजकीय अर्थ-प्रबंधन में बैंकों का बहुत महत्व है। वास्तव में वे मौद्रिक सौरमंडल के सूर्य के समान है। संतुलित आर्थिक विकास के लिए उनका महत्व किसी से छिपा नहीं है।

सारी बैंकिंग व्यवस्था अंग्रेजी के चार एम पर निर्भर है—'मेन्स मनी मैनेजर्स माइंड'। मतलब यह कि जनता का रुपया कुशलता और विवेक के साथ विनियोग किया जाना चाहिए। इस बात पर बैंकों की प्रगति भी निर्भर रहती है। बैंक में जो रुपया आता है उसी में से बैंकों को अपना खर्च निकालकर और जमाकर्त्ताओं को ब्याज देकर लाभ कमाना पड़ता है। अत: "विभिन्न स्रोतों में रुपया कैसे और कितना विनियोग किया जाए" इस बात का विवेकपूर्ण निर्णय बैंकों की सफलता का निर्देशक है। बैंकों को कई तरह से रुपया प्राप्त होता है, जैसे अंशों और ऋणपत्रों के निर्गमन द्वारा, जनता से ऋण लेकर या जमा के रूप में। बैंक विभिन्न वर्गों की मनोवृत्ति को ध्यान में रखते हुए अपने पास चल लेखे, स्थायी निक्षेप और बचत लेखे द्वारा राशि आकर्षित करते हैं और उसे चलता रखकर लाभ कमाते हैं।

यहां एक बात बताना आवश्यक है कि बैंक विश्वास पर ही कार्य करते हैं, जैसे ही विश्वास हटता है वैसे ही बैंकों पर विपत्ति टूट पड़ती है और लोग अपना रुपया बैंकों से निकालना प्रारम्भ कर देते हैं। भारतीय बैंकिंग इतिहास में सन् १६१३-१७ का बैंकिंग संकट उदाहरणस्वरूप है। एक बैंक डूबने से अन्य मजबूत बैंकों पर भी कठिनाई आ जाती है, क्योंकि बैंकिंग ढांचे की तुलना एक ताश के मकान से की गई। यदि ताश का एक पत्ता अलग कर दिया जाय तो सारा महल ढह जाता है। भारत में जुलाई १६६० में पलाई बैंक और लक्ष्मी बैंक फेल हो जाने से चारों ओर अनिश्चितता का वातावरण छा गया और लोगों का विश्वास बैंकों पर से कम होने

लगा। अतः चारों ओर से जमाकर्त्ताओं की सुरक्षा के लिए माँग की जा रही है। जमा राशि का महत्व भारत में बढ़ता ही जा रहा है, यह निम्न तालिका से स्पष्ट है :

सन्	करोड़ रुपया
१९५५	९९३·६
१९५६	१०७४·८
१९५७	१३४७·६
१९५८	१५४१·३
१९६०	१८३०·६

उपर्युक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय बचत का अधिकांश भाग बैंक आवर्पित करते हैं। सन् १९५०-५१ में कुल बचत का २·६१ प्रतिशत भाग बैंकों ने आवर्पित किया था, जबकि १९६०-६१ में यही ३० प्रतिशत हो गया। बैंकों का राष्ट्रीय महत्व भी बढ़ता जा रहा है। सन १९५०-५१ मे सूचीबद्ध बैंकों के कुल निक्षेप राष्ट्रीय आय का ९·३ प्रतिशत थे, जबकि १९६० में यह प्रतिशत १५ प्रतिशत होगया। अन्य देशों की तुलना में यह बहुत कम है। अन्य देशों में राष्ट्रीय आय का निम्न प्रतिशत बैंक-निक्षेप के रूप में होता है :—

भारत	१५	प्रतिशत
अमरीका	४२·२५	,,
ब्रिटेन	३२·१२	,,
जर्मनी	३६·३०	,,
जापान	६०·८०	,,

भारत में अधिकोषण विकास के लिए बहुत क्षेत्र है। तृतीय पंचवर्षीय योजना में छोटे उद्योगों, संगठित उद्योगों और खनिज उद्योगों पर २९९५ करोड़ रुपया व्यय होगा। अतः रिजर्व बैंक के एक अनुमान के अनुसार व्यापारिक बैंकों का कार्यभार दुगुना हो जाएगा; अर्थात् निक्षेप की मात्रा ३३८८ करोड हो जाएगी। यदि जनता की इस पसीने की कमाई की सुरक्षा नहीं होती तो पूंजी-निर्माण मंद पड़ जाएगा और अर्थ-व्यवस्था ग्रस्त-व्यस्त हो जाएगी। इसी दृष्टिकोण को ध्यान मे रखते हुए जमा राशि के बीमे की माँग की जा रही है।

अमरीका में सर्वप्रथम यह योजना प्रथम महायुद्धोपरांत मंदी में प्रारम्भ हुई। वहाँ एक फेडरल डिपाजिट इंश्योरेंस कार्पोरेशन की स्थापना की गई जो कि सदस्य-बैंकों पर प्रतिवर्ष १ प्रतिशत का १।१२ की दर से प्रीमियम लेता है। प्रति निक्षेप अधिकतम १०,००० डालर का होना चाहिए। भारत की भाँति अमरीका मे भी बैंक फेल होते आए हैं। अतः इस बीमा योजना से तीन लाभ होंगे; (१) बैंकों में विश्वास मजबूत होकर रुपया निकालने की हड़बड़ी रुकेगी और बैंकों का दिवाला निकलने की नौबत नहीं आएगी; (२) बैंक फेल हो जाने पर भी रुपया चलन मे बना रहेगा; (३) बैंकों से हड़बड़ी में एकदम रुपया निकाले जाने का भय कम होकर बैंकों की व्यवस्था सुदृढ़ होगी।

आज से ग्यारह वर्ष पूर्व ग्रामीण अधिकोषण जाँच समिति (अध्यक्ष श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास) ने जमा बीमा योजना की सिफारिश की थी। उसके तीन वर्ष

पश्चात् श्राफ-कमेटी ने भी इसकी सिफारिश की। लेकिन कुछ बड़े बैंकों ने इसका विरोध किया और यह तर्क रखा कि अच्छे बैंकों के लिए बीमा उपयोगी नहीं है। यह तो निम्न कोटि के बैंकों को सहारा देना है। बैंकों पर आर्थिक भार है। परन्तु ये सभी तर्क गलत हैं। वास्तव में जमा बीमा द्वारा थोड़े से खर्च में जमाकर्त्ताओं का विश्वास सम्पादन किया जा सकता है, जिससे देश में बैंकों का संगठित विकास होगा।

सौभाग्य से ३१ अगस्त १९६१ को लोकसभा में एक डिपाजिट इंश्योरेंस कार्पोरेशन बिल रखा गया जिसे वित्त मंत्री श्री देसाई ने पेश किया था। इसके अनुसार एक "जमा बीमा प्रमण्डल" की स्थापना १ करोड़ रुपए की पूंजी से की जाएगी जो सब सरकारी होगी। इसका प्रधान कार्यालय बम्बई में होगा। प्रमंडल अधिकारी जमा को छोड़कर सभी व्यापारिक बैंकों और स्टेट बैंक की जमा राशि का बीमा करेगा। प्रति जमा की अधिकतम रकम १५०० रुपया होगी, परन्तु इसमें केन्द्रीय सरकार की अनुमति से परिवर्तन हो सकेगा। प्रीमियम की अधिकतम दर १५ नए पैसे प्रति १०० रुपया वार्षिक होगी। प्रीमियम न दे सकने पर उस पर ८ प्रतिशत ब्याज भी लगाया जाएगा। प्रमंडल-स्थापना के ३० दिन के अंदर प्रत्येक बैंक को अपना पंजीयन उसके पास कराना होगा।

प्रमंडल का प्रबंध एक संचालन-सभा करेगी जिसमें निम्नलिखित व्यक्ति हैं :—

१ अध्यक्ष (रिजर्व बैंक का गवर्नर)।
१ रिजर्व बैंक का डिप्टी गवर्नर।
१ केन्द्रीय सरकार का अधिकारी।
२ व्यक्ति अन्य जिन्हे वित्त का अनुभव हो (चुनाव केन्द्रीय सरकार करेगी)।

इसके अतिरिक्त बिल में रुपया भुगतान की पद्धति आदि का भी वर्णन है। प्रमंडल मे २ फंड बनाए जाएंगे—(१) जमा बीमा फंड और (२) सामान्य फंड। पहले फंड का उपयोग जमा राशि के दायित्व का भुगतान करने मे होगा। अन्य रुपया सामान्य फंड में जमा होगा। प्रमंडल को बीमा की हुई बैंक पर बहुत अधिकार है। वह किसी भी समय जानकारी मांग सकता है और जाँच करवा सकता है। गलत सूचना देने पर तीन साल का कारावास है। प्रमंडल की आय पर किसी प्रकार का आयकर, सुपर टैक्स आदि प्रथम पांच वर्षों तक नही लगेगा।

बैंकों द्वारा पूंजी बढ़ाने के प्रयत्न

१९६१ का वर्ष भारतीय बैंकों की दृष्टि से बहुत लाभकारी सिद्ध हुआ है। बैंकों पर लोगों का विश्वास पहले की अपेक्षा बहुत जम गया है और इसके परिणाम-स्वरूप बैंकों में काफी रुपए जमा हुए हैं और बैंक भी उद्योगों को अधिक दर पर रुपया दे सके हैं। बैंकों मे गत वर्ष की अपेक्षा ६४·५४ करोड़ रुपया अधिक जमा हुआ है। कुल १८२३·४६ करोड़ रुपया बैंकों में जमा हुए हैं। १९६० में बैंकों ने उद्योग व व्यापार को ११७१·०६ करोड़ रुपया दिया था और १९६१ में १२७५·२९ करोड़ रुपया दिया। बिलों की खरीद मे भी बैंकों को काफी लाभ हुआ है।

रिजर्व बैंक ने सब बैंकों को यह सलाह दी थी कि वे जमा रकम के अनुपात मे अपनी प्रदत्त पूंजी और रिजर्व की मात्रा पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ा दें, और यह भी धमकी दी थी कि सरकार इस सम्बन्ध मे कोई कानूनी कार्यवाही भी करेगी। रिजर्व बैंक के गवर्नर श्री अय्यंगार ने बताया था कि पिछले १० वर्षों मे देश की

समृद्धि के परिणामस्वरूप बैंकों में डिपाजिट बहुत बढ़ गए हैं और डिपाजिटों के साथ प्रदत्त पूंजी का अनुपात ९ प्रतिशत से गिरकर पिछले १० वर्षों में केवल ५ प्रतिशत रह गया है। जनता का विश्वास सम्पादन करने के लिए यह आवश्यक है कि इस अनुपात को फिर बढ़ाया जाए। इस विश्वास को पुन: सम्पादन करने की आवश्यकता है और इसलिए जनता से लिये हुए धन का कम से कम ६ प्रतिशत प्रदत्त पूंजी और प्रकाशित रिजर्व होना चाहिए जब तक यह न हो जाए, उन्हें अपने घोषित लाभ का २० प्रतिशत रिजर्व फण्ड में डालते रहना चाहिए।

बैंकों ने रिजर्व बैंक से यह अनुरोध किया था कि इस सम्बन्ध में कोई कानून न बनाया जाय, बैंक स्वयं ही इस सम्बन्ध में सरकार की इच्छा पूरी करने का प्रयत्न करेंगे। अब से दो महीने बाद रिजर्व बैंक के गवर्नर श्री अय्यंगार ने एक सर्कुलर द्वारा बैंक एसोसियेशन के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया है। इसका अर्थ यह है कि अब किसी कानून के द्वारा बैंकों पर कोई प्रतिबन्ध न लगाया जाएगा। किन्तु इसका यह भी अर्थ है कि बैंकों का अपना उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है और यह आशा की जानी चाहिए कि बैंक कानून का प्रतिबन्ध न होते हुए भी जल्दी से जल्दी अपनी पूंजी और प्रदत्त शेयर बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे। (*बैंक ऑफ इंडिया और पंजाब नेशनल बैंक आदि ने नये शेयर जारी कराने शुरू कर कर दिए हैं*)

क्या बैंक अपनी ब्याज दरें बढ़ायें ?

बम्बई में १६ फरवरी १९६२ को एक महत्वपूर्ण सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन का मुख्य कार्य बैंकों के ब्याज दर में परिवर्तन पर विचार करना था। अभी रिजर्व बैंक के परामर्श पर बैंकों की आपस में प्रतिस्पर्धा रोकने के लिए एक समझौते पर पालन हो रहा है। इसका आशय यह है कि बैंक डिपाजिट या जमा रकम पर एक नियत दर से अधिक ब्याज न दें। इस प्रतिबन्ध का लाभ बड़े बैंकों को मिलता है। मध्यवर्गीय बैंक लोगों को अधिक आकर्षक दर नहीं दे सकते। इसलिए वे यह मांग कर रहे थे कि हमें बड़े बैंकों की अपेक्षा अधिक ब्याज देने का अधिकार मिले। इस सम्बन्ध में दो-तीन बातें विचारणीय हैं—एक तो यह कि बैंकों ने उद्योगों को रुपया देने के लिए ब्याज दरें बहुत बढ़ा ली हैं, परन्तु जमा कराने या डिपाजिटों पर उनकी ब्याज दर यथापूर्व है। इसके परिणामस्वरूप बैंकों के लाभ बहुत बढ़ गए हैं और इसका कोई लाभ जमा करानेवालों को नहीं मिल रहा। दूसरी बात यह है कि अधिक ब्याज दर के प्रलोभन में लोग मियादी डिपाजिट में रुपया जमा कराने लगे हैं, यदि साधारण डिपाजिट पर भी ब्याज दर बढ़ा दी जाए, तो बैंकों को रुपए की दिक्कत न रहे और वे उद्योगों को अधिक सुविधा से रुपया दे सकेंगे। इस सम्बन्ध में तीसरी विचारणीय बात यह कि बड़े और छोटे बैंकों की परिभाषा क्या हो? ७५ करोड़ से १०० या १२५ करोड़ रुपये तक डिपाजिट रखने वाले यदि मध्यवर्गी माने जाएं तो ५ बड़े बैंकों में से २ बैंक ऐसे हैं जिनके डिपाजिट सौ-सौ करोड़ रुपए से भी कम हैं। कुछ मध्यवर्गीय बैंकों का विचार यह है कि ७५ करोड़ रुपये से कम डिपाजिट वाले बैंकों को अधिक ब्याज देने का अधिकार होना चाहिए। कुछ छोटे बैंक हैं जो सवा पांच करोड़ रुपये तक के डिपाजिट रखते है, उनको और भी अधिक ब्याज दर देने का निश्चय करना होगा। इसी सम्बन्ध में एक प्रश्न विदेशी बैंकों का भी खड़ा हो जाता है जिनकी शाखाएं भारत में स्थापित है, परन्तु जिनके भारत में डिपाजिट कम हैं या उन्हें भी अधिक ब्याज दर की सुविधा दी जाए? भारतीय बैंक उन्हें कोई सुविधा देने के विरुद्ध है, क्योंकि उनके शेष देशों में कुल डिपाजिट बहुत अधिक होते हैं।

१६ फरवरी की बैठक में बैंकों के प्रमुख अधिकारियों ने इस प्रश्न पर काफी विचार किया, और मध्यवर्गीय बैंकों की मांग को सिद्धान्त रूप से स्वीकार कर लिया गया। बड़े, मध्यवर्गीय और छोटे सभी बैंक इस बात पर सहमत हो गए कि ब्याज दर में कुछ न कुछ अन्तर रहना चाहिए। किन्तु यह प्रश्न अभी तक निश्चित नहीं हुआ कि मध्यवर्गीय बैंकों की परिभाषा क्या की जाए। सब सम्बद्ध प्रश्नों पर विचार के लिए एक कमेटी नियत की गई थी। इस कमेटी के निर्णय पर ही अन्तिम रूप से यह निर्भर करता है कि बैंकों का यह आपसी समझौता किस तरह चलेगा। तथापि सिद्धान्त रूप से विभिन्न ब्याज दरों की स्वीकृति से यह समस्या कुछ हल अवश्य हो गई है।

कुछ बैंक ब्याज दर बढ़ाने के ही विरुद्ध हैं। उनकी युक्तियाँ मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं :—

(१) यदि ब्याज दर बढ़ा दी जाए तो बैंकों के लाभ कम हो जायेंगे जबकि उन्हें अपनी अधिक शाखायें खोलने और अधिक रिजर्व फण्ड जमा करने के लिए अधिक लाभ की आवश्यकता है।

(२) यदि ब्याज दर कुछ बढ़ भी गई तो इससे डिपाजिटरों को कोई विशेष लाभ नहीं होगा, क्योंकि यह ब्याज उनकी आमदनी का एक बहुत छोटा अंश होता है।

(३) यदि ब्याज दर बढ़ा दी जाए तो बैंक भी उद्योगों को दिये अपने ऋण पर ब्याज दर बढ़ा देंगे और इसका परिणाम उत्पादन-व्यय में वृद्धि होगा और तब सरकार को भी हस्तक्षेप करने का एक अवसर मिल जाएगा।

(४) बैंकों में ब्याज दर की वृद्धि सरकार को भी ब्याज दर में वृद्धि के लिए प्रेरित करेगी और तब सरकार नये टैक्स लगाने को विवश होगी।

(५) बैंकों में ब्याज दर की वृद्धि का एक परिणाम यह भी होगा कि विभिन्न उद्योग जनता से लिये गये ऋण पर अपनी ब्याज दरें प्रतिस्पर्धा में बढ़ा देंगे।

इन सब युक्तियों के बावजूद बड़े बैंकों ने यह उचित समझा है कि उन्हें आपस में ही समझौता कर लेना चाहिये, ताकि सरकार या रिजर्व बैंक को हस्तक्षेप करने का अवसर न मिले। इसीलिए १६ फरवरी की बैठक में विभिन्न ब्याज दरों का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया है। पर असली विवाद तो तब खड़ा होगा जब बड़े और मध्यम वर्ग के बैंकों की परिभाषा की जाएगी। वह परिभाषा कितने बैंकों के लिए अनुकूल या प्रतिकूल होगी, इस पर आपसी समझौता निर्भर करता है। ईस्टर्न इकनामिस्ट ने तीसरी पंचवर्षीय योजना के लिये अधिकाधिक धन एकत्रित करने के उद्देश्य से विभिन्न ब्याजदरों का सिद्धान्त स्वीकार करते हुए भी सामान्यतः २ प्रतिशत ब्याज दर बढ़ाने की सम्मति दी है। उसका कहना है, कि इस प्रश्न पर बैंकों को अपने निजी स्वार्थ की दृष्टि से नहीं, समस्त देश के हित की दृष्टि से विचार करना चाहिये और वह हित यह अपेक्षा करता है कि राष्ट्र का धन अधिकाधिक मात्रा में बैंकों के द्वारा निर्माण कार्यों में विनियोजित हो। इसी दृष्टि से ब्याज दर का निर्धारण होना चाहिए और उसे बढ़ाने में संकोच नहीं करना चाहिए।

भारतीय बैंकिंग का भविष्य

भारत एक पिछड़ा हुआ किन्तु विस्तृत देश है जहाँ आर्थिक विकास की विशाल योजनायें कार्यान्वित की जा रही हैं। ऐसी दशा में भारतीय बैंकिंग का भविष्य

बहुत उज्ज्वल है। कर्मचारियों की प्रशिक्षण सुविधायें बढ़ाने के साथ सुयोग्य प्रबन्धकों व कर्मचारियों की कमी दूर होने लगेगी तथा बैंको का स्वस्थ विकास होता जायेगा।

परीक्षा प्रश्न

(१) भारत में बैंकों के विकास का संक्षिप्त इतिहास लिखिये तथा दोषों पर प्रकाश डालते हुये सुधार के उपाय बताइये।

(२) भारतीय बैंकिंग की आधुनिक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिये। क्या इसका भविष्य उज्ज्वल है?

(३) क्या भारतीय बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण करना उचित होगा? यदि नहीं, तो क्यों?

(४) 'बैंकों' के एकीकरण से क्या आशय है? इसके गुण-दोषों पर प्रकाश डालिये।

(५) 'बैंकिंग संकट' से क्या आशय है? भारत मे बार-बार बैंकों के असफल होने के कारणों व उपचारों का विवेचन कीजिये।

(६) द्वितीय महायुद्ध एवं तत्पश्चात् भारत विभाजन का भारतीय बैंकिंग पर क्या प्रभाव हुआ? संक्षेप में बताइये।

(७) भारतीय बैंकिंग की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालिये।

(८) क्या बैंकों को अपनी ब्याज दरें बढ़ानी चाहिये? यदि नहीं, तो क्यों? इस सम्बन्ध में अपने सुझाव भी दीजिये।

(९) बैंकों द्वारा पूंजी बढ़ाने की समस्या पर अपने विचार प्रगट कीजिये।

(१०) बैंकों में जमा पूंजी के बीमे की क्या आवश्यकता है? उसके लिये भारत में क्या व्यवस्था की गई है।

अध्याय २

भारत में बैंकिंग विधान
(Banking Legislation in India)

प्रारम्भिक

समय-समय पर बनाये गये बैंकिंग सम्बन्धी नियमों की अस्पष्टता के कारण और युद्धकालीन परिस्थितियों के कारण भारतीय बैंकिंग मे जो अनेक दोष आगये थे उन्हें दूर करने के लिये कई असफल प्रयत्नों के बाद अन्ततः बैंकिंग कम्पनीज एक्ट, १९४९, बनाया गया। इसने बैंकिंग व्यवस्था मे पर्याप्त सुधार किया और कुछ दोष अब भी छूट गये हैं। सामयिक संशोधनों के द्वारा इन्हे भी समाप्त करने का यत्न किया जाता है।

बैंकिंग विधान में नवीन संशोधन

बैंकिंग विधान पास होने के कुछ समय बाद सन् १९५० व सन् १९५३ में संशोधन किये गये, जिनका उद्देश्य उक्त विधान के कुछ अनुभव-जनित दोषों को दूर करना था। इन संशोधनों के अनुसार बैंक अपनी माँग-देय व काल-देय के ७५% भाग से सम्बन्धित तमाम या इसके कुछ भाग की प्रतिभूतियाँ भारत के बाहर भी रख सकता है, एकीकरण योजना पर रिजर्व बैंक को अन्तिम निर्णय देने का अधिकार प्राप्त हो गया है, रिजर्व बैंक टूटने वाले बैंक के दोषी व्यक्तियों को दण्डित कर सकता है, बैंक अपने ऋणदाताओं से रिजर्व बैंक की पूर्व अनुमति के बिना कोई समझौता कार्यान्वित नही कर सकता, छोटे-छोटे जमाकर्त्ताओं को एक निश्चित रकम तक के भुगतान मे प्राथमिकता दी जाएगी एवं न्यायालय व सरकार टूटने वाले बैंकों का रिजर्व बैंक द्वारा निरीक्षण करा सकती है, आदि।

बैंकिंग कम्पनीज एक्ट, १९४९ के द्वारा किये गये सुधार

मुख्य-मुख्य सुधार निम्नलिखित हैं :—

(i) **बैंकों की स्पष्ट परिभाषा**—प्रथम बार बैंक सम्बन्धी एक स्पष्ट परिभाषा दी गई है।

(ii) **प्रत्यक्ष व्यापार पर रोक**—बैंकों के प्रत्यक्ष व्यापार करने का निषेध किया गया है अर्थात् कोई भी बैंक ७ वर्ष से अधिक के लिए रिजर्व बैंक की अनुमति

के बिना कोई अचल सम्पत्ति नहीं रख सकता, सहायक कम्पनी स्थापित नहीं कर सकता तथा एक सीमा से अधिक शेयर नहीं खरीद सकता।

(iii) प्रबन्ध में सुधार—बैंकों में मैनेजिंग एजेन्ट नही रखे जा सकते। दिवालिया या सजायापता व्यक्तियों की बैंक में नियुक्ति नही हो सकती है। संचालक भी ऐसे ही व्यक्ति रखे जा सकते हैं जो कि अन्य कम्पनी या बैंक में संचालक नही है।

(iv) अनिवार्य दत्त पूंजी व कोष—प्रत्येक बैंक के लिए अपने कार्यक्षेत्र व शाखाओं के अनुसार एक न्यूनतम मात्रा में दत्त (Paid-up) पूंजी व कोष रखना अनिवार्य है।

(v) वोट का अधिकार—शेयर होल्डरों को अपनी पूंजी के अनुपात में वोट देने का अधिकार होगा लेकिन मतदान शक्ति के केन्द्रीयकरण को रोकने के लिए यह नियम बना दिया गया है कि एक शेयर होल्डर कुल मतदान के ५% से अधिक वोट नहीं रख सकता।

(vi) सुरक्षित कोष का निर्माण—जब तक बैंक का सुरक्षित कोष दत्त पूंजी के बराबर न हो जाय तब तक उसे २०% लाभ कोष में ट्रान्सफर करना होगा।

(vii) नगद कोष एवं सम्पत्ति—ग्राहकों को भुगतान की गारन्टी स्वरूप सूचीबद्ध एवं असूचित बैंकों को एक न्यूनतम नक्द कोष रखना आवश्यक कर दिया गया है और कुल देयता के कम से कम ७५% के बराबर सम्पत्ति भारत में (संशोधन के अनुसार विदेशों में भी) रखनी होगी।

(viii) शाखायें खोलने पर रोक—देश-विदेश में नई शाखाओं की स्थापना या पुरानी शाखाओं का स्थानान्तरण रिजर्व बैंक की अनुमति से ही सम्भव है।

(ix) ऋणों पर प्रतिबन्ध—कोई भी बैंक उचित प्रतिभूति रखे बिना अपने संचालकों को ऋण नहीं दे सकता। अपने ही अंशों की प्रतिभूति पर भी वह कोई ऋण नहीं दे सकता। अपनी ऋण-नीति को रिजर्व बैंक के निर्देशानुसार बनाना पड़ता है।

(x) बैंकों का एकीकरण—यह व्यवस्था भी रखी गई है ताकि दुर्बल एवं अकुशल इकाइयों की स्थिति में सुधार हो सके।

(xi) छोटे-छोटे जमाकर्त्ताओं की सुविधा—इसके लिये एक निश्चित रकम तक उन्हें भुगतान में प्राथमिकता दी गई है।

(xii) रिजर्व बैंक को विशेष अधिकार—देश में बैंकिंग व्यवस्था को सुगठित करने के लिये बैंकिंग विधान ने रिजर्व बैंक को अनेक विशेष अधिकार प्रदान किये हैं, जिन्हें सावधानी से प्रयोग करके उसने देश में स्वस्थ बैंकिंग का विकास किया है।

बैंकिंग कम्पनीज एक्ट के अन्तर्गत रिजर्व बैंक के अधिकार

(१) बैंकों के निरीक्षण सम्बन्धी अधिकार—रिजर्व बैंक अनेक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये बैंक का निरीक्षण कर सकता है। उसे निरीक्षण सम्बन्धी अधिकार न केवल असन्तोषप्रद बैंकों के सम्बन्धों में वरन् सम्पूर्ण बैंकिंग कम्पनियों के सम्बन्ध में हैं।

(२) ऋण-नीति के निर्देशन का अधिकार—रिजर्व बैंक किसी भी बैंक को या समस्त बैंक को यह आदेश दे सकता है कि अमुक-अमुक कार्य के लिए ऋण न दें, अमुक प्रतिभूतियों पर ऋण दें तथा अमुक मार्जिन (Margin) रखें। इस प्रकार अब रिजर्व बैंक सट्टा व्यवहारों पर तथा मूल्य वृद्धि पर अंकुश रख सकता है।

(३) लाइसेन्स देना व शाखाओं की स्थापना पर नियंत्रण—रिजर्व बैंक से लाइसेन्स प्राप्त किये बिना कोई बैंक अपना कारोबार प्रारम्भ नहीं कर सकता। वह नई शाखायें भी नहीं खोल सकता है और न पुरानी शाखाओं का स्थानान्तरण कर सकता है। लाइसेन्स देने से पहले रिजर्व बैंक निरीक्षण द्वारा यह पता लगाता है कि बैंक की कार्य-पद्धति एवं आर्थिक अवस्था सन्तोषजनक है या नहीं तथा अनुमति देना जन-हित में है या नहीं।

(४) बैंकों का एकीकरण—रिजर्व बैंक को एकीकरण की योजनायें स्वीकृत करने तथा रद्द करने का पूर्ण अधिकार है।

(५) अनेक विवरण प्राप्त करना—रिजर्व बैंक को बैंकिंग संस्थाओं से अनेक प्रकार के विवरणों व सूचनाओं को प्राप्त करने का अधिकार है ताकि उसे यह मालूम हो जाय कि उसके निर्देशों का उचित रूप से पालन किया जा रहा है या नहीं। दोष मालूम होने पर वह उसे तत्काल दूर करने में सहायक होता है।

(६) बैंकों का निस्तारण—अदालत द्वारा बैंक का निस्तारण करने पर रिजर्व बैंक ही उक्त बैंक का सरकारी निस्तारक नियुक्त किया जा सकेगा।

(७) सलाह देने का अधिकार—रिजर्व बैंक को यह अधिकार है कि वह विशेष प्रकार के व्यवहारों के सम्बन्ध में बैंकों को सलाह दे अथवा उन्हें विशेष व्यवहार करने से रोक दे।

(८) अन्य अधिकार—रिजर्व बैंक किसी बैंक को कुछ समय के लिये या सदा के लिए बैंकिंग कम्पनीज एक्ट की व्यवस्थाओं से छूट दे सकता है, उसकी अनुमति में कोई बैंक ७ वर्ष से भी अधिक समय के लिए अचल सम्पत्ति रख सकता है। रिजर्व बैंक किसी बैंक के लिये दत्त पूँजी व कोष की न्यूनतम मात्रा कम कर सकता है और सन् १९५१ के संशोधन के अन्तर्गत तो उसे यह अधिकार भी प्राप्त हो गया है कि वह किसी बैंक को रिजर्व बैंक में किसी समय न्यूनतम वैधानिक कोष रखने से मुक्त कर दे। वह अब राज्य सहकारी बैंक से भी विवरण माँग सकता है।

भारतीय बैंकिंग विधान के दोष

अनेक सुधार होने पर भी बैंकिंग विधान की निम्न सीमायें बताई जाती हैं—(i) अभी तक देशी बैंकरों पर कोई कड़ा नियन्त्रण नहीं होने पाया है यद्यपि वे देश की लगभग ७५% और ग्रामीण साख की ९०% आवश्यकतायें पूरी करते हैं, (ii) वह सरकारी बैंकों पर लागू नहीं होता यद्यपि अनुभव से यह पता चला है कि सरकारी बैंक व्यापारिक बैंकों से कुछ सीमा तक प्रतियोगिता करने लगे हैं और (iii) सम्पत्ति को तरलता के दृष्टिकोण से यह व्यवस्था करनी चाहिये थी कि वे एक विशेष प्रकार की ही सम्पत्ति अपने पास रखें ताकि आवश्यकता के समय वे रिजर्व बैंक से ऋण ले सकें।

निष्कर्ष

उक्त दोष होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि उक्त बैंकिंग विधान के आधार पर देश में एक स्वस्थ बैंकिंग प्रणाली विकसित हो सकेगी और फिर इससे देश का आर्थिक कल्याण होगा।

परीक्षा प्रश्न

(१) बैंकिंग कम्पनीज एक्ट १९४९ की मुख्य-मुख्य बातों पर प्रकाश डालिये।

(२) भारतीय बैंकिंग विधान (१९४९) ने हमारी बैंकिंग प्रथा को किस प्रकार सुधारने का प्रयत्न किया है ?

(३) अभी हाल में बैंकिंग विधान में जो संशोधन किये गये हैं उन पर प्रकाश डालिये।

अध्याय ३

भारत में कृषि साख व्यवस्था

(Agricultural Credit In India)

प्रारम्भिक

भारत की अधिकांश जनता गाँवों में रहती है और मुख्यत: कृषि पर अवलम्बित है। ग्रामवासियों की आय बहुत कम है और उनमें अपव्यय की आदत भी प्रबल है। अत: उन्हें ऋण लेने की आवश्यकता पड़ती है। प्रस्तुत अध्याय में कृषि साख की विद्यमान व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है।

किसानों की साख आवश्यकतायें

भारत के कृषकों को, निम्न प्रकार की साख चाहिये :—

(१) **अल्पकालीन या मौसमी साख (Short term or seasonal credit)**—खाद व बीज खरीदने, फसल बोने व काटने, मालगुजारी व लगान चुकाने तथा कृषक व उसके परिवार और पशुओं के जीवन-निर्वाह के लिए अल्पकालीन साख की आवश्यकता होती है। इस उद्देश्य के लिये किसानों को साख अल्प सूचना पर उपलब्ध होनी चाहिये। इसकी अवधि कम से कम ६ व अधिक से अधिक १२ माह होती है। ऐसे ऋण प्राय: फसल बिकने पर चुकाये जाते हैं। इन पर ब्याज उचित होनी चाहिये।

(२) **मध्यकालीन साख (Intermediate or Middle term credit)**—इस साख की आवश्यकता किसानों को पशु व यंत्र खरीदने, अस्थाई प्रकृति के सुधार (जैसे कृषि की प्रणाली में परिवर्तन) करने के लिये होती है। इस साख की अवधि १५ माह होती है लेकिन इसे ५ वर्ष या इससे कम अवधि में चुकाया जाता है।

(३) **दीर्घकालीन साख (Long term credit)**—दीर्घकालीन साख की आवश्यकता स्थायी पूँजी प्राप्त करने के लिये होती है, जिनका विनियोजन स्थायी रूप से या दीर्घकाल के लिये भूमि व मँहगा साज सामान खरीदने, जोतों की चकबन्दी व सुधार करने तथा पुराने ऋण चुकाने में किया जाता है। इस आशय के लिये पर्याप्त मात्रा में ऋणों की आवश्यकता पड़ती है। यह जरूरी होता है कि ऐसे ऋणों की अदायगी एक लम्बी अवधि पर फैला कर छोटी-छोटी किश्तों में की जाय ताकि किसान अपनी चालू आवश्यकताओं की पूर्ति भी कर सकें। ऐसी साख १५ से २० वर्ष तक के लिये होनी चाहिये।

केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (Central Banking Enquiry Committee) का मत था कि सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत के लिये अल्पकालीन और मध्यकालीन साख के रूप में किसानों को कम से कम ३०० करोड़ से ४०० करोड़ रु० तक चाहिये जबकि दीर्घकालीन साख के लिये तो असीमित क्षेत्र विद्यमान है। डाक्टर बलजीतसिंह के अनुसार, कृषि को एक उचित स्तर पर करने के लिये कम से कम ६०० करोड़ रु० और अधिक चाहिये। अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वे कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार सम्पूर्ण भारत के लिये तीनों प्रकार की साख की आवश्यकता लगभग ७५० करोड़ रु० है।

साख देने वाली संस्थायें

ग्रामीणों को ऋण देने के लिए मुख्य-मुख्य संस्थायें निम्नलिखित हैं—(i) साहूकार; (ii) स्वदेशी बैंकर; (iii) सहकारी बैंक व भूमि बंधक बैंक; (iv) रिजर्व बैंक; (v) सरकार व (vi) अन्य व्यापारिक बैंक आदि। रिजर्व बैंक ने ग्रामीण साख का अनुसंधान करने के लिए श्री गोरवाला की अध्यक्षता में जो कमेटी नियुक्त की थी उसको अपनी जाँच में यह पता चला है कि भारतीय कृषकों की अल्पकालीन, मध्यकालीन एवं दीर्घकालीन धन की आवश्यकताओं की पूर्ति विभिन्न साधनों द्वारा इस प्रकार होती है :—

सरकार	३·३%
सहकारी बैंक	६·१%
व्यापारिक बैंक	०·६%
रिश्तेदार व सम्बन्धी	१४·२%
भूस्वामी	१·५%
कृषक साहूकार	२४·६%
व्यवसायी साहूकार	४४·८%
व्यापारी व आढ़तिए	५·५%
अन्य साधन	१·८%
	१००·००

उपरोक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि कृषि अर्थ-व्यवस्था में सरकार व सहकारी संस्थाओं का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। ९४% ऋण की पूर्ति प्राइवेट संस्थाओं द्वारा की जाती है। इसमें भी ६९·७% धन की पूर्ति साहूकारों द्वारा की जाती है।

अब हम प्रत्येक साख स्रोत पर विस्तार से प्रकाश डालेंगे :—

(I) ग्रामीण साहूकार (The Money Lender)

ग्रामीण साख की पूर्ति करने वाले स्रोतों में ग्रामीण साहूकार का मुख्य स्थान है। ये साहूकार दो प्रकार के होते है—पेशेवर साहूकार (Professional money lenders), जो लेनदेन के साथ ग्रामीण पैदावार का क्रय-विक्रय भी करता है और (ii) गैर पेशेवर साहूकार (Non-professional money lenders), जो भूमि-पतियों एवं खाते-पीते किसानों, वकीलों, पेंशन पाने वालों आदि से सम्बन्धित होते हैं। लगभग ९३% साख प्राइवेट एजेन्सियों से प्राप्त होती है, जिसमें से ४५% साख गैर पेशेवर और २५% साख पेशेवर महाजनों से आती है। उत्तर-प्रदेश की बैंकिंग जाँच कमेटी के अनुसार "सबसे अधिक हानिकारक ऋणदाता जिससे किसान ऋण

ले सकता है, वह उसका भूमिपति है क्योंकि उसे किसान पर दोहरा जाल डालने का अवसर मिल जाता है। यह किसान ब्याज दे दे किन्तु लगान न दे पाये तो, और, यदि लगान दे दे किन्तु ब्याज न दे पाये तो दोनों ही दशा में वह न्यायालय में मुकद्दमा चलाकर किसान को भूमि से बेदखल करा सकता है।"

महाजनों की कार्य-प्रणाली के गुण-दोष

पेशेवर महाजन वे लोग हैं जिन्होंने मितव्ययिता से जीवन व्यतीत करके कुछ पूँजी जोड़ ली है। वह किसानों को हर समय साख देने के लिए तैयार रहता है, औपचारिकताओं का पालन नहीं करवाता, कोई प्रश्न नहीं पूछता, तत्काल ही उधार दे देता है और यदि ब्याज मिलता रहे, तो मूलधन की वापिसी पर जोर नहीं देता वह ऋणियों के मध्य रहने के कारण उनके बारे में घनिष्ट जानकारी रखता है और इस जानकारी के आधार पर उन लोगों को भी ऋण देने की जोखिम उठा लेता है जिन्हें कभी कोई ऋण नहीं मिल सकता था। वह एक-एक छोटी दुकान भी रखता है तथा कृषि वस्तुओं की पूर्ति एवं बिक्री करने में सहयोग देता है। फिर भी यह मानना होगा कि वह अपनी सेवाओं के लिए अत्यधिक प्रतिफल लेता है। पेशेवर कृषकों की ४५% और अ-कृषकों की ३८% साख आवश्यकता पूरी करते हैं। वह दी गई ३०% साख पर १० से १८%, ३४% साख पर १८ से २५% और १०% साख पर २५ से ३५% तथा ६०% साख पर ३५ से ५०% तक ब्याज लगाते है।

महाजनों द्वारा देश की कृषि अर्थ-व्यवस्था में जो भाग लिया जाता है उसकी चर्चा करते हुए उ० प्र० बैंकिंग जाँच कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि :—

"वह कोई उदार व्यक्ति नहीं है, उसका उद्देश्य पैसा कमाना है और वह सदैव इस बात का ध्यान रखता है कि रुपया कमाने के लिये वह कैसा साधन अपनाता रहा है। वह भावी ब्याज को मूलधन देने के पूर्व ही काट लेता है, ऋणियों के खाते में आकस्मिक खर्च नाम डाल देता है, अपढ़ ऋणियों से कोरे कागजों पर अँगूठा निशानी ले लेता है और बाद में वास्तविक रकम से अधिक रकम भर लेता है। उसकी ब्याज बहुत ही अधिक है और चक्रवृद्धि दर से लगाई जाती है। मौका पड़ने पर वह रियायत भी करता है और कपटपूर्ण बाड़ को तभी काम में लाता है जबकि उसका ऋणी बिल्कुल ही भुगतान न करे। यदि ऋणी ठीक समय भुगतान करता रहे, तो कुछ ब्याज अन्त में कम भी कर देता है। आवश्यकता पड़ने पर किसान को साख मिलने का वही एक मात्र स्रोत है। वह विवाह, मृत्यु, मुकद्दमों आदि के लिये ऋण देता है। वह ऋण देने में देर नहीं लगाता। वह परिपक्वता पर भुगतान देने के लिये जोर नहीं देता है। यदि भुगतान की वापिसी असुविधाजनक प्रतीत हो, तो वह ऋणी की आर्थिक दशा के सम्बन्ध में चिन्ता में डालने वाले प्रश्न नहीं पूछता, क्योंकि जिस बात को वह महत्व देता है वह है तत्काल एवं नियमित भुगतान करने के लिये ऋणी की ख्याति।"

ऋण देते समय महाजन ऋण लेने के उद्देश्य के बारे में जाँच पड़ताल नहीं करता। मूलधन जान-बूझ कर वर्षों तक बकाया पड़ा रहने दिया जाता है। ब्याज दरें इतनी अधिक होती हैं कि वह कुछ वर्षों में कई गुना हो जाता है। अच्छी फसल के दिनों में महाजन आग्रहपूर्वक ऋणियों को अधिकाधिक रुपया देता है। अतः जैसा कि बम्बई बैंकिंग जाँच समिति ने बताया है, "महाजन के लेन-देन का ढंग इस प्रकार का है कि एक बार उसके फेर में पड़ने पर उसमें छुटकारा पाना कठिन हो जाता है।"

वास्तव में महाजन भी औसत दर्जे का व्यक्ति है। वह केवल अपने लाभ के बारे में ही सोचता है, दूसरो के हानि-लाभ की चिन्ता नही करता। उसके पास कुछ पूंजी होती है जिसे लाभ सहित विनियोग करने के लिए कोई अन्य मार्ग नही है जबकि किसान अपढ़, अनभिज्ञ एवं फिजूलखर्च होते है तथा उन्हे कृषि कार्यो के लिए साख की आवश्यकता रहती है। इन परिस्थितियो का लाभ उठाने के लिए अन्य व्यक्तियो की तरह महाजन भी प्रेरित हो जाता है। अतः इस आधार पर महाजनों को बुरा भला कहना वास्तव में मानवता की दुर्बलताओं को बुरा भला कहने के समान है।

नीचे महाजनो लेन-देन की मुख्य दुर्बलताओं को क्रमबद्ध किया गया है : —

(१) महाजन पूरे १ वर्ष का ब्याज उधार देते समय मूलधन में से काट लेता है तथा इस ब्याज की रसीद भी नही देता। इस तरह वह सरलता से एक वर्ष पश्चात् पुनः ब्याज मांग सकता है।

(२) अनेक महाजन कोरे कागजों पर हस्ताक्षर या अंगूठे की निशानी ले लेते हैं और बाद में उनमें रकम बढ़ा-चढ़ा कर भर लेते हैं।

(३) वे अपनी बहियों में इस प्रकार प्रविष्टियाँ करते हैं कि वास्तविक ऋण से अधिक रकम उधार दी प्रकट हो।

(४) जब ऋणी अपढ़ होता है तो लिखित दस्तावेजों में अधिक रकम दर्ज कर ली जाती है।

(५) बहुत थोड़े महाजन रसीद देते हैं तथा अपने बहीखातों में गलत व झूठे इन्दराज कर लेते हैं। कुछ किश्तों को तो मूलधन की वापिसी के रूप में न दिखाकर ब्याज की प्राप्ति के रूप में दिखाया जाता है।

(६) ऋणियो को गिरह खुलाई के रूप में महाजनों को कुछ देना पड़ता है। इसी प्रकार कुछ अन्य व्ययों (जैसे गद्दी खर्चा, सलामी, कटौती आदि) का भार भी उन्हे सहन करना पड़ता है।

(७) महाजन ऋणी की जमीन जायदाद का बिक्रीनामा भरवा कर रख लेते हैं ताकि ऋणी द्वारा भुगतान न देने पर उसे काम में लाया जा सके।

सुधार के लिये सुझाव

इन दोषों के होने पर भी यह निश्चित है कि आने वाले अनेक वर्षों तक महाजन ही ग्रामीण साख का एक प्रधान स्रोत बने रहेंगे। वे एक "खतरनाक आवश्यकता है और उनके व्यापार पर नियन्त्रण करना चाहिए।" ऋणियों को उनके दोषपूर्ण व्यवहार से बचाने के लिए निम्न कदम तत्काल उठाने चाहिए—

(१) महाजनों के व्यापार का लाइसेंसिंग होना चाहिए—ब्याज दर सीमित कर देनी चाहिए तथा स्वार्थपूर्ण बहियों को रोक देना चाहिए। लाइसेन्स की निम्न शर्तें रखी जायें—(i) ब्याज दर निर्धारित अधिकतम दर से अधिक न हो और चक्रवृद्धि दर से ब्याज न लगाया जाय; (ii) बही खाते एक स्टेण्डर्ड ढंग से रखे जावें तथा सरकारी आडीटर से वर्ष में एक या दो बार जँचवाए जायें, (iii) सभी भुगतानों के लिए पूर्ण रसीदें दी जायें और (iv) प्रत्येक ऋणी का खाता अलग रखा जाय और हर छठे महीने उसकी नकल ऋणी को दी जाय।

(२) लाइसेंसिंग स्टाफ पर्याप्त रखा जाय ताकि लाइसेन्स व्यवस्था को सुचारु रूप से कार्यान्वित किया जाय और समय-समय पर उसका मूल्यांकन भी कराते रहना चाहिए।

(३) अनुत्पादक ऋणों को निरुत्साहित करना चाहिए—इस हेतु महाजनों को बहुत थोड़ा मार्जिन देने की अनुमति होनी चाहिए।

(४) कानून द्वारा ऋणी ऋणदाताओं के पारस्परिक व्यवहारों का नियमन किया जावे—जैसे विभिन्न व्यवहारों पर कितना ब्याज लेना चाहिए, उचित खाते किस प्रकार रखे जावें तथा हिसाब-किताब का सामयिक निपटारा किस प्रकार हो।

(५) किसानो के लिए यह अनिवार्य कर दिया जाय कि वे समितियों द्वारा अपनी फसल बिकवाये। इससे उनको अपनी फसल के अच्छे दाम मिल सकेंगे।

महाजनो को लाइसेन्स देने के अतिरिक्त उनकी स्थिति सुधार कर उन्हें देशी बैंकरों के माध्यम से देश के बैंकिंग ढांचे मे सम्बन्धित करने का प्रयास किया जाय।

गाडगिल कमेटी (Gadgil Committee) ने निम्न उपायों पर बल दिया था :—

(१) महाजनों की रजिस्ट्री करना।
(२) महाजनों को लाइसेन्स देना।
(३) खातों में वास्तविक से अधिक रकम ऋण के रूप में दिखाने का निषेध करना।
(४) उचित रूप से खाते रखना।
(५) ऋणियो को सामयिक हिसाब भेजना।
(६) प्रत्येक भुगतान की रसीद देना।
(७) ब्याज की दर सीमित करना।
(८) Damdupat के नियम को कार्यान्वित करना।
(९) व्ययों के लिये अवैधानिक कटौती काटने का निषेध करना।
(१०) ऋणियों को न्यायालय में ऋण का रुपया जमा कराने की सुविधा देना।
(११) राज्य के बाहर ऋणों का भुगतान कराने के ठहरावों को रोकना।
(१२) हिसाब प्राप्त करने के लिये ऋणियों को मुकद्दमा चलाने की छूट देना।
(१३) ऋणियों को डराने व धमकाये जाने के विरुद्ध संरक्षण देना।
(१४) कानून को तोड़ने पर क्रिमिनल अपराधी की भांति दण्डनीय घोषित करना।
(१५) 'महाजन' शब्द की व्याख्या स्पष्ट रूप से करना।
(१६) अमेरिका की तरह भारत मे भी एक निरीक्षण दल की स्थापना करना जो महाजनों के हिसाब-किताब की अचानक जांच करें।
(१७) संस्थागत साख का विकास करना।

(II) सहकारी साख संस्थाय

यद्यपि सहकारी आंदोलन मुख्यतः ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता को हल करने और किसानों को महाजनों के चंगुल से स्वतन्त्र कराने के लिये चलाया गया था, तथापि यह समिति उद्देश्य को भी अभी तक पूरा नहीं कर पाई है। सभी राज्यों में अब भी महाजन ही कृषकों के लिये साख प्राप्त करने के मुख्य स्रोत बने हुए हैं। औसतन साख समितियों ने कृषि की साख आवश्यकताओं की १०% से भी कम की पूर्ति की है। समितियों के सदस्यों को भी बाहरी स्रोतों से ऋण प्राप्त करने पर विवश होना पड़ा है। (विस्तृत विवेचन के लिये एक अगला अध्याय पढ़िये)

(III) सरकार

सरकार भी कृषक को ऋण देकर आर्थिक सहायता पहुँचाती है। ये ऋण तकावी ऋण (Tacavi Loans) कहलाते है और इम्प्रूवमेन्ट लोन्स एक्ट १८८३ के तथा एग्रीकलचरिस्ट लोन्स एक्ट १८८४ के अन्तर्गत दिये जाते हैं। सन् १८८३ के अधिनियम के अनुसार भूमि पर स्थाई सुधार करने के लिए दीर्घकालीन ऋण स्थानीय अधिकारियों द्वारा स्वीकृत किये जाते हैं। इनकी अवधि २५ वर्ष तक होती है, ब्याज दर ६ से ६$\frac{1}{4}$% तथा भूमि सम्पत्ति की प्रतिभूति पर दिये जाते हैं। ऋण व ब्याज वार्षिक समान किश्तों में चुकाया जाता है। सन् १८८४ के अधिनियम के अन्तर्गत अल्पकालीन एवं मध्यमकालीन ऋण दिये जाते हैं। इनका उद्देश्य कृषि सम्बन्धी चालू आवश्यकताएँ पूरी करना है। ये ऋण फसल होने के बाद चुकाने पड़ते है।

तकावी ऋणों का लाभ यह है कि वे दीर्घकालीन होते हैं, तथा कम ब्याज पर मिलते हैं। लेकिन दोनों ही अधिनियम के अन्तर्गत दिया गया कुल ऋण 'ऊँट के मुँह में जीरे के समान है' इन ऋणों का कृषि के अर्थ-प्रबन्ध में बहुत कम भाग है। वे न केवल पर्याप्त हैं वरन् उनके वितरण व वसूली का ढंग भी बहुत दोषपूर्ण है। ऋणों के मिलने में बहुत देर लगाना, पटवारी व कानूनगो का भ्रष्टाचार, वसूली में कठोरता, निरीक्षण की कठिनता आदि दोषों के कारण ये ऋण किसानों मे लोकप्रिय नहीं हैं और उन्हें महाजनों की शरण में जाना पड़ता है। यह भी उल्लेखनीय है कि तकावी ऋण छोटे व मध्य श्रेणी के किसानों की अपेक्षा बड़े भूपतियों व किसानों को ही दिये गये है।

आजकल केन्द्रीय एवं राज्य सरकारें देश में कृषि का स्तर ऊँचा करने के रूप में विशाल रकमें खर्च कर रही हैं। राज्य सरकारों का किसानों से प्रत्यक्ष सम्पर्क होता है और केन्द्रीय सरकारों को सहायता देती है। यह सहायता इस शर्त पर दी जाती है कि सम्बन्धित राज्य सरकारें भी उतनी ही रकम अपने पास से व्यय करेंगी। ग्रामीण साख सर्वे कमेटी के अनुसार सरकार से किसानों को प्राप्त होने वाले ऋण उनके कुल ऋणों का केवल ३ प्रतिशत है।

सुधार के लिये सुझाव

सम्पूर्ण व्यवस्था के पुनर्गठन की आवश्यकता है—(१) इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक का यह सुझाव था कि सरकारी प्रशासन कृषि के सामान्य अर्थ-प्रबन्धन के अनुपयुक्त है। इसके विपरीत कुछ अर्थशास्त्रियों का सुझाव था कि कुछ विदेशों की भाँति

भारत में भी सरकारी बैंकें स्थापित की जायें। (२) डाक्टर कुरैशी के अनुसार सरकारी बैंकों (State Banks) की शाखायें प्रत्येक तहसील में होनी चाहिए। उनमें एक बैंकिंग विभाग हो जो बांड एवं डिबेंचरों का निर्गमन करके कोष जुटावे और भूमि की जमानत पर दीर्घकालीन ऋण दे। (३) *बंगाल के लैंड रैवेन्यू कमीशन* ने सरकार-नियन्त्रित कृषि बैंकों की स्थापना के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा था कि इनका सरकारी प्रबन्ध बहुत व्यय पूर्ण प्रमाणित होगा और योजना सफल न हो सकेगी। स्टेट बैंक के सुभाव पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। (४) **श्री तारडी (Tardy)** का कहना था कि निर्धन देशों में सरकारें कृषि साख की व्यवस्था में भाग लेने के लिये विवश हैं। उन्हें या तो प्रत्यक्ष रूप से ऋण स्वीकृत करने पड़ते हैं या स्टेट बैंकों की स्थापना करनी पड़ती है।

सरकार तकावी ऋणों के माध्यम से कृषि सुधारों को लोकप्रिय बना सकती है तथा अकालों की कठिनाइयों को कम कर सकती है। किन्तु यह आवश्यक है कि इनके मिलने में अनावश्यक देर न लगे तथा इनकी शर्तें उदार हों।

(IV) व्यापारिक बैंक

व्यापारिक बैंक (स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा विनिमय बैंकों सहित) कृषि साख की प्रत्यक्ष पूर्ति में बहुत कम भाग रखते हैं। एक अनुमान के अनुसार वे कुल आवश्यकता का एक प्रतिशत ही पूरा करते हैं। वे कृषि के अर्थ-प्रबन्धन को अपने कार्य क्षेत्र से बाहर मानते हैं क्योंकि उनका संगठन ग्रामीण दीर्घकाल या अल्पकालीन साख प्रदान करने के लिये नहीं हुआ। हाँ, व्यापारियों के द्वारा ये अप्रत्यक्ष रूप से काफी सीमा तक अर्थ-प्रबन्धन करने में भाग लेते हैं। अप्रत्यक्ष अर्थ-प्रबन्ध न बहुत मंहगा पड़ता है। वे व्यापारियों और आढ़तियों को अपने स्वीकृत गोदामों में रखवाई गई कृषि पैदावार की प्रतिभूति पर ६ से ९% तक ऋण देते हैं जिसका उद्देश्य पैदावार को मंडियों से उपभोग या निर्यात केन्द्रों तक पहुँचाने में सहायता देना है। स्टाक का अग्नि बीमा कराना पड़ता है और बाढ़ के विरुद्ध भी बीमा कराने के लिये कहा जा सकता है। स्टाक, बैंक की ताले कुंजी में रहता है तथा बैंक के अधिकारी समय-समय पर उसका निरीक्षण करते हैं। इन कठोर शर्तों के कारण एवं अनेक बड़े केन्द्रों में देशी बैंकरों से साख मिलने की सुविधा के कारण व्यापारीगण सामान्य परिस्थितियों में बैंकों से साख लेना पसंद नहीं करते। अप्रैल १९५९ के अन्त तक बैंकों के कुल ऋणों *का केवल ३% कृषि के लिये था।*

ये बैंक दीर्घकालीन ऋण तो दे ही नहीं सकते, अल्पकालीन ऋणों के सम्बन्ध में भी उसका महत्व बहुत सीमित है क्योंकि कृषकों को जिस अवधि के लिए इस साख की आवश्यकता होती है वह प्रायः उस अवधि से बड़ी होती है जिसके लिए बैंक निःसंकोच होकर उधार दे सकते हैं। नगरों में स्थित व्यापारिक बैंकों को ग्रामीण परिस्थितियों की जानकारी नहीं होती। वे फसलों और पशुओं का जमानत के रूप में उचित मूल्यांकन नहीं कर पाते। इन जमानतों के मूल्य में भी बाढ़, बीमारी आदि के कारण कमी होती रहती है। व्यापारिक बैंकों के लिये यह सम्भव नहीं है कि वे गाँवों में छोटे-छोटे किसानों से सम्पर्क रख सकें।

लेकिन यदि देश में प्रथम श्रेणी के कृषि बिलों का विकास कर लिया जाय तो व्यापारिक बैंक अधिक सरलता से उनकी प्रतिभूति पर काफी मात्रा में अल्पकालीन साख दे सकते हैं। इसके अतिरिक्त व्यापारिक बैंकों को चाहिए कि वे किसानों को

स्वर्ण, चांदी और जेवरातों की प्रतिभूति पर अधिक उदारता से ऋण दें। तभी वे महाजनों के चंगुल में फंसने से बच सकते हैं।

सुधार के लिए सुझाव

व्यापारिक बैंकों को कृषि अर्थ-प्रबन्धन में अधिक भाग लेने के हेतु प्रोत्साहित करने के लिये निम्न सुझाव दिये जा सकते है :—

(१) फसलों पर और सभी कृषि सम्बन्धी स्टाक पर बैंकों को प्रथम चार्ज दिया जाय।

(२) अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा विपणन के क्षेत्र में व्यापारिक बैंक अधिक सहायक हो सकते है। यदि निम्न उपाय किये जायें, तो विपणन के आशय के लिये कृषकों को व्यापारिक बैंको द्वारा दी जाने वाली साख में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है—(i) कृषि वस्तुओं का समुचित ग्रेडिंग व प्रमापीकरण, (ii) समुचित स्टोर-सुविधायें, और (iii) उचित प्रकार से नियन्त्रित स्थानीय एवं वायदा बाजारो का विकास।

(३) ग्रामीण बैंकिंग जांच समिति के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधायें उपलब्ध नही हैं। उसका सुझाव था कि व्यापारिक बैंकों को अपनी नई शाखायें ग्रामीण क्षेत्रों में खोलने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। वर्तमान परिस्थितियों में शाखाएँ तालुका या तहसील हैड-क्वार्टरों, कस्बों, मंडियों व अन्य व्यापारिक एवं औद्योगिक महत्व के स्थानों तक ही खोली जा सकती हैं। अत. बैंकिंग विकास के लिये व्यापक पैमानों पर अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करना होगा जैसे सड़कों का निर्माण, ग्रामीण संचार-व्यवस्था का विकास, दुकान कानून से बैंकों की मुक्ति, सस्ती द्रव्य स्थानान्तरण सुविधायें, ट्रेजरियों मे अपनी तिजोरियाँ आदि रखने की सुविधा, गोदाम बोर्ड के द्वारा गोदाम बनाने की सुविधायें आदि।

बंगाल के ऋण कार्यालय

बंगाल के ऋण कार्यालय आरम्भ में भूमि बंधक बैंकों के ढांचे पर ही स्थापित किए गये थे। वे ४ से ८ प्रतिशत ब्याज दर पर डिपाजिट लेते हैं और न केवल भूमिपतियों को वरन् वास्तविक भूमि व अन्य मूल्यवान वस्तुओं की जमानत पर ऋण देते है। ये कार्यालय व्यक्तिगत प्रतिभूति भी स्वीकार करते हैं।

(VI) निधियाँ एवं चिट फण्ड

मद्रास में पारस्परिक ऋण समितियों के रूप मे निधियों एवं चिट फन्ड कायम किये गये थे। निधियाँ तो अर्द्ध-बैंकिंग संस्थाओं में विकसित हो गई हैं। वे डिपाजिट स्वीकार करती है तथा सभी प्रकार के उद्देश्यों के लिये ऋण देती है। इनका उद्देश्य बचत को प्रोत्साहित करना, पुराने ऋणों से छुटकारा दिलाना आदि है। निधियों के मार्ग में कई कठिनाइयाँ है—(i) अन्य सदस्यो से निधियाँ डिपाजिट स्वीकार करती हैं; तो स्वभावत: डिपाजिटरो की प्रतिभूति निधि की अंश पूंजी होती है। लेकिन निधि मे सदस्य अपने अंशदान की प्रतिभूति पर ऋण ले सकता है और एक निर्दिष्ट अवधि के पश्चात् अपनी सदस्यता भी समाप्त कर सकता है तथा अंश पूंजी वापिस ले सकता

है। इससे डिपाजिटरों की स्थिति बहुत दुर्बल हो जाती है। (ii) कुछ निधियाँ अपने कानून (इन्डियन कम्पनीज एक्ट) का भी पालन नहीं करती हैं। सेन्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी ने सुधार के निम्न सुझाव दिये हैं :—

(१) जो निधियाँ उक्त एक्ट के अन्तर्गत रजिस्ट्री कराने के लिये इच्छुक हों उन्हें निधि के रूप में अपनी विशेषतायें कायम रखने की अनुमति दी जाये जैसे कार्यशील पूंजी मासिक किश्तों में प्राप्त करना; दत्त अंश पूंजी की प्रतिभूति पर ऋण देना, निर्दिष्ट अवधि के बाद अंश-पूंजी वापिस लेना। हाँ, ऐसी निधियों को अ-सदस्यों से डिपाजिट लेने की अनुमति नहीं होनी चाहिये।

(२) निधियों के लिये एक विशेष अधिनियम 'निधियाँ एवं चिट फण्ड अधिनियम' बनाया जाय।

(३) जो निधियाँ उक्त अधिनियम के नियंत्रण में आना स्वीकार न करें और बाहरी लोगों से डिपाजिट लेने की इच्छुक हों, उन्हें भारतीय कम्पनी अधिनियम के आदेशों को पूर्णतः मानना चाहिये और अंश पूंजी वापिस देने तथा दत्त पूंजी की प्रतिभूति पर ऋण स्वीकार करने की अनुमति नहीं होनी चाहिये।

चिट फण्ड वास्तव में कुछ व्यक्तियों का एक संगठन है जो अपनी बचत को एकत्र करके विभिन्न प्रकार से प्रयोग करते हैं। ये संगठन मद्रास राज्य के दक्षिणी और दक्षिणी-पूर्वी भागों में पाये जाते हैं। इन संगठनों का आधार ईमानदारी, विश्वास एवं सहयोग है। इन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों में सराहनीय कार्य किया है। सदस्यों में बचत की भावना को प्रोत्साहित करने के साथ-साथ उन्हें भूमि जेवर, आदि खरीदने, विवाहों, व्यापारिक कार्यों तथा पुराने ऋणों का परिशोधन करने के लिये भी एक मुश्त रकमें (Lump Sums) दी हैं।

ग्रामीण बैंकिंग जाँच कमेटी (१९५०)

इस कमेटी के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं का विकास करने के मार्ग में निम्न असुविधायें हैं :—

(i) कृषि अलाभकर हो गई है; (ii) संचार साधनों की कमी है; (iii) ग्रामीण जनता निरक्षर है; (iv) ग्रामवासी रूढ़िवादी हैं और नये ढंगों को पसन्द नहीं करते; (v) बैंक कम ब्याज दरों पर डिपाजिट लेते हैं जब कि गाँव के बचत करने वाले लोग ऋण पर उठा कर अधिक ब्याज कमा सकते हैं; और (vi) गाँवों में बैंकों की शाखायें खोलने का व्यय बहुत होगा।

उक्त कठिनाइयों को दूर करने के लिये निम्न उपाय किये जा सकते हैं :—

(१) बैंकिंग संस्थाओं को सहायता दी जाय जैसे—ग्रामीण क्षेत्रों में फण्ड एकत्र करने के लिये उन्हें एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र को द्रव्य स्थानान्तरण की सुविधा दी जाय, स्टेट बैंक व सरकारी खजाने ग्रामीण क्षेत्रों में नोटों व सिक्के बदलने की सुविधा दें; स्टेट बैंक अधिक शाखायें खोले, बैंकों को अपनी तिजोरियों, ट्रेजरियों के स्ट्राँग रूम रखवाने की अनुमति हो, एक गोदाम विकास बोर्ड कायम किया जाय जिसमें सरकार (केन्द्रीय एवं राज्य) एक रिजर्व बैंक पूंजी लगाय।

(२) सहकारी संस्थाओं को विकास के लिये अधिक सुविधायें दी जायें जैसे–डाकखानों द्वारा सस्ती दरों पर द्रव्य स्थानान्तरण की सुविधायें, डाकखाने में बड़ी रकमें जमा कराने व अधिक मात्रा में तथा अधिक बार प्रति सप्ताह रुपया निकालने की छूट, राष्ट्रीय बचत प्रमाण पत्रों की बिक्री के लिये अधिकृत प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त, ट्रेन्ड स्टाफ के खर्च को पूरा कराने के लिये अनुदान, मितव्ययिता के प्रोत्साहन व बचतों के एकत्रीकरण पर अधिक ध्यान।

(३) सभी बड़े राज्यों की राजधानियों में रिजर्व बैंक अपने कार्यालय स्थापित करे।

(४) स्टेट बैंक भी तालुका या तहसील कस्बों में अपनी शाखायें बढ़ायें।

(५) व्यापारिक बैंकों और सहकारी बैंकों को भी इस दिशा में प्रोत्साहित किया जाय।

(६) डाकखाने के बैंकों की सेवाओं को अधिक कुशल बनाया जाय।

(७) द्रव्य स्थानान्तरण की सुविधायें अधिक मात्रा में व सस्ती दरों पर उपलब्ध की जायें।

(८) गोदाम विकास बोर्ड की स्थापना की जाय।

(९) यातायात के साधनों की उन्नति व निरक्षरता के उन्मूलन के लिये भी प्रयास किया जाय।

रिजर्व बैंक द्वारा कृषि अर्थ-व्यवस्था में सहायता

रिजर्व बैंक द्वारा अब तक दी जाने वाली सहायता

रिजर्व बैंक ने कृषि अर्थ-व्यवस्था को संगठित करने के लिए अनेक उपाय किये हैं, इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

(१) रिजर्व बैंक ने एक कृषि साख विभाग की स्थापना की है, जो कि कृषि-साख से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन करता है, हल प्रकाशित करता है, समय-समय पर सहकारी संस्थाओं को ऋण नीति व संगठन आदि के सम्बन्ध मे परामर्श देता है, सहकारिता विषयक अनेक पुस्तकें व आँकड़े छपवाता है एवं केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा सहकारी बैंकों को परामर्श देता है।

(२) वह प्रान्तीय सहकारी बैंकों के माध्यम से सहकारी समितियों को आर्थिक सहायता पहुँचाता है, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से प्राथमिक व सहकारी समितियों या कृषकों को ऋण नहीं दे सकता, क्योंकि उस पर उसके एक्ट द्वारा यह प्रतिबन्ध है।

(३) रिजर्व बैंक उन कृषि सम्बन्धित बिलों की पुनः कटौती करता है, जो कि १५ महीने से कम अवधि के हैं तथा सहकारी समितियों द्वारा लिखे गये व प्रांतीय सहकारी बैंकों और सदस्य बैंकों द्वारा बेचान किये गये हों।

(४) वह प्रान्तीय सहकारी बैंकों व भूमि बन्धक बैंकों को सरम प्रतिभूतियों तथा ऋण-पत्रों (Debentures) के आधार पर ऋण देता है, जो अधिक से अधिक

९० दिनों के लिये होते हैं। इन पर भी ब्याज की दर कम होती है और केवल कृषि साख की मौसमी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दिये जाते हैं। इस प्रकार की सुविधा का लाभ उठाने के लिये बैंकों को समय-समय पर विभिन्न प्रकार के विवरण रिजर्व बैंक को भेजने पड़ते हैं।

(५) वह केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के ऋण-पत्र खरीद कर भी आर्थिक सहायता करता है, जैसे कि मद्रास के केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों को दी है। फलतः बैंकों के ऋण प्राप्त करने के साधनों में वृद्धि हो जाती है।

(६) वह अरक्षित ऋण भी दे सकता है—ये ऋण कृषि कार्यों की अर्थ-पूर्ति और कृषि पैदावार के क्रय-विक्रय के लिये प्रान्तीय बैंकों के माध्यम से सहकारी संस्थाओं को दिये जाते हैं।

(७) वह अब माल के अधिकार-पत्रों के आधार पर भी ऋण देने लगा है—जैसे-जैसे भारत में माल गोदाम स्थापित होते जायेंगे वैसे-वैसे इस सुविधा का अधिकाधिक लाभ उठाया जा सकेगा।

(८) राशि हस्तांतरण की सुविधायें भी सहकारी संस्थाओं को देता है। इसके लिये वह कम शुल्क लेता है और शर्तें भी सरल कर दी हैं।

(६) रिजर्व बैंक ने सहकारिता की शिक्षा देने के लिये व्यवस्था की है ताकि सहकारी बैंकों व सहकारी समितियों को अच्छे व कुशल कर्मचारी मिल सकें।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वे की स्थापना व इसके सुझाव

रिजर्व बैंक द्वारा सबसे महत्त्वपूर्ण कदम सन् १६५१ में उठाया गया, जबकि उसने एक विशेषज्ञ समिति ग्रामीण साख का सर्वे करने के लिये स्थापित की। इस कमेटी का विश्वास है कि यद्यपि सामान्यतः सहकारी साख असफल हुई है तथापि इसके अलावा कोई अन्य वैकल्पिक साधन भी नहीं है। अतः जैसे भी हो, सहकारिता को बढ़ावा देकर सफल बनाना ही होगा। ग्रामीण साख की जो समन्वित योजना तैयार की गई है उसका उद्देश्य इस सफलता के लिये उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न करना ही है। रिजर्व बैंक द्वारा इस योजना में क्या भूमिका अदा की जाय, इस सम्बन्ध में कमेटी की निम्न सिफारिशें हैं :—

(१) रिजर्व बैंक को चाहिये कि वह राज्य सरकारों को सहकारी साख संगठनों का पुनर्संगठन एवं समन्वय करने के लिये योजना बनाने में सहायता दे। स्टेट कोआपरेटिव बैंक और भूमि बन्धक बैंकों की पूंजी में विस्तार करने का आधार यह रखा जायगा कि राज्य उसमें ५१ प्रतिशत शेयर ग्रहण करे, केन्द्रीय बैंकों और बड़े आकार की प्राइमरी समितियों में भी शीर्ष संस्थाओं द्वारा ऐसी साझेदारी का आयोजन किया गया है।

(२) रिजर्व बैंक को चाहिये कि राज्य को उचित शर्तों पर दीर्घकालीन ऋण दे जिससे कि वे राज्य के सहकारी साख संगठनों की पूंजी में सहयोग कर सकें। इस आशय के लिये रिजर्व बैंक एक राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन कार्य) कोष बनायेगा जिसमें ५ करोड़ रु० की प्रारम्भिक राशि डाली जायगा तथा ५ करोड़ रु० प्रतिवर्ष और डाले जाते रहेंगे। इस फन्ड का प्रयोग भूमि बन्धक बैंकों को दीर्घकालीन ऋण एवं अग्रिम (जो पाँच वर्ष से अधिक के लिये हो) स्वीकार करने तथा सिंचाई की विशिष्ट योजनाओं के सम्बन्ध में जारी किये गये विशेष विकास डिबेन्चरों को

खरीदने के लिये किया जायगा। इन दशाओं मे राज्य सरकार को मूलधन और ब्याज की गारन्टी करना होगा।

(३) रिजर्व बैंक पहले की तरह स्टेट गवर्नमेंट की गारंटी पर स्टेट कोआपरेटिव बैंकों के द्वारा अल्पकालीन सुविधायें देना जारी रखे। वह स्टेट कोआपरेटिव बैंकों को और उनके द्वारा सेंट्रल कोआपरेटिव बैंको या सोसाइटियो को १५ माह से लेकर ५ वर्ष तक की अवधि की मध्यकालीन साख प्रदान करे। अधिकतम सीमा सम्बन्धी ५ करोड़ रु० का या स्टेट कोआपरेटिव बैंकों के निजी कोषों से आनुपातिक होने का वर्तमान प्रतिबन्ध हटा लिया जाय। हां, स्टेट कोआपरेटिव बैंक व सेंट्रल कोआपरेटिव बैंक आदि जिस किसी को उधार दिया जाय उसकी कुल आर्थिक स्थिति का अनुमान लगाते हुए रिजर्व बैंक द्वारा सीमायें निर्धारित की जा सकती हैं।

(४) एक अन्य कोष 'राष्ट्रीय कृषि साख स्थानीयकरण कोष' की भी स्थापना की जाय जिसका उद्देश्य सहकारी व्यवस्था को, उसके भाग मे से उन-उन परिवर्तनों को कम करके जोकि कृषकों द्वारा इनसे लिये हुए ऋणों को चुकाने में अस्थायी रूप से असमर्थ हो जाने पर पैदा होते हैं, स्थायित्व प्रदान करना है। इस फण्ड का रुपया स्टेट कोआपरेटिव बैंकों को मध्यकालीन ऋण एवं अग्रिम देने के लिए ही प्रयोग किया जायगा, जिससे कि ये आवश्यकता पड़ने पर अपने अल्पकालीन ऋणों को मध्यकालीन ऋणों मे परिणित कर सकें। अनुभव यह बताता है कि प्राकृतिक संकटों के समय (जैसे सूखा, अत्यधिक वर्षा, बाढ़ और अकाल आदि) सहकारी समितियाँ किसानों से ऋण की वसूली करने मे असफल हो जाती है और परिणामत: खुद भी सहकारी बैंकों को अपना ऋण नही चुका पातीं। ऐसी आकस्मिक परिस्थितियों के लिये यह कोष बनाया गया है।

हर्ष का विषय है कि सरकार ने इन सिफारिशों को कार्यान्वित कर दिया है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (संशोधन) बिल सन् १९५५ मे पास कर दिया गया, जिसके अनुसार रिजर्व बैंक ने दो कोष स्थापित भी कर दिये है—राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष १ करोड़ रु० (बजाय ५ करोड़ रु० के) और राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायित्व) कोष १ करोड़ रु० से। ३० जून १९६२ को इनमे क्रमश: ६१ करोड़ रु० व ७ करोड़ रु० थे। कोआपरेटिव क्रेडिट सोसायटीज को रिजर्व बैंक अधिक से अधिक कितना ऋण दे सकता है, इसका अब कोई प्रतिबन्ध नही है। इसके विपरीत न्यूनतम सीमा निर्धारित कर दी गई है। जैसे-जैसे साख सुविधायें देने के लिए उपयुक्त मशीनरी संगठित होती जायगी वैसे-वैसे राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष का वार्षिक चन्दा भी बढ़ा दिया जायगा, फिलहाल मे ५ करोड़ रुपया (जो दस करोड़ कर दिया है) ही पर्याप्त है, क्योंकि तत्कालीन नियमों के अन्तर्गत रिजर्व बैंक सहकारी बैंकों को २० लाख रुपये से अधिक नही दे सकता था।

कमेटी की सिफारिशों पर अब स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना कर दी गई है, जो इम्पीरियल बैंक का राष्ट्राधिकृत रूप है। इसने ४०० शाखायें खोलने की अपनी योजना को लगभग पूर्ण कर लिया है। इससे कृषि साख सुविधाओं के विस्तार में राज्य की साझेदारी कायम की गई। रिजर्व बैंक ने सहकारी संगठनों के लिये कर्मचारियों की प्रशिक्षा के हेतु कुछ स्कूल भी स्थापित किये। इस सम्बन्ध मे भी विभिन्न राज्यों की सहकारी संस्थाओं का रिजर्व बैंक के साथ सहयोग रहा है।

परीक्षा प्रश्न

(१) किसानों को साख की क्यों आवश्यकता पड़ती है ? इनकी साख आवश्यकताओं को पूरा करने वाली संस्थाओं का उल्लेख कीजिये ?

(२) ग्रामीण साहूकार की सेवाओं, इनके दोष एवं तत्सम्बन्धी उपचारों पर प्रकाश डालिये।

(३) सरकार द्वारा कृषकों को तकावी ऋण देने की पद्धति को समझाइये। इसमें क्या सुधार वाञ्छनीय हैं ?

(४) व्यापारिक बैंक कृषि साख की पूर्ति किस सीमा तक करते हैं ? इन्हें अधिक उपयोगी किस प्रकार बनाया जा सकता है ?

(५) बंगाल के ऋण कार्यालयों तथा निधियों व चिट फण्डों पर लघु नोट लिखिये।

(६) ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं का विकास करने में क्या बाधायें हैं तथा इन्हें कैसे दूर किया जा सकता है ?

(७) कृषि अर्थ-व्यवस्था रिजर्व बैंक आफ इंडिया के योगदान पर प्रकाश डालिये।

अध्याय ४

देशी बैंकर

(Indigenous Banker)

प्रारम्भिक

भारत में अनादिकाल से उधार लेने और देने की प्रथा चलन में है। यद्यपि आधुनिक बैंक का रूप हमारे प्राचीन काल के बैंकों से भिन्न है तथापि उनका कार्य बहुत कुछ आधुनिक बैंक के ही सदृश है। प्राचीन बैंकों के प्रतिरूप आज भी भारत में 'देशी बैंकर' के रूप में यत्र-तत्र विद्यमान हैं।

'देशी बैंकर' से आशय

केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति १६२६ के अनुसार—"इम्पीरियल बैंक (स्टेट बैंक), विनिमय बैंक व्यापारिक बैंक तथा सहकारी बैंकों को छोड़ कर जो अन्य संस्थायें हुन्डियों का व्यवहार करती हैं, जनता से जमानत पर धन प्राप्त करती हैं और ऋण देती हैं; वे 'स्वदेशी बेंकर्स' कही जाती हैं। 'देशी बेंकर' शब्द की परिभाषा को स्पष्टतः समझने के लिये यह आवश्यक है कि इसका साहूकारों व आधुनिक बैंकिंग संस्थाओं से भेद भली प्रकार समझ लिया जाय।

देशी बैंकर और साहूकार में अन्तर

स्वदेशी बैंकर जमा पर धन प्राप्त करते हैं व हुंडियों का लेन-देन करते हैं, ऋण लेने के उद्देश्य के बारे में अधिक पूछताछ करते है, ब्याज दर कम लेते है, मुख्यतः व्यापार व उद्योग की सहायता के लिये ऋण देते हैं, बैंकिंग ही इनका मुख्य व्यवसाय होता है, निजी पूंजी के साथ-साथ जमा-पूंजी से भी ऋण देते हैं। इसके विपरीत साहूकार जमा पर धन नही लेते और हुण्डियों का लेन-देन भी कम करते हैं, ऋण लेने के उद्देश्य के बारे में अधिक पूछतच्छ नही करते, उपभोग के लिये विशेष रूप से ऋण देते हैं, कृषि मे सहायता देना व बैंकिंग के साथ-साथ और कोई अन्य कार्य इनका प्रमुख व्यवसाय होता है और ये प्रायः निजी पूंजी से ही ऋण दिया करते हैं। उक्त भिन्नतायें कभी-कभी इतनी संकीर्ण होती है कि स्वदेशी बैंकर व महाजनों में भेद करना कठिन हो जाता है।

आधुनिक बैंक और देशी बैंकर में भेद

आधुनिक बैंकिंग संस्थायें भी कई बातों में देशी बैंकरों से भिन्न होती हैं। आधुनिक बैंक अपना हिसाब-किताब कम्पनीज एक्ट के मुताबिक सही-सही रखते है,

उनका अंकेक्षण कराते हैं, अन्तिम खातों का निर्धारित रूप में प्रकाशन करते हैं, उनका व्यापार मुख्यतः अंश पूँजी के अतिरिक्त जमा धन पर निर्भर रहता है, चैकों द्वारा रुपया निकालने की सुविधा देते हैं, केवल बैंकिंग तक अपना कार्य सीमित रखते हैं, प्रायः अल्पकालीन ऋण देते हैं, बिक्री साध्य एवं पर्याप्त प्रतिभूतियों पर ही ऋण देते हैं, ब्याज दर नीची होती है, कार्य-प्रणाली कुछ जटिल है व अंग्रेजी भाषा में सम्पन्न की जाती है, विदेशी व्यापार की अर्थ-व्यवस्था करते है, रिजर्व बैंक से इनका घनिष्ट सम्बन्ध होता है, इनकी शाखायें दूर-दूर तक होती हैं। इसके विपरीत स्वदेशी बैंकर अपना हिसाब-किताब रखने मे स्वतन्त्र होते हैं, उनका प्रकाशन व अंकेक्षण नहीं कराते, अपनी कार्यशील पूँजी का बहुत थोड़ा भाग जमा धन से प्राप्त करते हैं, अंश-पूँजी का प्रबन्ध नहीं करते, चैकों का प्रयोग नहीं करते, सब भुगतान नगद करते है, बैंकिंग के साथ-साथ व्यापार, आढ़त व सट्टा कार्य भी करते हैं, ग्राहक के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं, अल्पकालीन व दीर्घकालीन दोनों तरह के ऋण देते हैं, चल व अचल दोनों प्रकार की सम्पत्तियों पर ऋण देते हैं, ब्याज दरें ऊँची होती हैं, कार्य प्रणाली सरल व प्रादेशिक भाषा मे सम्पन्न की जाती है, विदेशी बिलों की कटौती नहीं करते, रिजर्व बैंक से सम्बन्ध नही के बराबर होता है तथा शाखायें भी नही रखते हैं।

स्वदेशी बैंकरों का महत्व एवं इनके कार्य

स्वदेशी बैंकर सभी राज्यों मे आन्तरिक व्यापार को आर्थिक सहायता प्रदान करने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका रखते हैं तथा अप्रत्यक्ष रूप से कृषि में सहायता करते हैं। देशी बैंकरो व महाजनो के सम्बन्ध में पंजाब बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी ने कहा था कि—"देशी बैंकर उपभोग की अपेक्षा व्यापार एवं उद्योग का अर्थ-प्रबन्धन करता है। जबकि महाजन व्यापार की अपेक्षा उपभोग का अर्थ-प्रबन्धन करता है। दोनों ही बिना जमानत ऋण देते हैं लेकिन महाजन प्रायः बिना जमानत ऋण दिया करते हैं जबकि देशी बैंकर प्रायः जमानत पर ऋण देता है। देशी बैंकर ऋण के उद्देश्य पर विशेष ध्यान देता है जबकि महाजन कम ध्यान देता है। देशी बैंकर के ग्राहक उसे समय पर रुपया चुका देते हैं जबकि महाजन को इसके लिये दबाव डालना पड़ता है। अतः देशी बैंकर ६ से ९% ब्याज पर ही ऋण दे सकता है जबकि महाजन प्रायः ८ से १२% तक और कभी-कभी १८% ब्याज लगाता है।" स्वदेशी बैंकरों के कार्यों का अध्ययन करने से उनका महत्व अधिक स्पष्ट हो जायगा। ये कार्य निम्न-लिखित हैं:—

(i) जमा धन प्राप्त करना—वे जमा धन पर ३% से ९% तक ब्याज देते हैं, जनता से जमा धन अधिक मात्रा में स्वीकार नहीं करते; क्योंकि इससे यकायक वापिस ले लिए जाने पर इनकी आर्थिक दशा खराब हो जाती है। अतः प्रायः मित्रों से ही जमायें लेते हैं और चैक द्वारा रुपया निकालने की सुविधा नहीं देते।

(ii) रुपया उधार देना—यह इनका सबसे प्रमुख कार्य है। वे प्रायः व्यापार, उद्योग व कृषि कार्यों के लिये ऋण देते हैं। उपभोग के लिये भी कभी-कभी दे देते हैं; अच्छी किस्म की जमानत लेते हैं, व्यक्तिगत जमानत पर भी कभी-कभी ऋण दे देते हैं; ६% से १८% तक ब्याज लेते हैं (अपर्याप्त जमानत वाले ऋणों पर १८% से ३७½% तक), भूमि, जेवर, फसल आदि की जमानत स्वीकार करते हैं, कुछ ऋण माल के रूप में दिये जाते और वसूल किए जाते हैं, आढ़तिये का काम भी करते हैं, हुण्डियों को भुनाते हैं, शिल्पकारों को कच्चा माल बेचते हैं और इनका तैयार माल खरीद लेते हैं। कुटीर उद्योगों की भी आर्थिक सहायता करते हैं, बड़े पैमाने के उद्योगों

में भी कभी-कभी ५-७ वर्ष की अवधि तक धन लगा देते हैं किन्तु गोदामों में पड़े माल की जमानत पर ऋण नहीं देते हैं।

(iii) हुण्डियों का व्यवसाय करना—वे विभिन्न प्रकार की हुण्डियां जारी करते है, इनका क्रय-विक्रय करते हैं तथा भुनाते भी हैं। हुण्डियां स्वदेशी ढंग से लिखते हैं।

(iv) अन्य व्यापार—ये व्यापार और दुकानदारी भी करते हैं ताकि समय-समय पर आधुनिक बैंकों की प्रतियोगिता से होने वाली क्षति पूर्ण होती रहे। अनाज, कपास व अन्य प्रतिभूतियों में सट्टा करते हैं तथा व्यापारिक फर्मों के एजेण्ट के रूप में भी कार्य करते है।

स्वदेशी बैंकिग के दोष

स्वदेशी बैंकिग के प्रमुख दोष निम्नलिखित है :—

(१) बैंकिग व्यवसाय के साथ ही साथ अन्य व्यवसाय भी करना, जिससे बैंक के रूप में इनकी उपयोगिता कम हो जाती है। इनके सट्टा व्यवहारों से जमाकर्त्ताओं को हानि होने की सम्भावना रहती है।

(२) धोखे व फरेब से भरी कार्य-प्रणाली के द्वारा ये ऋणियों का खूब शोषण करते है जैसे *वसूली की रसीदें न देना, ऋण की रकम बढ़ा कर लिखना*, कोरे कागज पर हस्ताक्षर कराना आदि।

(३) ब्याज की दरें बहुत ऊँची होती हैं जिससे ऋणियों को ऋण से मुक्त होने का अवसर नहीं मिलता।

(४) कार्यशील पूंजी का अभाव उन्हें सदा ही रहता है क्योंकि वे मूलत: निजी पूंजी से बैंकिग व्यवसाय करते है। पूंजी की कमी के कारण वे हुण्डियो का क्रय-विक्रय अधिक नही कर पाते।

(५) जनता की बचत को इन्होंने प्रोत्साहन नहीं दिया जिससे देश की संचित राशि का उत्पादन कार्यों मे प्रयोग नही हो पाया है।

(६) स्वदेशी बैंकरों का कार्य परम्परागत आधार पर चलता है जिससे इनकी कार्य-विधियो मे बहुत भिन्नता पाई जाती है। हिसाब-किताब का प्रकाशन न होने से जनता को इनमें कम विश्वास होता है।

(७) बैंकिग सिद्धान्तों की उपेक्षा की जाती है और अपर्याप्त जमानतों पर ऋण दे देते है।

(८) देशी बैंकरों में परस्पर सहयोग का अभाव है। वे परस्पर प्रतियोगिता तो करते ही है, साथ ही आधुनिक बैंको से भी प्रतियोगिता के कारण उनकी दशा बहुत खराब हो गई है।

स्वदेशी बैंकिग में सुधार

सभी बैंकिग जाँच समितियों ने ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में इनका महत्व स्वीकार किया है। ये लगभग ६०% ग्रामीण साख की पूर्ति करते है। अतः इनकी सेवाओं का अन्त करने के बजाय इनमें सुधार करने पर विशेष बल दिया गया है। केन्द्रीय बैंकिग जाँच समिति (१९२९) व प्रान्तीय बैंकिग जाँच समितियो ने समय-समय पर निम्न सुझाव दिये हैं :—

(१) इन्हें अन्य व्यावसायिक कार्य व सट्टा व्यापार नहीं करना चाहिए।

(२) रिजर्व बैंक से इनको प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित किया जाय। जिन स्थानों में रिजर्व बैंक या इम्पीरियल (स्टेट) बैंक की शाखायें नहीं हैं वहाँ उन्हें उनका एजेन्ट रखा जाय।

(३) रिजर्व बैंक को इनकी पूँजी, जमा-धन व कार्य-प्रणाली पर प्रतिबन्ध लगाने चाहिए तथा कुछ सुविधायें भी देनी चाहिए।

(४) व्यापारिक बैंकों को चाहिये कि इनकी हुण्डियों की पुनः कटौती करें।

(५) उन्हें अपना व्यवसाय आधुनिक ढंग पर संगठित करना चाहिये, खाते सही प्रकार रखने, निरीक्षण कराने व प्रकाशित कराने चाहिए ताकि जनता का विश्वास बढ़े।

(६) रिजर्व बैंक व स्टेट बैंक इन्हें धन के हस्तांतरण की सुविधायें दें।

(७) स्वदेशी बैंकरों को लाइसेन्स दिये जायें। लाइसेन्स प्राप्त विदेशी बैंकरों का एक संघ बनाया जाय, जिससे इनमें सहयोग की वृद्धि हो।

(८) इन्हें अपना व्यवसाय बिलों की दलाली करने के व्यवसाय में परिणित करना चाहिये ताकि अच्छे बिल बाजार का विकास हो सके।

(९) स्वदेशी बैंकरों को भी अखिल भारतीय बैंकिंग संघ की सदस्यता प्रदान की जाय।

(१०) सरकार ऐसे नियम बनाये जिनसे ऋणियों का शोषण न हो सके।

यदि उक्त सुझावों के आधार पर स्वदेशी बैंकिंग में सुधार कर दिये गये, तो वे वास्तव में देश की बैंकिंग पद्धति के एक महत्वपूर्ण अंग बन जायेंगे।

रिजर्व बैंक द्वारा नियन्त्रण

सन् १९३७ में रिजर्व बैंक ने स्वदेशी बैंकरों को कुछ निश्चित शर्तों की पूर्ति पर अपनी स्वीकृत सूची में सम्मिलित करने की एक योजना बनाई थी। ये शर्तें निम्नलिखित थीं :—

(१) उनकी न्यूनतम पूँजी २ लाख रु० हो और अगले ५ वर्षों में ५ लाख रु० तक बढ़ालें।

(२) गैर-बैंकिंग कार्य बन्द कर दें।

(३) हिसाब-किताब ठीक रखें, अंकेक्षण करायें, रिजर्व बैंक को मासिक विवरण भेजें।

(४) चिट्ठा प्रकाशित करें।

(५) जनता से जमा धन प्राप्त करें व काल देय का ५०% तथा माँग देय का २०% रिजर्व बैंक के पास रखें।

(६) समय-समय पर अपने कार्य सम्बन्धी विवरण उसे भेजें।

स्वदेशी बैंकरों ने उक्त शर्तों को अनुपयुक्त बताया और विरोध किया जिससे उनका सम्बन्ध आधुनिक बैंकिंग से स्थापित नहीं हो सका है। उनके विरोध की बातें निम्न थीं :—

(१) वे गैर बैंकिंग कार्य बन्द करने को तैयार न थे।

(२) इम्पीरियल बैंक व व्यापारिक बैंकों से पर्याप्त सहायता मिलते रहने के कारण कुछ देशी बैंकरों ने योजना में रुचि नहीं ली।

(३) वे हिसाब-किताब के निरीक्षण, अंकेक्षण व प्रकाशन के विरुद्ध थे।

(४) उन्होंने कुछ शर्तों को बहुत अपमानजनक समझा।

बैंक से सम्बन्धित हो जाने पर लाभ—रिजर्व बैंक ने राष्ट्रीयकरण के पश्चात् पुन: अपने सम्बन्धीकरण प्रयास आरम्भ कर दिये हैं। जब स्वदेशी बैंकरों का सम्बन्ध रिजर्व बैंक से हो जायेगा तो निम्न लाभ होंगे :—

(१) भारतीय मुद्रा बाजार के विभिन्न अंगों का संगठन पूर्ण हो जायेगा तथा रिजर्व बैंक को साख नियन्त्रण में अधिक सुविधा हो जायेगी।

(२) स्वदेशी बैंकरों व आधुनिक बैंकों के बीच प्रतियोगिता के बजाय सहयोग की भावना जागेगी।

(३) इनका बैंकिंग व्यापार तब स्वत: इतना बढ़ जायेगा कि गैर बैंकिंग कार्य करने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

(४) उनसे विवरण पत्र प्राप्त होने रहने से रिजर्व बैंक देश की वित्तीय स्थिति का अधिक विश्वासजनक अनुमान लगा सकेगा।

(५) जनता का इनमें व अन्य बैंकिंग संस्थाओं में विश्वास बढ़ जायेगा।

स्वदेशी बैंकर व रिजर्व बैंक के बीच सम्बन्ध की स्थापना के लिये स्वतन्त्र भारत में अखिल भारतीय सर्राफ सम्मेलन आयोजित किया गया। लेकिन इस उद्देश्य में सफलता नहीं मिली।

परीक्षा प्रश्न

(१) 'स्वदेशी बैंकर' किसे कहते हैं? एक साहूकार अथवा आधुनिक बैंक से यह किन बातों में भिन्न होता है?

(२) स्वदेशी बैंकर की कार्यप्रणाली पर प्रकाश डालिये तथा इसके दोष बताइये।

(३) भारतीय बैंकिंग प्रणाली में स्वदेशी बैंकरों का क्या महत्व है? इन्हें देश के लिए अधिक उपयोगी बनाने के हेतु क्या उपाय किये जाने चाहिये?

(४) रिजर्व बैंक ने देशी बैंकरों को अपने नियन्त्रण में लाने के हेतु क्या उपाय किये हैं? इनमें उसे कहाँ तक सफलता मिली है?

सहकारी बैंक
(Cooperative Banks)

प्रारम्भिक

भारत की एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक समस्या ग्रामीण अर्थ-प्रबन्धन की है क्योंकि ग्रामीण जन-संख्या का जीवन-स्तर बहुत निम्न-कोटि का है। कृषकों की आर्थिक सहायता के लिये एवं महाजनों के चंगुल से उन्हें छुड़ाने के लिए भारत में १६ वी शताब्दी के अन्तिम वर्षों में सहकारी आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। इसे चलते हुए ५० वर्ष से भी ऊपर हो गये हैं, परन्तु अभी इससे कोई विशेष लाभ प्रगट नहीं हुआ है। फिर भी ग्रामीण भारत के उत्थान का आशय इस आन्दोलन पर ही निर्भर है। प्रस्तुत अध्याय में सहकारी साख की व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है।

'सहकारी बैंक' से आशय

सहकारिता के सिद्धान्तों पर बनाई गई संस्थाओं को जो बैंकिंग का कारोबार करती हैं, 'सहकारी बैंक' कहा जाता है। 'सहकारी बैंक' के अर्थ को भली प्रकार समझने के लिये इसका व्यापारिक बैंकों से भेद जान लेना आवश्क है। इनमे भेद की बातें निम्नलिखित हैं :—

(१) यद्यपि दोनों ही जनता से डिपाजिट स्वीकार करती हैं तथापि सहकारी बैंक केवल अपने सदस्यों को ही ऋण देते हैं जबकि व्यापारिक बैंक गैर सदस्यों को भी ऋण दे देते हैं। इस प्रकार, सहकारी बैंक अपने सदस्यों की आर्थिक उन्नति के लिये प्रयत्न करते हैं किन्तु साधारण बैंक व्यापारिक उन्नति के लिये प्रयत्न करते हैं।

(२) सहकारी बैंकों का अपने सदस्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है जबकि व्यापारिक बैंकों का अपने ग्राहकों और ऋणियों से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होता।

(३) सहकारी बैंक ऋण देते समय यह ध्यान रखते है कि ऋण किस कार्य के लिये लिया जा रहा है ? वे प्राय: उत्पादक कार्यों के लिये ही ऋण देते हैं। और कभी-कभी अनुत्पादक कार्यों के लिये भी ऋण देते हैं। इनकी ब्याज दर बहुत कम होती है। किन्तु व्यापारिक बैंक केवल यह देखता है कि ऋण की जमानत में तरलता और विक्रय साध्यता है या नहीं; ऋण के उद्देश्य पर वह अधिक ध्यान नहीं देता। उसकी ब्याज दर ऊँची होती है।

(४) सहकारी बैंक साधन रहित व्यक्तियों को व्यक्तिगत साख पर ऋण देते ... बैंक केवल उपयुक्त एवं पर्याप्त जमानत पर ही ऋण देते हैं। ऐसी जमानत प्राय: अच्छी आर्थिक स्थिति वाले व्यक्ति ही जुटा सकते हैं।

(५) सहकारी बैंकों का संचालन भारतीय सहकारिता कानून के अनुसार होता है जबकि व्यापारिक बैंकों का संचालन भारतीय बैंकिंग कम्पनीज एक्ट के अन्तर्गत होता है।

(६) सहकारी बैंकों में कार्य प्रजातन्त्रात्मक ढंग से किया जाता है । प्रत्येक सदस्य को समिति का कार्य करने का अवसर मिलता है । लेकिन व्यापारिक बैंकों का कार्य संचालन अंशधारी स्वयं नही करते वरन् उनके चुने हुये प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है ।

सहकारी बैंकों के भेद

भारत में सहकारी साख प्रणाली का संगठन संघीय आधार पर हुआ है । सबसे नीचे ग्रामीण अथवा नगर साख समितियाँ हैं । इन समितियो के ऊपर केंन्द्रीय बैंक है और सबसे ऊपर प्रान्तीय सहकारी बैंक या शीर्ष बैंक हैं । प्रारम्भिक समितियों और केन्द्रीय बैंकों के बीच में यूनियनें होती हैं जो प्रारम्भिक समितियों और केन्द्रीय बैंक के बीच सम्पर्क स्थापित करती हैं और समितियों के निरीक्षण मे कार्य करती हैं किन्तु स्वयं ऋण नही देती हैं । यहाँ हम विस्तार से विभिन्न प्रकार की साख सहकारिताओ का वर्णन करेंगे :—

(१) ग्रामीण प्रारम्भिक सहकारी साख समितियाँ

ये समितियाँ रेफीसन नमूने पर बनाई जाती हैं । कोई भी १० या इससे अधिक व्यक्ति (अधिकतम संख्या १००) मिलकर सहकारी साख समिति स्थापित कर सकते हैं । इन समितियों का कार्य-क्षेत्र प्राय: एक गाँव ही होता है, ताकि पारस्परिक नियन्त्रण एवं निरीक्षण से समिति का कार्य सफलतापूर्वक चल सके । इन समितियों की पूँजी निम्न साधनों से प्राप्त होती है—शेयर कैपीटल, प्रवेश-फीस, सदस्यों के डिपाजिट, सुरक्षित कोष, सहकारी ऋण, केन्द्रीय व प्रादेशिक सहकारी बैंकों से ऋण । प्रारम्भिक साख समितियाँ केवल अपने सदस्यों को ही ऋण दिया करती है और प्राय: यह केवल उत्पादक कार्यों के लिये ही दिये जाते हैं । ऋणों पर ब्याज की दर विभिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न (प्राय: ६¼% से १५% तक) होती है । समिति के प्रबन्ध के लिये सब सदस्यो की एक साधारण समिति होती है, जो एक प्रबन्धकारिणी समिति चुन देती है । समिति का एक वेतन भोगी मन्त्री भी होता है जो प्रबन्धकारिणी समिति के निर्देशों के अनुसार दैनिक कार्य करता रहता है । इन समितियों का दायित्व प्राय: असीमित होता है । प्रत्येक समिति को एक निश्चित रूप में अपना हिसाब-किताब रखना पड़ता है, जिनका अंकेक्षण प्रति वर्ष रजिस्ट्रार द्वारा नियुक्त अंकेक्षकों द्वारा किया जाता है। देश की समस्त सहकारी संस्थाओं में प्रारम्भिक सहकारी संस्थाओं का आज भी बाहुल्य है ।

जून १९६० के अन्त में २,०३ लाख कृषि साख समितियाँ थी । इनको सदस्य-संख्या १·४४ करोड़ थी ।[1] अन्य विवरण इस प्रकार था :—

		करोड़ रु०
दत्त शेयर पूँजी	...	४७·६७
कोष	...	१५·६६
डिपाजिट	...	११·८६
अन्य ऋण (केन्द्रीय बैंकों से)	...	१४८·८८
ऋण :—चालू (Outstandings)	...	१७७·७१
ओवर ड्यू (Over dues)	...	३७·७०
संदिग्ध एवं डूबे ऋण	...	०·४७

१. जून १९६२ में २·२१ लाख प्रारम्भिक कृषि साख समितियाँ (सेवा सहकारिताओं सहित) थी, सदस्य संख्या २१० लाख । इनके द्वारा दिये गये ऋण २४० करोड़ रु० थे ।

कुछ राज्यों में अनाज बैंक (Grain Bank) क्रिया-शील हैं। सन् १९५९-६० में इनकी संख्या ६,५५४, सदस्य संख्या १२·१३ लाख, दत्त पूंजी १·२० करोड़ रु०, कोष १·८७ करोड़ रु०, डिपाजिट ४५ लाख रु०, और अन्य ऋण ८७·६३ लाख रु० थे। वर्ष में दिये गये ऋण १·४७ करोड़ रु० थे और चालू ऋण २·५४ करोड़ रु० थे। ९९% अनाज बैंक आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, मैसूर और उड़ीसा में हैं।

(२) नगर सहकारी साख समितियां

ये छोटे-छोटे कस्बों और नगरों में शुल्ज डिलीटज नमूने पर या इटली के लुज्जटाई बैंकों के आधार पर संगठित की जाती हैं। इनका मुख्य उद्देश्य औद्योगिक मजदूरों व अन्य अल्प साधन वाले व्यक्तियों को लाभ पहुँचाना है। इनके सदस्यों का दायित्व सीमित होता है। समिति की पूंजी मुख्यत: शेयर बेचकर प्राप्त होती है, कार्यशील पूंजी प्राप्त करने के अन्य स्रोत हैं—*सदस्यों व असदस्यों के डिपाजिट*। वे केन्द्रीय सहकारी बैंकों या सरकार पर बहुत कम निर्भर होती हैं। समिति के प्रबन्ध के लिए एक साधारण सभा, प्रबन्ध कारिणी समिति व वेतन भोगी कार्यकर्ता होते हैं। ये समितियाँ भी मुख्यत: उत्पादन कार्यों के लिये ही ऋण देती हैं—सामान्यत: २ वर्ष के लिये। रजिस्ट्रार द्वारा नियुक्त अंकेक्षक इन समितियों का प्रतिवर्ष अंकेक्षण करते हैं। बम्बई व मद्रास राज्यों में इस प्रकार की समितियों का विशेष विकास हुआ है। सन् १९५९ में इन समितियों की संख्या १०,००३, सदस्य-संख्या ३०·७२ लाख व कार्यशील पूंजी ८५·७३ करोड़ रुपये थी।

(३) केन्द्रीय सहकारी बैंक

प्रारम्भिक सहकारी साख संस्थाओं के साधन उनकी आवश्यकताओं की तुलना में बहुत कम होते हैं, अत: इनकी सहायता के लिये केन्द्रीय सहकारी बैंकों की स्थापना की गई है। साधारणत: एक जिले में एक ही बैंक होता है। इनमें सदस्य व्यक्ति तथा सहकारी समितियां दोनों ही होते हैं। बैंकों का प्रबन्ध सदस्यों द्वारा चुने गए संचालकों के हाथ में रहता है। इन्हें अपने कार्यशील पूंजी अंशों के विक्रय से, सदस्य समितियों की संचित राशि से, जनता के *डिपाजिटों व ऋणों से प्राप्त होती* है। इन्हें तीन प्रकार के खातों में डिपाजिट प्राप्त होते हैं—चालू खाता, सेविंग्स खाता और निश्चित अवधि खाता। बैंक अल्पकालीन ऋण लेता है जो मुख्यत: स्टेट बैंक, व्यापारिक बैंक, प्रादेशिक सहकारी बैंक तथा सरकार से प्राप्त होते हैं। इन बैंकों का प्रमुख कार्य प्राथमिक सहकारी साख समितियों को आर्थिक सहायता देना है। इसके अलावा ये बैंक अन्य बैंकिंग कार्य भी करते हैं। केन्द्रीय सहकारी बैंकों ने सन्तोषजनक प्रगति की है। कुछ राज्यों में ये गैर साख कार्य भी करने लगे हैं।

> **भारत में साख सहकारिता के प्रमुख ४ अंग हैं**
>
> (१) ग्रामीण प्राथमिक सहकारी साख समितियां।
> (२) नगर प्राथमिक सहकारी साख समितियां।
> (३) केन्द्रीय सहकारी बैंक।
> (४) प्रान्तीय (या शीर्ष) सहकारी बैंक।

सन् १९५१-५२ में केन्द्रीय सहकारी बैंकों की संख्या ५०९ थी और सदस्य संख्या (व्यक्ति + संस्थायें) २३१ हजार थी जबकि सन् १९५९-६० में क्रमश: ४०० और ३६९ हजार थी। केन्द्रीय सहकारी बैंकों की संख्या में यह कमी इस कारण हुई

कि रिजर्व बैंक द्वारा प्रत्येक जिले में एक ही केन्द्रीय बैंक रखने की नीति के फलस्वरूप कुछ बैंकों का परस्पर संविलयन हो गया था।

केन्द्रीय सहकारी बैंकों की शेयर पूंजी सन् १९५०-५१ में ४.६२ करोड़ रु० थी, जो सन् १९५९-६० मे ३१.४९ करोड़ हो गई। रिजर्व भी इन्हीं वर्षों में ५.१८ करोड़ रु० से १०.२० करोड़ रु० हो गये। चालू, बचत एवं स्थायी जमा खातों में कुल डिपाजिट सन् १९५९-६० में ९५.४० करोड़ रु० थे, और अन्य दायित्व लगभग ११०.२१ करोड़ था।

सन् १९५९-६० में केन्द्रीय सहकारी बैंकों का कुल १७६.११ करोड़ रु० बकाया ऋण था—समितियों पर १७२.५८ करोड़ तथा व्यक्तियों पर ३.५३ करोड़ रुपये। कुल बकाया ऋण में से २४.२१ करोड़ रु० ओवरड्यू हो गया था तथा १.८० करोड़ रु० संदिग्ध ऋण था।

(४) प्रान्तीय सहकारी बैंक

इन्हें शीर्ष बैंक (Apex Banks) भी कहते हैं। इन बैंकों की स्थापना का *उद्देश्य केन्द्रीय सहकारी बैंक का संगठन व नेतृत्व करना*, सहकारी साख समितियों तथा मुद्रा बाजार में समन्वय स्थापित करना व प्रान्त में सहकारी आन्दोलन का मार्ग-दर्शन करना है। पंजाब व बंगाल के शीर्ष बैंक अमिश्रित तथा शेष सब प्रान्तों के बैंक मिश्रित है। इन बैंकों का प्रबन्ध एक बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स द्वारा किया जाता है, जिनमें समितियों व व्यक्तियों के प्रतिनिधि होते हैं। इन्हें अपनी पूंजी शेयरों के विक्रय से, सदस्य समितियों के डिपाजिटों, व्यापारिक बैंकों, स्टेट बैंक तथा सरकार से प्राप्त होती है। केन्द्रीय सहकारी बैंकों की अतिरिक्त राशि भी इनके पास जमा रहती है। आवश्यकता पड़ने पर वे सहकारी प्रतिभूतियों के आधार पर रिजर्व बैंक से भी रुपया उधार ले सकते हैं।

सन् १९५९-६० में शीर्ष बैंकों की संख्या २२ थी जबकि सन् १९५१-५२ में १६ थी। इन्ही वर्षों में सदस्य संख्या क्रमशः ३१,००७ और २३,२७२ थी। शीर्ष बैंकों की शेयर पूंजी सन् १९५१-५२ में १.९० करोड़ थी जो सन् १९५९-६० में १४.६२ करोड़ रु० हो गई। इसमें सरकार द्वारा योगदान सन् १९५९-६० में ५.६१ करोड़ रु० था। शीर्ष बैंकों के डिपाजिट व अन्य ऋण सन् १९५१-५२ में क्रमशः २१.१८ करोड़ रु० तथा ११.२७ करोड़ थे जो सन् १९५९-६० में क्रमशः ६०.१५ करोड़ रु० तथा ९४.८९ करोड़ रु० हो गये। सन् १९५१-५२ में इनकी कार्यशील पूंजी ३९.७२ करोड़ रु० से बढ़ कर सन् १९५९-६० में १७४.७४ करोड़ रु० हो गई। शीर्ष बैंकों द्वारा दिये गये ऋणों के विवरण इस प्रकार थे :

	१९५१-५२	१९५९-६०
		(करोड़ रु०)
ऋण दिये गये (Loans advanced)	५५.२७	१९९.९२
चालू ऋण (Loans outstanding)	२०.०१	१२९.८६
बहुत दिनों से बकाया ऋण (Loans overdue)	३.२२	६.४३

इस प्रकार, सहकारी, आन्दोलन के अन्तर्गत ऋण देने का कार्य चार सीढ़ियों में होता है—(१) व्यक्तियों को ऋण प्राथमिक सहकारी साख समितियों से मिलता है, (२) केन्द्रीय बैंक प्राथमिक सहकारी साख समितियों को ऋण देते हैं, (३) आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय सहकारी बैंक प्रान्तीय सहकारी बैंकों से ऋण लेते हैं, और

(४) शीर्ष बैंकों की ऋण की आवश्यकता स्टेट बैंक, व्यापारिक बैंक और रिजर्व बैंक से पूरी होती है।

एक ग्रामीण साख समिति का संगठन

किसी गाँव में एक सहकारी साख समिति का संगठन करने के सम्बन्ध में निम्न बातें उल्लेखनीय हैं—

(१) सहकारी समिति की स्थापना एवं रजिस्ट्री—(i) कोई भी १० व्यक्ति जो एक ही जाति या व्यवसाय से सम्बन्ध रखते हों या एक ही स्थान में रहते हों, कृषि साख समिति के नाम से अपने आप को रजिस्टर करा सकते हैं। (ii) समितियों का परिमाण बड़ा नहीं होना चाहिये, क्योंकि जैसे-जैसे सदस्यों की संख्या बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे प्रबन्ध में कठिनाइयाँ बढ़ती जाती हैं। (iii) आदर्श यह होना चाहिए कि एक गाँव में एक ही समिति बनाई जाय, क्योंकि उसकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक सदस्य को एक दूसरे के सम्बन्ध में जानकारी हो, तभी एक दूसरे पर प्रभाव भी पड़ सकता है। (iv) किन्तु समिति का आधार इतना छोटा भी न हो कि उसके कार्य-संचालन का व्यय अनार्थिक हो जाय। (v) अतः यदि किसी गाँव की जनसंख्या कम है, तो उसे पड़ौसी गाँव की समिति के कार्य-क्षेत्र में रखा जा सकता है।

> **ग्रामीण साख समिति के संगठन की ९ मुख्य बातें**
>
> (१) सहकारी समिति की स्थापना एवं रजिस्ट्री।
> (२) सहकारी समिति के उद्देश्य।
> (३) सहकारी समिति की सदस्यता।
> (४) समिति का दायित्व।
> (५) समिति का प्रबन्ध।
> (६) समिति की पूंजी।
> (७) समिति की ऋण नीति—
> (i) प्रतिभूति, (ii) ऋण की रकम, (iii) ऋण का उद्देश्य, (iv) ऋण की अवधि, (v) ब्याज दर, (vi) ऋणों की स्वीकृति, (vii) ऋणों की वसूली।
> (८) लाभों का वितरण।
> (९) अंकेक्षण, निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण

(२) सहकारी समिति के उद्देश्य—समिति के उद्देश्य उसके नियमों में उल्लिखित होते हैं और उनमें (i) प्रधान उद्देश्य सदस्यों व अन्य व्यक्तियों एवं संस्थाओं से कोष उधार लेना तथा सदस्यों को कोष देना होता है। (ii) मितव्ययता को प्रोत्साहन देना भी इनका एक उद्देश्य है। (iii) कभी-कभी कृषि एवं घरेलू आवश्यकताओं के संयुक्त क्रय। (iv) यन्त्र एवं औजार किराये पर देना आदि भी उद्देश्यों में शामिल कर लिया जाता है। लेकिन ऐसी दशा में एक सीधी सादी साख समिति न रह कर बहुउद्देश्य समिति बन जाती है।

(३) सहकारी समिति की स्थापना—सहकारी समिति की सदस्यता केवल उन्हीं लोगों तक सीमित रखनी चाहिए, जिनका चरित्र संतोषजनक हो। इस विषय में बड़ी सावधानी रखने की आवश्यकता है, क्योंकि (i) यदि समिति में आलसी और

कपटी लोग आ घुसे, तो कार्य में सफलता प्राप्त नहीं हो सकेगी। (ii) साथ ही यह बात भी है कि एक की त्रुटियों का दायित्व दूसरों को भी उठाना पड़ेगा, क्योंकि दायित्व असीमित होता है।

(४) समिति का दायित्व—साधारणतः समितियों का दायित्व असीमित होता है। यदि कोई समिति अपने लिये हुये ऋण को अदा नहीं कर सकती या उसमें कुछ कमी रह जाती है, तो वह कमी हिस्सों का कुल रुपया वसूल करने के पश्चात् प्रत्येक सदस्य से, उसकी कुल सम्पत्ति से रुपया वसूल करके पूरी की जा सकती है। परन्तु कोई लेनदार किसी एक सदस्य पर किसी प्रकार की कानूनी कार्यवाही नहीं कर सकता। असीमित दायित्व सदस्यों में (i) सामूहिक जिम्मेदारी एवं (ii) परस्पर देख-रेख की भावना बढ़ाता है तथा (iii) समिति के उधार लेने की क्षमता में वृद्धि करता है। (iv) जिन लोगों के पास कोई ठोस सम्पत्ति ऋण के लिये प्रतिभूति स्वरूप देने को नहीं है वे भी सामूहिक असीमित दायित्व के आधार पर ऋण प्राप्त करने में समर्थ हो जाते है। हाँ, यह आवश्यक है कि असीमित दायित्व से घबराकर कुछ अच्छे तत्व आन्दोलन से बाहर रहना पसन्द करते हैं, क्योंकि हो सकता है कि उन्हे अन्य लोगों की त्रुटियों का परिणाम भुगतना पड़े।

(५) समिति का प्रबन्ध—समिति का प्रबन्ध जनतान्त्रिक एवं निशुल्क होता है। वह 'एक सदस्य एक वोट' के नियम पर आधारित है। प्रबन्ध कार्य दो समितियों के सुपुर्द होता है—**(अ) साधारण समिति जिसमें सभी सदस्य होते हैं और (ब) एक प्रबन्ध समिति** जिसमें ५ से ६ तक सदस्य साधारण समिति द्वारा अपनी साधारण सभा में से चुन कर भेजे जाते है। साधारण समिति अन्तिम सत्ता है अर्थात् समिति के सभी मामलों में उसका निर्णय अन्तिम होगा। दैनिक प्रबन्ध साधारण समिति के निर्देशानुसार प्रबन्ध समिति चलाती है। प्रबन्ध समिति में से एक प्रेसीडेंट और एक सेक्रेटरी चुना जाता है और सेक्रेटरी प्रेसीडेंट के नियन्त्रण में समिति का कार्य चलाता है। **साधारण समिति के निम्न कार्य हैं**—(i) प्रबन्ध समिति का चुनाव करना, (ii) एक अवैतनिक सेक्रेटरी नियुक्त करना, (iii) प्रबन्ध समिति द्वारा प्रस्तुत किए गए चिट्ठे स्वीकार करना, (iv) रजिस्ट्रारों, आडीटरों एवं विशेषज्ञ सदस्यों की रिपोर्टों पर विचार करना, (v) सम्पूर्ण समिति के लिये साख-योग्यता निर्धारित करना, तथा प्रत्येक सदस्य की साख-योग्यता भी पृथक-पृथक निश्चत करना और (vi) समिति के नियमों में संशोधन करना। प्रबन्ध समिति के निम्न कार्य हैं—(i) नये सदस्य बनाना, (ii) बकाया रकमें सदस्यों से वसूल करना और उन पर देख-रेख रखना, (iii) ऋण सम्बन्धी प्रार्थना-पत्रों को निबटाना, (iv) समिति के लिए कोष इकट्ठा करना, (v) सेक्रेटरी द्वारा रखे गये हिसाब की परीक्षा करना। सम्पूर्ण प्रबन्ध अवैतनिक होता है, केवल सेक्रेटरी को क्लैरिकल कार्य के लिये थोड़ा सा पुरस्कार दिया जाता है। अधिकांश सदस्य अनपढ़ होने के साथ-साथ उपेक्षा की मनोवृत्ति के भी होते हैं। अतः प्रबन्ध समिति अपनी मनमानी करने लगती है। साधारण सभा की बैठक वर्ष में एक बार और प्रबन्ध समिति की बैठक प्रति माह एक बार होती है।

(६) समिति की पूंजी—साख समिति को पूंजी दो प्रकार के साधनों से प्राप्त होती है—(अ) आन्तरिक एवं (ब) बाह्य। आन्तरिक साधनों द्वारा चार प्रकार से पूंजी मिलती है—(i) सदस्यों के प्रवेश शुल्क से, (ii) सदस्यों के जमा किये गये रुपयों से, (iii) रक्षित कोष के रुपयों से, (iv) शेयरों की बिक्री से प्राप्त रुपयों से। बाह्य साधनों से प्राप्त पूंजी वह है जो बाहर से मिलती है, जैसे (i) सरकार द्वारा दिये

गये ऋण, (ii) अन्य समितियों द्वारा जमा कराया गया रुपया, (iii) केन्द्रीय या प्रान्तीय बैंको द्वारा दिये गये रुपये, (iv) कभी भेंट या दान से भी कुछ पूंजी प्राप्त हो जाती है। समिति के आन्तरिक साधनों से प्राप्त होने वाली पूंजी बहुत कम होती है और उसे प्रायः वाह्य साधनों पर निर्भर रहना पड़ता है जो कि एक खेद पूर्ण स्थिति है।

(७) समिति की ऋण की नीति—लगभग सभी किसानों को साख की आवश्यकता पड़ती है लेकिन समिति की साख या ऋण नीति ऐसी होनी चाहिये, जो कि सहायता के प्रार्थी व्यक्तियों को सहायक सिद्ध हो, हानिप्रद नहीं। साख सस्ती एवं सरल होनी चाहिए किन्तु साथ-साथ वह सुरक्षित भी हो इसका पूर्ण ध्यान रखा जाय। दूसरे शब्दों मे, उन्ही लोगों को ऋण दिया जाय, जिन्होंने विचार करना, योजना बनाना, बचाना सीखा है। साख देने का ढंग ऐसा हो कि उसमे आत्म-सहायता एवं पारस्परिक सहायता की भावना को बल मिले। केवल सूद खोरी को समाप्त करने के लिए ही साख न दी जाय अपितु साख नियंत्रित, आवश्यक एवं उत्पादक होनी चाहिये। इस सम्बन्ध में निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए :—

(१) प्रतिभूति—(i) सहकारिता के सिद्धान्तों के अनुसार प्रतिभूति अधिकांशतः वैयक्तिक होनी चाहिए। ईमानदारी सहकारिता का आधार-तल है। (ii) सदस्यों की साख-क्षमता का निर्धारण उनकी भुगतान क्षमता के आधार पर होना चाहिये। (iii) समिति का फसल पर वैधानिक प्रभाव रहना चाहिये, जिसमे वह उनके मौसमी ऋणों के लिये अतिरिक्त प्रतिभूति का कार्य कर सके (iv) बन्धक प्रतिभूति लेना तब उपयुक्त होता है जबकि ऋण की रकम बड़ी और उसकी अवधि लम्बी हो। लेकिन ऐसी दशा में भी यह प्रतिभूति गौण समझनी चाहिये और उसका उद्देश्य भूमि को भविष्य में बेचे जाने से रोकना हो। (v) यदि बन्धक प्रतिभूति को प्रधान महत्व दिया जाय, तो समझना चाहिये कि समिति व्यापारिक बैंकों की भांति कार्य करती है न कि सहकारिता के सिद्धान्तानुसार। व्यापारिक बैंक अपनी सुविधा का ध्यान रखते हैं, ऋणियों का कम।

(२) ऋण की रकम—(i) यह आवश्यक है कि किसानों को दिये जाने वाले ऋण की रकम पर्याप्त हो, जिससे वे अपनी आवश्यकतायें पूर्णतः संतुष्ट कर सकें, अन्यथा उन्हें महाजनों के पास जाना पड़ेगा। (ii) इस आशय के लिये विभिन्न स्थानों एवं विभिन्न वर्गों के किसानों की वित्तीय आवश्यकताओं एवं उनकी पूर्ति के साधनों का सर्वे कराना चाहिये (iii) तत्पश्चात् व्यक्तिगत ऋणों के लिये अधिकतम सीमा निर्धारित कर देनी चाहिये (iv) इस सीमा से अधिक ऋण देने के लिये रजिस्ट्रार की अनुमति आवश्यक होनी चाहिये। (v) सदस्य की साख योग्यता उसकी भुगतान-क्षमता के आधार पर निर्धारित होनी चाहिये, नहीं तो ऋण के डूबने का भय है।

(३) ऋण का उद्देश्य—(i) ऋण उत्पादक कार्यों के लिये देना ही उचित है। (ii) किन्तु भारत मे ऐसी कितनी ही सामाजिक आवश्यकतायें हैं, जिन्हें करने के लिये कृषकों को उधार लेना ही पड़ता है और, यदि समिति उत्पादन कार्यों के अलावा अन्य कार्यों के लिये ऋण न दे तो उन्हें महाजन के पास जाने के लिए विवश होना पड़ेगा। अतः समिति को ऐसी नीति अपनानी चाहिए, जो उत्पादक एवं अनुत्पादक दोनों प्रकार की आवश्यकताओं को पूरा करे। (iii) लेकिन क्या आवश्यक है क्या नहीं इसका पूरा ध्यान रखा जाय जिससे उन पर ऋण का अनावश्यक बोझ न बढ़े। (iv) कठिनाई यह अनुभव की जाती है कि प्रायः ऋण लेने वाले वास्तविक

उद्देश्य प्रगट नहीं करते । इस कठिनाई को नैतिक प्रभाव एवं पारस्परिक निरीक्षण द्वारा दूर किया जा सकता है । (v) एग्रीकलचरल फाइनेन्स सब-कमेटी (Agricultural Finance Sub-Committee) ने यह सिफारिश की है "कि समितियाँ ऋण का कुछ भाग सदस्यों को आवश्यक वस्तुओं के रूप में दें तथा उनके कार्यों पर देख रेख रखें। इससे ऋण का दुरुपयोग कम हो जायगा । (vi) घरेलू आवश्यकता की एवं अन्य आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति करने के लिए समितियाँ क्रय समितियों एवं उपभोक्ता स्टोरों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखें और जहाँ यह सम्भव न हो सके वहाँ वे खुद इनकी पूर्ति का कार्य करें ।"

(४) **ऋण की अवधि**—(i) प्रारम्भिक कृषि साख समिति को चाहिए कि पुराने ऋणों को चुकाने में अपने कोष न अटकावें । । ऐसे दीर्घकालीन ऋण तो भूमि-बन्धक बैंकों को देने चाहिए । (ii) समिति छोटी-छोटी रकमों के अल्पकालीन ऋण दे, जो शीघ्र वसूल हो जाया करें । अल्पकालीन ऋण चालू कृषि व्ययों को पूरा करने के लिए दिये जाते है और इन्हें फसल पकने व बिकने के बाद वसूल किया जा सकता है । (iii) मध्यमकालीन ऋण भी दिए जा सकते हैं, जो कि उत्पादन क्षमता बढ़ाने के लिए हों, जैसे पशु, खेती के औजार आदि खरीदने, पम्प लगवाने आदि के लिए । इनकी वसूली ३ से ५ वर्ष के अन्दर की जा सकती है (iv) किन्तु अल्पकालीन एवं मध्यमकालीन ऋणों की मात्रा शेयर पूँजीसु, रक्षित कोष और फाइनेन्सिग एजेन्सीज से प्राप्त हुए मध्यमकालीन ऋण की सीमा तक होनी चाहिए, अधिक नहीं ।

(५) **ब्याज की दर**—ऋणों पर ब्याज लगाने की नीति बड़ी महत्वपूर्ण है, क्योंकि अधिक ब्याज रखने से सहकारी वित्त का उद्देश्य अपूर्ण रह जाता है और कम ब्याज लेने में ऋणी के लापरवाह हो जाने का अन्देशा है और यह भी संभावना है कि लाभ कमाने के उद्देश्य से ऋण का रुपया ऋणी द्वारा अन्य व्यक्तियों को अधिक ब्याज पर उठा दिया जाय । अतः ब्याज दर न तो अधिक होनी चाहिए और न कम । *ब्याज की दर सामान्यतः २% से ८% तक पाई जाती है । साख को सस्ता* बनाने का एक उपाय यह है कि ऋणों पर बोनस दिया जाय, जिसका वितरण वर्ष के अन्त में हो ।

(६) **ऋणों की स्वीकृति**—ऋणों का वितरण प्रायः साल में किन्हीं एक दो दिनों में करने की प्रथा है लेकिन यह प्रथा बड़ी दोषपूर्ण है, क्योंकि इससे सहकारी वित्त बेलोच हो जाती है और किसानों को महाजनों के पास जाना पड़ता है । अतः जब आवश्यकता हो, तभी ऋण दे देना उचित होगा । मद्रास ने 'आगामी स्वीकृति के ऋण' (Post Sanctioned Loan) की एक नवीन योजना पर कार्य आरम्भ किया । इस योजना के अन्तर्गत समितियाँ सेंट्रल बैंकों से कैश-क्रेडिट की सुविधायें प्राप्त करती हैं, और इसके आधार पर सदस्यों को ऋण देती हैं । प्रार्थना-पत्रों पर सेंट्रल बैंकों द्वारा बाद को विचार कर लिया जाता है । इस प्रकार ऋण देने के लिए जाँच पूर्ण होने तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती है ।

(७) **ऋण की वसूली**—इस बात का विशेष ध्यान रखा जाय कि ऋणों की वसूली नियमित होती रहे । यदि जानबूझ कर कोई त्रुटि करे, तो उस पर दबाव डाला जाय, अनुचित ढील दिखाने से लापरवाही को प्रोत्साहन मिलता है । लेकिन कुछ परिस्थितियों में देरी होना स्वाभाविक है, जैसे जब फसल मारी जाय, महामारी फैल जाय या ऋणी बीमार पड़ जाय । ऐसी दशा में समय न बढ़ाना कठोरता होगी । एक ऋण चुकता होने के तत्काल बाद ही दूसरा ऋण न दिया जाय । इससे झूठा जमा खर्च दिखाने पर रोक लगेगी ।

(८) लाभों का वितरण—(i) सन् १९१२ के सहकारी समिति अधिनियम के अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि वार्षिक शुद्ध लाभ का कम से कम २५% तक एक सुरक्षित कोष में डालने के बाद शेष लाभ का वितरण सदस्यों में किया जा सकता है। (ii) एक असीमित दायित्व वाली समिति को लाभ-वितरण के लिए स्थानीय सरकार की अनुमति लेना भी आवश्यक है। (iii) २५% भाग सुरक्षित कोष में रखने के बाद शेष लाभ का १०% दान पुन्य के कार्यों पर खर्च किया जा सकता है किन्तु इसके लिए रजिस्ट्रार की स्वीकृति आवश्यक है।

(९) अंकेक्षण, निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण—समिति के हिसाब की जाँच करने का कार्य रजिस्ट्रार के सुपुर्द किया गया है, और वह इस कार्य को अंकेक्षकों द्वारा कराता रहता है। देखभाल का काम निरीक्षकों के हाथ में होता है जो कि रजिस्ट्रार के आधीन होते हैं (एक सहकारी समिति की सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि उसकी देखभाल उचित रीति से की जा रही है या नहीं)

सहकारी बैंकों का महत्व

किसानों को ऋण देने में सरकार और सहकारी आन्दोलन का हाथ क्रमश: ३·३ और ३·१% था जबकि ७०% ऋण साहूकारों और ग्रामीण व्यापारियों द्वारा दिए जाते हैं। यही नहीं, ऋणों के उद्देश्यों व अवधियों के बारे में पूछ-ताछ से मालूम हुआ कि सरकार एवं सहकारी समितियाँ मिलकर कृषकों के कुल अल्पकालीन ऋणों का केवल १४% तथा उनके कुल दीर्घकालीन ऋणों का केवल ४·८% प्रदान करती हैं। उपभोग साख के लिये कृषकों को साहूकारों पर ही लगभग पूर्णत: निर्भर रहना पड़ता है। **इस प्रकार, जो सहकारी आंदोलन देश की निर्धनता-पीड़ित जनता के लिए 'आशा की एकमात्र किरण' माना गया था, वह (समिति की राय में) अत्यंत विफल प्रमाणित हुआ।** ग्रामीण साख की विद्यमान स्थिति की समीक्षा करते हुए गोरवाला कमेटी इस परिणाम पर पहुँची है कि ग्रामीण साख की सुविधायें पर्याप्त नहीं हैं, ये सुविधायें उपर्युक्त प्रकार की और सही व्यक्ति को नहीं मिल पाती हैं। किन्तु कमेटी का मत है कि यद्यपि सहकारिता असफल हो गई है तथापि उसे सफल बनाना ही होगा। अत: भावी नीति का उद्देश्य ऐसी परिस्थितियाँ विकसित करना होना चाहिए, जिनमें सहकारी साख को सफलता के लिए उचित अवसर हों।

सहकारी बैंकों की धीमी प्रगति के कारण

भारत में सहकारी साख आन्दोलन की इस असंतोषजनक प्रगति के लिए निम्न दोष उत्तरदायी हैं जो कि आन्दोलन में पाये जाते हैं :—

(१) **सरकार का अत्यधिक हस्तक्षेप**—भारत में सहकारी आन्दोलन का प्रारम्भ एवं संगठन सहकारी अफसरों द्वारा किया गया है, वह जनता की आत्म-सहायता (Self-help) की भावना पर आधारित नहीं है। अत: अधिकांश जनता इन्हें 'अपनी नहीं,' वरन् 'सरकारी संस्थायें' समझती है। अत. वह इनमें अधिक रुचि नहीं लेती। प्राय: जैसे ही उन्हें ऋण मिला वैसे ही उनकी रुचि भी समिति में समाप्त हो जाती है।

(२) *सहकारी सिद्धांतों से अनभिज्ञता*—जनता अथवा सहकारी समितियों के सदस्यों को सहकारिता के आधारभूत सिद्धांतों का बिल्कुल ज्ञान नहीं है। अधिकांश किसान अपढ़ हैं और ऐसे निष्काम एवं सेवा-भावना से ओत-प्रोत गैर-सरकारी कार्य-कर्ताओं का अभाव है, जो कि इस दिशा में प्रचार कर सकें। यही कारण है कि

सरकार को समितियों के संगठन में अधिक भाग लेना पड़ा। किन्तु सदस्य अपने आपको सहकारिता से पृथक समझने लगे है, जिससे सहकारिता का मूल तत्व 'एक के लिये सब और सब के लिये एक' असफल होता जा रहा है।

सहकारी आन्दोलन की धीमी प्रगति के ८ कारण

(१) सरकार का अत्यधिक हस्तक्षेप।
(२) सहकारी सिद्धान्तों से अनभिज्ञता।
(३) प्रबन्ध की अकुशलता।
(४) त्रुटिपूर्ण हिसाब-किताब एवं अंकेक्षण।
(५) अ-साख सहकारिता की अपर्याप्त प्रगति।
(६) दीर्घकालीन साख की कमी।
(७) समितियों के अपर्याप्त आर्थिक साधन।
(८) दोषपूर्ण ऋण-नीति।

(३) **प्रबन्ध की अकुशलता**—समितियों के प्रबंधक सदस्यो मे से ही चुने जाते है जो बैंकिंग कार्यों से अपरिचित होते हैं। फलतः अनुचित व्यवहारो की संख्या बहुत बढ़ गई है, कुछ प्रबन्धक अपने सगे-सम्बन्धियों को ही ऋण दे देते हैं और उनकी वसूली की ओर ध्यान भी नहीं देते, ऋण पर्याप्त नही दिया जाता और जो दिया जाता है वह देर से मिलता है, जिससे ग्रामीणजन महाजनों के चंगुल मे फँसने के लिए विवश हो जाते हैं। प्रबन्ध सम्बन्धी दोषों के कारण बकाया ऋणों की मात्रा बढ़ती जाती है, जिससे विवश होकर अनेक समितियों के टूटने तक का खतरा पैदा हो गया है।

(४) **त्रुटिपूर्ण हिसाब-किताब एवं अंकेक्षण**—समितियो का हिसाब-किताब नियमानुसार नही रखा जाता है और न इनका नियमित रूप से तथा भली-भांति अंकेक्षण ही कराया जाता है, परिणामतः पूँजी का उचित प्रकार उपयोग नही होता है। वास्तव में इस कार्य के लिये ट्रेन्ड कर्मचारियों का अभाव बहुत खटकने वाला है।

(५) **अ-साख सहकारिता की अपर्याप्त प्रगति**—भारत के सहकारी आन्दोलन की एक अन्य दुर्बलता यह रही है कि कृषि के क्षेत्र में अ-साख सहकारिता की बहुत थोड़ी प्रगति हुई है। साख समितियाँ तभी सफल हो सकती हैं जबकि गरीबी की आधारभूत समस्या को सुलझाया जाय और ग्रामीणजनों की आय मे वृद्धि हो।

(६) **दीर्घकालीन साख का अभाव**—भारत में सहकारी आन्दोलन को अपने प्रतिद्वन्द्वी महाजनों के सम्मुख कमजोर बनाने वाला एक दोष यह है कि कुछ समय पहले तक यहाँ कृषकों के पुराने ऋणों को समाप्त करने के हेतु दीर्घकालीन साख प्रदान करने के लिये कोई व्यवस्था न थी। भूमि बन्धक बैंक तो अभी खोले गये हैं; फिर इनका कार्य-क्षेत्र भी उन व्यक्तियों तक ही सीमित रखा गया है, जिनके पास भूमि या जायदाद है। अतः भूमिविहीन सैकड़ों, हजारों कृषकों को उनसे कोई लाभ नही होता। उन्हें अपनी दीर्घकालीन आवश्यकता की पूर्ति के लिये महाजनों के पास जाना ही पड़ता है, जो कभी भी भूमि के रूप में प्रतिभूति होने या न होने की परवाह नहीं करते।

(७) **समितियों के अपर्याप्त आर्थिक साधन**—समितियों को अपनी पूँजी के लिये केन्द्रीय सहकारी बैंक पर मूलतः निर्भर रहना पड़ता है, जिससे प्रायः उनके पास धन का अभाव रहता है। वे सदस्यों और असदस्यों से डिपाजिट आकर्षित करने

में भी असफल रही हैं। साधनों की अपर्याप्तता के कारण साख समितियाँ महाजनों से प्रतिस्पर्धा करने में सफल नहीं हुई हैं और उनका समुचित विकास भी नहीं हो पाया है।

(८) दोषपूर्ण ऋण-नीति—सहकारी बैंकों की ऋण नीति बहुत दोषपूर्ण है। सहकारी साख-समितियों को मुख्य: अल्पकालीन और कभी-कभी मध्यमकालीन ऋण देने चाहियें लेकिन इन्होंने दीर्घकालीन ऋण भी दिये, जिससे उन्हें भुगतान प्राप्त करने में बड़ी असुविधा हुई। समितियों की ब्याज की दर भी सामन्यत: ऊँची रहती है; क्योंकि जो धन ऊपर से नीचे तक शीर्ष बैंक, केन्द्रीय सहकारी बैंक तथा प्राथमिक साख समिति द्वारा वास्तविक ऋणी तक पहुँचता है उस पर प्रत्येक सीढ़ी पर कुछ न कुछ ब्याज की दर बढ़ जाती है।

सहकारी साख आन्दोलन की उन्नति के लिये सुझाव

यद्यपि सहकारी आन्दोलन में अनेक दोष हैं और उसे आशाजनक सफलता नहीं मिली है तथापि यह कहना अनुचित होगा कि वह बिल्कुल ही व्यर्थ साबित हुआ है। वास्तव में उसे कुछ सीमा तक निम्न प्रकार सफलता मिली है। इसने ग्रामीण क्षेत्रों में व छोटे-छोटे नगरों में ब्याज की दर को बहुत कम कर दिया है, नागरिकों में बचत मितव्ययिता एवं विनियोग की भावना को प्रोत्साहन दिया है अनुत्पादक कार्यों के लिये ऋणों की मात्रा में बहुत कुछ कमी हो गई है और कृषकों व, शिल्पकारों में नैतिक जागृति उत्पन्न हुई। सहकारी आन्दोलन को अधिक सफल बनाने के लिये अनेक समितियों ने समय-समय पर जो सुझाव दिये हैं इनको सारांश में नीचे दिया गया है :—

(१) सहकारिता के सिद्धान्तों की शिक्षा व प्रचार—सहकारिता कृषकों को तभी लाभ पहुँचा सकती है जबकि उन्हें कम से कम इतनी शिक्षा मिले कि वे समिति के अपने कार्यों की देखभाल कर सकें। तभी वे सहकारी सिद्धान्तों को समझ सकेंगे और उन्हें लागू कर सकेंगे। अत: बालकों के लिये सहकारिता सम्बन्धी पाठ उनकी पाठ्य-पुस्तकों में सम्मिलित कर देना चाहिए। स्कूलों में सहकारी आधार पर स्टोर व कैन्टीन चलाने चाहियें, विश्वविद्यालयों में सहकारिता के अध्याय को एक पृथक विषय बना दिया जाय।

(२) बहुउद्देश्य समितियों की स्थापना—आन्दोलन की स्वस्थ प्रगति के लिये यह आवश्यक है कि सहकारी समिति को एक अस्थायी लाभ (जैसे सस्ती साख) देने वाली संस्था मात्र न समझा जाय, वरन् वह अपने सदस्यों के सम्पूर्ण आर्थिक जीवन पर विस्तृत होनी चाहिये अर्थात् प्रत्येक प्राथमिक समिति को साख की सुविधा देने के अतिरिक्त अन्य कार्य भी जैसे—कृषि औजार देना, फसलों का सहकारी विक्रय करना व कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देना आदि शामिल कर लेने चाहियें। अन्य शब्दों में बहुउद्देश्य समितियों की स्थापना की जानी चाहिये। ये समितियाँ अपने सदस्यों की उनकी सभी क्रियाओं में सहायता कर सकेंगी, सलाह दे सकेंगी एवं मार्ग दिखायेंगी। इस प्रकार की सहानुभूति प्रवृत्ति से स्थायी सम्बन्ध पैदा होगा और सदस्यों में जिम्मेदारी व कर्त्तव्य की भावना बढ़ेगी।

(३) ऋण नीति में सुधार—सहकारी बैंकों को अपनी ऋण-नीति में इस प्रकार के परिवर्तन करने चाहियें जिनसे कुशलता के साथ-साथ कृषकों को भी अधिक लाभ हो सकें। ऐसे कुछ परिवर्तन निम्नलिखित हैं :—

सहकारी आन्दोलन की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

विभिन्न जाँच समितियों एवं विशेषज्ञों की सिफारिशों पर सरकार उचित कार्यवाही कर रही है। इसकी विशेष बातें संक्षेप में निम्न ढंग से प्रस्तुत की जा सकती हैं:—

(१) अप्रैल सन् १९५५ में स्टेट बैंक आफ इंडिया की स्थापना कर दी गई है। आठ रियासती बैंकों का एकीकरण भी इसके साथ हो गया है तथा इसने द्वितीय योजनावधि में ग्रामीण क्षेत्रों में ४०० शाखायें खोलने का कार्य भी पूर्ण कर लिया है।

(२) अखिल भारतीय भण्डारागार निगम की स्थापना हो गई है और राज्य निगम भी बनते जा रहे हैं। इन्होंने देश के विभिन्न भागों में अपने गोदाम स्थापित कर लिये हैं। इन परिस्थितियों में स्टेट बैंक ग्रामीण साख की पूर्ति अधिक करने लगा है।

(३) रिजर्व बैंक आफ इंडिया के अन्तर्गत दो कोष स्थापित किये गये हैं—राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष और राष्ट्रीय कृषि साख (रिलीफ एन्ड गारन्टी) कोष। राष्ट्रीय सहकारिता विकास एवं भण्डारागार विकास कोष तथा राज्य सरकारों के अन्तर्गत भी कृषि साख कोष स्थापित किये गये हैं। इनमें 'विशाल राशियाँ' जमा करदी गई हैं और प्रतिवर्ष इनमें वृद्धि की जाती है ताकि केन्द्रीय सरकार, रिजर्व बैंक व राज्य सरकारें विभिन्न सहकारी संस्थाओं की शेयर पूँजी व ऋण पूँजी में भाग ले सकें।

(४) बम्बई में एक बैंकर्स ट्रेनिंग कालेज की स्थापना भी की गई है।

(५) बहु उद्देश्य समितियों को प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

(६) प्राथमिक समितियों का आकार पहले से बड़ा रखा जाने लगा है।

(७) कृषकों के हितों की रक्षा के लिये सरकार अग्रिम बाजारों पर नियंत्रण रखने लगी है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि साख-सहकारिता भविष्य में अधिक उपयोगी हो सकेगी।

निष्कर्ष

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वे कमेटी ने ठीक ही कहा है कि सहकारी आन्दोलन के अधिकांश सुधार ऐसे उपायों से सम्बन्धित हैं, जिनके द्वारा दुर्बलों को इस तरह की परिस्थितियों में बलवानों के विरुद्ध संगठित करने का यत्न किया गया है, जिनमें दुर्बलों की विजय के लिए कोई मौका नहीं है। अत: पहला कर्त्तव्य ऐसी स्थिति को सुधारना है ताकि सहकारिता ठीक तरह कार्य करने लगे। कितने भी छोटे-मोटे सुधार सहकारिता को सफल बनाने में सहायता नहीं दे सकते। उसे पूर्णत: सफल बनाने के लिए यह आवश्यक होगा कि ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के प्रत्येक पहलू को ग्रामीण साख से क्षेत्र में लाया जाय अर्थात् ग्रामीण साख पर विपणन; प्रक्रियण (Processing) एवं सम्बन्धित आर्थिक क्रियाओं के साथ-साथ विचार करना चाहिए। इस प्रकार जो शक्ति उत्पन्न की जाय वह प्राईवेट व्यापार एवं अन्य प्राईवेट हितों की प्रतियोगिता एवं विरोध के विरुद्ध प्रभावपूर्ण (Effective) होनी चाहिए। ऐसी शक्ति सहकारी संरचना के आंतरिक साधनों से प्राप्त नहीं हो सकती है। कमेटी के मत में ऐसी प्रारम्भिक एवं उपयुक्त सहायता केवल सरकार

से ही प्राप्त हो सकती है। राज्य को उच्च-स्तर पर दुर्बलों के लिए संगठन का काम करना होगा। इस प्रकार का कार्य-क्रम प्रभावपूर्ण होने के लिए यह आवश्यक है कि सरकार सहकारी समितियों के साथ मिलकर ग्रामीण उन्नति के लिए कार्य करे।

३० जून १९६२ को समाप्त होने वाले वित्तीय वर्ष में सहकारी अर्थ-विषयक रिजर्व बैंक के प्रयत्न

(१) रिजर्व बैंक द्वारा सहकारी संस्थाओं को जो वित्तीय सहायता दी जाती है उसकी मात्रा में इस वर्ष कुछ वृद्धि हुई है :—(*i*) वह सहकारी संस्थाओं को बैंक-दर से २% कम रियायती ब्याज-दर पर मौसमी कृषि कार्य-कलापों और फसलों के विपणन के लिये अल्पकालीन ऋण देता है। (ii) इस प्रकार का ऋण सन् १९६१-६२ के अन्त में ११४·८ करोड़ रु० बकाया था, जबकि सन् १९६०-६१ में १००·१ करोड़ रु०, १९५९-६० में ७८·२ करोड रु० तथा १९५८-५९ में ५६·३ करोड रु० था। (iii) राष्ट्रीय कृषि साख कोष (दीर्घकालीन) में से राज्य-सहकारी बैंकों को मध्यमकालीन ऋण भी दिये गये हैं। ये बकाया ऋण सन् १९६१-६२ के अन्त में ११·७ करोड़ रु० थे, जबकि १९६०-६१ में ८·८ करोड़ रु०, १९५९-६० में ६·७ करोड़ रु० तथा १९५४-५५ में केवल २२ लाख रु० थे। (iv) इसके अतिरिक्त बैंक ने राज्य सहकारी बैंकों (Apex Banks) को केन्द्रीय सहकारी बैंक व इनसे सम्बन्धित सहकारी समितियों के द्वारा, लघु एवं मध्यमवर्गीय कृषकों को सहकारी चीनी कारखानों के शेयर खरीदने में सहायता स्वरूप उधार देने के लिये जो मध्यमकालीन ऋण दिये वे सन् १९६२ (जून ३० को) १० लाख रु० थे। (v) रिजर्व बैंक ने केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों द्वारा जारी किये गये ऋण-पत्र भी खरीदे।

(२) कृषि क्षेत्र में मध्यमकालीन एवं दीर्घकालीन कोषों की उपलब्ध पूर्ति को बढ़ाने के लिये यह प्रस्ताव किया गया है कि एक वैधानिक निगम बनाया जाय जो कृषि विकास की विशेष योजनाओं के लिये सहकारी एवं अन्य वित्तीय संस्थाओं की दीर्घकालीन ऋण देने की सामर्थ्य को सुदृढ़ करे। इस सम्बन्ध में बैंक ने उचित योजना बनाकर केन्द्रीय सरकार के विचारार्थ भेजी हुई है।

(३) कृषि के समन्वित विकास के लिये एक विशेष योजना (Intensive Agricultural District Programme) चुने हुये जिलों मे सन् १९६०-६१ से पाँच वर्ष की अवधि के लिये प्रारम्भ की गई है। इन चुने हुये जिलों में सहकारी साख पर रिजर्व बैंक द्वारा विशेष ध्यान दिया जा रहा है। रिजर्व बैंक के प्रयत्नों के फलस्वरूप इन जिलों के केन्द्रीय सहकारी बैंकों के निजी कोष मे उत्साहजनक वृद्धि हुई है। साथ ही बकाया ऋण की मात्रा भी काफी घटी है।

(४) रिजर्व बैंक के कृषि साख विभाग ने नगर के सहकारी बैंकों का सर्वे कराया, जिसकी रिपोर्ट अगस्त १९६१ में प्रकाशित हुई है। इस सर्वे का उद्देश्य यह पता लगाना था कि उक्त बैंक लघु पैमाने के उद्योगों का अर्थ-प्रबन्धन करने में किस प्रकार सहायक हो सकते है।

(५) रिजर्व बैंक ने एक अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण एवं विनियोग सर्वे (१९६१-६२) (All-India Rural Debt and Investment Survey) का आयोजन किया है। इस सर्वे के लिये देश भर मे २०६९ गाँव चुने गये है। सर्वे कार्य जनवरी १९६२ मे प्रारम्भ हो गया है। सर्वे का उद्देश्य ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के ऋण, विनियोग एवं अन्य महत्वपूर्ण सूचक अंक प्राप्त करना है।

(६) बैंक की यह सामान्य नीति है कि प्रत्येक जिले में एक केन्द्रीय सहकारी बैंक और प्रत्येक राज्य मे एक शीर्ष बैंक हो। अतः विदर्भ क्षेत्र में १३ तालुका बैंक जिला बैंकों में मिला दिये गये। आंध्र सहकारी केन्द्रीय भूमि बंधक बैंक और हैदराबाद केन्द्रीय भूमि बंधक बैंक बनाया गया है।

(७) २६३ सहकारी बैंकों और ६१ बड़ी साख समितियों का निरीक्षण कराया गया। अब तक कुल १८०४ निरीक्षण कराये गये है, जिनमे से ६३ शीर्ष बैंक, १३२५ केन्द्रीय सहकारी बैंक, २० औद्योगिक सहकारी बैंक, ११ केन्द्रीय भूमि बंधक बैंक तथा ३५५ विविध समितियों से सम्बन्धित थे। बैंक ने कृषि साख विभाग के निरीक्षण अधिकारियों के लाभार्थ सहकारी संस्थाओ के निरीक्षण पर दो सेमिनार भी आयोजित किये।

परीक्षा प्रश्न

(१) सहकारी बैंकों से क्या आशय है? ये व्यापारिक बैंकों से किस प्रकार भिन्न होते हैं?

(२) भारत में सहकारी साख संस्थाओं पर एक विस्तृत टिप्पणी लिखिये।

(३) भारत मे सहकारी साख संस्थायें अधिक लोकप्रिय क्यों नहीं हैं? समझाइये।

(४) सहकारी साख समितियों ने भारतवर्ष मे कृषि को आर्थिक सहायता देने मे कहाँ तक सफलता प्राप्त की है? इनके दोषों को दूर करने के उपाय बताइये।

(५) एक ग्रामीण सहकारी साख समिति का संगठन किस प्रकार किया जाता है? संक्षेप में समझाइये।

अध्याय ६

भूमि बन्धक बैंक

(Land Mortgage Banks)

भूमि बन्धक बैंकों से आशय एवं इनके भेद

भूमि बन्धक बैंकों से अभिप्राय ऐसे बैंकों का है जो भूमि को बन्धक रखकर कृपकों को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करते हैं। ये बैंक तीन प्रकार के हो सकते हैं :— (*i*) *सहकारी भूमि बन्धक बैंक*, जिनमें केवल उधार लेने वाले व्यक्ति ही सम्मिलित होते हैं और कोई पूंजी नही होती है। जब कभी धन की आवश्यकता पड़ती है, तो बन्धक बाड निर्गमित कर दिये जाते हैं। (ii) **अ-सहकारी भूमि बन्धक बैंक**, जो लाभ की भावना से कार्य करते हैं, लाभाश घोषित करते हैं किन्तु उन पर सरकार का नियन्त्रण होता है जिससे उधार लेने वालों के प्रति कठोरता न बरती जा सके। इस प्रकार इनमें उधार लेने वाले व्यक्ति ही सम्मिलित होते हैं। (iii) **मिश्रित भूमि बन्धक बैंक**, जो उधार लेने और उधार देने वालों के सम्मिलित संघ हैं, जिनमे शेयर पूंजी होती है और जो सीमित दायित्व के आधार पर कार्य करते है। भारत में इसी प्रकार के भूमि-बन्धक बैंक पाए जाते हैं।

भूमि बन्धक बैंक की आवश्यकता

सम्पूर्ण विश्व में ही कृपकों को तीन प्रकार की साख की आवश्यकता होती है—(i) खेती के खर्चे को पूरा करने और फसल तैयार होने व विकने तक अपने और अपने परिवार के जीवन-निर्वाह के लिए; (ii) पशु और कृषि सम्बन्धी औजार खरीदने के लिए और (iii) मंहगे कृषि-यन्त्र, भूमि आदि का क्रय करने व पुराने ऋणों का परिशोध करने के लिए। इन्हें क्रमश *अल्पकालीन, मध्यकालीन और दीर्घ-कालीन* ऋण कहा जाता है, क्योंकि, पहली दशा में ऋणों को फसल के बिकने के बाद चुकाया जा सकता है, दूसरी दशा में वह ऋणो को थोड़ा-थोड़ा करके कई वर्षों की अवधि में (जैसे ३ से ५ वर्ष) चुका सकता है, लेकिन तीसरी दशा में ऋण की मात्रा काफी बड़ी होती है और उसे चुकाने में कई शताब्दियाँ लग सकती हैं। अत: इसकी प्रतिभूति के लिए जमीन-जायदाद बन्धक रखना आवश्यक होता है।

सहकारी साख समितियाँ कृपकों को दीर्घकालीन साख देने के लिये उपयुक्त नहीं हैं, क्योंकि उनके पास न तो अधिक पूंजी ही रहती है और न वे अधिक समय के लिए कर्ज ही दे सकती हैं। साधारण व्यावसायिक बैंक एवं सहकारी बैंक भी अधिक समय के लिए कर्ज नही दे सकते, क्योंकि इन्हें अपने कोष अल्पकालीन निक्षेपों (Short term deposits) से प्राप्त होते है। अत: एक ऐसी संस्था के लिए आवश्यकता

अनुभव की गई, जो दीर्घकालीन सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए हो विशेष रूप से बनाई गई हो, जिससे कम ब्याज पर बड़ी रकमें उधार ली जा सकें और एक लम्बी अवधि के भीतर उचित किस्तों में वसूल करली जायें। इस विशेष आवश्यकता की पूर्ति के लिए अब विभिन्न देशों में भूमि बन्धक बैंक स्थापित हो गए हैं।

भूमि बंधक बैंकों द्वारा पूंजी एकत्र करने के स्रोत

भूमि बंधक बैंकों को अपने लिये निम्न साधनों से आवश्यक कोष प्राप्त होता है—(i) शेयर पूंजी, (ii) निक्षेप और (iii) बांड। चूंकि शेयर पूंजी भूमि बंधक बैंकों के लिये बहुत अपर्याप्त रहती है तथा निक्षेपों (Deposits) से अल्पकालीन आवश्यकताओं की ही पूर्ति होती है, इसलिये बॉंड-निर्गमन ही कोष प्राप्त करने का सबसे उपयोगी साधन है। प्रायः तीन प्रकार के बॉन्ड निर्गमित किये जाते हैं :—

(१) **वाहक बान्ड (Bearer Bonds)**—जिन्हें केवल सुपुर्दगी द्वारा हस्तान्तरित किया जा सकता है।

(२) **रजिस्टर्ड बान्ड**—जिन्हे हस्तान्तरित करने के लिये हस्तान्तरिती (Transferee) के नाम एक ट्रान्सफर डीड लिखना व निर्गमन करने वाली संस्था से उनका रजिस्ट्रेशन कराना पड़ता है। और

(३) **प्रामिसरी बान्ड**—जिन्हे बेजान एवं सुपुर्दगी द्वारा हस्तान्तरित किया जा सकता है। रजिस्टर्ड बॉन्ड सुरक्षित होते हैं क्योंकि उनके खोने पर भी स्वामी को हानि का भय नहीं है। ये बांन्ड विभिन्न मूल्यों मे जारी किए जाते हैं, जिससे सभी आर्थिक स्थितियों वाले इन्हे खरीद सकें। इनकी अवधि बहुत से देशों में ४० वर्ष तक होती है लेकिन भारत मे केवल २० वर्ष की अवधि रखी गई है क्योंकि यहाँ विनियोगिक अधिक समय तक कोष अटकाये नही रखना चाहते। **विदेशों में सस्ते ब्याज पर बॉन्डों का सफल निर्गमन किया गया है लेकिन भारत में अब तक सरकारी गारन्टी के आधार पर ऐसा सम्भव हुआ है।** बॉन्डों का परिशोधन विभिन्न देशों मे विभिन्न प्रकार से होता है। कहीं-कहीं बॉन्डों की परिपक्वता-तिथि निश्चित होती है लेकिन निर्गमन करने वाली संस्था को उचित नोटिस देकर उन्हें समय से पूर्व ही लौटाने का अधिकार भी होता है। जो मूलधन संग्रह होता है उससे या तो बाजार मे बॉन्ड खरीद लिए जाते हैं या सिंकिंग फंड बना लिया जाता है जिससे परिपक्वता पर बॉन्डों को चुका सकें। **भारत में सिंकिंग फंड ही बनाये जाने लगे हैं। विदेशों में बॉन्ड छोटे विनियोगियों में बड़े लोकप्रिय हैं लेकिन भारत में नहीं।**

भूमि बन्धकों द्वारा ऋण देने की प्रणाली

(१) भूमि बन्धक बैंक जो साख देते हैं, वह भूमि एवं जायदाद की प्रतिभूति पर आधारित होती है। वे पहली बन्धक के विरुद्ध ही रुपया उधार देते हैं, क्योंकि उनकी सुविधा के लिए यह अच्छा नहीं समझा जाता कि वह किसी अन्य महाजन या बैंक का भी ऋणी हो। निसंदेह यह एक स्वस्थ नीति है।

(२) बैंकों के उपनियमों में यह सम्मिलित है कि भूमि के ½ मूल्य तक ही ऋण दिया जाय। परन्तु अब तक ३०% से अधिक किसी को भी उधार नही दिया गया।

(३) ऋण की न्यूनतम एवं अधिकतम सीमायें क्रमशः ४०० रु० एवं १०,००० रु० (कहीं-कहीं १५,००० रु० भी) निर्धारित की गई है। ४०० रु० से कम का ऋण प्रारम्भिक समितियों से ही लेना अच्छा है।

(४) ऋण पर ४-४½% ब्याज लिया जाता है और केवल निम्न कार्यों के लिये ऋण दिया जाता है पुराने ऋणों का परिशोध करने के लिये, भूमि के सुधार के लिये, सिंचाई, बाड लगाने, यातायात, नालियों का निर्माण, इमारतें व कुएं बनाने, पशु अथवा मशीन खरीदने। अभी तक अधिकांशत: पुराने ऋणों के प्रतिशोध के लिये ऋण दिये गये हैं लेकिन गत युद्ध में पुराने ऋण बहुत कुछ चुक गये हैं, अत: भूमि के सुधार पर अधिक ध्यान देना चाहिये।

(५) भूमि बन्धक बैंकों द्वारा जो ऋण दिया जाता है उसकी वसूली वार्षिक किश्तों में की जाती है। ऋणों की वसूली के लिये भूमि-बन्धक बैंकों को विशेष अधिकार दिये गये है। त्रुटि की दशा में वे बन्धक रखी गई भूमि पर उगाई हुई फसल को बिना न्यायालय का द्वार खटखटाये ही बेच कर अपना रुपया वसूल कर सकते हैं।

(६) भूमि बन्धक बैंकों के लिए यह आवश्यकता है कि वे यह जांच करालें कि जो सम्पत्ति उनके पास बन्धक रखी जा रही है उसका मूल्य कितना है। इसके लिए बैंक विशेषज्ञ स्टाफ रखते हैं।

(७) ऋण प्राप्ति के लिए जो कार्यवाही की जाती है वह इस प्रकार है :— (i) आवेदन-पत्र लेकर प्राइमरी भूमि-बन्धक बैंक आवेदक से दस्तावेज और पत्र प्राप्त कर लेते हैं, जो इस सम्पत्ति पर आवेदक का स्वामित्व सिद्ध करने के लिये आवश्यक समझे जाते हैं। (ii) इसके पश्चात् वह आवेदन-पत्र बैंक के निरीक्षकों और डायरैक्टरों को दे दिया जाता है, ताकि वे छानबीन करने के पश्चात् अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करें। इस हेतु सब-रजिस्ट्रार के कार्यालय से २३ वर्ष पहले तक के सब सम्बन्धित पत्र प्राप्त कर लिए जाते है। तत्पश्चात् सारे पत्र और रिपोर्ट बैंक के वकील के पास भेज दिए जाते हैं, जो हर आवेदन-पत्र पर अपना मत प्रगट करता है। (iii) अब सारी फाइल डिप्टी-रजिस्ट्रार के पास भेजी जाती है, जो सारी फाइल को ध्यानपूर्वक देख कर अपनी रिपोर्ट विस्तारपूर्वक लिखता है। इस रिपोर्ट में भूमि को मात्रा और स्थिति, आवेदक की अन्य सम्पत्ति और उससे आय, उसके परिवार का वर्तमान व्यय और निकट भविष्य मे होने वाला व्यय, उसकी रुपया वापिस करने की क्षमता इत्यादि के सम्बन्ध में मत प्रकट किया जाता है। (iv) तत्पश्चात् यह फाइल केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक के पास भेज दी जाती है। केन्द्रीय बैंक के दफ्तर में फाइल की अच्छी प्रकार देखभाल करने और भूमि के मूल्य को अच्छी प्रकार जाँचने और अंकवाने के पश्चात् एक नोट लगा दिया जाता है, जिसमें सब सम्बन्धित बातें संक्षेप में लिख दी जाती हैं, और फिर यह फाइल एक्जीक्यूटिव कमेटी के सामने रखी जाती है। (v) जिन शर्तों पर ऋण स्वीकार किया जाता है उनकी सूचना प्रारम्भिक भूमि-बधक बैंकों को दे दी जाती है, जिससे वह उक्त सब शर्तें पूरी करालें। साधारणत: जिन व्यक्तियों का स्वामित्व भूमि पर होता है। उन सबको ही बंधक पत्र में लिखते समय सम्मिलित कर लिया जाता है।

भूमि बंधक बैंकों से लाभ

ऐसे बैंकों से भारत को लाभ इस प्रकार हैं :—

(१) कृषक वर्ग के ऋण-भार में कमी—*भूमि बन्धक बैंकों की स्थापना से* यह आशा की जाती है कि इनके द्वारा कृषकों के ऋण-भार में कमी हो जाएगी। इससे उनकी दरिद्रता दूर होगी और आय बढ़ सकेगी।

(२) कृषि सीमा का विस्तार—भारतीय किसानों को कृषि की सीमा बढ़ाने का अवसर मिलेगा, जिससे देश के कृषि उत्पादन में वृद्धि हो जाएगी।

(३) कृषि के आर्थिक आधार का दृढ़ीकरण—किसान अपनी भूमियों पर स्थायी सुधार कर सकेंगे, जिससे प्रकृति पर कृषि क्रियाओं की निर्भरता कम हो जाएगी और कृषि का आर्थिक आधार दृढ़ बनेगा अर्थात् किसानों की आयु में अस्थिरता कम हो जायगी।

(४) ब्याज की दरों में कमी—यह आशा की जाती है कि भूमि बन्धक बैंकों की स्थापना और उनकी प्रतिद्वन्द्विता के फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में ब्याज की दर नीचे गिरेगी।

भूमि बन्धक बैंकों के सात लाभ

(१) कृषक वर्ग के ऋण भार में कमी।
(२) कृषि सीमा का विस्तार।
(३) कृषि के आर्थिक आधार का दृढ़ीकरण।
(४) ब्याज की दरों में कमी।
(५) साख पर सुप्रभाव।
(६) साहूकारों पर निर्भरता में कमी।
(७) सहकारिता व सहयोग की नई जागृति।

(५) साख पर सुप्रभाव—*किसानों के लिए पर्याप्त एवं उचित प्रतिभूति देना सम्भव हो जायगा, जिससे उनकी साख में वृद्धि होगी।*

(६) साहूकारों पर निर्भरता में कमी—अब किसानों को साहूकारों पर पहले की भांति निर्भर नहीं रहना पड़ेगा। इसका सहकारी साख संगठन पर भी अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

(७) सहकारिता व सहयोग की नई जागृति—ज्यों-ज्यों भूमि बन्धक बैंक कृषकों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते जायेंगे त्यों-त्यों सहकारिता व सहयोग में उनकी आस्था बढ़ती जाएगी (यह उल्लेखनीय है कि भारत में भूमि-बन्धक बैंक साधारणतः सहकारी आधार पर संगठित किए जा रहे हैं।)

भूमि बन्धक बैंकों की वर्तमान स्थिति

यद्यपि पहले भूमि-बन्धक बैंक की स्थापना को आज ४० वर्ष हो गये है तथापि इस प्रकार की बैंकिंग प्रणाली ने भारत में कोई अधिक प्रगति नहीं दिखलाई है। इस सम्बन्ध में निम्न बातें उल्लेखनीय हैं :—

(१) भूमि बन्धक बैंकों की संख्या—सन् १९५९-६० में देश में केवल १६ केन्द्रीय बैंक थे, जो न केवल अपर्याप्त हैं वरन् समुद्र में एक बूंद की भांति हैं। इसी वर्ष प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंकों की संख्या केवल ४०८ थी। *इस छोटी सी संख्या* का भी विभिन्न राज्यों में बहुत असमान वितरण हुआ है। इनमें से २८६ या ७०% बैंक केवल आन्ध्र-प्रदेश, मद्रास एवं मैसूर में ही केन्द्रित थे।

(२) सदस्यता, पूंजी एवं ऋण—सन् १९५९-६० में प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंकों की सदस्यता ५५०,३५० थी और कार्यवाहक पूंजी २०·३९ करोड़ रु० थी। इन्होंने वर्ष विशेष में ५·१० करोड़ रु० के ऋण दिये थे। केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों की सदस्यता २,१६,५०० व कार्यशील पूंजी ३७·३८ करोड़ रु० थी। इन्होंने केवल ८·५२ करोड़ रु० के ऋण दिये थे।

(३) ऋण-पत्रों का निर्गमन—सन् १९५९-६० में १६ केन्द्रीय बैंकों में से केवल ६ बैंकों ने ४·२३ करोड़ रु० के ऋण-पत्र जारी किये । रिजर्व बैंक ने ५१ लाख लाख के ऋण-पत्र लिये । कुल २७·०७ करोड़ रु० के ऋण-पत्र चलन में थे ।

(४) भूमि बन्धक बैंकों की ऋण नीति—इन भूमि बन्धक बैंकों ने जो रुपया अपने असामियों को उधार दिया है वह अधिकतर पूरा ऋण चुकाने या बन्धक रखी गई भूमि को छुड़ाने के लिये दिया है भूमि की उन्नति के लिये या अन्य उत्पादक कार्यों के लिये जो रुपया उधार दिया गया है उसकी मात्रा बहुत कम है । ऋण की अवधि भी हर प्रान्त में अलग है । ऋण की जो ब्याज देना पड़ता है उनकी दर भी विभिन्न प्रान्तों में समान नहीं है ।

भूमि बन्धक बैंकों की धीमी प्रगति के कारण

संख्या, सदस्यता, स्वीकृत ऋणों, निजी कोषों या लाभ किसी भी दृष्टि से इन बैंकों की प्रगति का मूल्यांकन किया जाय, हर तरह से हम इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि इन्होंने बहुत सीमित प्रगति की है तथा ये अधिक सफल नहीं हुए हैं । इनके निम्न-लिखित कारण हैं :—

(१) अकुशल कार्य-प्रणाली—बहुत से बैंकों की कार्य-प्रणाली बड़ी अकुशल है । साधारणतः प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंकों के संचालकों में 'पहल' (Initiative) करने की शक्ति का अभाव होता है । उनकी आय इतनी कम होती है कि बहुत आवश्यक स्टाफ भी कभी-कभी उचित रूप में नहीं रख सकते । कुछ राज्यों में अनुभवी भूमि मूल्यांकन स्टाफ रखना भी सम्भव नहो होता । सहकारी विभाग के क्लर्कों को ही एक माह की ट्रेनिंग लेने पर भूमि मूल्यांकन अधिकारियों के रूप में नियुक्त कर दिया जाता है ।

(२) खेती से आय एवं खर्च सम्बन्धी आँकड़ों का अभाव—खेती से होने वाली आमदनी और खेती करने एवं रहन-सहन के खर्चों सम्बन्धी आँकड़ों का एकदम अभाव है इसके अभाव में, उधार लेने वाले व्यक्तियों की ऋण लौटाने की क्षमता का सही अनुमान नहीं लग पाता । फलतः किस्त की रकम कृषक की सामान्य अर्जन शक्ति के अनुरूप निर्धारित नहीं हो सकती ।

(३) भूमि एवं कृषि की उन्नति की अपेक्षा पुराने ऋणों के परिशोध पर बल—भूमि बन्धक बैंकों के कार्य में एक दोष यह है कि वे पुराने ऋणों के परिशोध पर अधिक ध्यान देते हैं, कृषि एवं भूमि की उन्नति पर कम ।

(४) जनता का डिबेन्चरों में कम विश्वास—बैंकों द्वारा डिबेन्चरों के निर्गमन से कोष जुटाने की विधि भी दोषपूर्ण है । वे कम ब्याज पर डिबेन्चरों का निर्गमन इसलिये कर सके हैं कि सरकार ने उनकी गारन्टी दी है और उन्हें ट्रस्टी सिक्योरिटी घोषित कर दिया गया है । यह स्थिति इस बात की सूचक है कि जनता का इन विनियोगों में पूर्ण विश्वास नहीं है ।

(५) ऋण देने की त्रुटिपूर्ण व्यवस्था—ऋण देने में देर लगाना, उनकी स्वीकृति से सम्बन्धित नियमों को लचकहीनता, रकम की अपर्याप्तता, ऊँची प्रतिभूति माँगना, कठोरतापूर्वक किस्तों की वसूली तथा कुछ अन्य दोष ऐसे हैं जो अब भी जारी हैं । ऋण स्वीकार करने में ६ से ९ महीने तक लग जाते हैं । दूसरा ऋण तभी दिया जाता है जब कि पहला ऋण चुक जाये । यह नियम कृषकों के लिये बड़ा कठोर है, क्योंकि २० वर्ष की एक लम्बी अवधि तक वह भूमि के सुधार या कीमती यन्त्र खरीदने के लिये भूमि बन्धक बैंक से दूसरा दीर्घकालीन ऋण नहीं ले सकता । फसलों के मारे जाने पर भी किस्तों का भुगतान स्थगित करने की अनुमति नहीं दी जाती ।

(६) भूमि के क्रय को प्रोत्साहन का अभाव—द्वितीय महायुद्ध की अवधि में कृषक भूमि का क्रय करने के लिये उत्सुक थे किन्तु अनेक स्थानों में वित्त के अभाव के कारण उनको बड़ी बाधा हुई। ऐसी दशा में भूमि बन्धक बैंकों से अधिक सहायता की आशा की गई, किन्तु पर्याप्त सुविधायें नहीं दी जा सकी।

(७) युद्ध का प्रभाव—युद्ध के काल में और उसके कई वर्ष पश्चात् तक कृषकों की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी हो गई और उनका ऋण भार बहुत हल्का हो गया। एक तरह से देखा जाय, तो भूमि बन्धक बैंकों के लिये कोई कार्य शेष नहीं रहा। अब तो उन्हें अपने नियमों में परिवर्तन करना चाहिये और भूमि की उन्नति करने में कृषकों की सहायता करनी चाहिए।

भूमि बंधक बैंकों की अधिक प्रगति के लिये सुझाव

भारत में भूमि बन्धक बैंकों की अधिक प्रगति के लिये निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं :—

(१) भूमि बन्धक बैंकों का व्यापक जाल बिछाना—देश में खाद्य समस्या को हल करने के लिये खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि करना अत्यन्त आवश्यक है। इस कार्य के लिए भूमि की उन्नति के उपाय करने चाहिये किन्तु इस हेतु कृषकों को दीर्घकालीन साख उपलब्ध करनी होगी। इसके लिए देश भर में भूमि बन्धक बैंकों का एक जाल सा बिछा देना आवश्यक है।

(२) कुशल स्टाफ रखना—भूमि बन्धक बैंकों की सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि बन्धक रखी जाने वाली भूमियों का सही मूल्य निर्धारण हो। इस कार्य के लिए कर्मचारियों को विशेष रूप से प्रशिक्षित किया जाय और सम्बन्धित व्यय का कुछ भाग सरकार भी दे।

(३) किस्तों की समय पर वसूली—किस्तें समय पर वसूल की जानी चाहिये नहीं तो ऋण-पत्रों द्वारा कोष जुटाने में कठिनाई होगी। किस्तों का निर्धारण ऋणी की चुकाने की सामर्थ्य के अनुसार अथवा वार्षिक शुद्ध उत्पादन के आधार पर किया जाय। इसी हेतु फार्म सम्बन्धी आय-व्यय एवं रहन-सहन के व्यय के आँकड़ों का संग्रह कराना आवश्यक होगा। अतः अनुसंधान संगठन को विकसित किया जाय, जिससे कृषि अर्थ-व्यवस्था के बारे में सही जानकारी प्राप्त की जा सके। किस्तों की वसूली तब से आरम्भ की जाय, जबकि विनियोग लाभ देना प्रारम्भ करदे। यदि किसी विनियोग के फलस्वरूप प्रारम्भ में आय कम हो और बाद में अधिक, तो किस्तों की रकम भी इसी स्वभाव के अनुसार निर्धारित की जा सकती है। शुष्क भागों में, जहाँ अनिश्चित वर्षा के कारण कृषि-आय भी अनिश्चित है, भूमि-बन्धक बैंकों को एक विशेष 'टेक्नीक' अपनानी चाहिए। वह यह है कि अच्छी फसल के वर्षों में किस्त की रकम अधिक रखी जाय और बुरी फसल के वर्षों में किस्त कम करदी जाय या स्थगित कर दी जाय। इस स्थगन से ऋण-पत्रधारियों के हितों की चोट रोकने के लिए सरकार से अस्थायी वित्तीय सहायता प्राप्त की जाय। विशेष संकटों के समय भी किस्तें स्थगित की जा सकती हैं।

(४) ऋण देने की व्यवस्था में सुधार—ऋण के लिए प्रार्थना-पत्र भूमि-बंधक-बैंकों को गाँव की सहकारी समितियों द्वारा उनकी सिफारिश के साथ भेजे जाँय। प्रार्थना-पत्रों की समुचित जाँच के बाद ऋण स्वीकृत किया जाय। ऋण केवल साख योग्य कृषकों को उत्पादक कार्यों के हेतु ही दिये जायें। ऋण का उचित रूप से प्रयोग किया जा रहा है या नहीं, इस पर विस्तार-सेवा के स्टाफ एवं ग्रामीण सहकारी समिति द्वारा देख-रेख की जाय।

(५) ऋण-पत्रों का निर्गमन सरल बनाना—भविष्य में जनता का विश्वास स्वतन्त्र रूप से अर्जित करने का प्रयत्न किया जाय। इसके लिये बन्धक बैंकों को अपनी कार्य-प्रणाली में सुधार करना होगा, जिससे जनता उनकी सफलता के प्रति विश्वस्त हो जाय। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया और इन बैंकों के मध्य अधिक सम्पर्क रहना चाहिए।

(६) भूमि की उन्नति एवं भूमि के क्रय को प्रोत्साहन देना—अब तक पुराने ऋणों के परिशोधन पर अधिक ध्यान दिया गया है। नि.संदेह विद्यमान परिस्थितियों में कुछ सीमा तक यह आवश्यक भी है, किन्तु अब अन्य उद्देश्यों के लिए विशेष प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। किसानों की आर्थिक दशा में स्थाई सुधार करने व देश की खाद्य समस्या को सुलझाने के लिए भूमि की उन्नति करना आवश्यक है। इसके लिए, कृषि विभाग भूमि के सुधार की योजना बनायें, किसानों को बताने और समझाने के पश्चात् भूमि बंधक बैंक इस कार्य के लिये कृषकों को धन दें। अन्य उद्देश्यों की अपेक्षा भूमि सुधार के लिए ऋण सस्ती दरों पर दिये जायें।

अखिल भारतीय ग्रामीण सर्वे रिपोर्ट १६५४ के सुझाव

(१) केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक—(i) प्रत्येक राज्य में एक केन्द्रीय-भूमि-बंधक बैंक होना चाहिए। (ii) बन्धकों की रजिस्ट्री सरल, सस्ती एवं शीघ्र बना दी जाय। (iii) सरकार द्वारा वित्तीय सहायता इतनी पर्याप्त होनी चाहिए कि ऋण सम्बन्धी कार्यों के लिए पर्याप्त हो। (iv) उत्पादक कार्यों के लिए ऋणों को प्राथमिकता दी जाय। (v) संनियम इस प्रकार संशोधित किया गया है कि उसके प्रभाव से बैंक को आपत्तिहीन स्वत्वाधिकार (Title) प्राप्त हो जाय। (vi) ऋणों के चुकाने के लिए उद्देश्यानुसार विभिन्न अवधियों के ऋण-पत्रों का निर्गमन करें। 'ग्रामीण ऋण पत्रों'' का प्रचलन किया जाय। (viii) रिजर्व बैंक व स्टेट बैंक को चाहिये कि इन ऋण-पत्रों के लिये अच्छा बाजार विकसित करें। (ix) ऋण-पत्रों के ब्याज एवं मूलधन की वापिसी के लिये सरकार की गारन्टी हो। (x) मूल्यांकन के लिये योग्य स्टाफ, ओवरड्राफ्ट सम्बन्धी सुविधायें; स्टाम्प ड्यूटी, रजिस्ट्रेशन फीस आदि से मुक्ति, भूमि बन्धक लेन-देन के कुशल संचालन के लिए विशेष संनियम का निर्माण, अविकसित क्षेत्रों में प्रशासन सम्बन्धी व्ययों को पूरा करने के लिये आर्थिक सहायता देने की भी सिफारिशें की गई हैं।

(२) प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंक—(i) इनका संगठन बड़ी सावधानी से, सम्बन्धित क्षेत्र की परिस्थितियों की जाँच-पड़ताल करने के पश्चात् किया जाय। (ii) प्रारम्भिक भूमि-बन्धक बैंकों में राज्य की साझेदारी होनी चाहिये। (iii) सरकार केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक की शेयर पूँजी में भाग लें, जो फिर प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंकों के शेयर क्रय किया करें।

परीक्षा प्रश्न

(१) भारतीय कृषि की दीर्घकालीन साख की पूर्ति के लिये भूमि बंधक बैंको का महत्व एवं कार्य बताइये।

(२) भूमि बंधक बैंकों की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालिये। इनकी धीमी प्रगति के लिये कौन-कौनसे कारण दायी है ?

(३) भूमि बंधक बैंकों की उन्नति के उपाय संक्षेप में लिखिये।

(४) भूमि बंधक बैंक अपनी पूँजी किस प्रकार जुटाते हैं ?

(५) भूमि बंधक बैंकों द्वारा ऋण देने की प्रणाली पर प्रकाश डालिये।

भारत में मिश्रित पूँजी के बैंक

(व्यापारिक बैंक)

[Joint Stock Banks in India]

प्रारम्भिक

देश की आर्थिक समृद्धि में मिश्रित पूँजी वाले बैंकों का बहुत महत्व है। जितना अधिक इनका विकास होता है, उतना अधिक धन, जो देश के कोने-कोने में बिखरा हुआ है, वे संग्रह कर सकेंगे। इनके पास जितनी अधिक जमा राशि होगी उतना ही अधिक धन वे व्यापारियों और उद्योगपतियों को ऋण के रूप में दे सकेंगे। आवश्यकतानुसार धन की व्यवस्था होने पर व्यापारीगण एवं उद्योगपति अपने कार्य-कलापों का विस्तार कर सकेंगे तथा सरकारी योजनायें भी पूरी हो सकेंगी। यही कारण है कि देश के कोने-कोने में बैंकों के कार्यालय खोलने पर जोर दिया जा रहा है। प्रस्तुत अध्याय में मिश्रित पूँजी के बैंकों के बारे में विस्तार से प्रकाश डाला गया है :—

'मिश्रित पूँजी के बैंक' से आशय

भारत में 'मिश्रित पूँजी के बैंक' (या व्यापारिक बैंक) से आशय उस बैंक का है जिसकी स्थापना भारतीय कम्पनीज एक्ट के अनुसार हुई है। स्टेट बैंक को मिश्रित पूँजी का बैंक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसका निर्माण एक अलहदा अधिनियम से हुआ है। रिजर्व बैंक भी एक मिश्रित पूँजी का बैंक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह व्यापारिक कार्य नहीं करता और उसकी स्थापना एक पृथक एक्ट से हुई है। अन्य सब बैंक, जिनका सीमित दायित्व है, व्यापारिक बैंक या मिश्रित पूँजी के बैंक कहे जा सकते हैं। विनिमय बैंक कुछ व्यापारिक कार्य करते हैं किन्तु मुख्यत: इनका सम्बन्ध विदेशी व्यापार से है इसलिये इन्हें व्यापारिक बैंकों की श्रेणी से अलहदा रखते हैं।

व्यापारिक बैंकों का वर्गीकरण

भारत के व्यापारिक बैंकों को चार वर्गों में बाँटा जा सकता है :—

(१) पाँच लाख से अधिक दत्त पूँजी व कोष रखने वाले बैंक।

(२) १ लाख से ५ लाख तक दत्त पूँजी व कोष रखने वाले बैंक।

(३) ५० हजार से १ लाख तक दत्त पूँजी व कोष रखने वाले बैंक।

(४) ५० हजार से कम दत्त पूँजी व कोष वाले बैंक।

नये बैंकिंग विधान द्वारा ५० हजार रु० से कम दत्त पूँजी और कोष वाले बैंकों की अब स्थापना नहीं की जा सकती। हीन दशा के कारण पुराने बैंकों का भी अन्त होता जा रहा है।

एक अन्य वर्गीकरण इस प्रकार है :—

(१) सूचीबद्ध बैंक (Scheduled Banks)—जिनका नाम रिजर्व बैंक की द्वितीय अनुसूची में होता है। इनकी पूँजी व कोष ५ लाख रु० से अधिक होती है, इन्हें माँग देय का ५% और काल देय का २% रिजर्व बैंक के पास जमा करना पड़ता है, ये रिजर्व बैंक से उचित प्रतिभूति पर ऋण ले सकते हैं, बिलों की पुन: कटौती करा सकते हैं व अन्य सुविधायें प्राप्त कर सकते हैं।

(२) असूचीबद्ध बैंक (Non-Scheduled Banks)—जिनका नाम रिजर्व बैंक की द्वितीय सूची में नहीं होता। इन्हें रिजर्व बैंक से सीमित मात्रा में सुविधायें मिलती हैं।

व्यापारिक बैंकों के कार्य

इनके मुख्य-मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं :—

(१) जमा पर रुपया प्राप्त करना विभिन्न खातों के अन्तर्गत जो कि बचत, चालू या स्थायी जमा खाते हो सकते हैं।

(२) कई प्रकार से ऋण देना, जैसे अधिविकर्ष, नगद साख एवं साधारण ऋण। ये प्राय: बिलों को भुना कर ऋण दिया करते हैं।

(३) एजेन्सी के कार्य करना, जैसे ग्राहकों के चैकों का संग्रह, प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय, मूल्यवान वस्तुओं का संरक्षण आदि।

भारत में व्यापारिक बैंकों के दोष

भारत में व्यापारिक बैंक उपरोक्त सभी कार्य कर रहे हैं। किन्तु देश की जन-संख्या एवं क्षेत्रफल को देखते हुए इनका पर्याप्त विकास नही हुआ है। इसके अतिरिक्त इनके निम्न दोष भी हैं :—

(१) नगद कोषों की कमी—चैकों के प्रयोग की आदत पूर्ण रूप से देश मे विस्तृत नही हुई है, जिससे बैंकों को अधिक मात्रा में नगद कोष अपने पास रखने की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु लाभ के लोभ में वे नगद कोष का अधिकांश भाग विनियोग कर देते हैं, जिससे पास में पर्याप्त नगद कोष न रहने के कारण प्राय: बैंक फेल हो जाते हैं।

(२) गैर बैंकिंग व्यवसायों में भाग लेना—कुछ बैंकों ने सट्टा आदि में भाग लिया है। यह नीति बैंकों के लिए प्राण-हर्ता प्रमाणित हो सकती है।

(३) बैंक के साधनों का अनुचित प्रयोग—अनेक व्यापारिक बैंकों की स्थापना बड़े-बड़े उद्योगपतियों के संरक्षण में हुई है, जिसका लाभ उठाकर ये लोग सार्वजनिक कोषों का प्रयोग निजी व्यवसायों एवं उद्योगों में करते है। यदि किसी कारण से उन्हे हानि हो, तो बैंक पर भी इसका प्रभाव पड़ता है।

(४) दत्त पूंजी की कमी—बैंकों की चुकता पूँजी. बहुत कम है। इससे उनकी नींव कमजोर होती है, फिर भला उस पर बनी इमारत कैसे मजबूत रह सकती है ?

(५) पारस्परिक प्रतियोगिता—एक तो अपने देश में वैसे ही बैंकों का कम विकास हुआ है, उस पर कठिनाई यह है कि पारस्परिक कटु प्रतियोगिता के द्वारा वे परस्पर हानि उठा रहे हैं। बैंक अपनी नई शाखायें उन्ही स्थानो में खोलते है जहाँ अन्य बैंकों की शाखायें पहले से ही मौजूद है।

(६) दृष्ट एवं कुशल कर्मचारियों का अभाव—अन्य देशों में कुशल कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिये कई संस्थायें हैं किन्तु भारत में अभी तक ऐसी संस्थाओं की कमी रही है। अतः बैंकिंग विकास के लिये पर्याप्त कुशल एवं अनुभवी कर्मचारियों का मिलना कठिन हो गया है। यही कारण है कि हमारे बैंकों की कार्यक्षमता बहुत कम है।

(७) विदेशी व्यापार पर विदेशियों का प्रभुत्व—विदेशी व्यापारियों ने अपना लेन-देन विदेशी बैंकों से रखा, जिससे देशी व्यापारिक बैंक पनप नहीं सके।

(८) शाखाओं का अभाव—दूसरे महायुद्ध तक देश में शाखा बैंकिंग पद्धति का अभाव रहा। शाखाओं के अभाव में जोखिम का प्रादेशिक वितरण नहीं होने पाया तथा जनता में बैंकिंग की आदत पर्याप्त विकसित नहीं हो सकी।

(९) विदेशी कर्मचारियों की नियुक्ति—उच्च पदों पर विदेशी कर्मचारी रखे जाते थे, जो देश के व्यापारियों से सम्पर्क न रख सके और न उनका विश्वास ही अर्जित कर पाये।

व्यापारिक बैंकों की उन्नति के उपाय

जब तक उक्त दोष एवं कठिनाइयों को दूर नहीं किया जायेगा तब तक भारतीय व्यापारिक बैंकों की अधिक उन्नति नहीं हो सकती है। सौभाग्य से नया बैंकिंग विधान बनने के कारण कई दोष व कठिनाइयाँ दूर हो गई हैं। उचित उपाय करने से शेष कठिनाइयाँ भी दूर हो सकती हैं। इस सम्बन्ध में समय-समय पर दिये गये सुझाव निम्नलिखित हैं:—

(१) शाखाओं की स्थापना को प्रोत्साहन—बैंकों को ग्रामीण क्षेत्रों में खोलने के लिये प्रोत्साहित किया जाय। इसके लिये रिजर्व बैंक नई-नई शाखाओं के पास अपनी ओर से कुछ राशि जमा करके प्रोत्साहित करे और उनके सामर्थ्यवान बनने पर उसे निकाल ले।

(२) जनता में विश्वास उत्पन्न करना—सरकारी व अर्ध-सहकारी संस्थाओं को भी अपना लेन-देन व्यापारिक बैंकों से रखना चाहिये। अपने ऋणों की व्यवस्था का कुछ कार्य उनको सौंप देना चाहिये तथा करों की कमी के रूप में उन्हें सुविधायें देनी चाहिये। इन सब बातों से जनता में बैंकों की साख बढ़ेगी।

(३) विनिमय बैंकों का कार्य-क्षेत्र सीमित करना—विनिमय बैंकों का कार्य-क्षेत्र आयात-निर्यात केन्द्रों तक सीमित कर दिया जाय, जिससे वे व्यापारिक बैंकों के साथ प्रतियोगिता न कर सकें। नये बैंकिंग विधान में अब विनिमय बैंकों को अपने कार्य-संचालन के लिए रिजर्व बैंक से लाइसेन्स प्राप्त करना आवश्यक हो गया है। इससे इन पर कुछ रोक लगेगी।

(४) अखिल भारतीय बैंकिंग संघ की स्थापना—ऐसे संघ की स्थापना हो चुकी है। इसका उद्देश्य अपने सदस्य बैंकों में सहयोग को बढ़ावा देना है। उसे विभिन्न क्षेत्रों में अपनी शाखायें खोल देनी चाहियें, ताकि बैंकों को परामर्श देने-लेने में सुविधा हो जाय।

(५) स्वदेशी बैंकरों को स्थानीय बैंक में परिणित करना—यदि इस कार्य में रिजर्व बैंक सहायता दे, तो उन क्षेत्रों में भी बैंकिंग की सुविधायें उपलब्ध हो जायेंगी जहाँ कि व्यापारिक बैंकों की शाखायें न होने से उपलब्ध न थीं।

(६) छोटे व दुर्बल बैंकों के एकीकरण की व्यवस्था—यह व्यवस्था नवीन बैंकिंग विधान में कर दी गई है। रिजर्व बैंक व सरकार को एकीकरण की योजनाओं

पर स्वीकृति देने का अधिकार है। इससे मलाभकर, छोटे व दुर्बल बैंकों की स्थिति मजबूत हो जायेगी।

(७) **'एक व्यक्ति एक बैंक' की पद्धति का विकास**—बैंकों को चाहिये कि वे उन लोगों को ग्राहक न बनायें, जिनका दूसरे बैंकों में खाता है, तभी पाश्चात्य देशों की भाँति भारत में भी 'एक बैंक एक व्यक्ति' पद्धति का विकास होकर ग्राहकों और बैंकों के मध्य घनिष्ट सम्बन्ध उत्पन्न होगा। बैंको को ग्राहकों की स्थिति पूर्णतः पता रहने से ऋण देने में सुविधा हो जायेगी।

(८) **कार्य प्रणाली के दोषों का निवारण**—बैंकों को चाहिये कि कुशल कर्मचारियों की नियुक्ति करें, ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधायें उपलब्ध करें, अंग्रेजी के बजाय हिन्दी भाषा में कार्य करें, हिसाब रखने की रीतियों मे सुधार करें, उत्पादक कार्यों के लिए ऋण दें, जमानत सम्बन्धी नियम उदार बनावें व व्यापारिक बिलों को प्रोत्साहन दें आदि।

(९) **उत्तराधिकार के नियमों में इस प्रकार सुधार होना** चाहिये कि बैंकों के ऋण-कार्य में जमानत सम्बन्धी जो कानूनी अडचनें पड़ती हैं वे दूर हो जायें।

(१०) *रिजर्व बैंक व स्टेट बैंकों को अधिक उदारता दिखलानी चाहिये।* उनकी नीति प्रतियोगिता की न होकर सहायता व सहयोग की होनी चाहिये।

(११) **जमा बीमा पद्धति**—हर्ष का विषय है कि भारत में इस पद्धति का अब श्रीगणेश हो गया है। इससे बैंक में जमाकर्त्ताओं की पूंजी पूर्णतः सुरक्षित हो जायेगी।

व्यापारिक बैंकों का भविष्य

निम्न परिस्थितियों से यह प्रगट होता है कि भारत में व्यापारिक बैंकों के विकास और उनकी उन्नति की पूर्ण संभावनायें हैं :—

(i) नये विधान के अन्तर्गत ५०,००० रु० से कम की पूंजी वाला कोई बैंक नहीं खोला जा सकता। अतः जो नये बैंक खुलेंगे उनकी स्थिति पर्याप्त मजबूत होगी।

(ii) चूंकि रिजर्व बैंक से आज्ञा लिये बिना कोई बैंक काम शुरू नहीं कर सकता और रिजर्व बैंक केवल उन्हीं को ऐसी आज्ञा दे सकता है, जो कि अपने साधन पर्याप्त संतोषजनक दिखायें, इसलिये दुर्बल बैंक स्थापित नही हो सकेंगे।

(iii) बैंकों के मित्र, सहायक एवं निर्देशक के रूप में रिजर्व बैंक अच्छा कार्य कर रहा है। इसी से बैंकिंग असफलताओं की संख्या पहले की अपेक्षा अब पर्याप्त घट गई है।

(vi) रिजर्व बैंक को बैंकों की देखरेख व नियन्त्रण के सम्बन्ध में नये विधान के अन्तर्गत विस्तृत अधिकार मिले हुये है और वह उनकी नगदी की स्थिति पर पर्याप्त नियन्त्रण रखता है।

परीक्षा प्रश्न

(१) 'मिश्रित पूंजी के बैंक' से आपका क्या अभिप्राय है ? इनके कार्य बताइये।

(२) व्यापारिक बैंकों की कठिनाइयों एवं असुविधाओं का वर्णन करते हुये उनके उपचार सुझाइये।

(३) मिश्रित पूंजी का बैक सहकारी बैंक से किन बातों में भिन्न है ? मिश्रित पूंजी के बैंकों का वर्गीकरण किस प्रकार किया जाता है ?

औद्योगिक वित्त-व्यवस्था

(Industrial Finance)

औद्योगिक साख की आवश्यकता

भारत मे उद्योग-धन्धों के लिये दो प्रकार की साख-आवश्यकतायें होती हैं :—

(१) **स्थायी पूंजी**—जो कि भूमि, इमारत, मशीनें आदि खरीदने के लिए आवश्यक हैं। यह आवश्यकता दीर्घकालीन हुआ करती है और इन वस्तुओं की खरीद के लिये कभी-कभी दीर्घकालीन ऋण भी लेने पड़ते हैं, चूंकि ये वस्तुयें उत्पत्ति कार्य में बार-बार काम मे आती हैं इसलिये इन्हे 'स्थिर पूंजी' (Fixed Capital) के अन्तर्गत गिना जाता है।

(२) **अस्थाई या कार्यशील पूंजी**—जो अल्पकाल के लिये प्राय: कच्चा माल खरीदने, वेतन व अन्य व्यय चुकाने तथा अन्य दैनिक व्ययों की पूर्ति के लिए आवश्यक होती है। अल्पकालीन पूंजी की व्यवस्था तो व्यापारिक बैंक कर सकते हैं लेकिन वे दीर्घकालीन पूंजी की व्यवस्था करने मे असमर्थ हैं, क्योंकि उनके कोष अल्पकालीन होते हैं तथा अपनी देनदारियों को पूरा करने के लिये उन्हे अपनी सम्पत्ति यथासम्भव तरल अवस्था मे रखनी पड़ती है।

औद्योगिक पूंजी प्राप्त करने के स्रोत

वर्तमान समय में एक उद्योग निम्न साधनो से पूंजी का प्रबन्ध करता है :—

(१) **अंश पूंजी**—औद्योगिक कम्पनियां साधारण एवं प्रिफ़रेन्स श्रेणियों के शेयर वेच कर जनता से पूंजी प्राप्त कर सकती हैं। यह पूंजी दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रयोग की जा सकती है, क्योंकि शेयरों का रुपया कम्पनी को अपने जीवन काल मे वापिस नहीं करना पड़ता।

(२) **ऋण-पत्रों की पूंजी**—कम्पनी विभिन्न किस्म के ऋण-पत्र वेच कर भी पूंजी प्राप्त करती है। ये ऋण-पत्र विभिन्न अवधियों के उपरान्त शोध्य होते हैं जबकि शेयर होल्डरों को लाभांश दिया जाता है, ऋण-पत्रों पर एक निश्चित दर से व्याज मिलता है। जो विनियोगकर्त्ता निश्चित आय व पूंजी की सुरक्षा चाहते हैं उनके लिए ऋण-पत्र एक उत्तम विनियोग है। ऋण-पत्र प्राय: जमानती होते हैं। भारत मे ऋण-पत्र अधिक लोकप्रिय नहीं हैं, क्योंकि इनके क्रय-विक्रय के लिये एक सुव्यवस्थित बाजार विकसित नहीं हो पाया है, व्यापारिक बैंक उन्हें लेने में हिचकिचाते हैं, शर्तें कठोर व अनाकर्षक होती हैं तथा इनकी निकासी में व्यय भी अधिक होता है।

(३) प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के ऋण—यह प्रणाली भारतीय अर्थ-प्रबन्धन की एक अनोखी विशेषता है। प्रबन्ध अभिकर्ता अनेक प्रकार से अपनी प्रबन्धित कम्पनियों की आर्थिक सहायता करते हैं जैसे—कम्पनी मे शेयर खरीदना, संकट काल में ऋण देना, मित्रों व सम्बन्धियों को शेयर आदि खरीदवाना, बैंकों से मिलने वाले ऋणों की गारन्टी करना, शेयरों व ऋण-पत्रों का अभिगोपन करना।

बड़े पैमाने के उद्योगों के लिये पूंजी जुटाने के मुख्य दस साधन

(१) अंश पूंजी।
(२) ऋण-पत्र।
(३) प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं से ऋण।
(४) जनता के डिपाजिट।
(५) बैंकों से ऋण।
(६) देशी बैंकर, महाजन आदि।
(७) सरकार से ऋण।
(८) विनियोग ट्रस्ट।
(९) स्टॉक एक्सचेन्ज।
(१०) विशेष अर्थ संस्थायें।

(४) जनता के डिपाजिट—अहमदाबाद व बम्बई के वस्त्र मिलों ने अधिकांश पूंजी जनता द्वारा जमा कराये गये डिपाजिटों से प्राप्त की है। केवल वही कम्पनियाँ जनता से डिपाजिट प्राप्त करने में समर्थ होती हैं, जिनमें जनता को विश्वास है। ये जमायें स्थायी जमा के रूप में प्राय: ६ माह से १ वर्ष के लिये प्राप्त होती हैं। जनता के डिपाजिटों से पूंजी का प्रबन्ध करने के कई दोष हैं—कम्पनियों की आर्थिक दशा बिगड़ने पर जबकि उन्हें अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है, डिपाजिट वापिस माँगे जाने लगते हैं, जिससे उनकी दशा और भी खराब हो जाती है, प्रचुर मात्रा में इनके मिल जाने से कम्पनियाँ सट्टे का व्यवहार करने लगती हैं, इनको स्थिर सम्पत्तियाँ क्रय करने के काम में नहीं लगाया जाता।

(५) बैंकों से ऋण—भारत में औद्योगिक बैंक अभी निर्मित नहीं हो पाये हैं। जो बैंक स्थापित भी किये गये वे ठप्प हो गये। उनकी असफलता के निम्न कारण हुए—अकुशल प्रबन्ध, अल्पकालीन कोषों से दीर्घकालीन ऋण देना तथा औद्योगिक बैंकिंग के ज्ञान का अभाव। किन्तु देश के कुछ व्यापारिक बैंकों ने औद्योगिक साख की अल्पकालीन व्यवस्था में काफी महत्वपूर्ण योग दिया है।

(६) देशी बैंकर, महाजन और व्यक्तिगत ऋणदाता—कुछ समय पूर्व ये भी औद्योगिक पूंजी की पूर्ति के मुख्य साधन थे परन्तु इनकी कार्यविधि बहुत असन्तोषजनक तथा ब्याज-दर बहुत ऊंची होने के कारण इनका महत्व दिनों-दिन कम होता जा रहा है।

(७) सरकारी ऋण—सरकारें भी जनोपयोगी उद्योगों को आर्थिक सहायता देती हैं। लेकिन लालफीताशाही के कारण इनसे ऋण समय पर नहीं मिल पाते तथा अपर्याप्त भी होते हैं। अत: उद्योगों को ये ऋण प्रिय नहीं होते।

(८) विनियोग ट्रस्ट—ये ट्रस्ट सीमित दायित्व और विशाल पूंजी वाली कम्पनियाँ होती हैं। ये अपनी पूंजी का प्रयोग औद्योगिक कम्पनियों के शेयरों व डिबेन्चरों को खरीदने में करती हैं। ये किसी एक कम्पनी में नहीं वरन् विभिन्न वर्गों की विभिन्न कम्पनियों में विनियोग करती हैं ताकि जोखिम का वितरण हो जाय। आजकल ट्रस्ट कम्पनियों के शेयरों का अभिगोपन भी करने लगे हैं।

(९) स्टाक एक्सचेंज बाजार—भारत में बम्बई, मद्रास व कलकत्ता बहुत प्रसिद्ध स्टॉक एक्सचेंज हैं जहां बड़ी-बड़ी कम्पनियां कुछ ही घण्टों में जनता से शेयरों व डिबेन्चरों की बिक्री द्वारा करोड़ो रुपये एकत्र कर लेती हैं।

भारत में औद्योगिक पूंजी की कमी के कारण

किसी देश के उपलब्ध प्राकृतिक साधनों का समुचित प्रयोग तथा विकास करने के लिये उस देश का औद्योगीकरण होना नितान्त आवश्यक है। इसके लिये प्रचुर मात्रा मे पूंजी चाहिये, जो भारत मे दुर्भाग्य से पर्याप्त मात्रा में सुलभ नहीं है। इसलिये यहाँ औद्योगिक विकास बहुत कम हुआ है। भारत मे औद्योगिक पूंजी की कमी के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) देश में संगठित पूंजी बाजार का अभाव होने के कारण उद्योग-धंधों को पर्याप्त पूंजी नही मिल पाती है।

(२) जनता में जोखिम-प्रवृत्ति का अभाव होने के कारण वह उन्हीं कार्यों मे रुपया लगाना पसन्द करती है, जिनमे जोखिम कम व आय अधिक हो।

(३) बैंकिंग की आदत का अभाव भी पूंजी न मिलने का एक कारण है, क्योंकि निरन्तर रुपया मिलने की सुविधा न होने के कारण जनता बैंकों में रुपया जमा करके जेवरों, मकानो आदि मे रुपया लगाना पसन्द करती है।

(४) गाँवों में बैंकिंग व्यवस्था का कम होना—गाँवों में छोटी-छोटी बचत व्यर्थ अनुत्पादक रूप से बिखरी हुई है अथवा फिजूल उपभोग मे लग रही है क्योंकि वहाँ बचत जमा करने वाली संस्थाओं का अभी तक नितान्त अभाव था।

(५) जनता का अविश्वास—बैंकों के लगातार फेल होने से जनता का उन पर से विश्वास कम हो गया है। बहुत सी औद्योगिक संस्थायें भी अचानक और बुरी तरह से फेल हो गई हैं। इसलिये जनता उन्हे अपनी पूंजी सौंपने मे हिचकिचाती है।

(६) जनता की निर्धनता—भारतीय जनता बहुत निर्धन है। वह द्रव्य बचाना तो दूर अपनी आवश्यकतायें भी समुचित रूप से पूरी करने में असमर्थ रहती है। अतः देश मे पूंजी का निर्माण बहुत अल्प हुआ है।

(७) सरकारी प्रशुल्क नीति—सन् १८४७ के पूर्व विदेशी सरकार की प्रशुल्क नीति भी भारतीय उद्योगों के प्रति अच्छी नही थी, जिसमे जनता भी उनमे धन लगाने से संकोच करती थी।

(८) अभिगोपन कार्यालयों की कमी—इस कमी के कारण भी देश में औद्योगिक प्रतिभूतियों का अच्छा प्रचार नही होने पाया है।

(९) स्टाक एक्सचेंजों का कम विकास—स्टाक एक्सचेंज केवल इने-गिने बड़े नगरों मे ही हैं, जिससे औद्योगिक प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय के लिये सुविधायें नही बढ़ पाई हैं।

(१०) बैंकों की उपेक्षा—भारतीय तथा विदेशी बैंकों ने उद्योगों के अर्थ-प्रबन्धन में कोई सक्रिय रुचि नही ली है, जिससे उद्योगो को समय पर पूंजी का प्रबन्ध नही हो सका।

औद्योगिक वित्त-व्यवस्था में कैसे सुधार हो ?

भारत मे औद्योगिक पूंजी की कमी व कठिनाइयों को दूर करने के लिए समय-समय पर निम्न सुझाव दिये गये हैं :—

(१) **अभिगोपन-गृहों की व्यवस्था**—कम्पनियों के शेयरों व डिबेन्चरों का अभिगोपन करने के लिये विशेष संस्थायें स्थापित की जायें, भारतीय बैंक भी इस दिशा में कार्य करें, औद्योगिक निगम व अन्य विशेष संस्थाओं को जिनकी स्थापना अभी हाल मे की गई है, इस ओर अधिक व अविलम्ब ध्यान देना चाहिये।

(२) **जर्मन प्रणाली पर व्यापारिक बैङ्कों का संगठन**—बड़े-बड़े बैंकों को मिलकर एक संघ बना लेना चाहिये। इसे जर्मनी में कनसोरटियम कहते हैं। यह संघ कम्पनियों के अंशों और ऋण-पत्रों में एक निश्चित मात्रा तक धन का विनियोग करे और उद्योगों से निकट सम्पर्क रखे।

(३) **व्यक्तिगत जमानतों पर ऋण देने की परिपाटी**—यह पाश्चात्य देशों में बहुत प्रचलित है, जिससे वहाँ के उद्योगों को पूँजी सहज ही मिल जाती है। हमारे देश में भी व्यापारिक बैंकों को ऐसा करना चाहिये।

(४) **औद्योगिक बैंकों की स्थापना**—दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये औद्योगिक बैंको की स्थापना करनी चाहिये और सरकार को इनकी स्थापना में सहयोग देना चाहिये। औद्योगिक वित्त निगमों की स्थापना से यह कमी काफी सीमा तक दूर हो गई है।

(५) **विनियोग ट्रस्टों की स्थापना**—इन ट्रस्टों की स्थापना से जनता की विनियोग प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा। किन्तु इनका प्रबन्ध कुशल व अनुभवी व्यक्तियों के हाथों में होना चाहिये।

(६) **औद्योगिक वित्त निगम का कार्य-क्षेत्र बढ़ाया जाय**—अखिल भारतीय तथा राज्य वित्त निगमों का कार्य-क्षेत्र बढ़ाना चाहिये ताकि ये उद्योगों की अधिक सहायता कर सकें। इन्हें ऋण देने में अनावश्यक देरी नहीं करनी चाहिये।

(७) **सर्राफ कमेटी की सिफारिशों का कार्यान्वयन**—सर्राफ कमेटी ने कई महत्वपूर्ण सुझाव दिये थे, जिनको कार्यान्वित करने से औद्योगिक वित्त-व्यवस्था में काफी सुधार हो सकता है। कुछ महत्वपूर्ण सुझाव निम्न थे—जमा बीमा प्रमण्डल की स्थापना, बिल बाजार का विकास, अविकसित क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं का विकास, राशि हस्तांतरण की सस्ती सुविधायें देना, व्यापारिक बैंकों द्वारा कुशल कम्पनियों के शेयरों मे अधिक धन लगाना।

औद्योगिक वित्त-व्यवस्था में सुधार के लिये उठाये गये कदम

देश के स्वतंत्र होने पर अनेक विशिष्ट अर्थ-संस्थायें स्थापित की गई हैं, जो कि उद्योगों की वित्त-व्यवस्था में महत्वपूर्ण योग देने लगी हैं। इन संस्थाओं का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया गया है :—

(१) **भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation of India)**—यह निगम सीमित दायित्व वाली औद्योगिक कम्पनियों को २५ वर्ष की अधिकतम अवधि के लिए ऋण देता है। ऋण देने के पूर्व प्रार्थी कम्पनी की आर्थिक अवस्था व ऋण के उपयोग की योजना की भली प्रकार जांच पड़ताल की जाती है। ऋण स्थाई सम्पत्ति की आड़ पर स्थायी सम्पत्ति खरीदने के लिये दिया जाता है। किसी एक कम्पनी या संस्था को ऋण की अधिकतम सीमा १ करोड़ रु० रखी गई है। यह ऋण किश्तों में दिया जाता है। निगम कम्पनियों के शेयरों आदि का अभिगोपन करता है, ऋण-पत्रों की गारन्टी करता है, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक या अन्य विदेशी स्रोतों से विदेशी मुद्रा दिलाता है, तथा उद्योगों को टेक्नीकल सलाह देता है।

सन् १९६० के एक संशोधन के अनुसार वह औद्योगिक संस्थाओं के शेयर भी खरीद सकता है। जून १९५२ के अन्त तक निगम ने नये कारखाने खोलने, चालू कारखानों को बढ़ाने और उनमें मशीन लगाने के लिये कुल १ अरब ३० करोड़ के ऋणों की मंजूरी दी, जिसमें से ६८·१ करोड़ रु० वास्तव में दिया जा चुका है। इस प्रकार यह निगम देश भर में उद्योगों की वित्त-आवश्यकता का लगभग ४४% दे रहा है। १६ जुलाई १९६२ से निगम अपना रुपया ऋणों पर ७½% ब्याज लेने लगा है तथा विदेशी मुद्रा के ऋणों पर प्रारम्भ से ८½% ले रहा है।

(२) राज्य औद्योगिक वित्त निगम (State Industrial Finance Corporations)—लगभग सभी राज्यों में राज्य औद्योगिक वित्त निगमों की स्थापना हो गई है। उनका उद्देश्य सीमित दायित्व वाली सार्वजनिक कम्पनियों व सहकारी समितियों को आर्थिक सहायता देना है। ये अधिक से अधिक २० वर्ष के लिये ऋण दे सकते हैं। किसी भी कम्पनी को १० लाख रु० से अधिक ऋण नहीं दिया जा सकता। ये ऋण-पत्रों का अभिगोपन करते हैं, सरकारी व अन्य मान्य प्रतिभूतियों, स्वर्ण तथा चल-अचल सम्पत्तियों की आड़ पर ऋण देते हैं। यह किसी कम्पनी की प्रतिभूतियों को खरीद नहीं सकते। ये निगम माध्यमिक व छोटे पैमाने के उद्योगों की विशेष सहायता करते हैं। इस समय राज्य वित्त निगमों की संख्या १५ है। प्रायः प्रत्येक राज्य के लिये एक-एक वित्त निगम है। मार्च १९६२ के अन्त तक इन्होंने कुल ४६·१ करोड़ रु० के ऋण स्वीकृत किये थे जिसमें से ३०·२ करोड़ रु० वास्तव में दे भी दिया गया है।

(३) राष्ट्रीय उद्योग विकास निगम लि० (The National Industrial Development Corporation Ltd.)—यह निगम देश में नये-नये उद्योगों की सम्भावनाओं का पता लगाकर उनकी स्थापना को प्रोत्साहन देता है। कम्पनियों, फर्मों, कम्पनियों व सरकारी उद्योगों को पूँजी व साख मशीनरी व अन्य अनेक वस्तुओं के रूप में करेगा, कम्पनियों को मिलने वाले ऋणों की गारन्टी देगा, उनके शेयरों व ऋण-पत्रों का अभिगोपन करेगा, विशेषज्ञों की सेवायें दिलायेगा, उद्योगों को परामर्श देने के लिये संचालकों की नियुक्ति करेगा। सितम्बर १९६१ के अन्त तक निगम ने २२·२६ करोड़ रु० के ऋण सूती वस्त्र उद्योग एवं जूट उद्योगों के पुनर्वास व आधुनिकीकरण तथा मशीन टूल्स उद्योग के विकास के लिये स्वीकृत किये थे।

(४) औद्योगिक साख तथा विनियोग निगम (The Industrial Credit and Investment Corporation of India Ltd.)—इसका उद्देश्य निजी क्षेत्र के औद्योगिक विकास में सहायता देना है। वह नये-नये उद्योगों की स्थापना, पुराने उद्योगों का विस्तार, नवीनीकरण या आधुनिकीकरण करने, विदेशी पूँजी को प्रोत्साहित करने के लिए स्थापित किया गया है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वह मध्यमकालीन व दीर्घकालीन साख देगा, कम्पनियों के शेयरों व डिबेन्चरों का अभिगोपन करेगा, प्राइवेट क्षेत्रों से आने वाले ऋणों की गारन्टी करेगा, तात्रिक सलाह देगा। इसने १९६१ के अन्त तक विभिन्न कार्यों के लिए औद्योगिक संस्थाओं को कुल ४२·७ करोड़ रु० की वित्तीय सहायता स्वीकृत की थी। इसमें से १८·४ करोड़ रु० वास्तव में दे दिया गया है।

(५) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (The National Small Industries Corporation)—इसकी स्थापना छोटे-छोटे उद्योगों को आर्थिक सहायता देने के हेतु की गई है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इस निगम द्वारा कुल व्यय ३०·२

करोड़ रु० एवं द्वितीय योजना के अन्तर्गत २०० करोड़ रु० था। तीसरी योजना के अन्तर्गत ५८६ करोड़ रु० की व्यवस्था है।

(६) पुनर्वित्त निगम (Refinance Corporation for Industry Ltd.)—इसकी स्थापना जून १६५८ में औद्योगिक संस्थाओं को (विशेषत: योजना में सम्मिलित किये गये उद्योगों में संलग्न संस्थाओं को), उत्पादन बढ़ाने के लिये, बैंकों द्वारा दिये गये ऋणों के विरुद्ध पुन: उधार सुविधायें देने के हेतु की गई थी। रिडिस्काउंटिंग के लिये वही ऋण मान्य होंगे, जो कि ३ और ७ वर्ष के बीच अवधि के हों तथा ५० लाख रु० से अधिक रकम के न हों। ये सुविधायें उन्हीं औद्योगिक संस्थाओं को उपलब्ध हो सकेंगी, जिनकी दत्त पूँजी एवं संचित पूँजी २·५ करोड़ से अधिक नहीं है। मार्च १६६१ तक निगम ने २०·५ करोड़ रु० की सहायता स्वीकृत की थी। इसमें से १०·१ करोड़ रु० वास्तव में दिया गया।

उपसंहार

सरकार भी आवश्यक कच्चे मालों और आधारभूत अर्ध-निर्मित मालों का आयात सुविधाजनक बनाकर उद्योगों को सहायता पहुँचाती है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, विदेशी सरकार व पूँजीपतियों से भी विशिष्ट कार्यक्रमों के अन्तर्गत उद्योगों को सहायता मिल रही है। एक अनुमान के अनुसार सन् १६५६ के अन्त में विदेशी नॉन बैंकिंग व्यवसायिक विनियोग (अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के ऋणों सहित) लगभग ६१०·७ करोड़ रु० थे। सार्वजनिक क्षेत्र में भारत के विदेशी दायित्व सन् १६५६ में ६४४ करोड़ रु० थे तथा बैंकिंग क्षेत्र में ६० करोड़ थे।

भारत का औद्योगिक वित्त निगम
(Industrial Finance Corporation of India)

भारत में औद्योगिक संस्थाओं को बहुत दिनों से वित्तीय सहायता का अभाव रहा है। सन् १६१८ के औद्योगिक आयोग, सन् १६३१ की केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति तथा भारत सरकार की औद्योगिक नीति सम्बन्धी सन् १६४५ के प्रस्ताव में इस अभाव की चर्चा की थी और उपयोगी सुझाव भी दिये थे। अन्त में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना का सुझाव दिया। अब १ जुलाई १६४८ से इस निगम का कार्य प्रारम्भ हो गया है।

निगम के वित्तीय साधन

निगम के वित्तीय साधन इस प्रकार हैं :—

(१) शेयर पूँजी—निगम की अधिकृत पूँजी १० करोड़ रु० है जो कि २०,००० शेयरों में, (प्रत्येक शेयर का मूल्य ५,००० रु०) विभाजित है। इस समय केवल १०,००० शेयर ही निर्गमित हैं, जिनमें से २,००० शेयर केन्द्रीय सरकार, २,०५४ शेयर रिजर्व बैंक, २,४०५ शेयर अनुसूचित बैंकों, २,५६६ शेयर बीमा कम्पनियों, विनियोग ट्रस्टों आदि तथा ६४५ शेयर सहकारी बैंकों ने खरीदे हैं। शेयरों पर केन्द्रीय सरकार ने मूलधन एवं वार्षिक लाभांश २½% की गारन्टी दी है।

(२) डिबेन्चर पूँजी—निगम को अपनी कार्यशील पूँजी जुटाने के लिये ब्याज पर बांडों और डिबेन्चरों का निर्गमन व विक्रय करने का अधिकार है। जून १६५६ के अन्त में १६·७५ करोड़ रु० के बांड जारी किये हुए थे।

(३) रिजर्व बैंक से ऋण—निगम को ६० दिनों तक के लिये केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों की प्रतिभूतियों के विरुद्ध रिजर्व बैंक से ऋण लेने का अधिकार है। वह अपने डिबेन्चरों की प्रतिभूति पर भी रिजर्व बैंक से रुपया ले सकता है। दोनों तरह से वह अधिक से अधिक ३ करोड़ रु० उधार ले सकता है। जनवरी १९६० के अन्त में रिजर्व बैंक से ली हुई राशि १·८० करोड़ रु० थी।

(४) डिपाजिट—निगम को जनता से डिपाजिट लेने का अधिकार भी है। ऐसे डिपाजिटों की रकम १० करोड़ से अधिक होनी चाहिये। ३० जून सन् १९५९ के अन्त तक उसने कोई डिपाजिट नहीं लिये थे।

(५) विदेशी मुद्रा के ऋण—निगम को अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से विदेशी मुद्रा के ऋण लेने का अधिकार है। भारत सरकार ऐसे ऋणों की गारन्टी करती है। ३० जून १९५९ तक इसने ऐसा कोई ऋण नहीं लिया था।

(६) केन्द्रीय सरकार से ऋण—निगम को केन्द्रीय सरकार से भी ऋण लेने का अधिकार है। जनवरी १९६० तक इस प्रकार के ऋणों की बकाया राशि ६ करोड़ रु० थी।

(७) विशेष रिजर्व फण्ड—अपनी वित्तीय स्थिति को दृढ़ करने के लिये निगम ने एक विशेष रिजर्व फण्ड भी स्थापित किया है। इस कोष में वह सब लाभांश जमा होता रहता है जो कि रिजर्व बैंक एवं केन्द्रीय सरकार के शेयरों पर देय हो। ३० जून १९५९ को इस कोष का बैलेन्स ३१·१२ लाख रु० था।

निगम के उद्देश्य, कार्य एवं इसका संगठन

निगम का प्रमुख उद्देश्य उद्योगों को दीर्घ एवं मध्यकालीन आर्थिक सहायता प्रदान करना है। इस प्रकार की सहायता देते समय वह बैंकों से सहयोग करता है, प्रतिस्पर्धा नहीं। निगम केवल उन्हीं उद्योगों को आर्थिक सहायता देता है जो सार्वजनिक अथवा लोक-सीमित हैं और जो सहकारिता के सिद्धान्तानुसार कार्य कर रहे हैं। प्राइवेट कम्पनियाँ व साझेदारियाँ इससे आर्थिक सहायता नहीं ले सकती हैं। सन् १९५५ के संशोधन के अनुसार निगम नवनिर्मित कम्पनियों को भी ऋण दे सकता है जबकि पहले वह केवल चालू कम्पनियों को ही ऋण दे सकता था।

निगम निम्नलिखित कार्य करता है—(i) औद्योगिक संस्थाओं के ऋणों की गारन्टी करना; (ii) इनके अंशों व ऋण-पत्रों का अभिगोपन करना तथा (ii) ऋण एवं अग्रिम प्रदान करना। गारन्टी, ऋण व अग्रिम २५ वर्ष तक के लिये हो सकते हैं। किन्तु निगम कुछ दशाओं में डिपाजिट नहीं ले सकता, अंशों को प्रत्यक्ष रूप से नहीं रोकता (नये संशोधन के अनुसार वह ऐसा करने लगा है), ७ वर्ष से अधिक अवधि तक अभिगोपित अंश अपने पास नहीं रख सकता, एक करोड़ से अधिक का कर नहीं दे सकता।

निगम ऋण तब ही देता है या अभिगोपन तब ही करता है जबकि उस पर प्रत्याभूति हो, ऋण की राशि १९५२ के संशोधन के अनुसार १ करोड़ रु० से अधिक नहीं हो सकती है जब तक कि भारत सरकार की उस पर गारन्टी न हो। ऋण का भुगतान अथवा नियमों का पालन करने में त्रुटि करने पर निगम कम्पनी के विरुद्ध उचित कार्यवाही कर सकती है जैसे—ऋण को समय से पूर्व ही वापिस माँग लेना, कम्पनी के बोर्ड में अपना प्रतिनिधि रखना, कम्पनी की प्रबन्ध व्यवस्था अपने हाथ में ले लेना।

ऋण देने की शर्तें निम्न हैं—(i) ऋण मुख्यतः स्थायी एवं अचल सम्पत्ति खरीदने के लिये प्रथम रहन (First Mortgage) पर दिया जाता है। (ii) ऋण के उचित प्रयोग के आश्वासन् हेतु कम्पनी के संचालकों से उनकी व्यक्तिगत स्थिति में जमानत ली जाती है। (iii) निगम उद्योग की संचालक सभा में दो संचालकों की नियुक्ति, अपने हितों की रक्षा के लिये कर सकता है। (iv) जब तक ऋण का भुगतान न हो जाय, तब तक उद्योग ६% से अधिक लाभांश नहीं दे सकता। (v) ऋण भुगतान की अवधि साधारणतः १२ वर्ष है लेकिन अधिकतम १५ वर्ष। (vi) भुगतान की किश्तें समान राशि की होती हैं, जिनकी संख्या का निर्धारण पारस्परिक सहमति से होगा। (vii) निगम की रहन की गई सम्पत्ति का बीमा करना अनिवार्य है।

निगम का प्रबन्ध एक संचालक समिति द्वारा होता है, जिसकी सहायता के लिए एक केन्द्रीय समिति और एक जनरल मैनेजर भी होता है। निगम का मुख्य कार्यालय नई दिल्ली में है। निगम की सामान्य नीति का निर्देशन केन्द्रीय सरकार करती है। निगम की अधिकृत पूंजी १० करोड़ रु० और निर्गमित पूंजी ५ करोड़ है। निगम को ऋणपत्रों का निर्गमन करने का अधिकार है। वह केन्द्रीय सरकार की प्रतिभूतियों के आधार पर रिजर्व बैंक से धन उधार ले सकता है। वह जनता से कम से कम ५ वर्ष के लिये १० करोड़ रु० तक की कुल जमा स्वीकार कर सकता है। उसे विश्व बैंक से विदेशी मुद्रा में ऋण लेने का अधिकार है और वह केन्द्रीय सरकार से भी ऋण ले सकता है। आर्थिक स्थिति की सुदृढ़ता के लिये एक विशेष रिजर्व भी बनाया गया है।

निगम द्वारा किसी भी औद्योगिक संस्था को ऋण प्रदान करने की विधि संक्षेप में इस प्रकार है:—ऋण देने के पूर्व व प्रार्थी से व्यापार का विवरण दी जाने वाली प्रतिभूति का मूल्य, सहायता का उद्देश्य, भुगतान क्षमता आदि के बारे में सूचना माँगता है, तत्पश्चात् निगम के अधिकारी कम्पनी का निरीक्षण करते हैं और ऋण स्वीकृत करने के बाद निगम ऋणी कम्पनी से सामयिक रिपोर्ट मँगाता रहता है।

निगम के अब तक के कार्यों का ब्यौरा (मार्च १९६१ तक)

जुलाई १९४८ से ३१ मार्च सन् १९६१ तक निगम ने कुल ९९·६७ करोड़ रु० के ऋण स्वीकृत किये, जिनमें से केवल ५४·९० करोड़ रु० के ऋण (५५%) ही वास्तव में दिए गये। सन् १९६०-६१ में निगम ने १२ संस्थाओं को ३·४८ करोड़ रु० के ऋण विदेशी मुद्रा में स्वीकार किये। ऋण प्राप्त करने वाले उद्योगों में चीनी, सूती वस्त्र, सीमेन्ट, भारी रसायन, इन्जीनियरिंग तथा कागज आदि रहे। सन् १९५८-५९ में निगम ने शेयरों व ऋणपत्रों का प्रथम बार अभिगोपन किया था। सन् १९६०-६१ में निगम ने १३·१३ करोड़ रु० के विलम्बित भुगतान की गारन्टी दी।

भारतीय उद्योग वित्त निगम की रिपोर्ट (सन् १९६२)

(१) कुल ऋण पाने वाले उद्योग—भारतीय उद्योग वित्त निगम की ३० जून, १९६२ को समाप्त वर्ष की रिपोर्ट में बताया गया कि निगम ने आलोच्य वर्ष में १९ उद्योगों के ४१ आवेदकों को ऋण की मंजूरी दी। निगम ने ऋण देने में, उद्योगों में पिछड़े हुए इलाकों को तरजीह दी।

(२) ऋण पाने वाले उद्योग एवं सम्बन्धित राज्य—सबसे अधिक ७ करोड़ ५२ लाख रु० का ऋण चीनी उद्योग को दिया गया। दूसरा स्थान रसायन उद्योग का है, जिसे ६ करोड़ ३८ लाख रु० का ऋण मिला। इसके अलावा बिजली की मशीन बनाने वाले उद्योग को ३ करोड़ १३ लाख रु० का और कपड़ा उद्योग को १ करोड़ ६० लाख रु० का ऋण दिया गया। महाराष्ट्र और पश्चिमी बंगाल को सबसे अधिक ८-८ ऋण मिले। केरल और मद्रास को ५-५ ऋणों की मंजूरी दी गई। आन्ध्र प्रदेश को ४ और गुजरात को ३ ऋण मिले। राजस्थान, उत्तर-प्रदेश, बिहार और आसाम को २-२ तथा पंजाब, मैसूर और मध्यप्रदेश को १-१ ऋण मिला।

(३) सहकारी समितियों को ऋण देने में प्राथमिकता—७ करोड़ ७२ लाख रु० का ऋण १४ सहकारी समितियों को दिया गया इसमे अतिरिक्त ऋण की ४ अर्जियाँ भी शामिल हैं। अन्य जिन कारखानों को ऋण मिला है उनमें १२ चीनी कारखाने, १ कपड़ा कारखाना और १ वनस्पति तैयार करने वाला कारखाना है। उक्त ऋणों को मिलाकर उद्योग वित्त निगम, सहकारी समितियों को ३१ करोड़ ४१ लाख रु० ऋण दे चुका है, जो कुल ऋण का २४·१ प्रतिशत है। इससे स्पष्ट है कि निगम सहकारी समितियों को ऋण देने में प्राथमिकता दे रहा है।

(४) डालर ऋण—१९६१-६२ में ६ कम्पनियों को २ करोड़ ७५ लाख रु० का डालर ऋण दिया गया। इनमें से ३ कम्पनियों को १ करोड़ १३ लाख रु० का भी ऋण दिया गया और २ कम्पनियों को पश्चिमी जर्मनी की मुद्रा (मार्क) में २२ करोड़ २ लाख रु० का ऋण दिया गया।

(५) उद्योग वित्त निगम को विदेशों से ऋण—अमरीका के अन्तर्राष्ट्रीय विकास संगठन ने आलोच्य वर्ष में २ करोड़ डालर के दूसरे ऋण को मंजूरी दी। पश्चिमी जर्मनी के जर्मन पुनर्निर्माण बैंक ने उद्योग वित्त निगम को १ करोड़ ५० लाख मार्क का ऋण दिया है। भारत सरकार को जापान से ८ करोड़ डालर का जो येन ऋण मिला है, उसमें से निगम को २० लाख डालर की येन मुद्रा ऋण दी गई है। भारत सहायता कोष के अन्तर्गत फ्रांस ने भारत को जो ३ करोड़ डालर का ऋण दिया है, उसमें से निगम को मशीनों की खरीद के लिये १ करोड़ डालर दिया गया है। इन ऋणों की शर्तों और अन्य विवरणों को अंतिम रूप दिया जा रहा है। उद्योग वित्त निगम, विदेशों से और ऋण प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील है।

(६) सन् १९६१-६२ के अन्त तक स्वीकृत कुल ऋण-राशि—निगम ने १९६१-६२ के अन्त तक कुल ४ करोड़ ९२ लाख रु० के ह्यामीदारों के प्रस्तावों की स्वीकृति दी। निगम ने यह स्वीकृति मिट्टी और चीनी मिट्टी के बर्तनों, औद्योगिक रसायनों और उर्वरकों, कपड़ा धातु के सामान, बिजली की तथा अन्य मशीनों, कागज और खान उद्योगों को दी। आलोच्य वर्ष में निगम ने ४३ लाख ९१ हजार रु० से विलम्बित भुगतान की तीन अर्जियों पर गारन्टी दी। पिछले वर्ष की तुलना में आलोच्य वर्ष में विलम्बित भुगतान की गारन्टी की कम अर्जियाँ आईं। इसका कारण सरकार की विलम्बित भुगतान पंजीगत माल आयात करने पर प्रतिबन्ध रखने की नीति है।

(७) ऋण की वितरित वास्तविक राशि—निगम ने आलोच्य वर्ष में २४ करोड़ ४५ लाख रु० के जिन ऋणों की मंजूरी दी है, उसमें से १० करोड़ ७८ लाख रु० ऋण लेने वालों को दिया जा चुका है। निगम ने अब तक एक वर्ष में इससे

अधिक राशि का कभी भुगतान नहीं किया। पिछले वर्ष निगम ने ऋण लेने वाले कारखानों को ६ करोड़ ६२ लाख रु० दिया था।

देश भर में उद्योगों को जितनी आवश्यकता होती है लगभग उसका ४४ प्र० श० ऋण उद्योग वित्त निगम से मिलता है। १९६१-६२ के अन्त तक निगम ने नए कारखाने खोलने, चालू कारखानों को बढ़ाने और उनमें मशीनें लगाने के लिये कुल १ अरब २८ करोड़ ५९ लाख रु० के ऋणों की मंजूरी दी।

(८) मूलधन की वसूली ब्याज आदि—आलोच्य वर्ष में उद्योग वित्त निगम को अपने मूलधन के भुगतान की किश्तों का ३ करोड़ २७ लाख रु० मिला। इसी वर्ष उसे २ करोड़ ७८ लाख रु० ब्याज मिला। निगम के चालू होने से अब तक उसे १२ करोड़ ६३९ लाख रु० के मूलधन की वसूली हुई। जब कि कुल वसूली १२ करोड़ ६३ लाख रु० होनी चाहिये थी, इसी प्रकार १४ करोड़ ४९ लाख रु० की ब्याज की राशि में से भी १४ करोड़ ४६ लाख रु० मिला। आलोच्य वर्ष में निगम ने किसी भी कारखाने का प्रबन्ध या स्वामित्व अपने अधिकार मे नहीं लिया। पहले जिस कारखाने को निगम ने अपने अधिकार में ले लिया था, उसने अपने ऋण का पूरा भुगतान करके अपना कारखाना वापस ले लिया है।

(९) निगम को हानि-लाभ—१९६१-६२ में निगम को कुल ३ करोड़ ४ लाख रु० की आय हुई, जब कि पिछले वर्ष २ करोड़ ९८ लाख रु० की आय हुई थी। निगम को कुल १ करोड़ ३० लाख ७१ हजार रु० का लाभ हुआ, जब कि पिछले वर्ष १ करोड़ ३९ लाख ३५ हजार रु० लाभ हुआ था। आयकर और अन्य खर्च आदि निकाल कर निगम की आलोच्य वर्ष में ७० लाख ८९ हजार रु० का शुद्ध लाभ हुआ।

वित्त निगम की कठिनाइयाँ—आलोचनायें एवं सुझाव

वित्त निगम को आर्थिक सहायता देने में निम्न कठिनाइयाँ अनुभव हुई हैं:—(i) निगम के पास पूरी तरह से विचार करके योजनायें नहीं भेजी जाती हैं; (ii) प्रार्थी की अपनी पूँजी इतनी कम होती है कि उसे ऋण देना उसका अहित करना है; (iii) कुछ दशाओं में अंश पूँजी तो पर्याप्त थी लेकिन संस्था की अधिकांश सम्पत्ति रहन की जा चुकी थी; एवं (iv) ऋण स्वीकृत हो जाने पर कम्पनियाँ आवश्यक वैधानिक कार्यवाही नहीं करती हैं। यदि औद्योगिक संस्थायें इन कठिनाइयों के निवारण में अपना सहयोग दें, तब ही निगम उनके लिये उपयोगी कार्य कर सकता है।

यद्यपि समय-समय पर निगम के अधिनियम में कतिपय दोषों को दूर करने के लिये उचित संशोधन किये गये हैं, तथापि इसकी निम्न आलोचनायें आज भी की जाती हैं:—

(i) निगम प्रायः उन औद्योगिक संस्थाओं को ऋण देता है जिनमें उसके पदाधिकारी हित रखते हों।

(ii) निगम कम विकसित क्षेत्रों में औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित कराने में अधिक सफल नहीं हुआ है।

(iii) इसमें भी किंचित व्यक्तियों का प्रभुत्व हो गया है क्योंकि यह पूर्णतः सरकार के आधीन नहीं है।

(iv) इसने केवल बड़े पैमाने के उद्योगों की सहायता की है।

(v) इसने बुनियादी व पूँजीगत उद्योगों की बजाय उपभोक्ता सम्बन्धी उद्योगों को पर्याप्त सहायता दी है।

(vi) ऋण लेने वाली कम्पनियों के व्यय को देख-रेख करने में यह असफल रहा है।

(vii) यह कम्पनियों को सामान्य पूँजी प्रदान नहीं करता था।

(viii) यह केवल ख्याति प्राप्त कम्पनियों को ऋण देता रहा है जो बाजार से भी ऋण प्राप्त कर सकती हैं।

(ix) इसके अनेक व्यय अपव्यय पूर्ण बताये गये हैं।

इन आलोचनाओं की जाँच करके उपयुक्त सुझाव देने के लिये सरकार ने कृपलानी समिति सन् १९५२ में नियुक्त की थी। रिजर्व बैंक द्वारा नियुक्त सराफ कमेटी ने भी औद्योगिक अर्थ निगम के बारे में विचार प्रगट किये। इनके सुझावों का सारांश नीचे दिया गया है :—

(i) ऋण देने में शीघ्रता के लिये मुख्य शहरों में वैधानिक परामर्शदाताओं का दल रखा जाय, जो कम्पनियों से वैधानिक औपचारिकतायें पूरी करायें।

(ii) ऋण कम्पनी की सुदृढ़ता के आधार पर दिया जाय, प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की गारन्टी पर नहीं।

(iii) निगम को नई कम्पनियों से प्रारम्भिक काल में नीची दर से ब्याज लेना चाहिये, जिसे कम्पनी की लाभ-अर्जन शक्ति बढ़ने पर बढ़ाया जा सकता है।

(iv) संचालकों को प्रार्थी-कम्पनियों में अपना हित, यदि कोई हो प्रकट कर देना चाहिये। हित वाली कम्पनियों को निगम-संचालकों के एक मत स्वीकृति से ही ऋण दिया जाय।

(v) ऋण देते समय कम से कम ५०% का मार्जिन रखा जाय।

(vi) निगम की क्रियाओं पर नियन्त्रण रखने के लिये लोकसभा की एक पब्लिक कॉरपोरेशन कमेटी बनाई जाय।

(vii) निगम के पास तान्त्रिक विशेषज्ञों का स्टाफ होना चाहिये।

(viii) निगम की संचालक सभा में सरकार को एक अर्थशास्त्री, एक प्रबन्धकीय विशेषज्ञ एवं एक चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट भी मनोनीत करना चाहिये।

इन सुझावों पर सरकार ने उचित कदम उठाये हैं।

भारत में विदेशी पूँजी

अविकसित और अर्ध-विकसित देशों को अपने आर्थिक विकास के लिए विदेशी पूँजी पर निर्भर रहना पड़ता है, क्योंकि आन्तरिक साधनों से ही वे पर्याप्त आवश्यक पूँजी का प्रबन्ध नहीं कर पाते। विश्व के आज के प्रगतिशील देशों को भी (जैसे रूस, अमेरिका) अपने आर्थिक विकास के लिये विदेशी पूँजी का सहारा लेना पड़ा था। प्रायः भारत में विदेशी पूँजी के पक्ष-विपक्ष में इतना कुछ कहा गया है कि साधारण जनता भ्रम में पड़ जाती है। प्रस्तुत प्रश्नोत्तर में भारतीय परिस्थितियों में विदेशी पूँजी के महत्व पर प्रकाश डाला गया है।

भारत को विदेशी पूंजी से लाभ

(१) देश में अपार प्राकृतिक साधन हैं, जिनका पूर्ण प्रयोग नहीं किया जा सका है। इससे भारतवासी दरिद्र बने हुये हैं। प्राकृतिक साधनों का उपयोग करने के लिये विदेशी पूंजी सर्वथा आवश्यक है।

(२) विदेशी पूंजी के आयात के साथ-साथ हमें विदेशी टेक्नीकल ज्ञान एवं प्रबन्ध कौशल भी प्राप्त होता है। आर्थिक विकास के लिये प्राविधिक ज्ञान का बहुत महत्व है जो दुर्भाग्य से हमारे देश में अलभ्य है। अतः विदेशी तकनीकी ज्ञान की प्राप्ति से हमें आर्थिक विकास में बहुत सहायता मिलेगी।

(३) औद्योगिक विकास के लिये एक अविकसित देश को विदेशों के पूंजीगत सामान मंगाना पड़ता है, जिसके लिये पर्याप्त विदेशी मुद्रा जुटाना उसे कठिन होता है। भारत के सम्बन्ध में भी यही बात है। विदेशी पूंजी की प्राप्ति से यह कठिनाई भी हल होती है।

(४) औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में व्यवसायों में जोखिम बहुत होती है व स्थापना व्यय भी अधिक होता है। अतः देशी साहसी नये व्यवसायों में पूंजी लगाने मे संकोच करते हैं। किन्तु विदेशी पूंजी के विनियोग की दशा में व्यवसायों की जोखिम प्रायः विदेशियों द्वारा उठाई जाती हैं और बाद में ये व्यवसाय उनसे देशवासियों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

(५) आर्थिक नियोजन को सफल बनाने के लिये भी विदेशी पूंजी अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये पर्याप्त साधन देश में ही जुटाने में कठिनाई हो रही है।

(६) उपयोगी सम्पत्ति का निर्माण—विदेशी पूंजी के प्रयोग से देश में ऐसी सम्पत्ति का सृजन किया जा सकता है जिससे मूलधन और ब्याज देने के बाद भी लगातार लाभ प्राप्त होता रहे। रेलें, नहरें, विद्युत केन्द्र ऐसी ही सम्पत्तियां हैं।

भारत को विदेशी पूंजी से संभावित हानियां

(१) भारत ने समाजवादी नमूने के समाज की स्थापना का लक्ष्य अपने समक्ष रखा है जब कि उसे विदेशी पूंजी प्रायः पूंजीवादी देशों से मिल रही है। अतः इस बात का खतरा है कि कहीं उसकी आर्थिक नीति उक्त देशों के आदर्शों से प्रभावित न होने लगे।

(२) विदेशी पूंजी के प्रयोग से देश पर ब्याज का भार बढ़ता है (जैसा कि ब्रिटिश काल में हुआ था)। समय पर भुगतान न होने की दशा में राष्ट्रीय सम्मान को आंच आने का डर है।

(३) विदेशी पूंजी वस्तुओं के रूप में भी प्राप्त हुआ करती है, जैसे मशीनें आदि जो प्रायः विनियोगकर्त्ता देश की औद्योगिक अवस्था के अनुसार निर्मित होती हैं। ऐसी दशा मे भारतीय परिस्थितियों मे उनका अधिक उपयोग संभव नहीं होता तथा इसके अतिरिक्त विदेशों पर निर्भरता की प्रवृत्ति को भी प्रोत्साहन मिलता है।

(४) आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण इने-गिने लोगों के हाथों में होना विदेशी पूंजी की ही देन है। भूतकाल में विदेशी पूंजी के कारण ही भारत में प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली विकसित हुई थी।

(५) विदेशी पूँजी के साथ-साथ राजनैतिक शर्तें भी लगा दी जाती हैं। विशेषतः अशक्त एवं, अविकसित राष्ट्रों की राजनैतिक स्वतन्त्रता भी खतरे में पड़ने का डर रहता है। भारत को तो यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि किस प्रकार ब्रिटेन का 'झंडा' भारत में व्यापार के पीछे-पीछे आया था।

(६) जिन व्यवसायों में विदेशी पूँजी लगती है उनमें न्यूनाधिक सीमा तक विदेशियों का नियन्त्रण स्थापित हो जाता है। वे टेक्नीकल परामर्शदाता, संचालक, प्रबन्धक आदि के रूप में व्यवसाय में बने रहते हैं और यह स्थिति देश की सुरक्षा के लिये कभी भी चिन्ताजनक बन सकती है।

(७) विदेशी पूँजीपतियों ने अपनी भारतीय मिलों में भारतीय श्रमिकों के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया है। उन्हें उच्च पदों पर नौकर नहीं रखा गया, जिससे वे अनुभव एवं प्रशिक्षण से वंचित रह गये। सन् १९५२ की जाँच के अनुसार १२५७ विदेशी फर्मों में एक हजार रु० से अधिक वेतन पाने वाले भारतीयों की संख्या २२५८ और विदेशियों की संख्या ६,९६४ थी।

विदेशी पूँजी के प्रयोग में सावधानी की आवश्यकता

विदेशी पूँजी के लाभ-दोषों के उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि इसके अधिकांश दोष विदेशी नियन्त्रण से सम्बन्धित हैं, विदेशी पूँजी से नहीं। यदि विदेशी पूँजी का प्रयोग उत्पादन बढ़ाने के लिये किया जाय और इसके साथ विदेशी नियंत्रण न आये, तो देश के आर्थिक विकास में विदेशी पूँजी का प्रयोग अनुचित नहीं होगा। उत्पादक कार्यों में विदेशी पूँजी का प्रयोग करने से राष्ट्रीय आय बढ़ती है और इससे ब्याज व मूलधन का भुगतान भी सहज हो जाता है।

भारत सरकार की विदेशी पूँजी सम्बन्धी नीति

भारत की प्रथम औद्योगिक नीति (सन् १९४८) की घोषणा में विदेशी पूँजी के महत्व पर प्रकाश डाला गया है तथा इस सम्बन्ध में जो नीति अपनाई गई है उसकी निम्न विशेषतायें हैं :—

(i) देशी एवं विदेशी पूँजी में कोई भेदभाव नहीं किया जायेगा तथा सरकार विदेशी हितों पर कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं लगावेगी।

(ii) देश की विदेशी मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये सरकार विदेशी विनियोजकों को लाभ व पूँजी को स्वदेश भेजने के लिये उचित सुविधायें देगी।

(iii) भविष्य में उद्योग का राष्ट्रीयकरण होने पर विदेशी विनियोजकों को न्यायोचित हर्जाना दिया जायेगा।

(iv) कुछ दशाओं को छोड़ कर अन्य सब दशाओं में स्वामित्व और महत्वपूर्ण नियंत्रण भारतीयों के हाथ में रहें इस प्रकार से विदेशी पूँजी व तत्सम्बन्धी व्यवसाय सरकार द्वारा नियंत्रण किया जायेगा।

(v) यदि विदेशी कम्पनियाँ भारतीय हितों के अनुकूल तथा सहयोगी व रचनात्मक ढंग से कार्य करती रहेंगी, तो सरकार उन्हें कोई हानि नहीं पहुँचायेगी।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के इकॉनामिक डिपार्टमेंट द्वारा किये गये अध्ययन - भारत में सन् १९५९ के अन्त में प्राइवेट विदेशी नॉन बैंकिंग व्यावसायिक

विनियोगों की कुल मात्रा (विश्व बैंक के ऋणों को सम्मिलित करते हुये) ६१०·७ करोड़ रु० थी। सन् १९५९ के दौरान मे शुद्ध पूंजी का आयात ३८·१ करोड़ रहा जबकि १९५८ में २७·७ करोड़ था। सार्वजनिक क्षेत्र में भारत की विदेशी लेनदारियाँ (Liabilities) १९५९ मे ६४४ करोड़ थी तथा बैंकिंग क्षेत्र में लेनदारियाँ ६० करोड़ थीं। इस प्रकार, भारत का कुल विनियोग-दायित्व १९५९ मे १,६१५ करोड़ रु० था। इनमे से विदेशी पूंजी सम्पत्ति की जमा को घटाकर शुद्ध दायित्व ६११ करोड़ रु० रह जाता है। इसम से ३०० करोड़ रु० भारत का विभाजन सम्बन्धी ऋण है। अधिकांश विनियोग ब्रिटेन एवं अमेरिका द्वारा किया गया है। अब विश्व बैंक के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम भी विनियोग ऋण देने लगा है।

प्रथम योजनाकाल में भारत को ४२०·५ करोड़ की विदेशी सहायता स्वीकृत हुई थी, जिसमें से २२७·९ करोड़ रु० का प्रयोग इस काल में किया गया, शेष का प्रयोग द्वितीय योजनावधि में किया गया। दूसरी योजना में २,१०० करोड़ रु० का प्रतिकूल भुगतान संतुलन रहा, जो प्रारम्भिक अनुमान-राशि से दूना था। इस अवधि में पी० एल० ४८० के अन्तर्गत ५३४ करोड़ रु० तथा अन्य स्रोतों से ६२७ करोड़ रु० की विदेशी सहायता प्राप्त हुई। तीसरी योजना में भारत का विदेशी विनिमय कोष इतना कम रह गया कि उसमें से अधिक राशि नहीं निकाली जा सकती थी। फलत: निर्यात आय बढ़ाने के लिये हर संभव उपाय करने का निश्चय किया गया और आयातों के लिये विदेशी मुद्रा की मात्रा निर्धारित करने पर जोर दिया गया है। पी० एल० ४८० के अतिरिक्त तृतीय योजनावधि में कुल विदेशी सहायता २,६०० करोड़ रु० प्राप्त होने की आशा है जबकि पी० एल० ४८० के अन्तर्गत ६६० करोड़ रु० की विदेशी सहायता मिलने का अनुमान है। मित्र राष्ट्रों की सहायता क्लब की बैठक में, जो सन् १९६१ में हुई थी; भारत को १९६१-६२ व १९६२-६३ के लिये १०८९ करोड़ की सहायता देने के आश्वासन मिले थे। यह आवश्यक है कि जो भी विदेशी सहायता प्राप्त हो उसका प्रयोग भारतीय अर्थ-व्यवस्था के सर्वाधिक हित में किया जाय तथा इसके साथ भारतीय को अपने आन्तरिक साधनों का भी विकास करना चाहिए। अभी हाल में भारत को चीनी द्वारा किये गये बर्बर व बेशर्म हमले का प्रतिकार करने के लिये विदेशी मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताओं को कम करने के लिये विवश होना पड़ा है। यह कमी कम जरूरी कार्यक्रमों पर की जायेगी।

परीक्षा प्रश्न

(१) *बड़े पैमाने के उद्योगों को किन-किन साधनों से पूंजी प्राप्त होती है ? एक व्यापारिक बैंक ऐसे उद्योगों में अपनी पूंजी को क्यों नहीं लगाता ?*

(२) भारत में औद्योगिक पूंजी की कमी के कारणों पर प्रकाश डालिये और औद्योगिक वित्त-व्यवस्था में सुधार करने के सुझाव दीजिये।

(३) भारत के औद्योगिक वित्त निगम पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

(४) *भारत में विदेशी पूंजी के प्रयोग के पक्ष-विपक्ष में तर्क दीजिये।* भारत सरकार ने इस सम्बन्ध में क्या नीति अपनाई है ?

अध्याय ९

डाकखाने की बैंकिंग सेवायें

(Post Office Banking Services)

प्रारम्भिक

लोगों की अमितव्ययिता को रोकने के लिये सरकार ने सन् १८८२ में डाकखाने में रुपया जमा कराने की सुविधा दी। इससे जनता मे धन बचाने की प्रवृत्ति को बहुत प्रोत्साहन मिला है। एक अनुमान के अनुसार देश के डाकखानों में २८ हजार बचत खाते हैं, जिनमें लगभग १०४ करोड़ रुपया जमा है। बचतो का संग्रह करने के अतिरिक्त डाकखाना अन्य बैंकिंग सेवायें भी करता है। प्रस्तुत अध्याय मे इन्ही सेवाओं पर प्रकाश डाला गया है :—

(I) डाकखाने द्वारा बचत खातों में रुपया जमा करना (Postal Savings Bank Account)

डाकखाने के बचत खातों का उद्देश्य भारतीय जनता में, जो कि अधिकाश निर्धन है और गाँवों मे वास करती है, फिजूलखर्ची को रोक कर बचत की आदत का विकास करना है। इसका उद्देश्य व्यापारिक बैंकों से प्रतियोगिता करना नही है वरन् छोटी-छोटी राशियों में व्यर्थ बिखरी हुई रकमों को एकत्र करके देशोपयोगी कार्य मे लगाना है।

कोई भी स्वस्थ मस्तिष्क का वयस्क व्यक्ति अपने नाम से, अपनी पत्नी या नाबालिग के नाम से खाता खोल सकता है। महिलायें भी खाता खोल सकती हैं। प्रथम जमा की रकम कम से कम २) होनी चाहिये। बाद मे कम से कम जमा कराई जाने वाली रकम १) है। किसी समय एक व्यक्ति के खाते में १५,०००) व संयुक्त खातों में ३०,०००) अधिक से अधिक रकम रह सकती है। १०,०००) तक २½% और इससे ऊपर २% वार्षिक ब्याज दी जाती है। रुपया सप्ताह मे एक बार निकाला जा सकता है। कहीं-कही २ बार निकालने को सुविधा है। प्रति सप्ताह १,०००) से अधिक रकम नही निकाली जा सकती। रुपया निकालने के लिये विदड्राअल फार्म भरना पड़ता है। कुछ डाकखानों मे चैकों का प्रयोग होने लगा है।

सेविंग बैंक खाता खोलने से निम्न लाभ हैं—(१) धन का इस्तेमाल देश की पूँजी बढ़ाने में होता है; (२) निर्धन जनता भी इस सुविधा का लाभ उठा सकती है (३) ऐसे [illegible] पर्याप्त ब्याज मिलता है; (४) धन सुरक्षित रहता है; (५) आयकर नहीं लगत[illegible] ग्रामीण जनता भी लाभान्वित होती है, क्योंकि व्यापारिक बैंक गाँवो [illegible] होते; और (७) जनता मे बचत की आदत का विकास होना है।

अभी तक डाक-घर के सेविंग बैंक अधिक सफल नहीं हुये हैं, क्योंकि देश में शिक्षा का प्रचार बहुत कम हो पाया है; अल्प आय के कारण लोगों के पास बचत कम होती है, तथा सहकारी बैंकों ने इनसे काफी प्रतियोगिता की है।

अत: अधिक उन्नति के लिये निम्न उपाय करने चाहिये—(१) छोटे से छोटे डाक-घर मे भी सेविंग बैंक खोला जाय; (२) अधिक ब्याज दिया जाय ; (३) एक बार से अधिक रुपया न निकालने का नियम ढीला किया जाय; (४) डाकखाने का सब काम हिन्दी मे किया जाय; (५) ग्रामीण डाकखानों में मजदूरों की बस्तियों वाले डाक-घरों मे रुपये के लेन-देन का कार्य संध्या को किया जाय; (६) डाकखाने की बैंकिग सुविधाओं का अधिक प्रचार किया जाय।

(II) जीवन बीमा

डाकखाने के कर्मचारी इस सुविधा का लाभ उठा सकते हैं। बीमे की किश्त उनके मासिक वेतन में से कटती जाती है, जिससे पालिसी सरलता से चालू रहती है और प्रीमियम देना बोझ नही मालूम देता।

(III) सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय

अपने खातेदारों के लिये डाकखाना सरकारी प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय का कार्य नि:शुल्क करता है। वह ५,०००) तक प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय कर सकता है। ये प्रतिभूतियाँ ग्राहक चाहे डाकखाने में रखें या अपने पास। डाकखाने की दशा मे इसके ब्याज पर आय-कर नही लगता।

(IV) अल्प बचत योजनायें

उक्त कार्य एवं सेवायें करने के अतिरिक्त डाकखाना अल्प बचतों को प्रोत्साहित करने के हेतु निम्न कार्य भी करता है :—

(१) राष्ट्रीय बचत प्रमाण-पत्र (National Savings Certificates)—ये १२ वर्षीय एवं ७ वर्षीय होते हैं ; ५, १०, १५, १००, ५००, १००० व ५००० रु० तक के विभिन्न मूल्यों में क्रय किये जा सकते हैं, (संयुक्त नामो से ५०,००० रु० तक और एक नाम से २५,००० रु० तक), तथा मूल धन व ब्याज मिलाकर १२ वर्ष में ड्योढे हो जाते हैं। ७ वर्षीय प्रमाण-पत्रों पर ३·५७% और १२ वर्षीय प्रमाण-पत्रों पर ४·१६% ब्याज लगता है। लम्बी अवधि तक प्रतीक्षा कर सकने वालों के लिये बचत का अनुपम साधन है।

(२) राष्ट्रीय बचत के टिकट—४ आ०, ८ आ० व १ रु० मूल्य के राष्ट्रीय बचत टिकट बेचे जाते हैं, जिन्हें निशुल्क मिलने वाले एक राष्ट्रीय बचत के कार्ड पर चिपकाकर रखा जा सकता है। १० रु० के निकट हो जाने पर इन्हे राष्ट्रीय बचत के प्रमाण-पत्र में बदला जा सकता है। इस सुविधा से वे लोग भी बचत करने में समर्थ हो जाते है जो कि प्रमाण-पत्र क्रय करने के लिये ५ रु० तक साथ नहीं जुटा सकते।

(३) १० वर्षीय ट्रेजरी बचत जमा योजना—ये पूंजी को सुरक्षित रखने के साथ-साथ नियमित आय प्राप्त करने का भी उत्तम साधन है। जमा की कम से कम रकम १०० रु० है। एक व्यक्ति २५,००० रु० तक, दो व्यक्ति या संस्थायें ५०,००० रु० और धार्मिक संस्थायें १००,००० रु० तक इस प्रकार विनियोग कर सकती हैं। बदले में जमा मूल्य के प्रमाण-पत्र दे दिये जाते है। इन पर ३½% ब्याज दिया जाता है, जो कि नगद प्राप्त हो सकता है। इस पर आय-कर व अतिरिक्त-कर नहीं देना पड़ता।

(४) १० वर्षीय राष्ट्रीय योजना सार्टीफिकेट—ये सार्टिफिकेट ५, १०, ५० और १०० रु० के मूल्यों में उपलब्ध है। इन पर ४½% ब्याज दिया जाता है। एक व्यक्ति २,५०० रु० तक और २ व्यक्ति मिलकर ५,००० रु० तक सार्टिफिकेट रख सकते हैं। ब्याज की रकम पर कोई आय-कर या अतिरिक्त-कर नहीं लगता और इन्हें खरीदने के १२ मास बाद भुनाया जा सकता है। ये प्रमाण-पत्र खरीदने के १० वर्ष बाद चुकता किये जायेंगे।

(५) गाँवों में लघु बचत आन्दोलन—इस आन्दोलन के अन्तर्गत भारत सरकार ने १२ वर्षीय सार्टिफिकेट बेचने का अधिकार गाँव के सम्भावित लोगों को व ग्राम पंचायतों को दे दिया है।

(६) १५ वर्षीय एनुइटी सार्टीफिकेट—इन सार्टिफिकेटों में रकम लगाकर अपने आश्रितों के लिये नियमित रूप से मासिक आय का प्रबन्ध किया जा सकता है। क्रमशः ३०००, ७०००, १४०००, व २८००० रु० लगाने से १५ वर्ष तक २५, ५०, १०० या २०० रु० मासिक की आय प्राप्त की जा सकती। अवधि से पहले रकम नहीं लौटाई जाती। एक व्यक्ति अकेले नाम से २८,००० रु० तक और संयुक्त नाम से ५६,००० रु० तक के प्रमाण-पत्र खरीद सकता है।

(७) उपहार पत्रक योजना (Gift Coupon Scheme)—सामाजिक उत्सवों के अवसरों पर बचत-पत्रों के उपहार को लोकप्रिय बनाने के लिये कुछ समय पूर्व ही 'उपहार-पत्रक योजना' प्रारम्भ की गई है। इसके अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति उपहार देने के लिये एक सुन्दर लिफाफे में निश्चित मूल्य के आकर्षक उपहार कूपन खरीद सकता है और उपहार पाने वाला उन्हें उतने ही मूल्य के १२ वर्षीय राष्ट्रीय योजना सर्टिफिकेट्स में परिवर्तित करा सकता है। ये कूपन ५, १०, ५०, १०० और १००० रुपये के मूल्यों में बिकते हैं।

(८) इनामी बांड—१०० रु० और ५ रु० के वाहक बांड १ अप्रैल १९६० से जारी किये गये हैं, जिन पर कोई ब्याज नहीं दिया जाता है लेकिन प्रति वर्ष तिमाही (१ जून, १ सित०, १ दिस०, और १ मार्च को) इनाम देने के लिये पर्चियाँ उठाई जाती है। प्रत्येक तिमाही पर १०० रु० के बांडों की प्रत्येक तालिका (series) पर कुल ९२ हजार रु० के ४० पुरस्कार और ५ रु० की प्रत्येक तालिका पर कुल ४६ हजार रु० के २७८ पुरस्कार दिये जावेंगे। ये इनाम ५ वर्ष तक प्रत्येक तिमाही में दिये जावेंगे और इन पर आय-कर नहीं लगेगा। ५ वर्ष पूर्ण होने पर बांडों का मूल्य लौटाया जावेगा इससे पहले नहीं। इस प्रकार जनता का पैसा देश के विकास की योजनाओं में काम आवेगा। ये बांड देश भर के डाकखानों द्वारा बेचे जाते हैं।

शहरों में आय और बचत

नेशनल कौंसिल आव ऐप्लाइड इकानामिक रिसर्च की व्यावहारिक अर्थ-अनुसंधान समिति ने जनवरी में शहरी क्षेत्रों के सम्बन्ध में एक रिपोर्ट प्रकाशित की है। इसका मुख्य उद्देश्य शहरों में होने वाली बचत के सम्बन्ध में जाँच करना था। दस हजार से अधिक आबादी वाले ३० शहरों के ४,६५० घरों की नमूने के तौर पर जाँच की गई। इस जाँच के परिणाम निम्नलिखित हैं :—

(१) ४० प्रतिशत नगर निवासी अपने घरों में रहते हैं।

(२) नगर निवासी एक परिवार में १·५ व्यक्ति कमाने वाले हैं।

(३) प्रति व्यक्ति वार्षिक आय ४२८ रुपया है (इन्कमटैक्स निकालने के बाद), जबकि समस्त देश मे प्रति व्यक्ति आय ३३० रुपया है।

(४) नगर निवासी परिवारों के ८५ प्रतिशत की आय ३००० रुपए वार्षिक से कम है। यह आय नगरों में होने वाली कुल आय का ५२ प्रतिशत है। शेष १० प्रतिशत की आय ३००० रु० वार्षिक से अधिक है और वह नगरों की कुल-आय का ४८ प्रतिशत होती है।

(५) नगरों की आय का ५० प्रतिशत तनखाहों से प्राप्त होता है, ३६ प्रतिशत दुकान, वकालत, डाक्टरी, खेती आदि उद्योग-धन्धों से, १२ प्रतिशत किराए, ब्याज और डिविडेन्ड से तथा २ प्रतिशत पेंशन और आय के हस्तान्तरण आदि से।

(६) ८५ प्रतिशत परिवार कुछ बचा नहीं पाते, या बहुत कम बचाते हैं। नगरों में होने वाली अधिकतर बचत शेष १५ प्रतिशत परिवारों के द्वारा ही होती है।

परीक्षा प्रश्न

(१) भारत में डाकखाना कौन-कौनसी बैंक सम्बन्धी सेवायें प्रदान करता है ? उनको स्पष्टत: समझाइये।

(२) इनामी बांडों व उपहार-पत्रक योजना पर प्रकाश डालिये।

(३) नेशनल कौंसिल आव ऐप्लाइड इकॉनामिक रिसर्च की व्यावहारिक अर्थ-अनुसंधान समिति ने शहरों की आय व बचत के बारे क्या बातें पता लगाई हैं ?

अध्याय १०

विदेशी विनिमय बैंक

(Foreign Exchange Banks)

प्रारम्भिक—विदेशी विनिमय बैंक से आशय

'विदेशी विनिमय बैंकों' (*Foreign Exchange Banks*) से आशय उन बैंकों से है जो विदेशी मुद्रा का व्यवसाय करते हैं तथा भारत में विदेशी व्यापार की अर्थ-व्यवस्था करते हैं। इन बैंकों के प्रधान कार्यालय विदेशों में और शाखायें भारत में मुख्यतः *बन्दरगाहों और आयात-निर्यात* व्यापार के केन्द्रों पर पाई जाती हैं। कुछ समय से इन बैंकों ने आन्तरिक भागों में भी शाखायें स्थापित कर ली हैं और साधारण बैंकिंग के कार्य भी करने लगे हैं। हमारे अधिकतर विदेशी विनिमय बैंक अभारतीय हैं। भारतीय विनिमय बैंकों की संख्या में कुछ समय से ही वृद्धि होनी आरम्भ हुई है।

विनिमय बैंकों के मुख्य कार्य

(१) निर्यात व्यापार को आर्थिक सहायता करना—जब कोई भारतीय निर्यातक किसी विदेशी व्यापारी को माल भेजता है, तो वह विदेशी ग्राहक के बैंक पर दर्शनी स्वीकृति बिल (Documents on Acceptance or D/A) या भुगतान बिल (*Documents of Payment or D/P*) जारी करता है। दोनों ही तरह के बिल प्रायः ३ माह में शोधनीय होते हैं। इधर विदेशी आयातकर्ता अपने देश में किसी बैंक से साख का प्रबन्ध करता है और इसकी सूचना भारतीय निर्यातक को दे देता है ताकि वह उस नाम से बिल जारी कर सके। बिल के साथ माल के अधिकार पत्र भी होते हैं। भारतीय निर्यातकर्ता व्यापारी इस बिल को भारत में किसी *विनिमय बैंक से, जिसकी शाखा उस विदेश में है, भुना कर तत्काल रुपये प्राप्त कर* लेता है। तत्पश्चात् यह बिल विनिमय बैंक द्वारा अपनी विदेशी शाखा को भेज दिया जाता है। विदेशी शाखा बिल को या तो परिपक्वता तक अपने पास रखे रहती है अथवा मुद्रा बाजार में तुरन्त बेच कर धन प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार विनिमय बैंक ने तो भारतीय मुद्रा में भुगतान किया और स्वयं विदेशी मुद्रा में भुगतान प्राप्त किया। (*कभी-कभी निर्यातकर्ता स्वयं बिल को विनिमय बैंक के पास संग्रहण के लिये* भेज देता है) ऐसी दशा में रुपया उसे अवधि समाप्त होने पर मिलता है। विनिमय बैंकों ने निर्यात बिलों को भुनाने में बड़े पैमाने पर अपने अल्पकालीन कोषों का प्रयोग किया है। इससे निर्यात व्यापारियों को सुविधा होकर विदेशी व्यापार बढ़ा है।

(२) आयात व्यापार को आर्थिक सहायता—विनिमय बैंक आयात व्यापार में भी आर्थिक सहायता करते हैं। क्रेता दो प्रकार के होते हैं—(i) लन्दन में एजेन्सी

रखने वाले और (ii) एजेन्सी न रखने वाले। (i) जब लन्दन में एजेन्सी रखने वाला आयातकर्ता इंग्लैंड से माल मंगाता है, तो इंग्लैंड का निर्यातकर्ता लन्दन के किसी विनिमय बैंक पर एक बिल लिखेगा और उसे आयातकर्ता की लन्दन एजेन्सी मे स्वीकृत करके लन्दन के द्रव्य बाजार में भुना लेगा तथा स्टर्लिंग प्राप्त कर लेगा। लन्दन का विनिमय बैंक उक्त बिल (माल के अधिकार पत्रों सहित) को अपनी भारत शाखा को भेज देगा जो ६० दिन की अवधि समाप्त होने पर भारतीय आयातकर्ता से राशि वसूल करके लन्दन कार्यालय को भेज देगी। इस प्रकार निर्यातकर्ता को तत्काल ही रकम मिल जाती है और आयातकर्ता को भुगतान के लिये ६० दिन का समय। (ii) जब लन्दन मे एजेन्सी न रखने वाला कोई आयातकर्ता इंग्लैंड से माल मंगाता है, तो इस दशा में इंग्लैंड का निर्यातकर्ता भारतीय आयातकर्ता पर बिल लिख कर (अधिकार-पत्रों सहित) लन्दन के किसी विनिमय बैंक से, जिसकी भारत में शाखा है, कटौती करा लेता है। लन्दन का बैंक उक्त बिल को भारत स्थित शाखा के पास भेज देता है। यदि बिल "भुगतान पर कागज-पत्र वाला" (D/P) है, तो बैंक को तुरन्त भुगतान मिल जायेगा और भारतीय आयातकर्ता को तत्काल ही माल के कागज मिल जायेंगे। यदि बिल 'स्वीकृति पर कागज पत्रों वाला' (D/A) है तो भारतीय आयातकर्ता बिल पर स्वीकृति देकर तुरन्त बैंक से अधिकार पत्र प्राप्त कर लेगा जबकि बैंक को भुगतान परिपक्वता पर मिल पायेगा। अधिकतर बिल स्टर्लिंग में ही लिखे जाते हैं और ६० दिन की अवधि के होते है।

(३) आन्तरिक व्यापार का अर्थ-प्रबन्धन—आजकल विनिमय बैंक आन्तरिक व्यापार में भी सहायता पहुँचाने लगे हैं यद्यपि यह उनका मुख्य कार्य नही है। इस कार्य के लिये उन्होंने देश के भीतरी भागों मे भी अपनी शाखायें खोल ली हैं तथा भारतीय व्यापारिक बैंकों से आन्तरिक व्यापार मे प्रतियोगिता करती हैं। कुछ दशाओं में तो आन्तरिक व्यापार काफी मात्रा में इनकी वित्तीय सहायता पर निर्भर है जैसे अमृतसर के कपड़े का व्यापार, कानपुर के चमड़े का व्यापार, बंगाल का जूट व्यापार आदि।

विनिमय बैंकों के मुख्य चार कार्य

(१) निर्यात व्यापार की आर्थिक सहायता।
(२) आयात व्यापार की आर्थिक सहायता।
(३) आन्तरिक व्यापार का अर्थ-प्रबन्धन।
(४) साधारण बैंकिंग के कार्य।

(४) साधारण बैंकिंग कार्य—कुछ विनिमय बैंक देशी बिलों व हुन्डियों की कटौती करते हैं, जनता से डिपाजिट लेते हैं, इन पर ब्याज देते, व्यापारियों को ऋण और ओवर ड्राफ्ट देते हैं, एजेन्सी का कार्य करते हैं, धन के स्थानान्तरण की सुविधा देते हैं। जनता में इनकी साख अधिक होने के कारण इन्हें जमा राशि बहुत अधिक मात्रा में व कम ब्याज पर मिल जाती है

विदेशी विनिमय बैंकों के दोष

भारत मे विदेशी विनिमय बैंकों
काल से हुआ जबकि देश का विदेशी व्यापार मुख्यत: अंग्रेजों के हाथ में आ गया। ब्रिटिश सत्ता ने विदेशियों को भारत में विनिमय बैंकों की स्थापना के लिये पूरी-पूरी सुविधायें दी, जिससे अल्पकाल में ही उनकी बहुत उन्नति हो गई तथा वे शक्तिशाली

होते गये, जबकि स्वदेशी बैंक, जो उस समय तक विदेशी व्यापार की अर्थ-व्यवस्था करते रहे थे, दुर्लभ होते चले गये। स्वदेशी बैंकों के इस ह्रास के निम्न कारण थे :-

(i) कार्यशील पूँजी का अभाव; (ii) विदेशी शाखाओं की कमी; (iii) विदेशी मुद्रा बाजार से कम सम्बन्ध; (iv) कर्मचारियों की अकुशलता; (v) विदेशी व्यापार के प्रति उपेक्षा भाव; (vi) सरकार का असहयोग; (vii) पूर्वारम्भ का लाभ जो अभारतीय बैंकों को प्राप्त था, इन्हें नहीं था; (viii) भारतीय व्यापारियों पर अभारतीय बैंकों के द्वारा भुगतान करने की शर्त। आज भी भारत के विदेशी व्यापार का *अर्थ-प्रबन्धन मुख्यत अभारतीय विनिमय बैंकों के ही हाथ में है*, क्योंकि (i) अधिक समय से कार्यशील होने के कारण जनता का इनमे बहुत विश्वास है; (ii) भारत का अधिकांश व्यापार अभारतीय संस्थाओं के हाथ में है जो अब भी इनकी सहायता करते हैं; (iii) सरकार ने इन पर कोई कड़ा प्रतिबन्ध नहीं लगाया; (iv) लन्दन मुद्रा बाजार की सेवायें प्राप्त करके ये बहुत शक्तिशाली एवं साधन सम्पन्न बने हुये हैं तथा (v) अनुभवी एवं कुशल कर्मचारियों द्वारा इनका संचालन हो रहा है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि विनिमय बैंकों ने (जो कि अधिकांशत: अभारतीय हैं) भारत के विदेशी-व्यापार का अर्थ-प्रबन्धन करने में काफी सहायता दी है तथापि इनकी कार्य-प्रणाली से भारतीय हितों का काफी नुकसान भी हुआ है। संक्षेप में कार्य-प्रणाली सम्बन्धी दोष इस प्रकार हैं :—

(१) व्यापारिक बैंकों से प्रतियोगिता—इन्होंने आन्तरिक व्यापार में भी भाग लेना प्रारम्भ कर दिया है। अपनी प्रतिष्ठा एवं अपार साधन-बल से ये कम ब्याज पर जनता से डिपाजिट आकर्षित कर लेते हैं। इससे व्यापारिक बैंक अपनी ब्याज-दर बढ़ाने के लिये विवश हो जाते हैं।

(२) भारत विरोधी नीति—इन बैंकों ने भारतीय व्यापारियों के प्रति बड़ी उपेक्षा का व्यवहार किया है, जिससे उनका विदेशी व्यापार में हिस्सा कम हो गया है। उदाहरण के लिए वे अच्छी स्थिति के भारतीय व्यापारियों के बारे में भी असंतोषजनक हवाला दे देते हैं, खराब स्थिति के विदेशी व्यापारियों की आर्थिक दशा का संतोषजनक हवाला देकर भारतीय व्यापारियों को धोखा देते हैं, भारतीय व्यापारियों पर *विदेशी जहाजों व अन्य विदेशी सेवाओं के उपयोग करने पर जोर देते हैं*, भारतीय व्यापारियों को उन पर आये हुए ड्राफ्टों के बारे में पूर्ण सूचना नहीं देते तथा साख देने के लिए बहुत मार्जिन माँगते हैं।

(३) भारतीयों को ट्रेनिंग का अभाव—विनिमय बैंकों में उच्च पदों पर विदेशियों की *नियुक्ति की जाती है* तथा भारतीयों को काम सीखने का कम अवसर दिया जाता है और उनके वेतन-क्रम भी (नियुक्ति की दशा में) कम ही रखे हैं।

(४) लन्दन मुद्रा बाजार पर निर्भरता—विनिमय बैंकों की कार्य-प्रणाली कुछ ऐसी थी कि हमारे विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्धन लन्दन मुद्रा-बाजार के कोषों द्वारा होता रहा। *अब तो ये बैंक भारत में भी काफी जमायें प्राप्त करने* लगे हैं।

(५) नियमों के परिवर्तनों की सूचना प्रदान न करना—*ये भारतीय व्यापा*-रियों को अपनी कार्य-प्रणाली व नियमों के बारे में जानकारी नहीं देते और नियमों में परिवर्तन करते समय उनसे परामर्श भी नहीं लेते।

(६) पूँजी का विनियोग देश से बाहर—अधिकांश विनिमय बैंकों ने भारतीय पूँजी को विदेश प्रतिभूतियों में लगाया है। इसका भारत के भुगतान संतुलन पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है।

(७) बहुत व अनुचित हर्जाने की वसूली—जब भारतीय ग्राहकों से विनिमय समझौते पूरे होने में कुछ देर लगती है, तो ये बैंक उनसे बहुत अधिक अनुचित हर्जाना वसूल करते हैं। दूसरे देश की मुद्राओं के लिये दर भी अनुचित लेते हैं।

(८) भारतीय विरोधी वातावरण—इन्होंने भारतीय हितों का विरोध किया है और विदेशों में भारत विरोधी वातावरण बढ़ाया है।

(९) राजनैतिक चालें—इन्होंने भारत की राजनैतिक उन्नति में बाधा डाली है तथा ऐसे प्रयत्न किये हैं कि भारतीयों को समाशोधन-गृह तथा विनिमय-बैंक संघ (Exchange Bank's Association) की सुविधायें न मिलें।

(१०) नीति का निर्धारण विदेशों से—चूँकि अधिकांश विनिमय-बैंकों पर विदेशियों का प्रभुत्व है, इसलिये इनकी नीति भी विदेशों से निर्धारित की जाती है, जिसमें भारतीय परिस्थितियों और भारतीय हितों का बहुत कम ध्यान रखा जाता है।

(११) भारतीय मुद्रा बाजार का विभाजन—भारतीय मुद्रा बाजार दो भागों में बँट गया है।

दोषों को दूर करने के उपाय

यदि हमें भारतीय विनिमय बैंकों की अवांछनीय गतिविधियों पर रोक लगानी है और भारतीय विनिमय बैंकों की उन्नति करनी है, तो इसके लिये उचित व्यवस्था करनी होगी। इस प्रकार की व्यवस्था बहुत सीमा तक नये बैंकिंग विधान के कारण सम्भव हो गई है। नये विधान ने विनिमय बैंकों पर निम्न नियम लागू किये है :—

(१) रिजर्व बैंक के पास कुछ पूँजी व कोष रखना—विदेश सम्मिलित कम्पनियों को यह आवश्यक है कि वे अपनी कम से कम १५ लाख रु० की दर-पूँजी रिजर्व बैंक के पास रखे। यदि इनका कारोबार कलकत्ता व बम्बई में भी है, तो भी न्यूनतम जमा राशि २० लाख रु० होगी।

(२) लाइसेन्स लेना—भारत में कारोबार करने के लिये रिजर्व बैंक से लाइसेन्स लेना होगा। शाखायें खोलने व स्थानान्तरित करने के लिये भी लाइसेन्स लेना होगा। लाइसेन्स केवल उन्हीं विदेशी बैंकों से मिल सकेगा, जो कि भारतीय बैंकों के साथ उपेक्षा का बर्ताव न करेंगे तथा जिनकी नीति भारतीय हितों के अनुकूल होगी।

(३) जमा राशि का कुछ प्रतिशत कोष भारत में रखना—विदेशी बैंकों को अपनी भारत स्थित शाखाओं की जमा राशि का ७५ प्रतिशत भारत में ही रखना होगा और मांग दायित्व का ५ प्रतिशत व काल दायित्व का २ प्रतिशत भाग रिजर्व बैंक के पास जमा करना होगा।

(४) भारतीय मुद्रा में ही चिट्ठा बनाना—प्रधान कार्यालय तथा अन्य कार्यालयों मे प्रदर्शित करना आडीटर की रिपोर्ट के साथ एक प्रति रिजर्व बैंक को भेजना आवश्यक बना दिया गया है।

इस प्रकार अब रिजर्व बैंक विनिमय बैंकों पर अच्छा नियंत्रण रख सकता है।

युद्धोत्तरकाल में विदेशी विनिमय बैंकों की स्थिति

(१) यद्यपि विदेशी विनिमय बैंक हमारी बैंकिंग प्रणाली का एक महत्वपूर्ण अंग हैं तथा वे उपयोगी सेवायें प्रदान करते हैं तथापि उनका महत्व आज इतना नहीं

रह गया है जितना कि युद्ध के पूर्व अथवा युद्ध के तत्काल बाद था। उनके महत्व में इस कमी का कारण वे राजनैतिक एवं आर्थिक परिवर्तन थे जो एशिया में युद्ध के पश्चात् हुये। भारत सहित अन्य नव-स्वतन्त्र देशों मे राष्ट्रवाद की उग्र लहर ने विदेशी विनिमय बैंकों की प्रभुत्व-भावना को कम कर दिया तथा उनको बैंकिंग प्रणाली मे विशेष सुविधायें दी जानी बन्द हो गईं। इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक आफ इंडिया के एक भूतपूर्व गवर्नर श्री सी० डी० देशमुख ने कहा था कि रिजर्व बैंक के प्रारम्भिक वर्षों मे जहां विदेशी विनिमय बैंक अति अभिमानी एवं निरंकुश थे वहां बाद के वर्षों मे वह मित्रवत एवं सहयोगी बन गये।

(२) विदेशी विनिमय बैंकों पर रिजर्व बैंक आफ इंडिया का नियंत्रण भी कड़ा हो गया है। उसने इन्हें उच्च पदो पर भारतीयों को भरती के लिए प्रेरित किया है यद्यपि अभी अनिवार्य नही बनाया। उच्च कर्मचारियों के भारतीयकरण की प्रगति निम्न तालिका से प्रगट होती है :—

विदेशी विनिमय बैंकों के कर्मचारियों का भारतीयकरण

वर्ष	भारतीय	विदेशी	कुल	भारतीयों का कुल कर्मचारियों से प्रतिशत
१९४७	८	२६७	२७५	३
१९५२	४५	२७७	३२२	१४
१९५६	१०५	३२५	४३०	२४

(३) निम्न तालिका मे विदेशी एवं देशी अनुसूचित बैंकों द्वारा खरीदे और भुनाये गये विदेशी बिलों की मात्रा दिखाई गई है। इससे प्रगट होता है कि सभी अनुसूचित बैंको द्वारा खरीदे व भुनाये गये विदेशी बिलों के साथ विदेशी बैंको द्वारा खरीदे व भुनाये गये विदेशी बिलो का अनुपात सन् १९४९ मे ८४·८% से घटकर सन् १९६१ मे केवल ३९·५% रह गया है।

भारतीय विनिमय बैंकों द्वारा विदेशी बिलों की खरीद में वृद्धि

३१ मार्च	विदेशी बैंक	भारतीय बैंक	समस्त बैंक	२ का ४ के साथ %
(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
१९४९	२३·०९	४·१३	२७·२२	८४·८
१९५०	२०·०२	४·०६	२४·०८	८३·१
१९५१	२६·९९	६·८८	३३·८७	७९·७
१९५२	२४·१७	८·५९	३२·७६	७४·०
१९५३	—	—	—	—
१९५४	—	—	—	—
१९५५	२०·१२	१२·७६	३२·८८	६१·२
१९५६	२६·५५	२०·२३	४६·७७	५६·७
१९५७	३०·३३	२८·५९	५८·९२	५१·५
१९५८	१९·३५	२०·२७	३९·६२	४८·८
१९५९	१७·२७	२१·५५	३८·८२	४४·५
१९६०	२१·१३	२५·४६	४६·५९	४५·४
१९६१	१९·४७	२९·७७	४९·२३	३९·५

(४) नीचे की तालिका में यह दिखाया गया है कि विदेशी विनिमय बैंक भारत के विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्धन करने में कितना भाग ले रहे हैं। सन् १९५२ में हमारे ७७% विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्धन विदेशी बैंकों द्वारा किया जाता था। ब्रिटिश बैंकों का भाग सबसे अधिक लगभग ५९% था।

विभिन्न देशों के विनिमय बैंकों द्वारा भारत के विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्धन (१९५२)

विनिमय बैंक	करोड़ रु०	कुल का प्रतिशत
भारत	२०९·०	२२·९
यू० के०	५३६·४	५८·७
अमेरिका	४४·४	४·९
हालैण्ड	७४·९	८·२
फ्रान्स	२३·५	२·६
पाकिस्तान	१२·४	१·४
चीन	१३·३	१·५
कुल	९१३·९	१००·००

बाद के वर्षों के लिये तुलनात्मक आँकड़े अभी उपलब्ध नहीं हैं लेकिन हमारे वित्त मन्त्री श्री मुरार जी देसाई ने लोकसभा में यह बताया था कि सैम्पिल विश्लेषण के आधार पर अनुमान है कि सन् १९५८ में भारतीय बैंकों द्वारा अर्थ-प्रबन्धित विदेशी व्यापार ५३०·१ करोड़ रु० था अर्थात् भारतीय बैंकों ने १९५७ और १९५८ में हमारे कुल विदेशी व्यापार का ३०% फाइनेन्स किया।

जिस सफलता से विदेशी व्यापार के अर्थ-प्रबन्धन के क्षेत्र में भारतीय बैंकों ने प्रवेश किया उसने नवीन प्रवेशको के प्रति विदेशी बैंकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आवश्यक बना दिया। इसका प्रमाण हमें सन् १९५८ में बने 'एक्सचेन्ज डीलर्स ऐसोसियेशन' के रूप में मिलता है। इसमें भारतीय एवं विदेशी बैंक सम्मिलित है। इससे पूर्व विदेशी विनिमय व्यापार का नियन्त्रण 'एक्सचेन्ज बैंक ऐसोशियेशन' द्वारा होता था, जिसमें कोई भारतीय बैंक सदस्य नहीं था।

ब्रिटिश एक्सचेन्ज बैंकों के प्रभुत्व में कमी होने का एक कारण यह भी है कि अफ्रीकी एशियाई देशों से विशेषतः सोवियत गुट के देशों से भारत का द्विपक्षीय व्यापार (Bilateral trade) बढ़ रहा है, जिसके लिये बैंकों की वित्तीय सेवाओं की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

ब्रिटेन में युद्धोत्तर महँगी मुद्रा के कारण भी इन बैंकों के लिये लन्दन मुद्रा बाजार से कोष प्राप्त करना कठिन हो रहा है। इससे उन्हें आन्तरिक साधनों का (रिजर्व बैंक को सम्मिलित करते हुये) अधिक प्रयोग करना आवश्यक हो गया है। इसका प्रमाण यह है कि मार्च १९५७ में विदेशी बैंकों ने रिजर्व बैंक से अपने कुल ऋणों का १८·६% भाग प्राप्त किया था। रिजर्व बैंक पर इस बढ़ती हुई निर्भरता के कारण उन पर रिजर्व बैंक का नियन्त्रण बढ़ गया है तथा भारतीय मुद्रा बाजार अधिक स्वाश्रित होता जा रहा है।

(५) एक नई प्रवृत्ति विदेशी विनिमय बैंकों में यह देखने में आ रही है कि वे गृहक्षेत्र में तो प्रतिस्पर्धा करते हैं लेकिन विदेशों में संयुक्त रूप से कार्य करने की योजना बना रहे हैं। इससे उनका कार्य-क्षेत्र विस्तृत हो रहा है। उदाहरण के लिये, नेशनल बैंक आफ इंडिया और ग्रिंडले बैंक परस्पर संयुक्त हो गये हैं। उनका संयुक्त नाम नेशनल एण्ड ग्रिन्डले बैंक है। यह भारतीय बैंकों के लिये एक अनुकरणीय बात है, क्योंकि भारतीय बैंक अभी भी विदेशी शाखायें स्थापित करने के मामले में परस्पर कटु प्रतियोगिता करते हैं।

परीक्षा प्रश्न

(१) विदेशी विनिमय बैंकों के मुख्य कार्यों पर प्रकाश डालिये तथा इनको दोषों को बताइये।

(२) भारत में कार्य करने वाले विनिमय बैंक अधिकतर विदेशी हैं। ऐसा क्यों है और इससे हमारे देश का क्या अहित होता है?

(३) भारत में विनिमय बैंकों के विरुद्ध क्या आरोप लगाये जाते हैं? इन्हें दूर करने के उपायों पर प्रकाश डालिये।

(४) युद्धोत्तर काल में अभारतीय विनिमय बैंकों की स्थिति का विवेचन करिये।

अध्याय ११.

स्टेट बैंक आफ इण्डिया
[State Bank of India]

प्रारम्भिक

रिजर्व बैंक ने सन् १६५१ में अखिल भारतीय ग्रामीण साख की जांच करने के लिये गोरवाला कमेटी का गठन किया था, जिसने अपनी रिपोर्ट सन् १६५४ में प्रकाशित की थी। इस रिपोर्ट में कमेटी ने ग्रामीण साख की समस्या को हल करने के लिये जो अनेक सुझाव दिये थे, उनमें एक महत्वपूर्ण सुझाव सरकार के साझे में एक स्टेट बैंक आफ इन्डिया की स्थापना करने का था। सरकार ने कमेटी की उक्त सिफारिश को स्वीकार कर लिया। किन्तु कोई नया राष्ट्रीय बैंक स्थापित न करके उसने इम्पीरियल बैंक ऑफ इंडिया को ही स्टेट बैंक में परिणित किया। इसका कारण यह था कि भारतीय बैंकिंग प्रणाली में उसका बहुत महत्व रहा था, क्योंकि (i) इसका साधन व नीतियां अच्छी होने के कारण जनता को इसमें बहुत विश्वास था; (ii) इसकी शाखायें अधिक होने से इसका कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत था और वह देश के विभिन्न भागों में सस्ती बैंकिंग सुविधायें उपलब्ध करता था; एवं (iii) जहां पर रिजर्व बैंक की शाखायें नहीं थीं, वहां पर इसने उसके एजेन्ट का कार्य किया, जिससे वह प्रभावशाली हो गया था।

इतना महत्व होते हुये भी इसमें कुछ दोष थे—(i) इसका प्रबन्ध व संचालन यूरोपियनों के हाथों में था; (ii) भारतीय व्यापारियों एवं भारतीय बैंकों के प्रति इसका रुख असहानुभूतिपूर्ण एवं पक्षपातपूर्ण था; (iii) इसने अपनी शाखायें प्रायः ऐसे स्थानों में खोली, जहां पहले से ही अन्य बैंकों की शाखायें पर्याप्त संख्या में थी। इनकी प्रतियोगिता से भारतीय बैंकों को बहुत हानि पहुँची; (iv) रिजर्व बैंक से प्राप्त विशेष अधिकारों का उपयोग इसने भारतीय बैंकों से प्रतियोगिता करने में किया; (v) यह मुद्रा बाजार व बिल बाजार का समुचित विकास न कर सका। इन सब दोषों के कारण जनता में बहुत असन्तोष रहा और समय-समय पर इसके विधान में संशोधन करने या बिल्कुल ही राष्ट्रीयकरण करने का सुझाव दिया गया।

सन् १६५१-५२ में ग्रामीण साख जांच कमेटी ने इन आलोचनाओं की जांच की और निम्न महत्वपूर्ण सिफारिशें कीं—(i) बैंक के अधिकारियों को मतदान करने का अधिकार न दिया जाय, (ii) बैंक के विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया जाय या उन पर कड़ा नियंत्रण किया जाय; (iii) पदाधिकारियों का भारतीयकरण किया जाय; (iv) केवल इम्पीरियल बैंक को ही नहीं वरन् देश के सभी बैंकों को सरकारी खजाने द्वारा सस्ती दर पर धन के हस्तान्तरण की सुविधा मिलनी चाहिये। परिणाम यह हुआ कि इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न कुछ समय के लिये स्थगित

हो गया। इस स्थगन के दो अन्य कारण भी थे—प्रथम, विदेशों में शाखायें होने के कारण इसके राष्ट्रीयकरण से तुरन्त ही जटिल समस्यायें उदय होने का भय था, जिनके लिये सरकार उस समय तैयार न थी और दूसरे बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जाने पर वह अपने व्यापारिक कार्य बन्द कर देता, जिससे बैंकिंग सुविधायें कम हो जाती।

किन्तु धीरे-धीरे सरकार ने यह अनुभव किया कि बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जाना चाहिये, ताकि एक स्टेट बैंक के रूप में वह सहकारी संस्थाओं व अन्य संस्थाओं को अधिक लाभ पहुँचा सके। अखिल भारतीय ग्रामीण साख जाँच समिति की भी सिफारिश यही थी। अतः १९५५ में स्टेट बैंक ऑफ इन्डिया एक्ट पास कर दिया गया, जिसके अनुसार इम्पीरियल बैंक की समस्त भारत स्थित सम्पत्ति व दायित्व १ जुलाई १९५५ से स्टेट बैंक ग्राफ इन्डिया हस्तांरित कर दिये गये।

स्टेट बैंक का संगठन

स्टेट बैंक ग्राफ इण्डिया की पूँजी २० करोड़ रुपये है जिसे १०० रुपये वाले २० लाख शेयरों में बाँटा गया है। निर्गमित पूँजी ५·६२५ करोड़ रुपये रखी गई और रिजर्व बैंक के अधिकार में दे दी गई है। पिछले शेयरहोल्डरों को मुआविजा दे दिया गया है। रिजर्व बैंक ने ५५% शेयर अपने पास रख कर शेष हिस्से पुराने शेयर होल्डरों व अन्य प्रार्थियों को दे दिये हैं।

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का प्रबन्ध एक केन्द्रीय बोर्ड के अधिकार में है जिसका प्रधान कार्यालय बम्बई में है इसमें एक चेयरमैन, एक वाइस चेयरमैन, दो मैनेजिंग डाइरैक्टर्स और १६ अन्य डायरैक्टर हैं। कम से कम दो डाइरैक्टर इनमें अवश्य होते हैं, जिन्हे सहकारी व ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का समुचित ज्ञान हो। केन्द्रीय बोर्ड के अतिरिक्त स्थानीय बोर्ड भी हैं जो कि इस समय मद्रास, बम्बई और कलकत्ते में हैं।

स्टेट बैंक के कार्य

इम्पीरियल बैंक की ही तरह स्टेट बैंक भी उद्योग, वाणिज्य और व्यापार को साख प्रदान करता रहेगा। स्टेट बैंक के जिम्मे एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह सौंपा गया है कि *वह सारे देश में शाखाओं का एक जाल बिछा कर बैंकिंग के विकास में सहायक* बने। वह विशेष सुविधाओं में वृद्धि करेगा तथा उपलब्ध ग्रामीण बचतों को गतिशील बनायेगा। अपने विस्तृत संगठन के सहारे तथा गोदामों एवम् *विपणन सम्बन्धी* सुविधाओं के विकास के साथ वह ग्रामीण साख की पूर्ति बढ़ाने के लिये एक शक्तिशाली एजेन्सी का कार्य करेगा। रिजर्व बैंक पहले की भाँति ही राज्य सहकारी बैंकों द्वारा ग्रामीण साख का विस्तार करने के हेतु आर्थिक सहायता देता रहेगा। आदेश देने पर स्टेट बैंक उन स्थानों में रिजर्व बैंक के एजेन्ट का कार्य करेगा जहाँ कि बैंक के बैंकिंग विभाग की कोई शाखा नहीं है। केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से वह किसी अन्य बैंकिंग संस्था का अधिग्रहण भी कर सकता है। संक्षेप में, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के अनुसार स्टेट बैंक निम्नलिखित कार्य करेगा :—

(१) भारत में उन सभी स्थानों पर रिजर्व बैंक के एजेन्ट का कार्य करना—जहाँ स्टेट बैंक की शाखा है लेकिन रिजर्व बैंक की कोई शाखा नहीं है, देश के केन्द्रीय बैंक का एजेन्ट होने के नाते यह निम्न केन्द्रीय बैंकिंग कार्य करता है—(i) ...रों के बैंक के रूप में कार्य; (ii) बैंकों के बैंक के रूप में कार्य; (iii) समाशोधन

गृह का कार्य; (iv) धन का हस्तान्तरण। स्टेट बैंक इन कार्यों को अधिक सुविधा-पूर्वक सम्पन्न कर लेता है, क्योंकि उसकी शाखायें देश भर में फैली हुई हैं।

(२) कुल निर्दिष्ट प्रतिभूतियों के आधार पर मुद्रा उधार देना तथा कैश क्रेडिट खोलना।

(३) उक्त किसी भी प्रतिभूति को बेचान और विक्रय धन प्राप्त करना, जिसके सम्बन्ध में स्टेट बैंक का दावा समय रहते चुकाया नहीं गया हो।

(४) बिल व अन्य विनिमय माध्यम इनके लिखना, स्वीकार करना, कटौती करना व खरीदना और बेचना।

(५) दूसरे पैरे में (i) से (iv) तक में वर्णित किसी भी प्रतिभूति में स्टेट बैंक के कोषों का विनियोग करना और जब आवश्यक हो तब इसे पुन. द्रव्य में परिणित कर लेना।

(६) ड्राफ्ट, टेलीग्राफिक ट्रांसफर व अन्य विशेष साधन अपने कार्यालयों के नाम लिखना व खरीदना तथा साख-पत्र लिखना व जारी करना।

(७) सोना और चाँदी खरीदना व बेचना।

(८) डिपाजिट प्राप्त करना और रोकड़ खाते रखना।

(९) सब प्रकार के बंध, शेयर, स्वत्वाधिकार व मूल्यवान वस्तुयें डिपाजिट अथवा सुरक्षित जमा के लिये स्वीकार करना।

(१०) अपने दावों की संतुष्टि के सम्बन्ध में जो चल या अचल सम्पत्ति प्राप्त हुई हो उसे बेचना और विक्रय धन प्राप्त करना।

(११) रजिस्टर्ड सहकारी बैंकों के एजेन्ट का कार्य करना।

(१२) उन स्कन्धों, शेयरों, ऋण-पत्रों व अन्य प्रतिभूतियों का अभिगोपन करना जिनमें बैंक को अपने कोषों का विनियोग करने का अधिकार है।

(१३) एजेन्सी के व्यवहार आढ़त पर करना।

(१४) एक्जोक्यूटर, ट्रस्टी या किसी अन्य रूप में (अकेले या अन्य व्यक्तियों के साथ संयुक्त रूप से) सम्पत्तियों का प्रबन्ध करना।

(१५) भारत के बाहर के देय साख-पत्र (Letters of Credit) स्वीकार करना और तब बिल लिखना।

(१६) मौसमी कृषि कार्यों के लिये १५ महीने और अन्य कार्यों के लिये ६ महीने तक की किसी भी अवधि के बिल ऑफ एक्सचेंज खरीदना जो कि भारत के बाहर देय हैं।

(१७) अपने व्यापार के लिये रुपया उधार लेना व इसके लिये आवश्यक प्रतिभूति देना।

(१८) किसी सहकारी समिति या कम्पनी को उसकी सम्पत्तियों की प्रतिभूति पर उसे समापन से बचाने के लिये अथवा जब वह पहले से हो समापन में हो तो समापन की सुविधा के लिये किसी भी अवधि का ऋण या अग्रिम देना अथवा कैश क्रेडिट खोलना।

(१९) रिजर्व बैंक की स्वीकृति से किसी भी बैंकिंग कम्पनी के शेयर खरीदना, प्राप्त करना, रखना तथा बेचना और ऐसी कम्पनियों को अपनी सहायक के रूप में चलाना।

(२०) पेंशन फन्डों का संचालन करना।

(२१) अन्य बैंकों के भी कार्य करना, जिसकी अनुमति केन्द्रीय सरकार सेंट्रल बोर्ड की सिफारिशों पर तथा रिजर्व बैंक के परामर्श से दे दें।

(२२) वे सब कार्य करना जो कि उपयुक्त कार्यों की पूर्ति के लिये आवश्यक समझे जायें।

स्टेट बैंक के वर्जित कार्य

स्टेट बैंक के कार्यों पर निम्न प्रतिबन्ध भी लगाये गये हैं :—

(१) वह अपने शेयरों अथवा अचल सम्पत्ति की जमानत पर ऋण नहीं दे सकता है।

(२) किसी व्यक्ति या फर्म को ६ महीने से अधिक के लिये ऋण नहीं दे सकता।

(३) ऐसे बिलों को नहीं भुना सकता है या उनकी प्रतिभूति पर रुपया नहीं दे सकता है जिनकी परिपक्वता की अवधि ६ माह से अधिक है। हाँ, कृषि साख के सम्बन्ध में यह अवधि १५ महीने की रखी गई है।

(४) इसे ऐसे बिलों की कटौती करने या ऐसे बिलों के आधार पर ऋण देने या कैश क्रेडिट खोलने या खरीदने का अधिकार नहीं है, जिन पर दो व्यक्तियों या फर्मों से कम के हस्ताक्षर हैं।

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में १९५७ के संशोधन के द्वारा स्टेट बैंक को अब व्यक्तिगत क्षेत्र में उद्योगों को मध्यमकालीन ऋण देने का अधिकार मिल गया है। पहले वह अधिक से अधिक ६ माह तक के लिये ऋण दे सकता था लेकिन अब वह ७ वर्ष तक के लिये ऋण दे सकता है।

स्टेट बैंक की नीति

इम्पीरियल बैंक की भांति स्टेट बैंक को भी व्यापारिक आधार पर चलाया जायगा, किन्तु वह इम्पीरियल बैंक अथवा अन्य व्यापारिक बैंकों की अपेक्षा देश की सहकारी संस्थाओं को अधिक उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता देगा। बैंक का प्रारम्भिक मूल कर्त्तव्य ग्रामीण क्षेत्र में मितव्ययिता एवं बैंकिंग आदतों का विकास करना तथा ग्रामीण जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। वह व्यापारिक बैंकों को पुनः अर्थ-प्रबन्धन (Refinancing) की सुविधा देकर उद्योगों की वित्त-व्यवस्था कर सकता है। स्टेट बैंकों को वैधानिक जिम्मेदारी है कि वह बैंकिंग समाज की परम्पराओं एवं नियमों का पालन करे तथा गोपनीयता रखे। केन्द्रीय सरकार को भी बैंक के दैनिक कार्यों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है।

बैंकिंग प्रणाली में स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का महत्वपूर्ण स्थान

भारत की वर्तमान बैंकिंग प्रणाली में स्टेट बैंक का एक महत्वपूर्ण स्थान है :—(१) देश की वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में जबकि अकेले स्टेट बैंक की लगभग

१००० शाखायें स्थापित हो जायेंगी तब ग्रामीण क्षेत्रों तक में बैंकिंग की पर्याप्त सुविधायें उपलब्ध हो सकेंगी; (२) यह अपनी शाखाओं और सहायक बैंकों के द्वारा बहुत अधिक विशेष सुविधायें प्रदान कर सकेगा। इसने भी अनुसूचित बैंकों और सहकारी बैंकों को सप्ताह में दो बार नि:शुल्क धन भेजने की सुविधायें दे दी हैं। (३) प्रारम्भ से ही कुल बैंकों की जमा का एक चौथाई भाग स्टेट बैंक के पास है। इससे इस बैंक में जन-विश्वास की कमी न रहेगी। अपने विशाल डिपाजिटों के कारण वह बहुत ही कम ब्याज पर ऋण दे सकता है तथा देश की विभिन्न बैंकिंग संस्थाओं को उचित ऋण एवं साख नीति अपनाने के लिये प्रेरित कर सकता है। इस प्रकार रिजर्व बैंक स्टेट बैंक के द्वारा देश में साख नियंत्रण का कार्य अधिक कुशलता से कर सकेगा। (४) स्टेट बैंक देश के कोने-कोने में स्थापित किये जा रहे माल-गोदामों के द्वारा कृषकों की काफी आर्थिक सहायता कर सकेगा। इसने सहकारी बैंकों को ओवर ड्राफ्ट की सुविधायें देकर कृषि साख की उचित व्यवस्था करने में सहायता दी है। (५) स्टेट बैंक छोटे-छोटे उद्योगों को आर्थिक सहायता देने का भी सराहनीय कार्य कर रहा है।

स्टेट बैंक का शाखा विस्तार

३० जून १९६० तक ४१६ शाखायें खुलना

आज से ११ वर्ष पूर्व रूरल बैंकिंग इन्क्वायरी ने यह सलाह दी थी कि इम्पीरियल बैंक अपनी शाखाओं का विस्तार अधिक तीव्र गति से करे। इस कमेटी ने ११४ नई शाखाएँ खोलने की सलाह दी थी। इस सलाह को मानते हुए इम्पीरियल बैंक ने ६३ शाखाएँ खोलीं। इसके बाद ही यह बैंक 'स्टेट बैंक आफ इण्डिया' के रूप में परिणत हो गया। इसका मुख्य कार्य देश के गाँवों में बैंकिंग की सुविधाएँ देना था। १९५४ में आल इण्डिया रूरल क्रेडिट सर्वे की कमेटी ने इस उद्देश्य को सामने रखते हुए यह सिफारिश की कि स्टेट बैंक आगामी ५ वर्षों में कम से कम ४०० नई शाखायें खोले और इस तरह देश के उन स्थानों में भी बैंकों का जाल बिछ जाए जहाँ अब तक उसकी सुविधा नहीं है। स्टेट बैंक ने इस सिफारिश को स्वीकार कर लिया और यह निश्चय किया कि शीघ्र ही ४ वर्षों में १ जुलाई १९५५ से लेकर १ जुलाई १९६० तक देश भर में ४०० शाखाएँ खोलदी जाएँगी। उसने अपना यह कार्यक्रम नियत समय में पूर्ण कर लिया और ४१६ शाखाएँ देश के विभिन्न भागों में खुल गई। इनमें से ३८२ शाखाएँ उन स्थानों में खोली गई; जिन की जनसंख्या ५०,००० से कम थी और इनमें से भी २७४ शाखायें उन स्थानों में थीं, जिनकी जनसंख्या २५,००० से भी कम थी। इन नई शाखाओं में स्टेट बैंक ने २९ करोड़ रुपया १९५९ के अन्त तक जमा किया था और २१ करोड़ रुपया लोगों को उधार के तौर पर दिया था।

भविष्य में शाखा विस्तार (कर्वे कमेटी)

अब प्रश्न यह था कि स्टेट बैंक की ४१६ नई शाखाएँ खुलने के बाद भी क्या नई शाखाएँ खोलने का कार्यक्रम जारी रखा जाय या नहीं। इस प्रश्न के अध्ययन के लिये प्रो० कर्वे की अध्यक्षता में कमेटी नियुक्त की गई। इस समिति ने इम्पीरियल बैंक द्वारा खोली गई ६३ शाखाओं और स्टेट बैंक द्वारा खोली गई ४१६ शाखाओं की स्थिति का अध्ययन किया। इम्पीरियल बैंक द्वारा खोली गई ६३ शाखाओं में १९५१ में डिपाजिट २० लाख रुपया था। १९५९ के अन्त तक

डिपाजिटों की यह राशि १२·५७ करोड रुपये हो गयी। इन शाखाओं से लाभ भी होने लगा और १६५६ मे इन शाखाओं को १२·०५ लाख रुपयों का लाभ हुआ। इसके बाद लाभ की मात्रा कुछ कम होने लगी, क्योंकि सरकार ने अपने रियायती दर वापस ले लिए।

कर्वे कमेटी ने स्टेट बैंक द्वारा खोली गई ४१६ शाखाओं की स्थिति का भी अध्ययन किया। ज्यों-ज्यों नई शाखाएं खुलती गई, उन पर होने वाला घाटा भी बढ़ता गया और १६५५ से १६५६ तक नई शाखाओं के कारोबार में १४२·०६ लाख रुपए का घाटा हुआ। कर्वे समिति की राय मे इस घाटे के दो कारण थे। एक तो यह कि नए स्थानों मे बैंकिंग की—बचत करके बैंकों में रुपया जमा करने की प्रवृत्ति लोगो मे नही थी। और दूसरा यह कि उचित स्थान और अनुभवी कार्यकर्ता भी नही मिले। इसलिए उक्त समिति ने यह राय दी है कि नई शाखाएं खोलते हुए कुछ अधिक सतर्कता से काम लिया जाय और यह देखा जाय कि नई शाखायें केवल उन्ही स्थानों मे खुलनी चाहिये जहाँ रुपया जमा होने तथा एक दूसरी जगह पहुँचाने की अधिक सम्भावनाएं हो। जहाँ सहकारी समितियों अथवा निजी संस्थाओं के रूप मे रुपया ऋण लेने की भी छोटे मोटे लघु उद्योग या ग्रामोद्योगों के खुलने की सम्भावना हो।

अप्रैल १६५६ से अब तक स्टेट बैंक ने २४५१ छोटे उद्योगों को ७·८२ करोड़ रुपया ऋण के रूप मे दिया है। स्टेट बैंक के सबसीडियरी बैंकों (बीकानेर, जयपुर और हैदराबाद आदि जो पीछे से स्टेट बैंक के अन्तर्गत किए जायेंगे) ने २·६७ करोड़ रुपया दिया। समिति की राय मे तीसरी पंचवर्षीय योजना की अवधि में सहकारी समितियों और छोटे उद्योगों का विस्तार बहुत होना है और उनकी आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए स्टेट बैंक को पूर्णतया सन्नद्ध हो जाना चाहिये। उपर्युक्त समिति का यह भी खयाल है कि ज्यों-ज्यों विकास योजनाओ के परिणामस्वरूप लोगों की आय बढेगी उनकी बचत को भी प्राप्त करके नई विकास योजनाओं में लगाने की भी पूर्ण व्यवस्था होनी चाहिये। और यह काम स्टेट बैंक को अपने हाथ मे लेना चाहिये। इसके लिए उपर्युक्त समिति ने यह राय दी है कि आगामी ५ वर्षों मे बहुत तेज न हो, क्योंकि पहले के दो वर्षों मे हमे प्रशिक्षित कर्मचारी नही मिलेंगे। स्टेट बैंक को कर्मचारियो के प्रशिक्षण का कार्य अपने हाथ मे लेना चाहिये। स्टेट बैंक ने कर्वे समिति की सिफारिशो को स्वीकार कर लिया और हैदराबाद में ऊँचे अधिकारियो के प्रशिक्षण करने के लिए एक संस्था तथा निम्न कर्मचारियों को प्रशिक्षित करने के लिये १५-२० स्कूल खोलने का निश्चय किया है।

स्टेट बैंक के इस निश्चय से निजी बैंकों को किसी तरह की आशंका नही होनी चाहिए, क्योंकि स्टेट बैंक अपनी अधिकाश शाखायें उन्ही स्थानों में खोलेगा जिन मे आज बैंकिंग की विशेष सुविधा नहीं हैं।

उत्तरी भारत की शाखाओं का अधिक प्रभावपूर्ण नियन्त्रण करने के लिए स्टेट बैंक ने एक नया क्षेत्र बनाया था, जिसमें जम्मू व काश्मीर, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश का पश्चिमी भाग, दिल्ली के संघ क्षेत्र और हिमालय प्रदेश सम्मिलित हैं। इस क्षेत्र का स्थानीय प्रधान कार्यालय नई दिल्ली में है।

जून १६६२ के अन्त तक, शाखा विस्तार के द्वितीय कार्य-क्रमानुसार स्टेट बैंक आफ इण्डिया और इसकी सहायकों ने १२७ शाखायें खोल दी हैं। जून १६६२ अन्त मे स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया व इसके सहायकों के १४८४ कार्यालय थे।

कुछ प्रालोचकों ने स्टेट बैंक के विरुद्ध निम्न प्रारोप लगाये हैं :

(१) मुख्यतः एक सरकारी बैंक होने के कारण इसकी कार्य पद्धति बहुत कुछ राजनैतिक स्वार्थों पर प्राधारित होगी तथा प्रतिदिन के कार्यों में सरकारी हस्तक्षेप का भय रहेगा।

(२) इम्पीरियल बैंक की भाँति यह भी नागरिकों को पर्याप्त सुविधायें प्रदान नही कर सकेगा। किन्तु इन प्रालोचनाओं में कोई सार नही है क्योंकि सरकारी हस्तक्षेप केवल रिजर्व बैंक के द्वारा ही हो सकेगा और चूंकि स्टेट बैंक का अध्यक्ष एक स्वतन्त्र व्यक्ति होता है इसलिए सरकारी हस्तक्षेप का भय निराधार है। यही नही बैंक के विधान मे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि बैंक व्यापारिक सिद्धांतों का पालन करेग, जिससे नागरिकों को पर्याप्त सुविधायें देने के मार्ग में कोई अड़चन पड़ने की सम्भावना नही है।

स्टेट बैंक प्रॉफ इण्डिया की प्रगति

स्टेट बैंक प्रॉफ इण्डिया की प्रगति का अनुमान निम्न बातों से लग सकता है :—

(i) विशेष सुविधायें—इसने सहकारी बैंकों को रिजर्व बैंक की विशेष सुविधा योजना के अन्तर्गत ५४·४ करोड़ रुपये और अपनी निजी की योजना के अन्तर्गत उन्हें २६·६ करोड़ रुपए की विशेष सुविधाएं प्रदान की थी।

(ii) लघु पैमाने के उद्योगों को वित्तीय सहायता—बैंक ने लघु पैमाने के उद्योगों को वित्तीय सहायता देने की एक पायलट योजना बनाई थी। उसे अब १७ नये केन्द्रों पर लागू कर दिया गया है। इस प्रकार योजना के प्राधीन कुल ५३ केन्द्र आ गये हैं। इन उद्योगों के लिये स्वीकृत ऋण सीमा को भी बैंक ने ८०·२७ लाख रुपये से बढ़ा कर २·३७ करोड़ रुपये कर दिया तथा ऋण खातों की संख्या १८६ से बढ़कर ६६६ हो गई।

(iii) डिपाजिटों की मात्रा—बैंक के कुल डिपाजिटों में भी वृद्धि हुई। ये सन् १९५५ मे २२५·६६ करोड़, १९५६ में ३४२·१२ करोड़, १९५७ मे ३६६·५२ तथा १९५८ मे ४७६ करोड़ रु० हो गये थे।

(iv) विनियोग—डिपाजिटों में वृद्धि होने के कारण बैंक ने अपने विनियोगों में भी काफी विस्तार कर लिया है। सन् १९५५, १९५६, १९५७ और १९५८ में ये क्रमशः ११६·६७ करोड़ रु०, १०६·८७ करोड़ रुपये, १८३·४३ करोड़ और २६८·८० करोड़ रुपये थे।

(v) अग्रिम—कुल अनुसूचित बैंक अग्रिमों (Total scheduled bank advance) मे इसका भाग १९·२% रहा। १९५५ से १९५८ तक ये क्रमशः इस प्रकार थे—१०५·८१ करोड़, १४०·१६ करोड़, १३७·४८ करोड़ एवं २०२·३० करोड़ रुपये। क्रेडिट डिपाजिटों का अनुपात भी सन् १९५७ में ३६·६% से बढ़कर सन् १९५८ मे ४६·८% हो गया।

(vi) सहकारी आन्दोलन को सहायता—३० जून सन् १९५८ को समाप्त होने वाले वित्तीय वर्ष में बैंक ने ४ सहकारी चीनी कारखानों को प्रत्यक्ष वित्तीय सहायता (सीमा १४५ लाख रु०) प्रदान की है। इसी दिन सहकारी बैंकों और भूमि बन्धक बैंकों के ऋण-पत्रों में विनियोग की राशि ६६·५ लाख रुपये थी। बैंक ने

गोदामों की रसीद के विरुद्ध अग्रिम देने में भी पहल की है और अगस्त १९५८ तक इसने १३ लाख रुपये के १३० अग्रिम दिये हैं। बैंक ने यह भी निश्चय किया है कि वह अधिकतम सम्भव सीमा तक सहकारी विपणन एवं प्रोसेसिंग समितियों को भी ऋण देगा। ऐसा करते हुए बैंक यह ध्यान रखेगा कि उसके अपने बन्धों पर कोई अनुचित बोझ न पड़ने पाये और साथ ही सहकारी अनुशासन तथा ग्रामीण साख की समन्वित योजना को कोई ठेस न पहुँचे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बैंक उन आशाओं को पूरा करने की भरसक चेष्टा कर रहा है जो कि उसकी स्थापना से ग्रामीण सर्वे समिति ने की थीं।

परीक्षा प्रश्न

(१) इम्पीरियल बैंक ऑफ इंडिया को स्टेट बैंक में क्यों परिणित किया गया ? इसके लाभ समझाकर लिखिये।

(२) स्टेट बैंक आफ इण्डिया के कार्य, उन पर प्रतिबन्ध तथा महत्व आलोचना सहित लिखिये।

(३) स्टेट बैंक आफ इण्डिया पर एक निबन्ध लिखिये।

(४) स्टेट बैंक की सेवाओं (Services rendered) का मूल्यांकन कीजिये।

१२.

रिजर्व बैंक ग्राफ इण्डिया
[Reserve Bank of India]

प्रारम्भिक—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना

सन् १९३५ से पूर्व इम्पीरियल बैंक ही देश में केन्द्रीय बैंक का कार्य करता था। किन्तु इस रूप में उसका कार्य संतोषजनक नहीं था। अत: विभिन्न विद्वानों, कमेटियों एवं आयोगों ने एक पृथक केन्द्रीय बैंक की स्थापना पर बल दिया। अन्त में सन् १९३५ में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट बना। इसके अनुसार रिजर्व बैंक की स्थापना हुई। इसने १ अप्रैल सन् १९३५ को भारत में एक केन्द्रीय बैंक के रूप में कार्य आरम्भ किया। रिजर्व बैंक की स्थापना निम्न कारणों से की गई थी—(i) देश में मुद्रा व साख का समुचित प्रबन्ध करने के लिये, (ii) रुपये के आंतरिक एवं बाह्य मूल्य में स्थिरता रखने के लिये, (iii) बैंकों के नगद कोष का केन्द्रीयकरण करने के लिये, (iv) सार्वजनिक ऋणों की व्यवस्था के लिये, (v) कृषि साख की उचित व्यवस्था करने के लिये, (vi) बैंकिंग प्रणाली का सुगठित विकास करने के लिये, (vii) मुद्रा बाजार के विभिन्न अंगों को समन्वित करने के लिये, और (viii) विभिन्न देशों से मौद्रिक सम्पर्क स्थापित करने के लिये।

इम्पीरियल बैंक को भी केन्द्रीय बैंक में परिणित किया जा सकता था लेकिन ऐसा नहीं किया गया, क्योंकि—(i) वह देश में स्थित अन्य बैंकों से प्रतियोगिता करता था, जिससे उनका इसमें विश्वास न था। (ii) उसे अपने व्यापारिक कार्य समाप्त करने पड़ते, जो देश हित में नहीं था। (iii) इसका संचालक-मण्डल भी प्रस्ताव के विरुद्ध था। (iv) चालान के प्रबन्ध का अधिकार इम्पीरियल बैंक को मिलने से उसके दुरुपयोग होने का भय था। अत: एक नये सिरे से केन्द्रीय बैंक स्थापित किया गया, ताकि नई परम्परायें बन सके।

बैंक का संगठन प्रारम्भ में एक शेयरहोल्डरों के बैंक के रूप में किया गया। उस समय इस सम्बन्ध में बहुत चर्चा हुई थी कि यह बैंक शेयरहोल्डरों का बैंक हो या सरकारी बैंक।

रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण

शेयर होल्डरों का बैंक बनाने के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये गये थे—(i) बैंक को राजनैतिक प्रभाव से मुक्त रखना आवश्यक है ताकि वह अपना कार्य स्वतंत्रतापूर्वक कर सके। (ii) संसार के प्रमुख राष्ट्रों के केन्द्रीय बैंक (सन् १९३४

तक) भी शेयर होल्डरों के बैंक थे। (iii) विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व तथा कार्य-क्षमता की दृष्टि से भी रिजर्व बैंक को शेयर होल्डरों का बैंक बनाना चाहिये। (iv) भारत की (विदेशी) सरकार की नीति (सन् १९३४ से पहले तक) राष्ट्र के हितों के विरुद्ध थी, अतः जनता भी रिजर्व बैंक पर सरकारी प्रभुत्व नहीं चाहती थी।

रिजर्व बैंक को सरकारी बैंक बनाने के पक्ष में भी बहुत कुछ कहा गया—(i) *शेयर होल्डरों की संस्था के रूप में यह बैंक देश के हित में कार्य नहीं* कर पायेगा, क्योंकि शेयर-होल्डर अपने-अपने अधिकारों का प्रयोग अपने ही स्वार्थों की पूर्ति में कर सकते हैं। (ii) एक अविकसित देश होने के कारण भारत में जनता को अपनी बचत उत्पादक कार्यों में लगाने की आदत नहीं है। अतः ऐसी परिस्थितियों में शेयर होल्डरों का बैंक बचत को प्रोत्साहित करने में सफल नहीं हो सकता था। सरकार ने रिजर्व बैंक को शेयरहोल्डरों के बैंक के रूप में ही स्थापित करने का निश्चय किया।

सन् १९४९ में संशोधन-राष्ट्रीयकरण

वर्तमान समय में रिजर्व बैंक को एक सरकारी बैंक बनाने के पक्ष में निम्न कारणों से अधिक समर्थन प्राप्त हुआ :—

(i) युद्धोत्तर काल में विश्व के अन्य देशों में वहाँ की केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो चुका है,

(ii) युद्ध काल में रिजर्व बैंक वास्तविक रूप से स्वतन्त्र नहीं था वरन् वह एक सरकारी बैंक की भाँति कार्य कर रहा था। राष्ट्रीयकरण से इस स्थिति को केवल वैधानिकता ही प्राप्त हो जायगी;

(iii) रिजर्व बैंकों के शेयरों का केन्द्रीयकरण होता जा रहा था और वैयक्तिक अधिकारों के दुरुपयोग का भय था;

(iv) प्रस्तावित बैंकिंग विधान द्वारा रिजर्व बैंक को इतने विस्तृत अधिकार मिलने जा रहे थे कि अब उसकी एक प्राइवेट संस्था रहना अनुचित था;

(v) युद्धोत्तर काल में देश के आर्थिक पुनर्निर्माण से सम्बन्धित अनेक योजनायें बनने जा रही थी। इनकी सफलता के लिये भी रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण आवश्यक था;

(vi) अब तक रिजर्व बैंक भारतीय मुद्रा बाजार के विभिन्न अंगों को सुसंगठित नहीं कर पाया है। उसका स्वदेशी बैंकरों पर कोई प्रभावशाली नियन्त्रण नहीं रह सका है। राष्ट्रीयकरण से यह दोष दूर हो जायगा;

(vii) युद्ध में रिजर्व बैंक की दोषपूर्ण मुद्रा नीति के कारण देश में अत्यधिक मुद्रा प्रसार हो गया था, जिससे मूल्य-स्तर बहुत बढ़ गये। रिजर्व बैंक का राष्ट्रीय-करण ही इस स्थिति में सुधार कर सकता था;

(viii) सरकार द्वारा निर्धारित आर्थिक और मुद्रा नीति को रिजर्व बैंक तब ही सफलता के साथ चला सकता है जबकि उस पर सरकार का स्वामित्व हो;

(ix) शेयरहोल्डरों की बैंक के रूप में रिजर्व बैंक को देश के अन्य बैंकों से बैंकिंग सम्बन्धी विवरण प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई अनुभव होती थी। किन्तु सरकारी विभाग बन जाने पर उपर्युक्त विवरण उसे आसानी से प्राप्त होने लगेंगे।

(x) युद्धकालीन परिस्थितियों के कारण अन्य देशों की भाँति भारत में भी अनेक आर्थिक समस्यायें उत्पन्न हो गई थी, जैसे—विदेशी विनिमय दर की अस्थिरता, भुगतान का असंतुलन; आर्थिक विषमता आदि। इन समस्याओं का हल अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा ही किया जा सकता था। यह सहयोग मुख्यत: अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष और अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्गठन व विकास बैंक के माध्यम से मिलता था। ये संस्थायें किसी देश से व्यवहार वहाँ की केन्द्रीय बैंक द्वारा ही करती थी। चूँकि रिजर्व बैंक को यह महत्वपूर्ण कार्य करना था, इसलिये भी इसका राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक समझा गया।

इसके विपरीत राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध कुछ आरोप भी लगाये गये—(i) यह भारत सरकार की वर्तमान सामान्य औद्योगिक नीति के विरुद्ध है; (ii) अब रिजर्व-बैंक योग्य और अनुभवी व्यापारियों की सेवाओं के लाभ से वंचित है; (iii) बैंक के संचालन पर राजनैतिक दलों तथा सरकार की वित्तीय नीति का अनुचित प्रभाव पड़ सकता है। कुछ भी हो, अधिकांश मत रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के ही पक्ष में था। अत: सन् १९४९ मे रिजर्व बैंक आफ इन्डिया एक्ट के एक संशोधन द्वारा इसका राष्ट्रीयकरण कर लिया गया। राष्ट्रीयकरण हुए अभी कोई अधिक समय नहीं हुआ है, जिससे यह निर्णय करना कठिन है कि इस व्यवस्था से कितनी लाभ है? किन्तु सरकारी अधिकारियों का कहना है कि राष्ट्रीयकरण होने से रिजर्व बैंक की उपयोगिता व सप्रभाविकता में वृद्धि हो गई है।

रिजर्व बैंक का संगठन एवं प्रबन्ध

(१) पूँजी—सन् १९३५ मे रिजर्व बैंक ने एक शेयरहोल्डर्स बैंक के रूप में कार्य प्रारम्भ किया था। तब इसकी कुल अंश पूँजी ५ करोड़ रु० (१००—१०० रु० के पूर्ण दत्त ५०,००० शेयर) थी। बैंक की संचालन शक्ति को कुछ व्यक्तियों व क्षेत्रों मे केन्द्रित होने से रोकने के लिए देश के पाँच क्षेत्र बनाये गये और प्रत्येक क्षेत्र से प्राप्त की जाने वाली पूँजी की मात्रा निर्धारित कर दी गई। इस पर भी अंशों के हस्तांतरण द्वारा लगभग सारे शेयर बम्बई मे केन्द्रित हो गये। बाध्य होकर सन् १९४० मे यह नियम बनाया गया कि कोई व्यक्ति २० हजार से अधिक के शेयर अपने नाम में या साझे में नहीं रख सकता शेयर होल्डरों को वोट देने का अधिकार (प्रति ५ शेयर १ वोट) था। राष्ट्रीयकरण के बाद भी (३१-१२-१९६२ को) बैंक की पूँजी ५ करोड़ रु० ही है लेकिन सब शेयर सरकार के पास हैं, जिन्हें उसने १०० रु० के बदले ११८ रु० १० आ० देकर खरीद लिया था बैंक का रिजर्व फन्ड ८० करोड़ रुपये है।

(२) प्रबन्ध—१ जनवरी १९४९ में राष्ट्रीयकरण होने के पश्चात् बैंक का प्रबन्ध भारत सरकार के हाथ में आ गया है। बैंक के गवर्नर के परामर्श से सरकार केन्द्रीय बोर्ड को राष्ट्रहित की दृष्टि से आदेश देती रहती है और केन्द्रीय बोर्ड इनका पालन कराता है। केन्द्रीय बोर्ड में १४ सदस्य हैं, जिनकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा विभिन्न वर्ग-हितों को ध्यान में रखते हुए की जाती है। इसमे १ गवर्नर, २ उप-गवर्नर, स्थानीय बोर्डों में से नियुक्त ४ संचालक, ६ अन्य संचालक एवं १ सरकारी

कर्मचारी होता है। स्थानीय प्रबन्ध के लिए चार स्थानीय बोर्ड क्रमशः बम्बई, कलकत्ता, मद्रास व दिल्ली में हैं।

(३) कार्यालय—रिजर्व बैंक का केन्द्रीय कार्यालय बम्बई में है। प्रमुख कार्यालय बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली और कानपुर में हैं। लन्दन, लाहौर व कराची में इसकी शाखायें हैं। जहाँ-जहाँ स्टेट बैंक की शाखायें हैं वहाँ-वहाँ रिजर्व बैंकों ने इसे अपना एजेन्ट नियुक्त कर दिया है।

(४) संगठन—बैंक के निम्न प्रमुख विभाग हैं :—(i) नोट प्रकाशन विभाग, नोट निकालने व मुद्राओं के परिवर्तन के लिए कोषाध्यक्ष विभाग तथा उन्हें जाँचने, रद्द करने व अंकेक्षण आदि करने के लिए साधारण विभाग, इसी विभाग के दो उपविभाग हैं; (ii) बैंकिंग विभाग, जो बैंकों के डिपाजिट अपने पास रखता है, सरकार के बैंकर का काम करता है व समाशोधन गृह का कार्य करता है; आदि। (iii) कृषि साख विभाग, जो सरकारों व बैंकिंग संस्थाओं की कृषि विषयक साख नीति निर्धारित करता है, कृषि साख पर खोज कराता है आदि (iv) विदेशी विनिमय विभाग, जो विनिमय दर को स्थायी रखता है, विदेशी मुद्रा खरीदता व बेचता है; (v) बैंकिंग क्रियाओं का विभाग—इसके तीन उपविभाग हैं—संचालन विभाग—जो वे सब कार्य करता है जिन्हें एक बैंक के नाते रिजर्व बैंक को करने चाहिये; निरीक्षण-विभाग जो बैंक की देख-भाल करता है व उन पर नियन्त्रण रखता है, एवं निस्तारण-विभाग जो बैंकों को बन्द करने से सम्बन्धित कार्य करता है। (vi) अनुसन्धान एवं सांख्यिकी विभाग—जो विभिन्न विषयों पर खोज कराता है व आँकड़े इकट्ठे करके उनका प्रकाशन करता है।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्य

भारत का रिजर्व बैंक पूर्णरूपेण देश का केन्द्रीय बैंक है। उसके प्रमुख कार्यों का विवरण नीचे दिया गया है :—

(I) करेंसी का नियमन—रिजर्व बैंक को भारत में नोटों के प्रकाशन का एकाधिकार प्राप्त है। इस कार्य के लिये बैंक का एक पृथक विभाग है, जिसे 'निर्गमन विभाग' (Issue Department) कहते हैं। ३० जून १९६२ तक लगभग २,१२० करोड़ रु० के नोट निर्गमित किये जा चुके थे। इनमें से २०७७ करोड़ रु० के नोट चलन में हैं तथा ४३ करोड़ रु० के नोट बैंकिंग विभाग के पास सुरक्षित रखे हैं।

प्रारम्भ में नोट निर्गमन प्रणाली में जनता का विश्वास बनाये रखने के लिये यह व्यवस्था की गई थी कि बैंक नोटों का ४०% भाग स्वर्ण सिक्कों, स्वर्ण धातु और विदेशी प्रतिभूतियों में रखा जाय। इसमें सोना कभी भी ४० करोड़ रुपये से कम नहीं होना चाहिये। शेष ६०% नोटों के पीछे रुपया, प्रतिभूतियाँ व विनिमय बिल आदि हो सकते थे। बाद में संशोधन द्वारा यह व्यवस्था बदल दी गई। सन् १९५६ के संशोधन के अनुसार नोट निर्गमन के विरुद्ध स्वर्ण एवं विदेशी विनिमय की एक न्यूनतम मात्रा ही कोष में रखना आवश्यक हो गया है। *यह न्यूनतम मात्रा ११५ करोड़ रु०* का सोना तथा ४०० करोड़ रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ तय की गई थीं। अक्टूबर सन् १९५७ के संशोधन के अनुसार विदेशी प्रतिभूतियों की सीमा ४०० करोड़ रुपये से घटाकर ८५ करोड़ रुपये कर दी गई है। अन्य देशों के केन्द्रीय बैंक की भाँति भारत के रिजर्व बैंक को भी यह अधिकार है कि आकस्मिक संकटों के समय वह विदेशी विनिमय कोष से सम्बन्धित नियमों को स्थापित कर सकता है।

२१२० करोड़ रु० के कुल नोट-निर्गमन के विरुद्ध रिजर्व बैंक के पास निम्न सम्पत्तियाँ हैं :—

		(करोड़ रु० में)
(अ) सोने के सिक्के व स्वर्ण धातु :—		
(i) भारत में	११७·७६	
(ii) विदेश में	८१·६८	
		२०६·४४
(ब) रुपये (सिक्के)		११६·२४
भारत सरकार की रुपया प्रतिभूतियाँ		१७६४·३२
आन्तरिक विनिमय बिल आदि		....
		२१२०·००

(II). साख का नियमन—आधुनिक युग में देश की अर्थ-व्यवस्था में साख का एक महत्वपूर्ण स्थान है। देश के सुनियोजित विकास के लिये साख का समुचित नियंत्रण आवश्यक है। साख की मात्रा प्रायः बैंकों की ऋण-नीति पर निर्भर होती है। अतः साख के नियन्त्रण का अर्थ बैंकों की ऋण-नीति पर नियन्त्रण करने से होता है। भारत के रिजर्व बैंक को साख के नियन्त्रण सम्बन्धी व्यापक अधिकार प्राप्त हैं। रिजर्व बैंक आफ इंडिया एक्ट के अन्तर्गत उसे परिमाणिक साख नियंत्रण (Quantitativa Credit Control) के निम्न अधिकार प्राप्त हैं :—(i) बैंक दर, (ii) खुले बाजार की क्रियायें तथा (iii) बैंकों की अनिवार्य जमाओं में परिवर्तन करना।

बैंकिंग कम्पनीज एक्ट ने तो उसे व्यापारिक बैंकों के कार्यों पर प्रत्यक्ष नियंत्रण के विशेष अधिकार भी दिये हैं जो कि निम्न प्रकार हैं :—(i) बैंकों को बैंकिंग कार्य के लिये लाइसेन्स देना; (ii) बैंकों की संख्या एवं नई शाखाओं पर नियन्त्रण करना; (iii) बैंकों का एकीकरण, योजनाओं पर स्वीकृति देना; (iv) बैंकों का निरीक्षण करना; (v) दुर्बल बैंकों का लिक्वीडेशन करना; (vi) बैंकों की ऋण-नीति निर्धारित करना; (vii) बैंकों के विभिन्न विवरण-पत्रों (Statements) की परीक्षा करना; (viii) बैंकों को समय-समय पर परामर्श देना आदि। इस प्रकार दोनों अधिनियमों ने मिल कर रिजर्व बैंक को देश में साख का नियन्त्रण करने के सम्बन्ध में शेष बैंकिंग समाज पर तानाशाही अधिकारों से सुसज्जित कर दिया है।

(III) सरकारी बैंकर का कार्य—रिजर्व बैंक का एक महत्वपूर्ण एवं पुराना कार्य सरकार को बैंकिंग सम्बन्धी सुविधायें प्रदान करना है। ये सुविधायें भारत सरकार को ही नहीं, वरन् राज्य सरकार तथा सरकारी संस्थाओं को भी प्राप्त हैं—

(i) यह विभिन्न सरकारों तथा सरकारी संस्थाओं के सभी नकद कोष (Cash balances) अपने पास रखता है और इन कोषों की सीमा तक सरकारों के आदेश से भुगतान भी करता है। यह सरकारों की जमा राशि पर किसी प्रकार का ब्याज नहीं देता। ३० जून १९६२ को रिजर्व बैंक के पास केन्द्रीय सरकार का जमा धन ५३·३६ करोड़ रु० व अन्य सरकारों का २५·४८ करोड़ रु० था।

(ii) सरकार के सार्वजनिक ऋणों की व्यवस्था भी वही करता है—जैसे—ऋणों की राशि को एकत्र करता है, ऋणों के ब्याज और मूलधन का भुगतान करता है तथा ऋणों का हिसाब-किताब रखता है।

(iii) वह सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करता है, सरकारों के लिये विदेशी विनिमय का प्रबन्ध करता और सरकारी धन को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजता है। ३० जून १९६२ को इसके पास ४४·०३ करोड़ रु० की सरकारी कोषीय प्रतिभूतियाँ खरीदी व भुनाई हुई थी।

(iv) वह स्वयं भी सरकार को ऋण दिया करता है जो या तो माँग पर तुरन्त ही अथवा काम चलाऊ अग्रिम के रूप मे ९० दिनो के अन्दर शोधनीय होते हैं। ये ऋण पर्याप्त प्रतिभूति प्राप्त करके दिये जाते हैं। ३० जून १९६२ को उसने सरकारों को ३४·८९ करोड़ रु० ऋण स्वरूप दिये थे।

(v) अपनी केन्द्रीय स्थिति के कारण रिजर्व बैंक को देश के द्रव्य बाजार का पूर्ण ज्ञान होता है और इस ज्ञान के आधार पर वह सरकारों को मुद्रा, साख तथा आर्थिक नीति सम्बन्धी सलाहें भी देता रहता है, जैसे नये ऋण चालू करने के लिये कौन-सा समय उपयुक्त होगा, कोषो का विनियोजन कब और किस प्रकार किया जाय, कृषि साख, सहकारिता, औद्योगिक साख और योजनाओं के वित्तीय पहलुओं पर भी वह सरकार को उपयुक्त परामर्श देता है।

(vi) बैंक को विदेशी सरकारो की ओर से भी कार्य करने का अधिकार है।

(vii) सरकार की ओर से रिजर्व बैंक जो कार्य करता है उस पर उसे किसी प्रकार का पारितोषण नही दिया जाता, क्योंकि वह सरकारी जमाओं पर कोई ब्याज नही देता है। हाँ, सरकारी हुण्डियो की बिक्री का कमीशन उसे मिलता है।

(IV) करेंसी के विनिमय मूल्य का स्थायीकरण—देश का केन्द्रीय बैंक होने के नाते रिजर्व बैंक पर रुपये के बाह्य मूल्य को स्थिर रखने की जिम्मेदारी है। इसीलिये यह बैंक निश्चित दरो पर विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करता है। सन् १९४७ के पूर्व रिजर्व बैंक १०,००० पौंड की कम से कम मात्रा मे स्टर्लिंग का क्रय-विक्रय क्रमशः १ शि० ६$\frac{3}{16}$ पैं० और १ शि० ५$\frac{49}{64}$ पैं० प्रति रुपया को दरो के मध्य करता था। सन् १९४७ के संशोधन द्वारा रुपये और स्टर्लिंग का वैधानिक सम्बन्ध टूट गया, क्योंकि अब भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य बन गया था। तब से रिजर्व बैंक ने केवल स्टर्लिंग का वरन् अन्य देशों की मुद्राओं का भी, जो कि मुद्रा कोष के सदस्य हैं, क्रय-विक्रय करता है। यह क्रय-विक्रय उन दरों पर किया जाता है जो कि केन्द्रीय सरकार मुद्रा कोष से निश्चित करती है। दो लाख रुपये से कम मूल्य की मुद्रा का क्रय-विक्रय नही किया जाता है। विनिमय दरों के स्थायित्व के अतिरिक्त रिजर्व बैंक अपने विनिमय नियन्त्रण विभाग (स्थापित सन् १९३९) द्वारा विनिमय नियन्त्रण का संचालन व संगठन भी करता है।

(V) बैंकों का बैंक—रिजर्व बैंक द्वारा अन्य बैंकों पर नियन्त्रण—रिजर्व बैंक का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य देश के बैंको पर नियन्त्रण, मार्ग-दर्शन और संगठन करके एक उपयोगी बैंकिंग प्रणाली का निर्माण करना है। बैंकिंग विधान १९४९ ने इस हेतु इसे व्यापक अधिकार दिये हैं। बैंको का नियन्त्रण करने के लिये तथा निक्षेप-दाताओं की रक्षा के हेतु बहुत अनुसूचित बैंकों की माँग देयों का ५% तथा काल देयों का २% नगद कोष अपने पास रखता है। अनुसूचित बैंक वे हैं जिनका नाम अधिनियम की द्वितीय अनुसूची में दर्ज हो। इस अनुसूची मे उन्हीं बैंको को सम्मिलित

किया जाता है, जिनकी पूँजी व संचित कोष ५ लाख रु० से कम नहीं है। चूँकि प्रत्येक बैंक के कोषों का कुछ भाग रिजर्व बैंक के पास जमा रहता है इसलिये वह इसका उपयोग बैंकों की सहायता के लिये करता है। यही कारण है कि उसे देश के बैंकों का 'अन्तिम ऋणदाता' (Lender of the last Resort) कहा जाता है। जिस तरह देश के साधारण बैंक जनता से जमायें प्राप्त करके उसको ऋण आदि देते हैं, उसी प्रकार रिजर्व बैंक भी देश के बैंकों से जमायें प्राप्त करके उन्हे ऋण प्रदान करता है, उनके 'समाशोधन गृह' (Clearing House) का कार्य करता है तथा आर्थिक संकट-काल मे सहायता करता है। अत: इसे 'बैंकों का बैंक' (Banker's Bank) कहना अनुचित नहीं है। इस व्यवस्था के कारण बैंकिंग व्यवस्था अस्त-व्यस्त नहीं होने पाती है तथा उसका समुचित विकास होता है। बैंकों को रिजर्व बैंक के पास साप्ताहिक विवरण भेजने पड़ते हैं, जिनसे उसे उनकी दशा का 'अप-टू-डेट' ज्ञान रहता है और वह आवश्यकता पड़ने पर समयोचित कदम उठा सकता है।

३० जून १९६२ को इसके पास बैंकों के ९८·३६ करोड़ रु० के डिपाजिट थे और इसने उन्हे १३४·९३ करोड़ रु० ऋण दिया था।

(VI) अन्य केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्य—रिजर्व बैंक के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण केन्द्रीय बैंकिंग कार्य निम्नलिखित है :—

(१) कृषि वित्त-व्यवस्था—एक कृषि प्रधान देश होने के नाते भारत का आर्थिक विकास कृषि के विकास पर ही अवलम्बित है। कृषि-विकास की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या कृषि साख से सम्बन्धित है। अत: एक केन्द्रीय बैंक के रूप में रिजर्व बैंक पर कृषि साख का उचित नियमन, विस्तार एवम् समायोजन करने का दायित्व आता है। इस कार्य को कुशलतापूर्वक सम्पादित करने के लिये रिजर्व बैंक ने एक पृथक विभाग—कृषि साख विभाग (Agriculture Credit Department) की स्थापना की है। आरम्भ में यह विभाग केवल रिपोर्ट प्रकाशित करता था तथा कृषि साख के पुनर्गठन के लिये अन्य कोई कार्य नहीं करता था। लेकिन अब इसके कार्यों का बहुत विस्तार हो गया है। वह राज्य सरकारों तथा राज्य सरकारी बैंकों को सलाह देता है। सन् १९४९-५० की ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति की सिफारिश पर इसने देश भर में कृषि साख समस्याओं का अध्ययन किया है। रिजर्व बैंक कृषि के लिए बहुत ही सस्ती दर पर (केवल २% पर ही) सरकारी बैंकों को ऋण अल्पकालीन और मध्यकालीन देता है। दीर्घकालीन ऋणों के लिये रिजर्व बैंक भूमि-बन्धक बैंकों के २०% तक डिबेन्चर्स खरीद लिया करता है। उसने कृषि-साख का विकास करने के हेतु दो कोष—राष्ट्रीय कृषि-साख (स्थायित्व) कोष और राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष स्थापित किए हैं। ३० जून १९६२ को पहले कोष में ७ करोड़ तथा दूसरे कोष में ६१ करोड़ रु० जमा थे। सहकारी अधिकारियों की ट्रेनिंग का भी उसने प्रबन्ध किया है।

(२) औद्योगिक वित्त-व्यवस्था—रिजर्व बैंक ने औद्योगिक साख प्रदान करने वाली विशेष समस्याओं की स्थापना मे सक्रिय सहयोग प्रदान किया है। ये संस्थायें निम्न हैं—भारत का औद्योगिक वित्त निगम एवं राज्यों के वित्त निगम। पुन: अर्थ-प्रबन्धन निगम (Refinance Corporation) की पूँजी में भी रिजर्व बैंक ने भाग लिया है।

(३) बैंकिंग की शिक्षा—बैंकिंग के विकास के लिये बैंकिंग शिक्षा की भी आवश्यकता होती है। अतः रिजर्व बैंक आफ इंडिया इस आवश्यकता की पूर्ति भी

करता है। सन् १९५४ में उसने एक बैंकिंग ट्रेनिंग कालेज स्थापित किया था, जहाँ विभिन्न बैंकों के अधिकारियों को बैंकिंग शिक्षा दी जाती है।

(४) आर्थिक सूचनायें और आंकड़े एकत्र करना व उन्हें प्रकाशित करना—मौद्रिक नीति की उचित व्यवस्था व संचालन के लिये यह आवश्यक है कि देश के केन्द्रीय बैंक को, जिस पर मुद्रा व साख के नियमन का दायित्व है, ठीक-ठीक आर्थिक रचनाओं और आंकड़ों की जानकारी हो। भारत का रिजर्व बैंक अपने 'अन्वेषक एवम् समंक विभाग' (Department of Research and Statistics) द्वारा इस सम्बन्ध में उपयोगी कार्य कर रहा है। यह विभाग मुद्रा, साख कृषि, उत्पादन, लाभांश ब्याज दरें व मुद्रा-बाजार आदि विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में अनुसंधान करता है और आंकड़े संग्रह करके उन्हें प्रकाशित करता है।

(५) मुद्रा का स्थानांतरण—रिजर्व बैंक मुद्रा और कोष का स्थानान्तरण भी करता है। वह अपने कार्यालयों पर दर्शनी हुन्डियाँ भी जारी करता है।

(६) मुद्रा परिवर्तन—वह बड़े नोटों के बदले छोटे नोट या नोटों के बदले गिलट के रुपये देने का कार्य भी करता है।

रिजर्व बैंक के वर्जित कार्य

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट द्वारा इस समय रिजर्व बैंक को कुछ कार्य एवं बैंकिंग व्यवहार करने के लिये वर्जित कर दिया गया है। इसका उद्देश्य यह है कि एक ओर तो वह देश के अन्य बैंकों से प्रतियोगिता नहीं कर सके तथा दूसरी ओर वह स्वयं सुरक्षित रहे। **मुख्य-मुख्य वर्जित कार्य इस प्रकार हैं**—(i) वह देश के व्यापार, वाणिज्य व उद्योग में भाग नहीं ले सकता। हाँ, अपने ऋणों की वसूली के हेतु कुछ निश्चित काल के लिये वह अवश्य ऐसा कर सकता है। (ii) वह अपने अथवा किसी अन्य बैंक अथवा कम्पनी के शेयर नहीं खरीद सकता है। वह ऐसे अंशों की प्रतिभूति पर ऋण भी नहीं दे सकता। (iii) वह न तो ऐसे बिल लिख सकता और न भुना ही सकता है जो कि माँग पर शोधनीय न हों। (iv) वह अरक्षित ऋण भी नहीं दे सकता। (v) वह अचल सम्पत्ति की जमानत पर ऋण नहीं दे सकता है और न इस प्रकार की सम्पत्ति को (अपनी आवश्यकताओं के अतिरिक्त) खरीद ही सकता है।

केन्द्रीय बैंक के रूप में रिजर्व बैंक की वास्तविक स्थिति

रिजर्व बैंक ने भारत में एक केन्द्रीय बैंक के रूप में किस सीमा तक कार्य किया है इसका एक ही उत्तर हो सकता है और वह यह है कि इसने अपने संस्थापकों की सभी आशाओं को पूरा किया है। यह बात दूसरी है कि इसे अपने कार्यों में पूर्ण सफलता नहीं मिल पाई है। मुद्रा बाजार के भी प्रमुख दोष, जिन्हें दूर करने के लिये यह बैंक स्थापित किया गया था या तो दूर हो गये हैं अथवा दूर होने की प्रगति में हैं। मुद्रा एवं साख नीतियों का समन्वय हो गया है तथा व्यापारिक बैंकों पर रिजर्व बैंक का पूर्ण व कड़ा नियंत्रण स्थापित है। अन्तिम ऋणदाता होने के कारण रिजर्व बैंक पर इस देश में बैंकों को टूटने से रक्षा करने का भार है, जिसे उसने सफलतापूर्वक निभाया है। डी कॉक का मत है कि एक केन्द्रीय बैंक की कसौटी साख का समुचित नियंत्रण किया जाना है, यद्यपि अन्य कार्य भी महत्वपूर्ण होते हैं। इस सम्बन्ध में हम देखते हैं कि रिजर्व बैंक को काफी व्यापक अधिकार मिले हुए हैं। उसने देश में मुद्रा प्रसार को रोकने के लिए अनेक बार अपने अधिकारों का प्रयोग भी किया है। इस प्रकार रिजर्व बैंक भारत में सही अर्थों में एक केन्द्रीय बैंक का कार्य कर रहा है।

रिजर्व बैंक आफ इन्डिया द्वारा साख एवं करैन्सी का नियन्त्रण

रिजर्व बैंक भारत का केन्द्रीय बैंक है और इस नाते वह देश में मुद्रा और साख की समुचित व्यवस्था रखने के लिये जिम्मेदार है। उसे मुद्रा व साख का नियंत्रण करने के अनेक साधन प्राप्त हैं, जिनका उसने समय-समय पर प्रयोग भी किया है और काफी सफलता पाई है।

रिजर्व बैंक द्वारा करैन्सी का नियंत्रण

रिजर्व बैंक आफ इंडिया को नोट निर्गमन का एक मात्र अधिकार प्राप्त है। नोटों का प्रचलन पत्र-मुद्रा निधि के आधार पर किया जाता है। रिजर्व बैंक इस निधि के किसी भी अंग को बढ़ा कर तथा उतने ही मूल्य के नोटों का प्रकाशन करके मुद्रा-प्रसार कर देता है। इसी प्रकार वह प्रचलित नोटों को लौटा कर या रद्द करके और उतने ही मूल्य की सम्पत्ति उक्त निधि मे से कम करके मुद्रा संकुचन किया करता है।

रिजर्व बैंक द्वारा साख का नियंत्रण

रिजर्व बैंक के पास साख नियन्त्रण के निम्न मुख्य साधन हैं :—

(१) बैंक दर—'बैंक दर' से अभिप्राय: उस ब्याज दर का है जिस पर रिजर्व बैंक अन्य बैंकों को सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण देता है या प्रथम श्रेणी के बिलों को भुनाता है। भारत में रिजर्व बैंक की बैंक दर नीति अधिक सफल नहीं हो पाई है क्योंकि (i) मुद्रा-प्रसार के कारण मुद्रा-बाहुल्यता की परिस्थिति उत्पन्न होने से बैंकों को जनता से पर्याप्त जमायें प्राप्त हो गई हैं और वे उस पर बहुत निर्भर नहीं रहते; तथा (ii) रिजर्व बैंक का देश की सभी बैंकिंग संस्थाओं से इतना घनिष्ट सम्पर्क नहीं हो पाया है कि वे उसे सहयोग दें। फिर भी, रिजर्व बैंक ने गत वर्षों में बैंक दर में जो वृद्धि की है (मुद्रा प्रसार को रोकने के लिये) उसके फलस्वरूप ऋण लेना कम हुआ है, बहुत से ऋण वापिस भी किये गये तथा बाजार में कुछ मंदी की लहर भी आई।

रिजर्व बैंक द्वारा साख नियंत्रण के पाँच प्रमुख उपाय

(१) बैंक दर।
(२) खुले बाजार की क्रियायें।
(३) बिल योजना।
(४) नगद कोष।
(५) अन्य उपाय।
- (i) प्रत्यक्ष कार्यवाही।
- (ii) जनता से प्रत्यक्ष व्यवहार।
- (iii) साख का राशनिंग।
- (iv) प्रकाशन तथा नैतिक प्रभाव।

(२) खुले बाजार की क्रियायें—बैंक दर नीति को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये रिजर्व बैंक खुले बाजार में सरकारी प्रतिभूतियों व प्रथम श्रेणी के बिलों और प्रतिज्ञा-पत्रों की खरीद बिक्री करता है। सन् १९५१ के पूर्व सदस्य बैंक (Scheduled Banks) आवश्यकता पड़ने पर रिजर्व बैंक को असीमित मात्रा मे सरकारी प्रतिभूतियां बेच कर धन प्राप्त कर लिया करते थे जिससे साख का प्रसार हो जाता था लेकिन १९५१ से उसने अपनी नीति में परिवर्तन कर लिया। इसके अनुसार अब वह बैंकों की सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति के

लिये सरकारी प्रतिभूतियाँ आदि नहीं खरीदेगा (विशेष दशाओं को छोड़कर), वरन् इन्हें स्वीकृत ऋण-पत्रों पर ही बैंक दर से ऋण देगा।

(३) बिल योजना—साख की मात्रा में आवश्यकतानुसार वृद्धि करने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने एक नई बिल योजना को कार्यान्वित किया। इसके अन्तर्गत वह सदस्य बैंकों को बिलों और प्रतिज्ञा-पत्रों के आधार पर कम से कम १० लाख रु० का ऋण देता था, इस पर ब्याज बैंक दर से ½% कम ही लेता था व मुद्रांक-कर का आधा भाग स्वयं वहन करता था। यह योजना बैंकों के लिये बहुत लाभप्रद सिद्ध हुई। इसके द्वारा एक ओर तो देश में बिल बाजार का अभाव दूर हुआ और दूसरी ओर साख को नियंत्रित करने का अधिक अवसर मिला।

(४) नगद कोष—रिजर्व बैंक के एक्ट के अनुसार सदस्य-बैंकों को अपनी माँग देयों का ५% और काल देयों का २% रिजर्व बैंक के पास जमा करना पड़ता है। रिजर्व बैंक नगद-कोष द्वारा साख-नियन्त्रण की नीति को अधिक प्रभावशाली नहीं बना पाया है, क्योंकि बैंकिंग संस्थायें शेष धन से ही पर्याप्त साख का निर्माण कर लेती हैं और रिजर्व बैंक के ऊपर इसके लिये निर्भर नहीं रहतीं। यदि रिजर्व बैंक को उक्त अनुपातों में परिवर्तन करने का अधिकार मिल जाय, तो वह इस परिवर्तन द्वारा बैंकों की साख-निर्माण शक्ति को अधिक प्रभावशाली नियंत्रण में रख सकता है।

(५) अन्य उपाय—

(i) प्रत्यक्ष कार्यवाही—रिजर्व बैंक किसी भी बैंक को किसी विशेष प्रकार के लेन-देन करने से मना कर सकता है, किसी भी मामले पर सलाह दे सकता है, किसी भी बैंक का निरीक्षण कर सकता है, कार्य-प्रणाली में पाये गये दोषों को दूर करने के हेतु दिये गये सुझावों का पालन करने का आदेश दे सकता है।

(ii) जनता से प्रत्यक्ष व्यवहार—वह विशेष दशाओं में राष्ट्र हित की दृष्टि से जनता को सीधे सरकारी प्रतिभूतियाँ आदि क्रय-विक्रय कर सकता है। इससे अन्य बैंक रिजर्व बैंक की नीति के विरुद्ध चलने का साहस नहीं कर सकते।

(iii) साख का राशनिंग—सन् १९४९ के बैंकिंग विधान के अन्तर्गत वह सब या किसी भी बैंक की ऋण-नीति निर्धारित कर सकता है, उसे वह बैंकों को यह आदेश दे सकता है कि अमुक कार्यों के लिये और अमुक ब्याज दर पर ही ऋण दें। चूँकि बैंक इन आदेशों का पालन करने के बाध्य हैं, इसलिए यह रीति बहुत सफल रही है।

(iv) प्रकाशन एवं नैतिक प्रभाव—रिजर्व बैंक देश की मुद्रा एवं साख की स्थिति से सम्बन्धित तथा अन्य अनेक आँकड़े संग्रह करता और प्रकाशित कराता है। वह समझाने बुझाने की रीति से बैंकों पर अपना नैतिक प्रभाव डालने में भी कुछ सीमा तक सफल रहा है।

मुद्रा व साख के नियन्त्रण की नीति कम प्रभावशाली क्यों?

अधिक साधन रखते हुए भी रिजर्व बैंक देश में मुद्रा और साख पर बहुत प्रभावशाली नियन्त्रण नहीं रख पाया है, क्योंकि (i) देश में अभी तक एक संगठित मुद्रा बाजार और बिल बाजार निर्मित नहीं होने पाया है, (ii) मजदूरी एवं मूल्य सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध लगे होने से देश का आर्थिक ढाँचा लोचदार नहीं है, (iii) स्वदेशी बैंकरों पर जो कि मुद्रा-बाजार का एक महत्वपूर्ण अंग है, रिजर्व बैंक का कोई नियन्त्रण नहीं है, और (iv) बैंकों के पास बहुत अधिक मात्रा में राशि जमा हो गई है, जिससे नगद कोष रिजर्व बैंक या अपने पास रखने के बाद भी शेष धन से

वह काफी मात्रा में साख का निर्माण कर लेते हैं तथा रिजर्व बैंक पर निर्भर नहीं रहते ।

अनुसूचित बैंकों को रिजर्व बैंक की सहायता

अनुसूचित बैंकों से आशय

रिजर्व बैंक की स्थापना के समय से देश के बैंकों का विभाजन दो श्रेणियों में हो गया है—प्रथम, अनुसूचीबद्ध बैंक, जिनका नाम रिजर्व बैंक आफ इंडिया एक्ट की धारा ४२ के अनुसार एक्ट की दूसरी अनुसूची में सम्मिलित कर लिया गया और केन्द्रीय सरकार द्वारा सदस्य बैंकों की सूची में गजट में प्रकाशित किया जाता है तथा दूसरे, अनुसूचीबद्ध बैंक (Non-Scheduled Banks) जिनका नाम उक्त द्वितीय अनुसूची में सम्मिलित नहीं किया गया है ।

रिजर्व बैंक के विरुद्ध अनुसूचीबद्ध बैंकों के अधिकार

रिजर्व बैंकों ने अनुसूचीबद्ध बैंकों को भी कुछ विशेष सुविधायें या अधिकार प्रदान किये हैं, जिनमें से मुख्य-मुख्य इस प्रकार है :—

(१) उन्हें अपने व्यापारिक बिल, साधारण बिल व प्रतिज्ञा-पत्रों की पुनः कटौती रिजर्व बैंक मे कराने का अधिकार है ।

(२) वे ट्रस्टी प्रतिभूतियों, सोना-चांदी तथा अन्य मान्य प्रतिभूतियों के आधार पर रिजर्व बैंक से ऋण ले सकते हैं । हां, रिजर्व बैंक पहले यह देख लेता है कि उनकी नीति देश-हित में है या नहीं ।

(३) इन्हें रिजर्व बैंक से धन के हस्तांतरण की शीघ्र व सस्ती सुविधायें पाने का अधिकार है ।

(४) रिजर्व बैंक उन्हें **समाशोधन गृह** की भी सुविधायें देता है ।

(५) आर्थिक संकट के काल में उन्हे रिजर्व बैंक से **उचित परामर्श** व उचित सहायता प्राप्त होती रहती है ।

रिजर्व बैंक के प्रति कर्त्तव्य

इन अधिकारों के साथ-साथ अनुसूचीबद्ध बैंकों के रिजर्व बैंक के प्रति कुछ कर्त्तव्य भी हैं :—

(१) प्रत्येक अनुसूचीबद्ध बैंक को अपने माँग-दायित्वों (Demand liabilities) का ५% और मियादी दायित्वों (Time liablities) का २% भाग रिजर्व बैंक के पास नगद जमा करना पड़ता है । नगद कोष की कमी पर उसे दण्ड स्वरूप ब्याज देना पड़ता है और वह नई जमायें प्राप्त करने से भी रोका जा सकता है ।

(२) उन्हें चाहिये कि प्रति सप्ताह रिजर्व बैंक के पास एक विवरण भेजें, जिसमें निम्न सूचनायें हों—बैंक की मांग-जमा और काल-जमा की मात्रा, पत्र मुद्रा तथा सरकारी पत्र-मुद्रा की मात्रा जो कि भारत में है, भारतीय रुपये व छोटे सिक्कों की मात्रा, बैंक द्वारा दिये गये ऋणों, अग्रिमों व पुनः कटौती किये गये बिलों की मात्रा, रिजर्व बैंक में जमा रकम, बैंक के पास नगद रुपये की मात्रा आदि । उक्त विवरण न भेजने पर १००) प्रति दिन दण्ड देना पड़ता है ।

(३) उन्हें रिजर्व बैंक के पास वे विवरण भी भेजने चाहिये जो कि बैंकिंग कम्पनीज एक्ट के अनुसार भेजना जरूरी है।

रिजर्व बैंक अनुसूचीबद्ध बैंकों से भी अपने सम्बन्ध बढ़ाने का प्रयास कर रहा है। विशेषत: उन अनुसूचीबद्ध बैंकों से जिनकी दत्त पूँजी और कोष मिला कर ५०,००० रु० से अधिक होती है। ५०,००० रु० से अधिक पूँजी वाले अनसूचीबद्ध बैंक कम्पनीज एक्ट के अनुसार रजिस्टर्ड होते हैं। इन्हें अपने वैधानिक विवरण (Statutory returns) की एक प्रति रिजर्व बैंक के पास भी भेजनी पड़ती है, रिजर्व बैंक के पास एक मासिक विवरण भी भेजना पड़ता है एवं अपनी मांग देय का ५% और काल देय का २% नगद कोष के रूप में अपने पास या रिजर्व बैंक के पास रखना पड़ता है। बदले में बैंक इन्हें भी धन के स्थानान्तरण की सुविधा देने लगा है, उन्हें कम से कम १०,००० रु० के अपने यहाँ खाते खोलने की अनुमति भी दे दी है जिसका प्रयोग समाशोधन के कार्य में होगा और यह उसका निरीक्षण भी कर सकता है। इस प्रकार रिजर्व बैंक का अनसूचीबद्ध बैंकों से भी दृढ़ सम्बन्ध स्थापित हो गया है।

गत दस वर्षों में रिजर्व बैंक के कार्यों की आलोचना

रिजर्व बैंक ने सन् १९३५ में अपना कार्य प्रारम्भ किया था और तब से कार्य करते हुये इसे २६ वर्ष बीत चुके हैं। इस अवधि में इसे अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है और अनेक दशाओं में वह कसौटी पर खरा उतरा है।

बैंक की सफलतायें

(१) **नोटों के निर्गमन-कार्य का सफल संचालन**—इसने नोटों के निर्गमन का कार्य पूर्णत: संतोषजनक ढंग से किया है। उसने नोट निर्गमन कोष में स्वर्ण के सिक्के तथा स्वर्ण पाट की मात्रा कभी भी ४० करोड़ रुपये से कम नहीं होने दी है, वरन् सन् १९४८-४९ तक यह इससे अधिक ही रही है। रुपया प्रतिभूतियाँ (Rupee securities) भी कुल देय धन के १/४ से अधिक नहीं रही हैं। सन् १९४९ में जब इनसे सम्बन्धित नियमों में संशोधन हो गया तब ही से यह अनुपात घटा है।

(२) **सुलभ मुद्रा नीति**—प्रारम्भ से ही रिजर्व बैंक ने सुलभ मुद्रा नीति को अपनाया है, जिससे भारतीय व्यापार, उद्योग एवं कृषि की बढ़ती हुई वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने में बहुत सहायता मिली है। इस प्रकार भारतीय मुद्रा बाजार में प्रचलित ब्याज दरें नीची रखने का श्रेय रिजर्व बैंक को ही है।

(३) **विशेष सुविधाओं में वृद्धि**—सरकार, जनता, सदस्य बैंकों, सहकारी समितियों और कुछ शर्तों के पूरा करने पर असदस्य बैंकों को भी इसने धन को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने में व्यापक सुविधायें प्रदान की हैं। इस समय ये दरें मुद्रा बाजार की दशा को देखने हुए बहुत कम हैं। ५,००० रु० तक यह दर १/३२% (न्यूनतम १ रु०) और ५,००० रु० से ऊपर १/६४% है।

(४) **ब्याज दरों के उच्चावचनों में कमी**—रिजर्व बैंक को ब्याज की दरों के विभिन्न ऋतुओं में होने वाले परिवर्तनों को भी बहुत कुछ कम करने में सफलता

मिली है। बैंकों की तत्कालीन ब्याज की पारस्परिक दरें साधारण ¼ और ½ के ही बीच रही है।

(५) **सार्वजनिक ऋणों की सुव्यवस्था**—सरकार के बैंकर के रूप में रिजर्व बैंक ने सार्वजनिक ऋणों (Public debts) का बहुत अच्छी तरह से प्रबन्ध किया है। वह सरकारों को बहुत कम ब्याज पर ऋण दिलाने मे समर्थ हुआ। वास्तव में यूनियन सरकार के ऋण ३½% तथा राज्य एवं म्यूनिस्पल ऋण ४% ऋण पर जारी करने में महान् सफलता प्राप्त की है।

(६) **बैंकिंग विधान का निर्माण**—बैंकिंग विधान के निर्माण मे रिजर्व बैंक ने सराहनीय योग दिया है। इसके अन्तर्गत तथा रिजर्व बैंक एक्ट के अन्तर्गत उसे जो अधिकार मिले है उनका प्रयोग करके उसने एक सुदृढ़ और सुव्यवस्थित बैंकिंग प्रयोग का निर्माण किया है तथा भारतीय बैंकों के दोष शनैः शनैः दूर होते जा रहे है।

(७) **बैंकों की आर्थिक सहायता**—रिजर्व बैंक ने अन्तिम ऋणदाता के रूप में आर्थिक संकट के समय बैंकों की आर्थिक सहायता करके उन्हें टूटने से बचाया है।

(८) **विनिमय दर में स्थिरता**—देश की विनिमय दर में स्थिरता बनाये रखने का श्रेय भी रिजर्व बैंक को ही है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से सम्बन्ध स्थापित करके इसने रुपये के वाह्य मूल्य को स्थायी रखा है। उसने भारत के विदेशी विनिमय कोषों की सावधानी से रक्षा की है। युद्धकाल में भारत की पौंड-पावने के रूप में बहुत बड़ी राशि एकत्र हो गई थी, जिसके प्रबन्ध की जिम्मेदारी रिजर्व बैंक पर ही थी।

(९) **कृषि अर्थ-व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण योगदान**—कृषि साख सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन के लिये उसने आरम्भ से ही कृषि साख विभाग स्थापित किया था, जिसके कार्यों की सभी ने प्रशंसा की है। रिजर्व बैंक ने एक निर्देशन कमेटी (Committee of direction) नियुक्त की थी जिसने अखिल भारतीय ग्रामीण साख की रिपोर्ट तैयार की है। यह रिपोर्ट सन् १९५४ में प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट की अनेक सिफारिशों को रिजर्व बैंक ने कार्यान्वित कर दिया है। प्रस्तावित नई योजना के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी है। सहकारी समितियों के विकास की योजना बनाते समय प्रत्येक राज्य सरकार उससे परामर्श लेती है। बैंक ने दो कोष स्थापित किये है :—राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष १० करोड़ रु० की प्रारम्भिक राशि से तथा राष्ट्रीय साख (स्थानीयकरण) कोष १ करोड़ रुपये से। अब इनमें क्रमशः ६१ करोड़ व ७ करोड़ रु० जमा हो गये हैं। इन कोषों में काफी ऋण दे भी दिये गये है इस प्रकार रिजर्व बैंक कृषि साख की व्यवस्था करने मे और भी अधिक प्रयत्नशील हो गया है।

(१०) **औद्योगिक वित्त-व्यवस्था**—रिजर्वबैंक के सहयोग से एवं उसके पथ-प्रदर्शन के अन्तर्गत उद्योगों के लिए दीर्घकालीन ऋणों की व्यवस्था करने के हेतु औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना हुई है।

(११) **खोज एवं अनुसंधान**—रिजर्व बैंक के खोज एवं अनुसंधान विभाग ने भी बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसने मुद्रा, साख, कृषि, उत्पादन, लाभांश, ब्याज की दरें तथा मुद्रा बाजार आदि अनेक विषयों पर अनुसंधान किये हैं।

(१२) **आंकड़ों का संग्रह व प्रकाशन**—आंकड़ों के जमा करने तथा उनका प्रकाशन करने में रिजर्व बैंक का भारी महत्व है।

(१३) **मुद्रा, साख तथा बैंकिंग पर उचित नियन्त्रण**—विभिन्न अधिकारों के द्वारा रिजर्व बैंक ने मुद्रा, साख और बैंकिंग व्यवस्था पर अच्छा नियन्त्रण कर रखा है। अब मुद्रा एवं साख नीतियों का समन्वय हो गया है तथा व्यापारिक बैंकों पर रिजर्व बैंक का कड़ा नियन्त्रण स्थापित है।

(१४) **पंचवर्षीय योजनाओं का अर्थ-प्रबन्धन**—गत कुछ वर्षों से रिजर्व बैंक पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत विभिन्न विकास कार्यक्रमों के वित्त-प्रबन्धन में महत्वपूर्ण योग दे रहा है। रिजर्व बैंक के माध्यम से ही भारत सरकार घाटे के अर्थ प्रबन्धन की नीति को कार्यान्वित करती रही है।

रिजर्व बैंक की विफलतायें

निस्संदेह रिजर्व बैंक की सफलताओं की सूची काफी बड़ी है किन्तु इसके विरुद्ध कुछ आरोप भी हैं :—

(१) **देशी बैंकिंग प्रणाली से सप्रभाविक सम्बन्ध का अभाव**—देशी बैंकरों से, जो कि भारतीय मुद्रा बाजार का एक महत्वपूर्ण अंग है, रिजर्व बैंक प्रत्यक्ष और सप्रभाविक सम्बन्ध स्थापित करने में अभी तक सफल नहीं हो पाया है। इस हेतु कई योजनायें समय-समय पर प्रस्तुत की गई हैं किन्तु किसी को भी कार्यान्वित नहीं किया गया।

(२) **बैंकिंग संकटों को दूर करने में केवल आंशिक सफलता**—यद्यपि रिजर्व बैंक ने यथासमय सहायता देकर कितने ही बैंकों को फेल होने से बचाया है तथापि बैंकिंग संकटों को वह अभी तक पूर्णतः दूर नहीं कर सका है। पलाई बैंक और लक्ष्मी बैंक की घटनायें इसका ताजा उदाहरण हैं।

(३) **रुपये के आंतरिक मूल्य में अस्थिरता**—यह आरोप भी लगाया गया है कि रिजर्व बैंक भारतीय चलन (रुपये) के आन्तरिक मूल्य में स्थिरता रखने में असफल रहा है। दूसरे महायुद्ध के समय (१९३९-१९४५) में नोटों की मात्रा बहुत बढ़ गई। परिणाम यह हुआ कि रुपए का आन्तरिक मूल्य बहुत गिर गया और देश में कीमत-स्तर बहुत बढ़ गया, जिससे जनता को भारी संकट झेलने पड़े। अतः आलोचकों का कहना है कि रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति असफल रही है। (इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि रिजर्व बैंक को ही उक्त नीति के दोष के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। वास्तव में भारत की परतन्त्रता के कारण ब्रिटिश सरकार ने रिजर्व बैंक की उस धारा का लाभ उठाया, जिसके अन्तर्गत रिजर्व बैंक स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के आधार पर नोट जारी रख सकता था। परन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात् यह स्थिति अब बदल गई।)

(४) **समुचित बिल बाजार के विकास में असमर्थता**—बिल बाजार योजना (Bill Market Scheme) देश में एक बिल बाजार की स्थापना करने में वास्तविक सफलता नहीं प्राप्त कर सकी है। बिल बाजार के लिये ऐसे व्यवहारियों (Dealers) का होना आवश्यक है जो कि सदैव ही बिलों का क्रय-विक्रय करने को तैयार

हों तथा बिलों का क्रय-विक्रय भी होना चाहिए। किन्तु ये विशेषतायें उक्त योजना में नही पाई जाती हैं।

(५) **कृषि साख की अपर्याप्त व्यवस्था**—रिजर्व बैंक के विरुद्ध यह भी आरोप लगाया जाता है कि वह अभी तक कृषि-साख की उचित व्यवस्था नही कर पाया है। वह उन संस्थाओं पर भी (जैसे महाजन, देशी बैंकर व सहकारी बैंक आदि) नियंत्रण नही कर सका है जोकि कृषि साख में भाग लेती हैं।

(६) **विदेशी विनिमय व्यवसाय में भारतीय बैंकों का कम भाग**—अभी तक रिजर्व बैंक भारतीय ज्वाइन्ट स्टाक बैंकों को विदेशी विनिमय के व्यवसाय में उचित भाग नहीं दिला सका है। यद्यपि विदेशों में कुछ बैंकों की शाखायें खुली है, तथापि यह प्रगति अधिक नहीं कही जा सकती है।

(७) **प्रचलित ब्याज-दरों में अनुरूपता का अभाव**—भारतीय मुद्रा बाजार में जो विभिन्न ब्याज दरें प्रचलित हैं उनमे अनुरूपता (Uniformity) स्थापित करने में भी बैंको को अधिक सफलता नहीं मिली है।

निष्कर्ष

इन सब विफलताओं और दोषों के होते हुए भी हम यह निःसंकोच कह सकते है कि रिजर्व बैंक ने देश में आर्थिक स्थायित्व का एक नया युग आरम्भ किया है।

३० जून १९६२ को समाप्त हुए वर्ष के लिये रिजर्व बैंक सम्बन्धी महत्वपूर्ण तथ्य एवं आंकड़े

(१) विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण रिजर्व बैंक विदेशी विनिमय कोष तेजी से घटने लगे तथा विदेशी सम्पत्तियाँ १०० करोड़ रु० से भी कम रह गई। अतः इस कठिनाई को पार करने के लिये बैंक ने नये वित्तीय वर्ष मे १०० मि० डालर का ऋण अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से लेने की व्यवस्था की है।

(२) रिजर्व बैंक के मुद्रा प्रसार विरोधी प्रयत्नों के कारण इस वर्ष मूल्य-स्तर में १% ही वृद्धि हुई जबकि गत वर्ष २·६% वृद्धि हुई थी और इससे भी पिछले वर्ष में ६·४% वृद्धि हुई थी। इससे प्रगट होता है कि मुद्रा की मांग और पूर्ति में अन्तर कम होता जा रहा है।

(३) बैंक डिपाजिटों में करैन्सी की अपेक्षा अधिक वृद्धि हुई। इससे बैंकों को अपने साधन सुदृढ़ करने मे सहायता मिली।

(४) १ अक्टूबर १९६० को उधार-दरों की जो त्रिसूत्री चलाई गई थी वह इस वर्ष भी जारी रखी गई। १ जुलाई १९६२ को एक चौ-सूत्री प्रणाली (Four tier system) से इसे प्रतिस्थापित कर दिया गया। इसके फलस्वरूप अब बैंकों को रिजर्व बैंक से ऋण लेने की लागत ½% बढ़ गई। मंहगी मुद्रा की यह नीति न्यून पूंजी साधनों का सदुपयोग करने के लिये उचित ही थी। 'चुनीदा साख नीतियाँ (Selective Credit Policies) पहले की तरह अपनाई जाती रहीं तथा बैंकों द्वारा

अधिक साख देने के संदर्भ में बैंकिग प्रणाली को मजबूत बनाने के लिये तरलता अनुपात ऊँचा किया गया। बैंकिग प्रणाली के पूंजी कोष अनुपात में तेजी से हुई कमी को ध्यान में रखते हुए यह निर्णय हुआ कि भारतीय बैंक अपने घोषित लाभों का कम से कम २०% कोषों में तब तक हस्तांतरित करते रहेंगे जब तक कि पूंजी कोष अपने डिपाजिटों के ६% तक न पहुँच जायें। व्यय को घटा कर एवं विनिमय *नियन्त्रण की दुर्बलताओं को दूर करके विदेशी विनिमय की मितव्ययिता के लिये* यात्रा सम्बन्धी नियमों को कड़ा किया गया।

(५) १ मार्च १९६२ मे श्री पी० सी० भट्टाचार्य को ५ वर्ष के लिये रिजर्व बैंक का गवर्नर बनाया गया।

(६) बैंक की यह नीति है कि प्रत्येक राज्य में अपना एक पूर्ण व एकीकृत कार्यालय रखे। इस दिशा मे भूमि के क्रय तथा भवन निर्माण के प्रयत्न प्रत्येक राज्य में चल रहे हैं।

(७) कृषि साख विभाग के ३ क्षेत्रीय कार्यालय (हैदराबाद, जयपुर व गौहाटी) मे खोले गये है। १ दिसम्बर १९६१ को अहमदाबाद में विनिमय नियन्त्रण विभाग का एक कार्यालय खोला गया है तथा २ अप्रैल १९६२ को एक सार्वजनिक ऋण कार्यालय (Public Debt Office) नागपुर में खोला गया था। इसके क्षेत्र में संपूर्ण म० प्र० तथा महाराष्ट्र के १३ जिले होंगे।

(८) ३० जून १९६२ को समाप्त होने वाले वर्ष में बैंक को ५३·९८ करोड़ रु० की आय हुई थी तथा १०·४८ करोड रु० के व्यय हुए थे। इस प्रकार, रिजर्व *बैंक का लाभ (जो केन्द्रीय सरकार को मिलता है) ४३·५० करोड़ रु० हुआ। यह* गत वर्ष से १ करोड़ रु० अधिक है।

(९) व्यापारिक एवं सहकारी बैंको के लिये कर्मचारी वर्ग की ट्रेनिंग व शिक्षा का संगठन व संवर्धन करने की नीति के अन्तर्गत बैंक ने विभिन्न श्रेणियों के कर्मचारियो के लिये उपयुक्त कोर्स चलाने जारी रखे हैं। बैंकर्स ट्रेनिंग कालिज (सन् १९५४ मे स्थापित) ने अभी तक ३७ सीनियर कोर्स चलाये हैं जिनमे ९२९ अधि-*कारियो ने भाग लिया था। सब मैनेजरों, अकाउन्टेन्टों आदि के लिये अभी तक ९* इन्टरमीडियेट कोर्स चलाये गये हैं जिनसे अब तक २०० विद्यार्थी लाभ उठा चुके हैं। विभिन्न राज्य वित्त निगमों के ४३ अधिकारियों के लिए आठ-आठ सप्ताह के दो कोर्स चलाये गये थे। बैंकर्स ट्रेनिंग कालिज की शिक्षण सुविधाओं का लाभ अब न केवल अनुसूचित बैंक ही उठाते हैं वरन् ५ लाख से २५ लाख तक के डिपाजिट वाले अ-सूचित बैंक भी लाभ उठाने के अधिकारी हो गये हैं। सहकारी शिक्षा विषयक सेंट्रल कमेटी की स्टेंडिंग सब कमेटी के सुझाव पर शीर्ष बैंकों व केंद्रीय बैंकों को भी यह अधिकार प्राप्त हो गया है कि वे व्यापारिक बैंकिग सम्बन्धी ट्रेनिंग पाने के लिए उक्त कालिज मे अपने अधिकारी भेजें।

(१०) रिजर्व बैंक द्वारा सन्. १९६१ मे आयोजित सेमिनार के सुझाव पर *बैंकर्स ट्रेनिंग कालिज की एडवाइजरी काउन्सिल ने निम्न निर्णय किये है :—(i)* विदेशी विनिमय विषयक एक विशेष कोर्स (अवधि ६ सप्ताह) चलाना, (ii) सीनियर कोर्स की अवधि ९ से बढ़ाकर १० सप्ताह करना तथा औद्योगिक वित्त, स्टाफ प्रबन्ध एव बैंक अग्रिम विषयक नए विषय सीनियर कोर्स के पाठ्य-क्रम में सम्मिलित करना।

परीक्षा प्रश्न

(१) रिजर्व बैंक ग्राफ इण्डिया की स्थापना क्यों की गई ? इम्पीरियल बैंक ग्राफ इण्डिया को ही देश के केन्द्रीय बैंक के रूप में परिणित क्यों नहीं किया गया ?

(२) रिजर्व बैंक ग्राफ इंडिया के राष्ट्रीयकरण के कारणों पर प्रकाश डालिए।

(३) भारत के केन्द्रीय बैंक के वर्तमान संगठन एवं प्रबन्ध पर एक लघु नोट लिखिये।

(४) रिजर्व बैंक ग्राफ इंडिया के केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्यों पर प्रकाश डालिये और इसके वर्जित कार्य बताइए।

(५) 'अनुसूचित बैंक' किसे कहते हैं ? रिजर्व बैंक से इनका क्या सम्बन्ध है ?

(६) साख का नियन्त्रण करने के लिए रिजर्व बैंक के पास कौन-कौन से साधन उपलब्ध हैं ? इन साधनों का प्रयोग उसने किस सीमा तक किया है तथा उसमें कितनी सफलता प्राप्त की है ?

(७) भारत में रिजर्व बैंक ग्राफ इंडिया की सफलताओं और विफलताओं पर संक्षिप्त प्रकाश डालिये।

अध्याय १३.

भारत एवं अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थायें
(India & International Monetary Institutions)

प्रारम्भिक

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक—ये दो संस्थायें मौद्रिक-जगत में विभिन्न राष्ट्रों के अपूर्व सहयोग का ज्वलन्त उदाहरण हैं। यद्यपि इन संस्थाओं की स्थापना सन् १६४४ में हुई थी तथापि इनकी प्रेरक परिस्थितियों का सूत्रपात प्रथम महायुद्ध के बाद से ही आरम्भ हो गया था। ये परिस्थितियाँ निम्न थीं—

(i) प्रथम महायुद्ध के पूर्व विश्व के मुख्य-मुख्य देशों में स्वर्णमान प्रचलित था, जिससे उत्पादन और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बहुत प्रोत्साहन मिला, किन्तु युद्धकाल में इसका परित्याग कर दिया गया। युद्ध समाप्त होने पर इसे पुनः अपनाने के भरसक प्रयत्न किये गये, किन्तु विभिन्न राष्ट्रों की परिस्थितियों में इतना मौलिक परिवर्तन हो गया था कि इन प्रयत्नों को सफलता नहीं मिली।

(ii) युद्धकालीन मुद्रा प्रसार के कारण सभी देशों की आर्थिक अवस्था बिगड़ गई। अनेक देशों ने अपने यहाँ अत्यधिक मात्रा में अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा चलाई, जिससे कीमतों में बहुत उथल-पुथल हुई। विभिन्न देशों के मूल्य-स्तरों में बहुत असमानता उत्पन्न हो गई। इससे विदेशी व्यापार को बहुत ठेस पहुँची और आन्तरिक व्यापार में बहुत कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गईं।

(iii) प्रत्येक देश, दूसरे देश के हितों का ध्यान रखे बिना, स्वार्थपूर्ण आर्थिक नीति अपना रहा था। यदि कुछ देशों ने विनिमय अवमूल्यन द्वारा निर्यात में वृद्धि करनी चाही, तो अन्य देशों ने आयात-नियंत्रण लगा दिये। इस प्रकार एक दूसरे की देखादेखी सभी देश एक दूसरे का गला काटने पर तैयार थे। इस काल में मौद्रिक सहयोग के स्थान पर परस्पर प्रतिस्पर्द्धा का बोलबाला था। प्रत्येक देश दूसरों को धोखा देकर अपना उल्लू सीधा करना चाहता था।

(iv) युद्धकाल में मानव सम्पत्ति का इतना विनाश हो गया कि युद्धोत्तर काल में पुनर्निर्माण एवं पुनर्वास की समस्याओं से सभी राष्ट्र घबड़ाये हुये थे।

यह स्पष्ट था कि इन समस्याओं को अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, विदेशी व्यापार के विस्तार और अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के समुचित प्रवाह के बिना हल करना सम्भव न था। साथ ही साथ यह भी स्पष्ट हो गया कि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान को अपनाना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है। अतएव एक ऐसी नई व्यवस्था की आवश्यकता थी जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से यथेष्ठ लोच रहे और मौद्रिक अनुशासन भी निभे।

इस सम्बन्ध में विभिन्न देशों ने अपनी-अपनी योजनायें विश्व के सामने रखीं जिसमें ब्रिटेन की कीन्स योजना, अमेरिका की व्हाइट योजना और कनाडा की कनेडियन योजना प्रमुख थी। इन पर विचार करने के लिए जुलाई सन् १९४४ में अमेरिकन सरकार ने ब्रेटेन वुड्स (Bretten Woods) नामक स्थान पर एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद बुलाई, जिसमें ४४ मित्र देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस परिषद के विचार विमर्श और सुझावों के फलस्वरूप दो संस्थाओं की स्थापना हुई—(i) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, जिसे संक्षेप में मुद्रा कोष (I. M. F.) भी कहा जाता है, और (ii) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक, जिसे संक्षेप में अन्तर्राष्ट्रीय या विश्व बैंक (World Bank or I. B. R. D.) भी कहते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
(International Monetary Fund)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य

कोष के चार्टर में कोष के उद्देश्यों को निम्न प्रकार बताया गया है :—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को बढ़ावा देना—यह अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के लिए सब राष्ट्रों को परामर्श का अवसर देगा और उनके सहयोग का समाधान ढूंढेगा।

(२) विनिमय दरों के स्थायित्व को प्रोत्साहन देना—कोष अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का ठोस विकास करने के हेतु विनिमय दरों में स्थायित्व लाने का प्रयास करेगा लेकिन विनिमय दरों की स्थायित्व सम्बन्धी नीति में अत्यधिक कठोरता (Rigidity) नहीं होगी और सदस्य देशों को अपनी करेंन्सियों के सम-मूल्यों (Par values) में उचित मात्रा में परिवर्तन करने एवं लोच रखने की अनुमति होगी।

(३) विनिमय नियन्त्रणों को हटवाना—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देने के लिए कोष सभी प्रकार के विनिमय नियन्त्रणों एवं करेंन्सियों के प्रतिस्पर्धात्मक अवमूल्यन को निरुत्साहित करेगा। अतः कोष के नियमों में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि कोई भी सदस्य देश कोष की अनुमति के बिना चालू अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिये भुगतान व हस्तान्तरण करने पर प्रतिबन्ध नहीं लगायेगा।

(४) संकट काल में सदस्यों की सहायता—कोष का उद्देश्य संकट काल में सदस्य देशों को आश्वस्त करना भी है और इस हेतु वह उनको अल्पकालीन मौद्रिक सहायता देगा।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के अन्तर की विषमताओं को दूर करना—सदस्य देशों के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के सन्तुलन में अस्थाई विषमताओं की अवधि को तथा उनकी मात्रा को कम करने के लिए कोष उन्हें मौद्रिक सहयोग देगा।

(६) बहुपक्षीय भुगतान व व्यापार पद्धति का विस्तार करना—मुद्रा कोष द्विपक्षी समझौतों (Bilateral Agreements) के स्थान में भुगतान व व्यापार सम्बन्धी बहु-पक्षीय समझौते कराने की सुविधायें देगा।

(७) लाभ के कोषों में पूंजी लगाना—कोष का उद्देश्य एक देश से दूसरे देश में दीर्घकालीन पूंजी को लाभप्रद कार्यों में लगाने में मदद करना है।

(८) राष्ट्रों के सन्तुलित विकास में सहायता करना—इस हेतु कोष सदस्यों को दूसरे राष्ट्रों की मुद्रायें उधार देता है।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का मुख्य उद्देश्य एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा पद्धति को जन्म देना है, जिसमें लोच और व्यावहारिकता हो, जो अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय दरों में स्थायित्व ला सके और सदस्य राष्ट्रों की अल्पकालीन साख आवश्यकताओं को पूरा कर सके।

मुद्रा कोष का संगठन एवं प्रबन्ध

(१) कोष के कार्य संचालन के लिये (i) एक बोर्ड आफ गवर्नर्स (Board of Governors) (ii) बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स (Board of Directors), मैनेजिंग डाइरेक्टर तथा (iii) अन्य स्टाफ होता है।

(२) सदस्यता—जिन देशों ने ब्रेटनवुड्स कान्फ्रेंस में भाग लिया था या जिन्होंने ३१ दिसम्बर सन् १९४५ से पहले कोष की सहायता स्वीकार कर ली थी वे देश इस कोष के मूल सदस्य (Original members) कहलाते हैं। जिन देशों ने तब इसकी सदस्यता ग्रहण नहीं की थी उन्हे बाद मे भी इस कोष मे सम्मिलित होने की छूट रखी गई है।

(३) प्रधान कार्यालय—कोष का प्रधान कार्यालय सबसे अधिक कोटे वाले देश (इस समय अमेरिका, क्योंकि उसका कोटा सबसे अधिक है) में रखा जायगा। कोष की शाखायें किसी भी सदस्य देश में खोली जा सकती हैं।

(४) कोष की पूंजी—प्रत्येक सदस्य देश को कोष की पूंजी में से एक निश्चित भाग या कोटा दिया गया है, जिसे बदला भी जा सकता है। कोटे की कुछ रकम स्वर्ण और कुछ रकम स्वदेशी करेंन्सी में देनी होती है। मुद्राकोष का कुल सोना किसी एक स्थान में नहीं रखा जाता। इसका ५०% स्वर्ण तो उस स्थान में रखा जाता है जिसका निर्देश सबसे अधिक कोटे वाला देश करे और कम से कम बाकी ४०% उन अगले चार देशों में रखा जायगा जिनके कोटे अधिक हैं। मुद्रा के रूप में सदस्यों से जो कोटा प्राप्त होता है वह अन्तर्राष्ट्रीय कोष के नाम से उस देश की केन्द्रीय बैंक में ही जमा करा दिया जाता है। निम्न चार्ट से कोष की पूंजी संरचना अधिक स्पष्ट हो जायेगी :—

कोष की कुल पूंजी
(८८ मिलियन डालर)

↓ ७·० मि० डालर
सदस्य देशों की करेंन्सियों व प्रतिभूतियों के रूप मे

↓ १·८ मि० डालर
स्वर्ण के रूप में

↓ ५०%
अमेरिका में रखा हुआ

↓ ४०%
इंगलैंड, चीन, फ्रांस व रूस के केन्द्रीय बैंकों मे जमा

↓ १०%
अन्य स्थानो मे जमा
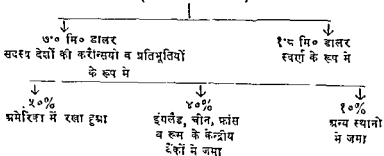
मुद्रा कोष की कार्य प्रणाली

कोष के कार्य संचालन से सम्बन्धित मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार हैं :—

(१) स्वर्ण के द्वारा प्रत्येक राष्ट्र की मुद्रा के सम-मूल्य का निर्धारण—जब कोई देश कोष का सदस्य बनता है, तो उसे कोष से डालर या सोने में अपनी मुद्रा का मूल्य घोषित करना पड़ता है। इससे विभिन्न देशों की विनिमय दरों के आपस में निर्धारण करने में कोई कठिनाई नहीं होती है। अर्थात् संसार के विभिन्न देशों की करेन्सियों के विनिमय की सम-मूल्य दरें (Par values) निश्चित हो जाती हैं।

(२) समता-दरों में परिवर्तन की सुविधा—किन्तु कोष ने स्वर्णमान की तरह विनिमय दर को कठोर (rigid) नहीं बनाया है वरन् इसमें परिवर्तन करने की सुविधा भी दी है। यदि कोई देश चाहे तो अपनी मुद्रा के प्रारम्भिक सम-मूल्य को १०% कम या अधिक कर सकता है। इतने परिवर्तन के लिये उसे कोष से केवल परामर्श करना होगा अर्थात् कोष की स्वीकृति के बिना परिवर्तन किया जा सकता है। किन्तु, यदि कोई देश इस सीमा से अधिक परिवर्तन करना चाहता है, तो इसके लिये उसे कोष की स्वीकृति लेनी होगी। यदि कोष को यह विश्वास हो जाय कि उस देश के संतुलन में कोई गम्भीर मौलिक विषमता (Fundamental disequilibrium) विद्यमान है, तो वह सम्बन्धित देश अपनी करेन्सी के विनिमय मूल्य में घटा-बढ़ी करने की स्वतन्त्रता दे देता है। इस प्रकार अब स्पर्धात्मक विनिमय अवमूल्यन की संभावनायें कम हो गई हैं। उचित आधार देख कर ही कोष ने भारत को सन् १९४९ में अपनी करेन्सी का ३०.५% अवमूल्यन करने की अनुमति दे दी थी।

(३) अस्थाई सन्तुलन के लिए विदेशी मुद्रा का ऋण देना—करेन्सियों के सम-मूल्य में घटा-बढ़ी को रोकने के लिये मुद्रा कोष सम्बन्धित देशों को अपने भुगतान की विषमता का सुधार करने में सहायता भी देता है। उदाहरण के लिये यदि किसी देश का भुगतान सन्तुलन में घाटा है तो कोष उस देश को वह विदेशी मुद्रा एक निर्दिष्ट विनिमय दर पर बेचेगा जिसकी उसे आवश्यकता है। इससे वह देश अपना विदेशी दायित्व चुका सकता है। इस प्रकार कोष घाटे का भुगतान सन्तुलन रखने वाले देशों को इतनी मोहलत मात्रा (Breathing space) देता है जिससे व उसका सुधार कर सकें। किन्तु, जब भुगतान सन्तुलन की स्थिति में विषमता किसी मौलिक कारण से हो तो कोष उस देश से अपनी अर्थ-व्यवस्था में उचित परिवर्तन करने के लिये कहेगा।

(४) सदस्यों द्वारा विदेशी मुद्रा लेने पर प्रतिबन्ध—कोष के पास अल्प-मुद्रायें जल्द समाप्त न हों, सदस्य देश स्वयं अपनी दशा को सुधारने का प्रयत्न भी करें तथा कोई भी सदस्य बिना आवश्यकता या बार-बार कोष से विदेशी विनिमय न खरीदें, इसलिये निम्न व्यवस्थायें की गई हैं :—

(i) किसी भी समय कोष के पास किसी सदस्य-देश की मुद्रा की मात्रा उसके कोटे के २००% से अधिक नहीं होना चाहिये।

(ii) कोई देश १२ महीनों के अन्दर मुद्रा कोष से अपनी मुद्रा के बदले में अपने कोटे के २५% से अधिक नहीं खरीद सकता।

(iii) जैसे-जैसे मुद्रा कोष का ऋण बढ़ता जाता है वैसे-वैसे ऋण सदस्य को निरन्तर बढ़ती हुई दरों पर ब्याज देना पड़ता है।

(५) कोष द्वारा अपने साधनों को तरल (*Liquid*) रखने के उपाय—यदि ऋणी देश अपनी मुद्रा के बदले में विदेशी मुद्रायें खरीदते चले जायें, तो यह संभव है कि कोष के पास ऐसी मुद्राओं का बाहुल्य हो जाय जिनकी माँग कम है और ऐसी मुद्राओं की कमी हो जाय जिनकी माँग अधिक है। यदि ऐसा हुआ, तो कोष एक सुरक्षित कोष का कार्य नहीं कर सकेगा। अतः यह जरूरी है कि कोष अपने साधनों को तरल रूप में रखे। इसके लिये उपाय किये गये हैं—(i) सदस्य देश सोने के बदले में कोई भी विदेशी मुद्रा खरीद सकते हैं, (ii) यदि किसी सदस्य देश की मुद्रा कोष के पास उसके कोटे से अधिक है; तो वह आधिक्य को स्वर्ण देकर वापस खरीद सकता है, और (iii) प्रत्येक देश को कोष के पास रखी हुई अपनी मुद्रा का कुछ भाग स्वर्ण या परिवर्तनीय मुद्रा देकर प्रतिवर्ष पुनः खरीदना होगा।

यह सम्भव है कि किसी देश की मुद्रा की पूर्ति कम हो जाय। पूर्ति कम होने का अर्थ यह है कि वह देश बहुत अधिक निर्यात कर रहा है और आयात बहुत कम। जो देश निरन्तर अनुकूल भुगतान संतुलन का अनुभव कर रहा है तो वह विनिमय दरों की स्थिरता में रोड़ा अटकाने का उतना ही दोषी है जितना कि वह देश जोकि अत्यधिक घाटे वाले भुगतान संतुलन रखता है। इन दोनों ही प्रकार के देशों से विश्व व्यापार की स्वतन्त्रता को गम्भीर ठेस लगती है। अतः मुद्रा-कोष अनुकूल भुगतान स्थिति वाले देश से अपनी करेन्सी का अवमूल्यन करने के लिये कहता है ताकि स्थिति में सुधार हो सके। इस हेतु कोष उसकी मुद्रा को 'दुर्लभ मुद्रा' (Scarce Currency) घोषित कर देता है और तब सम्बन्धित देश का यह कर्तव्य हो जाता कि वह अपनी करेन्सी का अवमूल्यन करदे ताकि उस देश में लागते और व्यय बढ़ जाँय तथा निर्यात घट कर आयातों में वृद्धि होने लगे। इस प्रकार उसकी दुर्लभ मुद्रा की पूर्ति बढ़ने लगेगी।

(६) मुद्रा कोष की योजना में स्वर्ण का स्थान—मुद्रा कोष की योजना में स्वर्ण को *यह स्थान दिया गया है—(i) प्रत्येक सदस्य देश को अपने कोटे का* २५% या अपने पास के सोने का १०% सोना कोष में जमा करना पड़ता है, (ii) प्रत्येक देश की मुद्रा का मूल्य सोने में परिमापित होता है, जिसके आधार पर विदेशी विनिमय दरें निर्धारित की जाती हैं। कोष की अनुमति से इसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकता है, (iii) यदि कोष को अपने पास किसी भी देश की करेन्सी का अभाव प्रतीत हो, तो उसे वह सोना देकर खरीद सकता है, और (iv) कोष ने स्वर्ण का मूल्य ३५ डालर प्रति विशुद्ध औंस निश्चित किया है। *संक्षेप में* **स्वर्ण को अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य स्तर तथा विनिमय दरों का आधार बना दिया गया है।**

(७) केन्द्रीय बैंकों का बैंक—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को विश्व के विभिन्न देशों के 'केन्द्रीय बैंकों का बैंक' (Central Bank's Bank) कहा जा सकता है, क्योंकि जिस प्रकार देश का केन्द्रीय बैंक वहाँ के व्यापारिक बैंकों के नगद कोष (Cash Reserves) अपने पास एकत्र कर लेता है, उसी प्रकार मुद्रा कोष भी सदस्य-देशों के केन्द्रीय बैंकों के साधनों को एक जगह एकत्र करता है।

(८) संक्रान्ति काल में सुविधायें—मुद्रा कोष का उद्देश्य विश्व व्यापार की वृद्धि के हेतु विनिमय नियन्त्रणों को हटवाना है लेकिन उसने यह भी अनुभव किया कि युद्ध कालीन अर्थ-व्यवस्था को शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था में बदलने में कुछ समय लगेगा और इस बीच विनिमय नियन्त्रण सहसा ही नहीं हटाये जा सकते। अतः उसने परिवर्तन काल में सदस्य राष्ट्रों को विनिमय नियन्त्रण जारी रखने की छूट दे दी थी; किन्तु साथ ही यह आशा भी प्रकट की थी कि ये शीघ्रातिशीघ्र हटा लिये जायेंगे।

प्रत्येक देश को अपने विनिमय नियन्त्रणों के बारे में अपना मत कोष के सामने रखने का अधिकार है। यदि कोष और सदस्य-देश के मध्य विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी मतभेद सन्तोषपूर्ण ढंग से हल न हों, तो सदस्य देश को कोष से अलग होना पड़ेगा।

(६) आय का विभाजन—कोष को जो आय होती है उसमें से प्रथम २०% भाग उन लेनदार देशों को दिया जायगा जिनकी करैन्सियाँ कोष के पास किसी वर्ष में उनके कोटे के तीन चौथाई भाग से कम रहती हैं। बचा हुआ आय-भाग सदस्यों को उनके कोटे के अनुपात में उनकी अपनी-अपनी करैन्सी से ही दे दिया जाता है।

क्या कोष की स्थापना स्वर्णमान पर वापिस आना है ?

कुछ अर्थशास्त्रियों की सम्मति में कोष का निर्माण स्वर्णमान पर वापिस आना है, क्योंकि कोष योजना और स्वर्णमान में निम्न समानतायें हैं—(i) स्वर्णमान वाले देशों की भाँति ही इस कोष में भी विभिन्न मुद्राओं के बीच प्रारम्भिक विनिमय दर (Initial rate of exchange) स्वर्ण के आधार पर ही तय की जाती है। (ii) कोष की योजना में स्वर्ण का अमुद्रीयकरण नहीं हुआ है, क्योंकि इसका योजना में महत्वपूर्ण स्थान है (देखिये ऊपर के पैरे में)। (iii) स्वर्णमान की तरह कोष भी बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली को प्रोत्साहन देता है, क्योंकि मुद्राओं को कोष द्वारा पूर्व निर्धारित तुल्यताओं पर खरीदा और बेचा जा सकता है। (iv) स्वर्णमान के अन्तर्गत विभिन्न देश अपने भुगतान-संतुलन की विषमता को स्वर्ण के निर्यात द्वारा चुकाते हैं। मुद्रा-कोष की योजना में सदस्यों के कोटे इस कार्य को करते हैं। (v) जिस प्रकार स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण के आयात-निर्यात का सम्बन्धित देशों की अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार मुद्रा कोष की योजना के अन्तर्गत मुद्राओं का पारस्परिक परिवर्तन भी सम्बन्धित देशों की अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव डालता है। क्योंकि (जैसा कि हाम (Halm) ने कहा है) कोष से अन्ततः विदेशी मुद्रा खरीदने वाले और बेचने वाले देशों की स्थितियाँ स्वर्णमान में क्रमशः स्वर्ण पाने वाले (Gold receiving) देशों की भाँति होती है। (vi) स्वर्णमान के अन्तर्गत तुलनात्मक लागत सिद्धांत के आधार पर व्यापार होता है और इसमें कोई विशेष अड़चन नहीं पड़ती है लेकिन योजना के अन्तर्गत संक्रांति काल में विनिमय नियन्त्रणों के कारण विदेशी व्यापार में कुछ बाधायें पड़ेंगी, किन्तु मुद्रा कोष अपने प्रयत्नों से इन नियन्त्रणों को हटवायेगा। इस तरह कुछ समय बाद विदेशी व्यापार स्वर्णमान की तरह कोष योजना के अन्तर्गत भी कम अधिक मात्रा में तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त से ही शासित होने लगेगा।

इस प्रकार स्वर्णमान के लगभग सभी गुण-कोष की योजना में मौजूद हैं, किन्तु उसका दोष इसमें एक भी नहीं है। अतएव अनेक अर्थशास्त्रियों का मत है कि 'कोष योजना' को स्वर्णमान की स्थापना नहीं कहा जा सकता। ऐसे दोष निम्नलिखित हैं—(iii) स्वर्णमान में विनिमय दर बिल्कुल कठोर (Rigid) सी होती है और उसे स्वर्ण के आयात व निर्यात द्वारा स्थिर रखा जाता है जबकि कोष की योजना के अन्तर्गत विनिमय-दरों में कुछ सीमा तक परिवर्तन हो सकता है। (ii) स्वर्णमान में हर एक देश को अपना आन्तरिक मूल्य-स्तर अन्य देशों के समान रखना पड़ता है तथा वे सोने का आयात-निर्यात करके अपने भुगतान संतुलन की विषमताओं को दूर करते हैं, जिससे देश में माल के प्रसार और संकुचन का क्रम चलता है, लेकिन कोष की योजना के अन्तर्गत प्रत्येक देश अपनी आन्तरिक आर्थिक नीति के बारे में स्वतन्त्र होता है तथा कोष की सहायता द्वारा अन्य देशों से अपने भुगतान संतुलन की

विषमता ठीक कर लेता है; किन्तु साथ ही उसकी साख-व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इन्हीं बातों के आधार पर लार्ड कीन्स ने कहा है कि कोष-योजना स्वर्णमान के ठीक विपरीत (*Exact opposite*) है।

भारत को कोष की सदस्यता से लाभ

सन् १९४४ के मौद्रिक सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधि मण्डल का नेतृत्व सर जैरमी रईसमैन ने किया था। सम्मेलन के निर्णयों को भारत ने भी स्वीकार किया था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद् में भारत ने दो प्रस्ताव रखे थे—प्रथम, उसे मुद्रा कोष की कार्यकारिणी में स्थाई स्थान दिया जाय; दूसरे, उसके पौंड-पावना ऋणों को भी कोष के कार्य-क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया जाय। किन्तु ये दोनों प्रस्ताव अस्वीकृत हो गये। इससे भारत को कोष की सदस्यता प्राप्त करने में बहुत संकोच हुआ। लेकिन बाद में रूस के निकल जाने से उसका रिक्त स्थान भारत को मिल गया जिससे उसकी पहली माँग अपने आप ही पूर्ण हो गई तथा पौंड-पावनों के सम्बन्ध में भी उसका इंगलैंड से एक सम्मानजनक ठहराव हो गया। अक्टूबर सन् १९४६ में वह कोष का प्रारम्भिक सदस्य बन गया था। भारत के प्रतिनिधियों ने कोष की नीतियों का निर्माण करने में और उसकी वार्षिक साधारण सभाओं में महत्वपूर्ण भाग लिया है। कोष की पूंजी में भारत का कोटा—४०१ मि० डालर है, जिसमें से २७·५ मि० तो स्वर्ण के रूप में तथा शेष भारतीय मुद्रा में दिया गया था। उसने अपने रुपये का सम-मूल्य डालर में ३०·५ सेन्ट तथा सोने में ०·२६८३१ ग्राम निर्धारण किया था। किन्तु सितम्बर १९४९ के अवमूल्यन के पश्चात् ये मूल्य क्रमशः २१ सेन्ट और ०·१८६६२१ ग्राम हो गये हैं।

कोष की सदस्यता से भारत को लाभ

(१) **विदेशी मुद्राएँ मिलने में सुविधा**—भारत की आवश्यकतानुसार विदेशी मुद्रायें मिलने में सुविधा हो गई है, जिससे वह अपनी आर्थिक उन्नति के लिए विदेशों से पूंजीगत सामान ले सकता है। युद्ध के पश्चात् भारत का शोधनाशेष उसके बहुत प्रतिकूल हो गया था तथा उसमें बहुत घाटा रहता था। इसे पाटने में उसे कोष से अमूल्य सहयोग मिला है। इस सम्बन्ध में भारत ने अब तक कोष से ३०० मि० डालर का ऋण लिया है। सच तो यह है कि भारत ने कोष की सुविधाओं का अधिकतम उपयोग करने में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त करली है। उदाहरण के लिये, भारत की दशा में कोष ने इस प्रतिबन्ध को ढीला कर दिया था कि कोई सदस्य-देश किसी वर्ष में अपने कोटे के २५% से अधिक अन्य करेंसियाँ कोष से नहीं खरीद सकता। यह ढील भारत को प्राकृतिक आपदाओं के आधार पर मिली थी।

कोष की सदस्यता से भारत को पाँच लाभ

(१) विदेशी मुद्रायें मिलने की सुविधा।
(२) स्टर्लिङ्ग की दासता से रुपये की मुक्ति।
(३) आन्तरिक आर्थिक समस्याओं के हल में सहायता।
(४) विश्व बैंक की सदस्यता।
(५) अन्तर्राष्ट्रीय महत्ता में वृद्धि।

(२) स्टर्लिङ्ग की दासता से रुपये की मुक्ति—कोष का सदस्य हो जाने पर भारत को अपने रुपये का मूल्य स्वर्ण में परिणित करना पड़ा, जिससे सम-मूल्य के आधार पर उसका सम्बन्ध किसी भी देश की मुद्रा से प्रत्यक्ष रूप से बताया जा सकता है। इस प्रकार अब उसे स्टर्लिंग पर पहले की भाँति निर्भर नहीं रहना पड़ता है। अतः अब अन्य देशों की मुद्रा से भारतीय मुद्रा की बहुपक्षीय परिवर्तनशीलता कायम हो गई जबकि पहले यह एकपक्षीय परिवर्तनशीलता थी।

(३) आन्तरिक आर्थिक समस्याओं के हल में सहायता—उदाहरण के लिये भारत को अपनी पंचवर्षीय योजनाओं के सम्बन्ध में कोष से अपूर्व आर्थिक सहायता मिलती है।

(४) विश्व बैंक की सदस्यता—कोष का सदस्य होने के कारण भारत को विश्व बैंक की सदस्यता भी प्राप्त हो गई और इस संस्था से भारत को अपने पुन-निर्माण एवं विकास के लिये बहुत ऋण मिला है।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय महत्ता में वृद्धि—भारत को कोष की कार्यकारिणी में एक संचालक नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त है जो कोष की नीति के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भाग लेता है। इस प्रकार भारत मुद्रा-कोष के ५ बड़े सदस्यों में गिना जाता है।

मुद्रा कोष की सदस्यता से भारत को तथाकथित हानियाँ—कुछ लोगों ने यह मत प्रकट किया था कि भारत ने कोष की सदस्यता स्वीकार करके हानि उठाई है, क्योंकि (i) कोष ने भारत को पौंड-पावनों के भुगतान की सुविधा नहीं दी है, (ii) भारत का कोटा उसको प्राप्त होने वाले लाभ से अधिक रखा गया है, तथा (iii) कोष का सदस्य बनते समय उसके विधान मण्डलों की राय नहीं ली गई थी। **किन्तु ये सब नाममात्र के आक्षेप हैं। वास्तव में कोष की सदस्यता से भारत को बहुत लाभ हुआ है। भारत कोष के इने-गिने बड़े ऋणियों में से एक है।**

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के कार्यों का ब्योरा

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अपनी स्थापना से लेकर अब तक जो कार्य किये हैं उनका संक्षिप्त ब्योरा इस प्रकार है :—

(१) कोष के बोर्ड ऑफ गवर्नर्स की पहली मीटिंग—मार्च सन् १९४६ में जार्जिया के सैवाना नगर में हुई, जिसमें कोष की कार्य-प्रणाली पर विचार करने के पश्चात् महत्वपूर्ण निर्णय किये गये। कोष ने १ मार्च सन् १९४६ से विनिमय व्यवहार की कार्यवाही आरम्भ कर दी थी।

(२) सदस्य—दिसम्बर सन् १९४६ में ३४ देश इसके सदस्य थे; ३० अप्रैल १९५२ को इनकी संख्या ५१ थी और अब ६८ हो गई है।

(३) कोष की पूँजी—प्रारम्भ में १०,००० मि० डालर निश्चित की गई थी। किन्तु अक्टूबर सन् १९५८ में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के गवर्नर्स की दिल्ली मीटिंग के निर्णयानुसार यह १५,००० मि० डालर हो गई है। सब सदस्य देशों के कोटे भी ५०% बढ़ गये हैं। अनेक देशों ने तो अपने कोटे से भी अधिक चन्दा दिया। सब देशों के द्वारा अपने चन्दों का भुगतान कर देने पर कोष की स्वर्ण-जमा २,३०० मि० डालर से बढ़ कर ४,६०० मि० डालर हो जायगी। कोष के साधनों में वृद्धि होने से कोष की कार्यशक्ति पहले से बहुत बढ़ गई है। वह विश्व व्यापार को अब अधिक

मात्रा में आर्थिक सहायता दे सकेगा और निर्यात में कमी होने से उत्पन्न भुगतान-संतुलन की समस्या को अधिक सुविधा से हल कर सकेगा। श्री एंडरसन (संयुक्त राज्य के प्रतिनिधि) ने कोष के साधनों की वृद्धि का प्रस्ताव गवर्नरों की बैठक में रखते हुए कहा था कि इससे उन देशों को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिलेगा, जो अपनी मुद्रा की परिवर्तनशीलता को बनाने का या बनाये रखने का प्रयास कर रहे हैं।

(४) मुद्रा का क्रय-विक्रय—३० अप्रैल १९५८ तक सदस्यों ने कोष में कुल ३,०१६·२ मि० अमरीकी डालर के बराबर मुद्रा का क्रय किया। सन् १९५६-५७ के वर्ष में सबसे अधिक मात्रा में (लगभग ११४० मि० डालर) विदेशी मुद्राएं सदस्य देशों द्वारा क्रय की गईं। ३० अप्रैल १९५७ तक सदस्य देशों ने लगभग १०३३ मि० डालर की विदेशी मुद्रायें कोष को वापस बेच दी। कोष द्वारा १९५६-५७ में सदस्य देशों को करेंसी के विक्रय में यू० के०, फ्रांस और भारत का लगभग ७५% भाग था। अधिकतर क्रय अमेरिकी मुद्रा का किया गया था। केवल मिस्र ने ही १५ मि० के कनैडियन डालर लिये थे।

(५) वित्तीय सहायता का क्षेत्र—कोष के कार्यों का क्षेत्र विशेषत: सन् १९५६-५७ में, विश्व के सभी महत्त्वपूर्ण प्रदेशों तक विस्तृत रहा है। इस वर्ष में १६ देशों से कोष का व्यवहार हुआ था, जिनमें से ३ यूरोप के, ९ लेटिन अमेरिका के, २ मध्य पूर्व के और २ सुदूर पूर्व के देश थे।

(६) सम-मूल्यों में परिवर्तन—कोष ने समय-समय पर राष्ट्रों की मुद्राओं के सम-मूल्यों में कमी की है, जैसे—दिसम्बर सन् १९५२ में उसने यूगोस्लाविया की मुद्रा का सम-मूल्य कम कर दिया था।

कोष की सफलताएँ

साधारणत: कोष का कार्यवाहन संतोषजनक ही रहा है। इसकी प्रमुख सफलताएं निम्नलिखित हैं :—

(१) बहुपक्षीय व्यापार व भुगतान की व्यवस्था—कोष योजना के कार्यवाहन से अब बहुपक्षीय व्यापार और बहुपक्षीय भुगतान की व्यवस्था सम्भव हो गई है। इससे विदेशी व्यापार और विनियोग के लिए पूंजी के आवागमन को बहुत प्रोत्साहन मिला है।

(२) शोधनाधिक्य के असंतुलन को दूर करने में सहायता—कोष के पास विभिन्न देशों की मुद्राओं के रक्षित कोष रहते हैं, जिनके आधार पर उसने विभिन्न देशों को शोधनाधिक्य के असंतुलन को बराबरी के आधार पर दूर करने में सहायता दी है। वह आवश्यकतानुसार विभिन्न मुद्राओं का क्रय-विक्रय करके देशों की विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकतायें पूरी करता रहता है। असाधारण काल में किसी मुद्रा की मांग उसकी पूर्ति से अधिक हो जाने पर वह उसे 'दुर्लभ' घोषित करके तथा उसका राशनिंग करके सदस्य-देशों को अपने शोधनाधिक्य के असन्तुलन को दूर करने का अवसर देता है। इस तरह कोष की योजना में अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में 'साम्य' (Equilibrium) रखने का भार देनदार एवं लेनदार दोनों ही देशों पर समान रूप से डाला गया है।

विनिमय दरों पर कोष के कार्यवाहन की प्रतिक्रिया

(३) विनिमय दरों में अधिक स्थिरता—कोष की योजना के कार्यवाहन से विनिमय दरों पर बहुत ही अनुकूल प्रतिक्रिया हुई है। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

व भुगतान की सुविधा के लिये विभिन्न देशों की मुद्राओं के सम-मूल्य निश्चित कर देना आवश्यक था। कोष की योजनानुसार विश्व के अनेक देशों ने ऐसा कर दिया है। इस प्रकार अब विनिमय दरों में काफी स्थिरता आती जा रही है। साथ ही इनमें स्वर्णमान जैसी कठोरता भी नहीं है।

(४) स्वर्णमान के लाभों की प्राप्ति—कोष के निर्माण से विश्व को स्वर्ण-मान की स्थापना के बिना स्वर्णमान के सब लाभ प्राप्त हो गये हैं।

(५) मौद्रिक अनुशासन की वृद्धि—कोष ने अपने सदस्यों में मौद्रिक अनुशासन की वृद्धि करने के लिये काफी प्रयास किया है। जैकोबसन के शब्दों में—"यदि हम कोष के कार्यवाहन की परीक्षा करें, तो यह उचित रूप से कहा जा सकेगा कि कोष ने मौद्रिक अनुशासन की वृद्धि में सहायता दी है न कि उसने मौद्रिक अनुशासन को कमजोर बनाया है। जब सदस्य देश अपनी समस्याओं को और वर्तमान कार्यक्रमों को हल व पूरा करने के लिये उचित प्रयास करते है, तो वह उन्हें समुचित सहायता देता है और इस बात का आश्वासन देता है कि विनिमय की व्यावहारिक दरों से स्थिरता रहेगी। यद्यपि कोष से वास्तविक सहायता न भी लेनी पड़े तथापि सहायता मिलने की सम्भावना मात्र से ही बहुत से देश सन्तुलन की स्थापना करने में आत्म-विश्वास के साथ उचित कदम उठाने के लिये प्रेरित हुए हैं। यदि उन्हें अपने ही साधनों पर निर्भर रहना पड़ता तो सम्भवत: वे इतने कठोर उपाय कभी न अपनाते।"

(६) टैक्नीकल सहायता—कोष ने विश्व के अनेक भागों में अपने स्टाफ्पन-मिशनों द्वारा टैक्नीकल सहायता का विस्तृत कार्यक्रम बनाया है तथा अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर अध्ययन, रिपोर्टों व प्रकाशनों की व्यवस्था की है। उसने अपने सदस्य देशों को मौद्रिक विषयों पर उचित टैक्नीकल परामर्श भी प्रदान किया है, जैसे—सम-मूल्यों में परिवर्तन करना, विनिमय-नियन्त्रण, मुद्रा, साख एवं प्रशुल्क नीति के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों पर प्रभाव तथा विकास योजनाओं के मौद्रिक पहलू आदि।

कोष की विफलतायें

यद्यपि कोष की सफलताओं की सूची बहुत लम्बी है तथापि सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से कोष की बहुत आलोचना की गई है। प्रमुख आलोचनायें निम्नलिखित हैं :—

(१) कोष का सीमित कार्य-क्षेत्र—कोष के कार्य-क्षेत्र को बहुत सीमित रखा गया है। वह केवल चालू सौदों से विदेशी विनिमय की समस्याओं को हल करने का प्रयास करता है। युद्ध-ऋण, पूंजी का आयात-निर्यात, अवरुद्ध-स्टर्लिंग आदि की समस्यायें उसके क्षेत्र से बाहर हैं। इनके लिये राष्ट्रों को स्वतन्त्र प्रयास करने होंगे। हमें कोष की यह आलोचना उचित नहीं जान पड़ती है, क्योंकि यदि प्रारम्भ से ही कोष पर उक्त समस्याओं का भार डाल दिया जाता, तो कोष योजना शीघ्र ही असफल हो जाती।]

(२) राष्ट्रों के कोटे वैज्ञानिक आधार पर निश्चित नहीं हैं—राष्ट्रों के कोटे या तो उनके विदेशी व्यापार की मात्रा के आधार पर निश्चित किये जा सकते थे अथवा व्यापार शेष की स्थिति या विदेशी विनिमय की आवश्यकताओं के अनुसार भी स्थिर किये जा सकते थे। किन्तु कोष ने इनमें से किसी आधार को नहीं अपनाया। कुछ लोगों का यह मत है कि ये कोटे इंगलैंड और अमेरिका के आर्थिक एवं राजनैतिक स्वार्थों को दृष्टि में रख कर निश्चित किये गये है। चूंकि राष्ट्रों को कोष से मिलने

वाला लाभ उनके कोटे से सीमित होता है, इसलिये इन्हें किसी वैज्ञानिक आधार पर निश्चित करना आवश्यक है।

(३) **भेदभावपूर्ण व्यवहार**—ऋणों के स्वीकृत करने तथा अन्य सुविधायें देने के सम्बन्ध में कोष ने भेदभाव की नीति अपनाई है। इसके दो ज्वलन्त उदाहरण हैं—(i) जनवरी सन् १९४८ में फ्रांस ने कोष की आज्ञा के विरुद्ध अपनी विनिमय दर का ४४% अवमूल्यन कर लिया। यहाँ तक कि उसने पेरिस में स्वर्ण, अमेरिकी डालरों व पुर्तगाली मुद्रा के लिये स्वतन्त्र बाजार भी उत्पन्न कर दिया जिससे वहाँ कोष द्वारा सरकारी रूप से निर्धारित दरों के समानान्तर (Parallel) स्वतन्त्र विनिमय दरें प्रचलित हो गईं। इतने पर भी उसे कोई कड़ी सजा नहीं दी गई। (ii) यद्यपि सारे संसार को (विशेषत: स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों को) अमेरिकी डालरों का बहुत अभाव था तथापि अमेरिकी प्रभाव में होने के कारण कोष ने डालरों को 'दुर्लभ मुद्रा' घोषित नहीं किया। यदि वह ऐसा कर देता, तो अमेरिका को अपनी करेंसी का इस प्रकार पुनर्मूल्यन करना पड़ता कि काफी सीमा तक डालरों का अभाव दूर हो जाय। लेकिन कोष ने ऐसा न करके उल्टे पौंड स्टर्लिंग के ही अवमूल्यन का सुझाव दिया।

(४) **कार्यकारिणी की दोषपूर्ण सदस्यता**—मुद्रा कोष की कार्यकारिणी का गठन कुछ इस प्रकार किया गया है कि अमेरिका के हितों की रक्षा होती रहे। इसी कारण उसमें लेटिन अमेरिका के देशों को दो स्थान दिये गये हैं।

(५) **डालरों की अल्पता की सम्भावना**—विभिन्न देश अमेरिका से माल मँगाने के लिये कोष से डालर तो निकालेंगे किन्तु जब वे अमेरिका को माल भेजेंगे, तो अमेरिकन व्यापारियों से स्वदेशी करेंसी में बीजक का भुगतान न लेकर डालर करेंसी में ही भुगतान लेंगे और इसे कोष को न देकर अपने ही पास रख लेंगे। इस प्रकार कोष के पास डालरों की अल्पता होती जायेगी जबकि उसके बाहर उक्त देश डालर एकत्र कर लेंगे। ऐसी स्थिति में डालरों की 'अल्पता' के कारण कोष की योजना असफल हो जाने का भय है। (किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि कोष डालरों का पुन: क्रय भी कर सकता है तथा उसका राशनिंग भी कर सकता है। इससे योजना टूटने का डर व्यर्थ है।)

(६) **कोष की योजना के कुछ दोषपूर्ण नियम**—कोष की योजना के कुछ नियम इतने दोषपूर्ण हैं कि वे कोष को बड़ी सकोचपूर्ण एवं असहाय स्थिति में डाल देते हैं। उदाहरण के लिये, जब किसी देश को घरेलू नीति के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुये आन्तरिक मुद्रा प्रसार के कारण शोधनाधिक्य में गम्भीर असन्तुलन पैदा हो जाता है, तो कोष उस देश को अपनी करेंसी का १०% से भी अधिक अवमूल्यन करने से नहीं रोक सकता, क्योंकि इसमें परिवर्तन का प्रस्ताव करने वाले देश की घरेलू, सामाजिक व आर्थिक नीतियों का प्रश्न जुड़ा हुआ है, जिसके बारे में सदस्य देश स्वतन्त्र होते हैं। लेकिन अवमूल्यन करना तब तक प्रभावपूर्ण नहीं होगा जब तक कि आन्तरिक मुद्रा प्रसार को रोका न जाय। लेकिन इसके लिये कोष कोई आज्ञा नहीं दे सकता, क्योंकि ऐसा करना कोष द्वारा सदस्य-देश को आर्थिक नीति में हस्तक्षेप समझा जायेगा। ऐसी स्थिति में कोष क्या करे? अधिक से अधिक वह सदस्य-देश को समझा-बुझा ही सकता है, लेकिन प्राय: ऐसे नाजुक मामलों में समझाना-बुझाना बेकार ही रहता है।

(७) **कम उन्नत देशों पर पश्चिमी देशों का दबाव**—इस बात की सम्भा- ... है कि पश्चिमी देश भविष्य में अपने आर्थिक हितों की उन्नति के लिये व्यापारिक

नियन्त्रण हटवाने पर जोर देंगे जो कम उन्नत देशों के हित में न होगा। अतः वे इसका विरोध करेंगे। इस प्रकार कोष दोनों हितों की खींच-तान का अखाड़ा बन जायेगा।

कुछ भी हो, अन्तर्राष्ट्रीय कोष की स्थापना और इसका अब तक का कार्य मिलाकर बहुत सराहनीय है। यह आशा की जाती है कि भविष्य में कोष अपना कार्य-वाहन सबके प्रति अधिक संतोषजनक रखने का प्रयास करेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकासार्थ बैंक

(Bank For International Reconstruction & Development)

प्रायः सभी यह मानते हैं कि पश्चिमी और पूर्व के आय तथा रहन-सहन के स्तरों में भी जो भारी विषमतायें हैं वह शक्तिशाली विस्फोट का कारण बन सकती हैं और अन्तर्राष्ट्रीय शांति पुनः खतरे मे पड़ सकती है। अतः अविकसित देशों की जनता का रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाना तथा युद्ध-जर्जरित अर्थ-व्यवस्थाओं के पुन निर्माण की समस्याओं ने ब्रैटनउड्स सम्मेलन को इन कार्यों के पृथक से एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना के लिये प्रेरित किया था।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के उद्देश्य

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद् की रिपोर्ट के दूसरे भाग की धारा १ के अनुसार विश्व बैंक के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :—

(१) राष्ट्रों का पुनर्निर्माण और आर्थिक विकास—विश्व बैंक का मुख्य उद्देश्य युद्ध जर्जरित राष्ट्रों की अर्थ-व्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण और अविकसित अथवा कम उन्नत देशों को अपने प्राकृतिक साधनों का अधिकतम शोषण करके विकास करने में आर्थिक सहायता प्रदान करना है।

> **विश्व बैंक के चार उद्देश्य हैं**
>
> (१) राष्ट्रों का पुनर्निर्माण और आर्थिक विकास।
>
> (२) पूंजी के विनियोग को प्रोत्साहन।
>
> (३) दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा।
>
> (४) शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था की स्थापना।

(२) पूंजी के विनियोग को प्रोत्साहन—पिछड़े हुये या कम उन्नत देशों में पूंजी की विकट समस्या है। पूंजी के अभाव के कारण वहाँ प्राकृतिक साधनों का शोषण समुचित प्रकार से नहीं हो पाया है। अतः बैंक का दूसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य विदेशी प्राइवेट विनियोजकों को उनकी पूंजी की गारन्टी देकर या उनके विनियोगों अथवा ऋणों में भाग लेकर उन्हें ऐसे देशों में उत्पादक विनियोग करने के लिये प्रोत्साहित करना है। यदि प्राइवेट विनियोग पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हो सकें तो बैंक इस कमी की पूर्ति के लिए अपनी ही पूंजी मे से उक्त देशों को उत्पादक कार्यों के लिये ऋण देगा।

(३) दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा—विश्व बैंक का तीसरा उद्देश्य विदेशी व्यापार की दीर्घकालीन उन्नति की व्यवस्था करना है। वह एक ऐसी दशा उत्पन्न करेगा जिसमें राष्ट्रों के भुगतान संतुलन में भारी विषमतायें न रहें अर्थात् संतुलित व्यापार को जन्म देना विश्व बैंक का उद्देश्य है।

(४) शांतिकालीन अर्थ-व्यवस्था की स्थापना—विश्व बैंक का उद्देश्य अपने कार्य इस प्रकार करना है जिससे युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था का शांतिकालीन अर्थ-व्यवस्था में प्रतिस्थापन हो सके।

विश्व बैंक का गठन

(१) सदस्यता—कोई भी देश बैंक का सदस्य बन सकता है बशर्ते वह बैंक के नियमों को पूरा करे। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता विश्व बैंक का सदस्य बनने के लिये आवश्यक है। जो देश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता त्याग देता है वह इस बैंक का भी सदस्य नहीं रह सकता। अक्टूबर १९५८ को बैंक की सदस्य संख्या ६८ थी। *भारत भी इस बैंक का सदस्य है।*

(२) पूँजी साधन—बैंक की अधिकृत पूँजी १००० करोड़ डालर है जिसे १-१ लाख डालर के अंशों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक सदस्य के कुल चन्दे को तीन भागों में बाँटा गया है—(i) २% चन्दा स्वर्ण अथवा अमरीकन डालर में माँगने पर तुरन्त देय होता है और इसे उधार देने के काम में स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है; (ii) १८% चन्दा सदस्य देश अपनी मुद्रा में दे सकता है। इनका उपयोग उधार देने में उस सदस्य देश की अनुमति से ही प्रयोग किया जाता है, और (iii) शेष ८% उस समय देना पड़ता है जबकि बैंक को अपने दायित्वों को पूरा करने के लिये उसकी आवश्यकता अनुभव हो। यह उधार देने के काम में नहीं लो जा सकती है और इसे सदस्य देश स्वर्ण, डालर या बैंक द्वारा आदेशित किसी अन्य मुद्रा में चुका सकता है।

(३) प्रबन्ध—बैंक के प्रबन्ध के लिये (i) एक बोर्ड ऑफ गवर्नर्स; (ii) एक्जीक्यूटिव डाइरेक्टर्स; (iii) एक प्रेसीडेण्ट तथा (iv) अन्य कर्मचारी होते हैं। **बोर्ड आफ गवर्नर्स (Board of Governers)**—बैंक की सारी शक्तियाँ बोर्ड ऑफ गवर्नर्स में निहित हैं। ये गवर्नर पाँच वर्ष के लिए नियुक्त किये जाते हैं। बोर्ड की मीटिंग वर्ष में एक बार अवश्य होती है। यद्यपि इस मीटिंग में औपचारिक बातों पर ही विचार-विमर्श किया जाता है, तथापि इसे महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय वित्त एवं मौद्रिक समस्याओं के बारे में उच्च स्तर पर विचारों के आदान-प्रदान का अवसर माना जाता है। **बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स**—एक्जीक्यूटिव डाइरेक्टरों में से, जिनकी संख्या इस समय १८ है, ५ डाइरेक्टर बैंक के सबसे बड़े ५ शेयरहोल्डरों—अमेरिका ब्रिटेन, चीन, फ्रांस और भारत—द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और शेष डाइरेक्टर बचे हुए राष्ट्रों द्वारा चुने जाते हैं। प्रत्येक डाइरेक्टर को अपनी सरकार द्वारा धारण किये हुये शेयरों के अनुपात में वोट देने का अधिकार होता है। कुछ अपवादों को छोड़कर अन्य सभी मामलों में बोर्ड ऑफ गवर्नर्स ने अपने अधिकार एक्जीक्यूटिव डाइरेक्टरों को सौंप दिये हैं। इन डाइरेक्टरों की अवधि दो वर्ष होती है। बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स द्वारा एक एडवाइजरी काउन्सिल (Advisory Council) भी निर्वाचित की जाती है, जिसमें कम से कम ७ सदस्य होते हैं। ये सदस्य बैंकिंग, वाणिज्य, उद्योग-धन्धे, कृषि व श्रम आदि विषयों के विशेषज्ञ होते हैं। इनका निर्वाचन करते समय यह ध्यान रखा जाता है कि अधिक से अधिक राष्ट्रों को प्रतिनिधित्व मिले। इस काउन्सिल की मीटिंग वर्ष में कम से कम एक बार होती है और यह बैंक को उसकी सामान्य नीति के सम्बन्ध में परामर्श देती है। इसके अतिरिक्त एक ऋण समिति (Loan Committee) भी होती है, जिसका कार्य सदस्यों के ऋण सम्बन्धी प्रार्थना-पत्रों की जाँच-पड़ताल करना है। इसमें एक प्रतिनिधि प्रार्थना करने वाले

राष्ट्र का भी होता है। इस समिति के सदस्य भी विशेषज्ञ ही हुआ करते हैं। प्रेसीडेन्ट—इसका चुनाव एक्जीक्यूटिव डाइरेक्टरों द्वारा किया जाता है और यह उनके चेयरमैन का कार्य करता है।

बैंक की कार्य-प्रणाली

(१) अपने ही कोष से ऋण देना—बैंक दत्त पूंजी (Paid-up capital) के २०% तक अपने ही कोष से ऋण दे सकता है। इसमें से २% भाग जो स्वर्ण के रूप में होता है, बैंक चाहे जिस कार्य के लिये प्रयोग कर सकता है। लेकिन शेष १८% भाग, जोकि हिस्सा खरीदने वाले राष्ट्र की मुद्रा के रूप में होता है, बैंक तभी उधार दे सकता है या अन्य मुद्राओं से इसका विनिमय कर सकता है जबकि वह उक्त राष्ट्र से अनुमति न ले लें।

> **विश्व बैंक के ऋण देने के तीन तरीके**
>
> (१) अपने ही कोष से ऋण देना।
> (२) उधार ली गई पूंजी से ऋण देना।
> (३) गारन्टी देकर ऋण दिलाना।

(२) उधार ली गई पूंजी से ऋण देना—सदस्य राष्ट्रों को ऋण देने के लिये बैंक अन्य समर्थ सदस्य-राष्ट्रों से कोष उधार ले सकता है किन्तु यहाँ भी शर्त यह होती है कि इन राष्ट्रों की अनुमति से ही वह इस उधार ली गई पूंजी से किसी राष्ट्र को ऋण में दे सकता है।

(६) *गारन्टी देकर ऋण दिलाना*—*बैंक स्वयं ऋण देने की अपेक्षा यथा*-संभव दूसरो के द्वारा दिए हुए ऋणों की गारन्टी देना ही अधिक अच्छा समझता है। दूसरे शब्दों में, बैंक प्राइवेट ऋणों को प्रोत्साहित करता है और अपने पास से ऋण तब ही देता है जबकि प्राइवेट विदेशी ऋण न मिल सके। **बैंक निम्न शर्तों पर प्राइवेट ऋणों को गारन्टी देता है**—(i) ऋण प्रदान करने की शर्तें उचित होनी चाहियें, (ii) जिस योजना के लिये ऋण लिया जा रहा है वह भी उचित होनी आवश्यक है। (इसके औचित्य का निर्णायक बैंक स्वयं ही होता है), (iii) ऋणी के पास भुगतान करने के लिये यथेष्ट साधन होने चाहियें और (iv) ऋण लेने वाले राष्ट्र की सरकार को उस ऋण की गारन्टी देनी होगी।

यह उल्लेखनीय है कि बैंक सदस्य-देशों से लेन-देन उनकी सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक के द्वारा ही करता है। किसी प्राइवेट व्यक्ति या संस्था से सीधा व्यवहार वह तभी कर सकता है जब उस देश की सरकार या केन्द्रीय बैंक ऋण की गारन्टी दें। बैंक सदस्य राष्ट्रों को ऋण अथवा ऋण की गारण्टी तभी देता है जब कि उसे विश्वास हो जाता है कि उचित शर्तों पर अन्य किसी ढंग से ऋण मिलने की संभावना नही है। ऋण की रकम ऋण लेने वाले देश के केन्द्रीय बैंक में जमा करदी जाती है जहाँ से उसे आवश्यकतानुसार निकाला जा सकता है। ऋण दिलाते समय बैंक ऋणी और ऋणदाता दोनों ही देशों के हितों का ध्यान रखता है। ऋण की राशि को केवल पुनर्निर्माण या विकास योजनाओं में ही व्यय किया जा सकता है और बैंक को इसके निरीक्षण का भी अधिकार होता है।

विश्व बैंक के कार्यों का मूल्यांकन

बैंक का काम करते हुए १५ वर्ष होने जा रहे हैं। नीचे हम अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की प्रमुख सफलताओं का विवेचन दे रहे हैं—

(१) वित्तीय साधनों का विस्तार—गत १५ वर्षों में विश्व-बैंक के कार्य-क्षेत्र का बहुत विस्तार हो गया है, जिससे उसे काफी अधिक मात्रा में ऋण देना या दिलाना सम्भव हो गया है। चूँकि बैंक द्वारा दिये गये ऋण या गारन्टी द्वारा दिलाये गये ऋण दोनों की रकम बैंक की प्रार्थित पूँजी और संचित कोष के योग से अधिक नहीं हो सकती है, इसलिये अधिक ऋण प्रदान करने के लिये वित्तीय-साधनों में विस्तार करना बैंक के लिये आवश्यक था। समय-समय पर बैंक ने इसके लिये प्रयत्न भी किये हैं, बैंक के साधनों में वृद्धि होने से बैंक की ऋण-प्रदायक शक्ति बहुत बढ़ गई है और इसका वास्तविक लाभ अधिकांशतः अविकसित देशों को ही मिलेगा।

(२) सदस्य देशों के विकास के लिये अधिक ऋण—बैंक ने सदस्य देशों को ३,८१६ मि० डालर के ऋण उपलब्ध किये। बैंक ने कुल २४ ऋण दिये और ऋण पाने वाले देशों व क्षेत्रों की संख्या १८ थी। २४ ऋणों में से ७ ऋण भारत को, १ पाकिस्तान को और ४ जापान को एशिया में दिये गये थे। अफ्रीका में विभिन्न क्षेत्रों को ३ ऋण, दक्षिणी अमेरिका के विभिन्न देशों को ७ ऋण (जिनमें चिली को दिये गये ३ ऋण भी सम्मिलित हैं) उत्तरी अमेरिका को ३ ऋण (जिनमें मैक्सिको को दिये गये २ ऋण सम्मिलित हैं) दिये गये। ३८०० मि० डालर के ऋण में से १४०० मि० डालर ऋण एशियाई व अफ्रीकी देशों को विकास योजनाओं के लिये दिया गया था। ऋणों की अवधि ६ से ३० वर्ष तक की है। इन ऋणों पर बैंक ने १% से १½% तक कमीशन तथा ¾% से ३½% तक ब्याज लिया है। ऋण अमेरिकी डालरों, बेल्जियन फ्रांक, कनैडियन डालर, नीदरलैंड, गिल्डर पौंड स्टर्लिंग, स्विस फ्रैंक में दिया गया है।

ऋणों का योजनाबद्ध सदुपयोग—बैंक के ऋण देने का प्रमुख उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों को इस प्रकार से सहायता देना है जिससे वे अपना आर्थिक विकास एक दृढ़ आधार पर कर सकें। अतएव विद्युत-शक्ति और यातायात के साधनों की विकास योजनाओं को बैंक ने बहुत महत्व दिया है, क्योंकि ये आधारभूत सेवायें हैं।

(४) टैक्नीकल सहायता—बैंक ने पिछले वर्षों में सदस्य सरकारों को ऋण-उपयोग से सम्बन्धित मामलों में टैक्नीकल सहायता प्रदान करके महत्वपूर्ण सेवा की है। इसके सर्वे-दलों ने विभिन्न ऋणी देशों में जाकर वहाँ के राष्ट्रीय साधनों का गहन अध्ययन किया तथा उनके दीर्घकालीन विकास-कार्यक्रमों के लिये आधारभूत सुझाव दिये हैं। प्रार्थना करने पर बैंक ने अविकसित देशों को वित्तीय अथवा आर्थिक विशेषज्ञों की सेवायें भी उधार दी हैं। इन राज्यों के अधिकारियों के लिये सामूहिक एवं व्यक्तिगत ट्रेनिंग-प्रोग्रामों का भी उसने आयोजन किया।

(५) राष्ट्रों के पारस्परिक विवादों में मध्यस्थता—राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़े उनके आर्थिक विकास में बाधा डालते हैं। अतएव बैंक ने इन झगड़ों में मध्यस्थता करके उन्हें निपटाने का प्रयत्न किया है। भारत और पाकिस्तान के नहरी विवाद पर भारत पाकिस्तान के बीच अक्टूबर १९६० में जो समझौता हुआ उसका श्रेय विश्व बैंक को ही है।

(६) स्टाफ कालिज की स्थापना—रौकफैलर तथा फोर्ड फाउण्डेशनों की वित्तीय सहायता से बैंक ने वाशिंगटन में एक प्रशिक्षण संस्था (Economic Development Institute) की स्थापना की है, जिसका उद्देश्य कम उन्नत देशों से उच्च अधिकारियों को आमंत्रित करके विशेष शिक्षा प्रदान करना है ताकि वे अपने देश में

अधिक विकास की समस्याओं को सुगमता से समझ सकें और विकास के कार्य-क्रमों को अधिक कुशलतापूर्वक चला सकें।

(७) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त-निगम—जुलाई सन् १९५६ में स्थापित हुये इस निगम से प्राइवेट साहस को बड़ा बढ़ावा मिला है।

(८) ऋणदाता देशों की सामयिक बैठकें—विश्व बैंक समय-समय पर ऋणदाता देशों की मीटिंग करता रहता है। इस प्रकार की बैठकों के कारण विचार-विनिमय में सुविधा हो जाती है तथा ऋणी देशों को ऋण मिलने में सुगमता हो जाती है।

विश्व बैंक के कार्यों की आलोचना

यद्यपि बैंक ने अनेक प्रशंसनीय कार्य किये हैं तथापि इसमें कुछ दोष भी हैं जो मुख्य-मुख्य निम्नलिखित हैं—

(१) ऋणी देश के साथ पक्षपात—आलोचकों का कहना है कि बैंक का विधान ही ऐसा है कि यह ऋणी देशों का पक्षपात करता है। चूँकि अधिकांश सदस्य-देश ऋणी होते है, तथा ऋणदाता सदस्य कम होते हैं, इसलिए बैंक के निर्णयों पर ऋणियों का अधिक प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है।

[किन्तु यह आलोचना भ्रमपूर्ण है। बैंक सभी सदस्यों की (चाहे वे ऋणदाता हों या ऋणी) संयुक्त और व्यक्तिगत गारन्टी पर खड़ा है। अतः बैंक जब किसी सदस्य को ऋण देता है, तो न केवल पूँजी उधार देने वाला देश विशेष जोखिम उठाता है। वरन् अन्य सभी देश भी जोखिम उठाते हैं। ऐसी स्थिति में ऋण लेने वाले देश के साथ कोई भी देश अनुचित पक्षपात दिखाना पसंद नहीं करेगा।]

(२) प्राइवेट विनियोगों की तुलना में कम अच्छा कार्य—बैंक के विरुद्ध यह भी आरोप लगाया जाता है कि उसने उतनी कुशलता से पिछड़े देशों में पूँजी का विनियोजन नहीं किया जितनी कुशलता से प्राइवेट विनियोजक कर सकते हैं। [यह आलोचना भी उचित नहीं है। बैंक के विधान और उसके कार्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बैंक का उद्देश्य प्राइवेट विनियोगिकों की सहायता करना है न कि उनका स्थान ले लेना। इसके अतिरिक्त, प्राइवेट विनियोग दीर्घकाल के लिए अधिक जोखिमपूर्ण कार्यों में अपनी पूँजी फसाना कदापि पसन्द नहीं करते जबकि बैंक से इन परिस्थितियों में भी ऋणी को सस्ती ब्याज पर पर्याप्त रुपया मिल सकता है।]

(३) ब्याज की ऊँची दर—यद्यपि बैंक के ऋणों की गारन्टी ऋण लेने वाले देश की सरकार द्वारा की जाती है और उसमें प्रायः नहीं के बराबर जोखिम होता है तथापि बैंक ऋणों पर अधिक ब्याज लगता है, जो उचित नहीं है। उसे यह याद रखना चाहिए कि विश्व के आर्थिक रूप से दुर्बल राष्ट्रों को उनके प्रसाधनों का विकास करने में सहायता देकर विश्व में आर्थिक शांति का विस्तार करने के लिये ही उसकी स्थापना हुई थी।

(४) ऋणी देश की भुगतान क्षमता पर अत्यधिक बल—बैंक की एक आलोचना यह भी है कि वह किसी देश की ऋण लौटाने की क्षमता पर बहुत अधिक बल देता है। यह दृष्टिकोण बहुत रूढ़िवादी है। वास्तव में लौटाने की क्षमता ऋण के

पूर्व नहीं वरन् बाद में ही विकसित होती है। एक अविकसित देश में, जहाँ पृथ्वी के गर्भ में शोषण की प्रतीक्षा में सम्पन्न साधन दबे हैं, ऋण स्वीकृत करने से पूर्व लौटाने की क्षमता तलाश करना विश्व बैंक की अदूरदर्शिता ही जाहिर करेगा। जब ऋणों की सहायता से विकास कार्यक्रम पूरे हो जायेंगे, तो ऋण लेने वाला देश चुकाने की स्थिति में स्वत: हो जायेगा।

(५) अविकसित देशों को कम ऋण—बैंक एक निष्पक्ष एवं अराजनैतिक संस्था है। उससे यह आशा की जाती है कि वह सब के साथ समानता का व्यवहार करेगा। किसी के साथ ऋण देने के मामले में अनुचित पक्षपात नहीं करेगा और प्रार्थी को उसकी स्थिति की योग्यता के आधार पर ही ऋण देगा। किन्तु व्यवहार में यह देखा गया है कि बैंक ने इन कठोर सिद्धान्तों का पूर्ण पालन नहीं किया है। उसने केवल योग्यता एवं आर्थिक आधार पर ही ऋण नहीं दिये हैं, वह राजनैतिक कारणों से भी प्रभावित हुआ है। उदाहरण के लिये, ३७२६ मि० डालर के कुल ऋणों में एशिया और अफ्रीका दोनों को मिलाकर केवल १४२७ मि० डालर मिले जो कि बैंक द्वारा स्वीकृत ऋणों का लगभग ३८% है।

(६) अपर्याप्त वित्तीय सहायता—यद्यपि बैंक सदस्य देशों की अर्थ-व्यवस्थाओं का उचित रूप से विकास करने में काफी मदद कर रहा है तथापि उसे पर्याप्त एवं प्रभावपूर्ण नहीं कहा जा सकता। विश्व बैंक द्वारा दी गई आर्थिक सहायता समुद्र में एक बूंद के समान है। यही कारण है कि बैंक के साधनों का विस्तार करने के लिए कई सहायक संगठनों के निर्माण का सुझाव दिया गया है, जैसे—अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद अथवा विशेष संयुक्त राष्ट्र कोष आदि। इनकी स्थापना होने से बैंक अविकसित राष्ट्रों की विशेष आवश्यकताओं को उचित रूप से पूरा कर सकेगा।

(७) विलम्बपूर्ण कार्यवाहन—यह भी आरोप लगाया गया है कि बैंक का कार्यवाहन बहुत विलम्बपूर्ण होता है।

निष्कर्ष—कुल मिलाकर यह स्वीकार करना होगा कि विश्व बैंक का कार्य बहुत शानदार है भविष्य में यह आशा की जा सकती है कि *अविकसित और कम विकसित देश भी इसके सहयोग से शीघ्र ही औद्योगिक दृष्टि से उन्नत व प्रगतिशील राष्ट्र बन जायेंगे।*

भारत को अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से हुए लाभ

भारत का आर्थिक विकास बहुत कुछ पूंजी की उपलब्धता पर निर्भर है। देश में पूंजी की कमी के कारण वह विदेशी पूंजी पर आश्रित है। किन्तु विदेशी पूंजी तब प्राप्त हो सकती है जबकि उसको पुन: भुगतान और ब्याज की गारन्टी मिले। स्वार्थी देश इसके साथ-साथ प्राय: राजनैतिक शर्तें भी जोड़ दिया करते हैं। इसके अतिरिक्त ऋणी देश को प्राय: यह ज्ञान नहीं होता है कि कौन देश कितना ऋण देने की स्थिति में है। विश्व बैंक के सहयोग से ये सब कठिनाइयाँ सुलझ गई हैं। अत: भारत को पूंजी मिलने में बहुत सुविधा हो गई है। यह उल्लेखनीय है कि ऋण लेने वालों में भारत का प्रथम स्थान है। पहला ऋण भारत को मिला और सबसे अधिक ऋण भी भारत को प्राप्त हुआ है। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि भारत को ये ऋण बराबर मिलते रहे हैं, जिससे उसके कार्य-क्रम विकास अबाध गति .. पूरे होते गये हैं। भारत को विश्व बैंक से प्राप्त हुई सहायता का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:—

(I) वित्तीय सहायता

(१) विभिन्न मित्र देशों से पर्याप्त सहायता दिलाने के अतिरिक्त विश्व बैंक ने स्वयं भी १९६१-६२ में ७० करोड़ रु० के ऋण भारत को दिये, जिससे कुल स्वीकृत ऋण-राशि ३६० करोड़ रु० हो गई। इसमें से २६३ करोड़ रु० १९६१-६२ के अन्त तक प्रयोग किये जा चुके थे। बैंक ने जिन योजनाओं के लिये ऋण दिये हैं, वे इस प्रकार हैं :—

(i) भारतीय रेलों के लिए इन्जन व अन्य साज-सामान खरीदने के लिए।

(ii) भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिये कृषि यन्त्रादि।

(iii) दामोदर घाटी निगम की सिंचाई एवं विद्युत योजना।

(iv) ऐयर इंडिया कारपोरेशन द्वारा हवाई जहाजों की खरीद के लिये।

(v) कलकत्ता व मद्रास के बन्दरगाहों के विकास के लिये।

(vi) महाराष्ट्र में कोयना विद्युत केन्द्र के लिये।

(vii) टाटा लोह एवं इस्पात कम्पनियों के विकास कार्यक्रमों के लिये।

(viii) बम्बई के निकट ट्राम्बे में थर्मल पावर स्टेशनों की स्थापना के लिये।

(ix) प्राइवेट क्षेत्र में कोयला उद्योग के विकास के लिये।

(x) भारत के औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम की सहायता के लिये ताकि यह निगम प्राइवेट कम्पनियों को ऋण दे सके।

(२) **विदेशी विनिमय के संकट में सहायता**—जब-जब भारत के सामने विदेशी विनिमय का संकट उत्पन्न हुआ तब-तब बैंक ने अपनी सहायता का हाथ बढ़ाया है। उदाहरण के लिये, सन् १९५८ में जब विदेशी विनिमय का संकट उत्पन्न हो गया, तो बैंक ने १०० मि० डालर का ऋण भारत को दिया, जो कि अधिकांश रेलों के लिये था।

(३) **सामान्य ऋणों की सुविधा**—अभी तक भारत को निश्चित उद्देश्यों के लिये ऋण मिले हैं, जिनका उपयोग केवल उन्हीं कार्यों में हो सकता था जिनके लिये वे दिये गये थे। इस तरह ऋणों से अधिक लाभ नहीं उठाया जा सकता था। अतः भारत ने बैंक से सामान्य ऋण देने के लिये प्रार्थना की थी, जिनका उपयोग भारत अपनी इच्छानुसार कर सके। बैंक ने भारत की यह प्रार्थना स्वीकार कर ली है।

(४) *भारत के लाभार्थ ऋणदाता देशों की बैठकों का आयोजन*—विश्व बैंक ने भारत को केवल ऋण ही प्रदान नहीं किये हैं वरन् भारत की आवश्यकताओं को ऋणदाताओं की बैठक करके उनके सामने रखा है।

उदाहरण के लिये विश्व बैंक ने 'भारत सहायता क्लब' (Aid India Consortium) की एक बैठक मई १९६२ में तथा दूसरी बैठक जुलाई १९६२ में बुलाई थी, जिसमें आस्ट्रिया, नीदरलैंड, बेल्जियम और इटली भी सदस्य बने। जुलाई की बैठक में नये पुराने दोनों ही सदस्यों ने भारत को पर्याप्त आर्थिक सहायता देने का आश्वासन दिया। सन् १९६२-६३ के लिये भारत सहायता क्लब से कुल १०७० मि० डालर ऋण मिलेगा, जिसका विवरण इस प्रकार है :—

	मि० डालर
(१) विश्व बैंक/अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद	२००
(२) अमेरिका	४३५
(३) प० जर्मनी	१३६
(४) यू० के०	८४
(५) जापान	५५
(६) कनाडा	३३
(७) फ्रान्स	४५
(८) आस्ट्रिया	५
(९) बेल्जियम	१०
(१०) नीदरलैंड	११
(११) इटली	५३
	१०७०

(II) टैक्नीकल सहायता (Technical Assistance)

विश्व बैंक ने भारत को केवल वित्तीय सहायता ही प्रदान नहीं की वरन् महत्वपूर्ण टैक्नीकल सहायता भी दी है, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

(१) टैक्नीकल परामर्श देना—भारत की विभिन्न योजनाओं के सम्बन्ध में उसे विश्व बैंक से टैक्नीकल परामर्श मिलता रहा है। इस परामर्श के प्रकाश में भारत अपनी योजनाओं में आवश्यक परिवर्तन कर सका है।

(२) सर्वे दल भेजना—विश्व बैंक ने देश के विकास कार्यक्रमों का मूल्यांकन करने के लिये तथा विभिन्न प्रोजेक्टों के फील्ड सर्वे के लिये कई दल भेजे हैं :— (i) नवम्बर १९५१ में बैंक से एक मिशन भारत में देश के विकास की प्रगति का निरीक्षण करने आया (ii) सन् १९५२ में बैंक के प्रेसीडेन्ट भारत में आये तथा उनके बाद बैंक के अन्य अधिकारियों का भी आगमन हुआ। (iii) फरवरी १९५४ में प्राइवेट उद्योगों के विकास एवं आधुनिकीकरण का वित्त प्रबन्धन करने के हेतु एक प्राइवेट स्वामित्व संचालन वाला निगम भारत में स्थापित करने की संभावनाओं का पता लगाने के लिये एक मिशन आया। (iv) भारत की प्रार्थना पर प्रथम पंचवर्षीय योजना की प्रगति का परीक्षण करने तथा द्वितीय योजना का अध्ययन करके परामर्श देने के हेतु एक मिशन अप्रैल १९५६ में भी आया। (v) बैंक ने दिल्ली में एक स्थायी प्रतिनिधि भी नियुक्त कर दिया है जो सरकार के साथ देश की विकास योजनाओं के सम्बन्ध में घनिष्ट सम्पर्क रखता है।

(III) पाकिस्तान के साथ विवाद में मध्यस्थता

विश्व बैंक ने भारत को एक अन्य तरीके से भी आर्थिक विकास में सहायता पहुँचाई है। पाकिस्तान और हमारे विवाद में मध्यस्थता करना, जिसके फलस्वरूप १९६० में बहुत पुराना नहर पानी विवाद सुलझ गया।

आलोचनायें

भारत को विश्व बैंक से जो सहायता प्राप्त हुई है उनके सम्बन्ध में कुछ आलोचनायें भी हुई है जो कि इस प्रकार हैं :—

(१) बैंक के ऋण प्राय: निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिये होते हैं—जिसमे उनका अधिक लाभ नही उठाया जा सका है। अब आशा है कि भारत को आस्ट्रेलिया की भाँति सामान्य ऋण भी मिलने लगेंगे।

(२) ब्याज की दर बहुत ऊँची है—विश्व बैंक ने भारत से ३.५% से ५.७८% तक ब्याज लिया है। भारत जैसे निर्धन व अविकसित देश के लिये इतनी अधिक ब्याज-दर भार स्वरूप है। अत बैंक को अपनी नीति मे कुछ उदारता बरतनी चाहिये अन्यथा भारत व अन्य अविकसित एशियाई देशों को सस्ती दर पर पूँजी प्राप्त करने के लिये अन्य साधन ढूंढने होंगे।

(३) भारत को बैंक से बहुत कम ऋण मिला है—यद्यपि अन्य देशों की तुलना में भारत को सबसे अधिक ऋण मिला है तथापि उसकी आवश्यकता को देखते हुये यह बहुत कम है। वास्तव मे भारत को बैंक पर ही निर्भर नही रहना चाहिये वरन अपने देश में ही वैयक्तिक पूँजी को निकालने के साधन ढूंढने चाहियें।

इन आलोचनाओं के होते हुए भी भारत को विश्व बैंक से जो सहायता मिली है, उसके लिये हमें बैंक का कृतज्ञ होना ही पड़ेगा। यह विश्व संस्था भारत के लिये अत्यधिक लाभप्रद सिद्ध हो रही है। भारत के विकास कार्यक्रमों की सफलता का बहुत कुछ श्रेय विश्व बैंक को ही है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद

(International Development Association or I. D. A.)

अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद् विश्व बैंक की 'अन्तर्गत संस्था' (Affiliate) है। इसने भारत को ५१ करोड रु० के ६ ऋण निम्न योजनाओं के लिये दिये हैं :— (i) राष्ट्रीय मार्गों के निर्माण के लिये ; (ii) उ० प्र० में ट्यूबवैल निर्माण के लिये, (iii) उड़ीसा व गुजरात में सलांदी और शतरंजी सिचाई योजनाओं के लिये ; (iv) पंजाब की बाढ़ एवं जल निकासी योजना के लिये (v) दामोदर घाटी निगम के विद्युत प्लान्टों के विस्तार के लिये।

परीक्षा प्रश्न

(१) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना क्यों की गई है ? इसके संगठन एवं कार्य-प्रणाली पर प्रकाश डालिये।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की योजना में स्वर्ण का क्या स्थान है ? क्या कोष की स्थापना स्वर्णमान पर वापिस आना है ?

(३) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कार्यों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिये।

(४) भारत को कोष की सदस्यता से क्या लाभ हुये हैं ? संक्षेप में बताइये।

(५) विश्व बैंक के उद्देश्यों, कार्यप्रणाली एवं संगठन पर प्रकाश डालिये।

(६) विश्व बैंक ने संसार की क्या-क्या सेवायें की हैं और वह अपने कार्य कहाँ तक उचित प्रकार से कर सका है ?

(७) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से भारत को जो सहायता मिली है उसका संक्षेप मे विवेचन करिये।

(८) इन्टरनेशनल डेवलपमेंट एसोसियेशन से भारत को जो सहायता प्राप्त हुई है उसका उल्लेख कीजिये।

अध्याय १४.

भारतीय मुद्रा बाजार

(Indian Money Market)

प्रारम्भिक—'मुद्रा बाजार' से आशय

जिस प्रकार साधारण वस्तुओं के बाजार होते हैं उसी प्रकार 'मुद्रा' का भी बाजार होता है। 'बाजार' से अभिप्राय उस क्षेत्र का है "जहाँ क्रेताओं और विक्रेताओं के प्रतियोगितापूर्ण सम्बन्ध होते हैं और इस सम्बन्ध के फलस्वरूप वहाँ वस्तु का एक ही मूल्य प्रचलित होता है। 'मुद्रा बाजार' में मुद्रा के क्रेता एवं विक्रेता होते हैं और उनमें परस्पर प्रतियोगिता होती है। मुद्रा के क्रय से अभिप्राय मुद्रा को उधार लेने का है और मुद्रा के विक्रय का अर्थ मुद्रा को उधार देने का है। मुद्रा की कीमत उस पारितोषण (अर्थात् ब्याज दर) को सूचित करती है जो कि मुद्रा को भविष्य में लौटाने के वचन के बदले मिलती है। मुद्रा के खरीदने वालों से अभिप्राय उन ऋणियों, व्यापारियों या उद्योगपतियों से है, जो कि मुद्रा उधार लेते हैं तथा मुद्रा के बेचने वालों से आशय ऋणदाताओं तथा ऋण देने वाली संस्थाओं (जैसे महाजन, सहकारी समिति व बैंक आदि) से है। अतः 'मुद्रा बाजार' से अभिप्राय मुद्रा के उधार लेन-देन और तत्सम्बन्धी क्रियाओं से होता है। यह अल्पकालीन कोष एकत्र करता है और फिर उन्हें अल्पकालीन ऋण चाहने वालों को उधार देता है।[1]

मुद्रा बाजार एवं पूंजी बाजार में एक सैद्धान्तिक भेद है। जबकि मुद्रा बाजार में अल्पकालीन कोषों का व्यवहार होता है पूंजी बाजार में दीर्घकालीन कोषों का लेन-देन किया जाता है। चूंकि अल्पकालीन ऋणों को दीर्घकालीन ऋणों से पृथक नहीं किया जा सकता और दोनों ही बाजारों में व्यापारिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है, इसलिये मुद्रा बाजार में पूंजी बाजार को भी सम्मिलित कर लिया जाता है।

भारतीय मुद्रा बाजार की विशेषतायें एवं अंग

पहले भारतीय मुद्रा बाजार को दो अंगों—भारतीय अंग और यूरोपियन अंग में बांटा जाता था। यूरोपियन भाग में रिजर्व बैंक, इम्पीरियल बैंक तथा स्टेट बैंक

1. "A money market is the centre for dealings, mainly of short term character in monetary assets, it meets the short term requirements of borrowers and provides liquidity or cash to the lenders. It is the place where short term surplus investible funds at the disposal of financial and other institutions and individuals are bid by borrowers again comprising institutions and individuals and also the Governments itself"
—*Reserve Bank of India (Functions & Workings, P. 22)*

सम्मिलित किये जाते थे जबकि भारतीय भाग मे स्वदेशी बैंक, सहकारी बैंक और ज्वाइंट स्टाक बैंक की गणना होती थी। यूरोपियन भाग को सरकार से बड़ी सहायता मिली, लेकिन भारतीय भाग अनियन्त्रित एवं उपेक्षित रहा। यही नहीं, इन दोनो अंगों (Constituents) मे परस्पर कोई सम्बन्ध नही था। किन्तु सन् १९३५ के बाद जबकि रिजर्व बैंक की स्थापना हुई और विशेषत: भारतीय स्वतन्त्रता के बाद, स्थिति में बहुत परिवर्तन हो गया है। अब रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है। इम्पीरियल बैंक को भी स्टेट बैंक मे परिणित कर लिया गया है तथा भारतीय एवं यूरोपियन भागों मे सम्बन्ध स्थापित करने के लिये अनेक प्रयास किये गये हैं।

इन सब कारणों से उक्त दोनों भागों का अलग-अलग बहुत कम महत्व रह गया है। अत: आजकल मुद्रा बाजार का वर्गीकरण एक नये प्रकार से किया जाता है, जो इस प्रकार है—

(१) संगठित क्षेत्र (Organised Sector)—संगठित क्षेत्र में रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक आफ इण्डिया (अपनी आठ बैंकों सहित), विदेशी बैंक, भारतीय ज्वाइन्ट स्टाक बैंक, बीमा कम्पनियां अर्ध-सरकारी संस्थायें तथा बड़े आकार की ज्वाइंट स्टाक कम्पनियों का समावेश किया जाता है। ये सब संस्थायें मुद्रा बाजार के कार्य-कलापों में ऋणदाता के रूप में भाग लेती हैं। इनके उधार दिये गये द्रव्य को प्राय: House money कहा जाता है। इन संस्थाओं के अतिरिक्त, अनेक वित्तीय-मध्यस्थ भी कार्य करते हैं, जैसे—स्टाक ब्रोकर इत्यादि। इन बैंकों की कार्य-विधि यूरोपियन बैंकों की भाँति है। इनका कार्य भी भारतीय भाषाओं में न होकर अंग्रेजी भाषाओं में चलाया जाता है।

(२) असंगठित क्षेत्र (Unorganised Sector)—इस भाग में देशी बैंकरों को सम्मिलित किया जाता है। इस क्षेत्र में अल्पकालीन और दीर्घकालीन ऋणों मे या ऋण व्यापार के उद्देश्यों में कोई स्पष्ट भेद नही किया जा सकता। हुंडी भी, जोकि देशी विनिमय बिल के समान है इस बात को सूचित नहीं करती है कि उससे सम्बन्धित ऋण व्यापार से अर्थ-प्रबन्धन के लिये है अथवा वित्तीय सुविधा देने के लिये। मुद्रा बाजार के इस अंग के अन्तर्गत भी बहुत विविधता पाई जाती है।

(३) सहकारी क्षेत्र (Co-operative Sector)—यह क्षेत्र संगठित और असंगठित क्षेत्रों के मध्य पड़ता है अर्थात् यह न तो पूर्णत: संगठित ही है और न इसे पूर्णत: असंगठित ही कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत सहकारी साख-संस्थाओं को सम्मिलित किया जाता है। आजकल रिजर्व बैंक इस क्षेत्र की संस्थाओं को एक प्रगतिशील स्तर पर वित्तीय सहायता प्रदान कर रहा है। सहकारी साख-संस्थाओं का उद्देश्य ग्राम्य-वित्त-व्यवस्था में महाजनों के प्रभुत्व को खतम करना है, किन्तु अभी वे अपने कार्य में अधिक सफल नहीं हुई हैं।

मुद्रा बाजार के इन विभिन्न अंगों के बीच पर्याप्त समन्वय व सहयोग का अभाव है। यही नहीं, एक ही अंग के विभिन्न सदस्यों में बड़ी प्रतिस्पर्धा चलती है। मुद्रा बाजार के भी छोटे-छोटे टुकड़े हैं, जिनमें से अधिकांश केवल स्थानीय बाजार हैं, जैसे—कलकत्ता और बम्बई के बड़े मुद्रा बाजार तथा दिल्ली और कानपुर आदि के छोटे मुद्रा बाजार। अभी तक देश में एक अखिल भारतीय मुद्रा बाजार उत्पन्न नहीं हो पाया है। रिजर्व बैंक भारतीय मुद्रा बाजार के विभिन्न दोषों को दूर करने का भरसक प्रयत्न कर रहा है लेकिन उसे पूर्ण सफलता नहीं मिल पाई है।

वर्तमान भारतीय मुद्रा बाजार के दोष

भारतीय मुद्रा बाजार के मुख्य-मुख्य दोष निम्नलिखित हैं—

(१) संगठन का अभाव—भारतीय मुद्रा बाजार का एक अत्यन्त गम्भीर दोष उसका कई भागों में बंटा होना है, जो कि एक दूसरे से भली प्रकार सम्बन्धित नहीं हैं। एक समय ऐसा था जबकि प्रत्येक बैंकिंग संस्था अपना कारोबार एक विशेष प्रकार के व्यापार तक ही सीमित रखना थी और वे अपने-अपने क्षेत्र में अन्य संस्थाओं से स्वतन्त्र रहकर कार्य करती रहती थी। मुद्रा बाजार के विभिन्न सदस्यों में बड़ी प्रतियोगिता चलती थी। ज्वाइंट स्टाक बैंक, इम्पीरियल बैंक तथा विदेशी विनिमय बैंकों से ईर्ष्या अनुभव करते थे, क्योंकि इन्हें सरकार का संरक्षण प्राप्त था। आज भी संगठित बैंकिंग संस्थाओं तथा देशी बैंकरों के बीच में असमन्वय दिखलाई देता है। हाँ, सन् १६३५ में, जब से कि देश में रिजर्व बैंक की स्थापना हुई, असमन्वय एवं पृथकता की प्रवृत्तियाँ कम होती जा रही हैं।

(२) ब्याज-दरों में भिन्नता—भारतीय मुद्रा बाजार के विभिन्न अंगों में समुचित समन्वय व संगठन न होने के कारण बैंक दर, बाजारी ब्याज की दर, स्टेट बैंक की दर तथा बट्टा दर (Discount rate) में भारी अन्तर होते हैं। केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति के अनुसार ब्याज की दर ३/४% से लेकर १०% तक रहती है। अलग-अलग स्थानों पर ब्याज की दरों में भी भारी अन्तर होते हैं। इन भिन्नताओं के कारण ही बैंक दर की नीति असफल रही है तथा रिजर्व बैंक को नियन्त्रण रखने में बड़ी कठिनाई अनुभव होती है। यद्यपि रिजर्व बैंक को कार्य करते हुये २५ वर्ष पूर्ण हो रहे हैं तथापि ब्याज की दरों में ये भिन्नतायें अभी भी विद्यमान हैं। किन्तु अब रिजर्व बैंक ने विभिन्न भागों के बीच कोषों के हस्तान्तरण की सस्ती व पर्याप्त व्यवस्था कर दी है, जिससे सारे देश में ब्याज की दरों में समानता आती जा रही है

(३) एक अच्छे बिल बाजार का अभाव—एक कुशल मुद्रा बाजार की परख यह है कि उसमें एक सुसंगठित बिल-बाजार पाया जाता है। साख-प्रणाली तभी ठीक तरह से कार्य कर सकती है जब कि बिलों का बाजार सुसंगठित हो। दुर्भाग्य से भारत में व्यापारिक बिलों के बाजार का बड़ा अभाव है। जबकि लन्दन के मुद्रा बाजार में बैंक अपने कार्यों का अधिकांश भाग बिलों में ही लगाते हैं। भारत में मिश्रित पूंजी वाले बैंक अपने कुल डिपाजिटों का केवल ३% से ६% तक ही बिलों के भुनाने में लगाते हैं।

(४) धन की कमी—भारतीय मुद्रा बाजार का यह भी एक गम्भीर दोष है। धन की कमी होने से उद्योग-धन्धों और व्यापार के लिये आवश्यक पूंजी उपलब्ध नहीं हो पाती है। धन के अभाव के कई कारण हैं—(i) विनियोग के साधनों का पर्याप्त मात्रा में न होना, (ii) बैंकिंग प्रणाली का कम विकास; (iii) बैंकों के टूटते रहने से जनता में उनके प्रति अविश्वास की भावना; (iv) देश में आय तथा बचत की कमी, (v) बचतों को गाड़ कर रखने की प्रवृत्ति; (vi) आय के वितरण की असमानता (vii) जन साधारण की अशिक्षा; (viii) देहातों में ऐसी संस्थाओं का अभाव, जोकि बचतों का एकत्रित कर सकें। आजकल बचतों को प्रोत्साहन देने व एकत्र करने की [illegible] में विशेष प्रयत्न किये जाने लगे हैं।

(५) मुद्रा बाजार में लोच तथा स्थायित्व का अभाव—सन् १६३५ में पहले साख पर तो इम्पीरियल बैंक का नियन्त्रण था जबकि मुद्रा पर सरकारी

नियन्त्रण रहता था। ऐसी दशा में मुद्रा बाजार में लोच और स्थायित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। आजकल रिज़र्व बैंक को नोट निर्गमन का एकाधिकार मिल गया है तथा खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा इसने इस कमी को बहुत कुछ दूर कर दिया है। फिर भी मुद्रा बाजार देश की बढ़ती हुई मुद्रा व साख की आवश्यकता को पूरा करने में असमर्थ रहता है, क्योंकि — (i) भारतीय बैंकों के साधन आज भी बहुत सीमित हैं; (ii) इनके कोष भी अधिक नहीं हैं और (iii) देश में चैक प्रथा का भी बहुत कम प्रचार है।

(६) ब्याज की दरों के मौसमी परिवर्तन—भारतीय मुद्रा बाजार का एक बहुत गम्भीर दोष यह है कि वर्ष की विभिन्न अवधियों में ब्याज की दरों में भारी अन्तर हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि हमारा देश एक कृषि प्रधान देश है। अतः नवम्बर से जून तक के व्यस्त मौसम में उत्तरी भागों से बन्दरगाहों तक फसलें पहुँचाने के लिये बहुत धन की माँग रहती है, जिससे उन दिनों ब्याज की दरें बहुत बढ़ जाती हैं किन्तु शेष काल में वे नीची रहती हैं।

(७) साहूकारों तथा देशी बैंकरों का प्रभाव—यद्यपि अब देश में आधुनिक बैंकिंग का भी विकास हो चुका है तथापि कृषि और आंतरिक व्यापार के अर्थ-प्रबन्धन में आज साहूकारों और देशी बैंकरों का प्रभाव जमा हुआ है। इनके बीच समन्वय व सहयोग का नितांत अभाव है तथा देश के विभिन्न भागों में इनकी अलग-अलग कार्यविधियाँ हैं। इन पर समुचित नियन्त्रण नहीं रखा जा सकता है। यही कारण है कि मुद्रा बाजार में बहुत उथल-पुथल होती रहती है।

(८) बैंकिंग सुविधाओं की कमी—भारत में (विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में) बैंकिंग सुविधाओं की कमी है, जिससे न तो बचत को प्रोत्साहन मिलता है और न वह एकत्रित ही हो पाती है। जन-संख्या के आधार पर भारत में प्रत्येक १ लाख ३० हजार व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है जबकि अमेरिका में प्रत्येक ३,७३७ व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है।

(९) शाखायें खोलने की दोषपूर्ण नीति—द्वितीय महायुद्ध के पहले तक हमारे देश में अनुसूचित बैंकों की बहुत कम शाखायें थीं तथा प्रमुख व्यापारिक बैंकों के प्रबन्धकों का दृष्टिकोण शाखायें खोलने के सम्बन्ध में बहुत रूढ़िवादी था। युद्ध की समाप्ति के बाद, विशेषतः स्वतंत्रता मिलने के पश्चात्, कुछ बैंकों ने अपनी शाखायें खोली हैं लेकिन ऐसा प्रायः बड़े-बड़े नगरों और मुख्य व्यापारिक केन्द्रों में ही किया गया है तथा इनका उद्देश्य साधारणतः अविकसित क्षेत्रों का विकास करना नहीं वरन् अन्य बैंकों से प्रतियोगिता करना रहा है। अतः छोटे-छोटे नगरों, कस्बों और ग्रामीण क्षेत्रों में तो बैंकिंग सुविधाओं का अभी तक भी बहुत अभाव है। उपयुक्त कर्मचारियों की कमी के कारण अनेक शाखाओं का कार्य भी संतोषप्रद ढंग से नहीं चल रहा है।

दोषों को दूर करने के उपाय

मुद्रा बाजार के विभिन्न दोषों को दूर करने के लिए देश में बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार की भारी आवश्यकता है किन्तु यह विकास योजनाबद्ध होना चाहिये। सामान्यतः निम्न उपाय बहुत अधिक सहायक प्रमाणित हो सकते हैं—

(१) हुंडियों का प्रमापीकरण—देश भर में हुंडियों व बिलों की भाषा, रूप व लेखन-विधि आदि में अनुरूपता लाना आवश्यक है। यदि इनका कोई प्रमापीकृत

रूप निश्चित कर दिया जाय, तो इससे हुण्डी के समझने में समय की बचत होगी और बैंकों को उनकी प्रकृति का भी सरलता से ज्ञान हो सकेगा।

(२) पुनः कटौती की सुविधाओं का विस्तार—यद्यपि स्टेट बैंक और रिजर्व बैंक इस प्रकार की सुविधायें दे रहे हैं तथापि उनमें अधिक वृद्धि करने की आवश्यकता है। मियादी बिलों के सम्बन्ध में पुनः कटौती की सुविधायें (Rediscounting facilities) विशेष रूप से बढ़ाई जानी चाहियें।

(३) लाइसेन्स प्राप्त गोदामों की स्थापना—भारतीय बैंकों के पास अपने निजी गोदाम नहीं हैं और अन्य गोदाम बहुत विश्वसनीय नहीं हैं। अतः माल की आड़ पर ऋण देने में उन्हें बहुत कठिनाई होती है। रिजर्व बैंक को चाहिये कि लाइसेन्स प्राप्त गोदामों की स्थापना में सहायता दे और राज्य सरकारें भी ऐसे गोदाम खोलें।

(४) मुद्रा की स्थानान्तरण-सुविधाओं में वृद्धि—डाकखाना और ट्रेजरी द्वारा प्रदान की जाने वाली मुद्रा के स्थानान्तरण सम्बन्धी सुविधायें (Remittance facilities) बहुत मँहगी हैं और अनुपयुक्त भी। रिजर्व बैंक को चाहिये कि वह सस्ती सुविधाओं का आयोजन करे।

(५) देशी बैंकरों पर नियंत्रण—देशी बैंकर और साहूकारों की कार्यविधि बहुत दोषपूर्ण है। इसके लाइसेंसिंग की व्यवस्था करनी चाहिये और इनको उचित शर्तों पर रिजर्व बैंक से सम्बन्धित कर दिया जाय।

(६) समाशोधन गृहों का पुनर्गठन—समाशोधन सम्बन्धी सुविधाओं में वृद्धि करनी चाहिये। समाशोधन गृहों की संख्या में वृद्धि करने के साथ-साथ उनका गठन इस प्रकार होना चाहिये कि वे योरुप के समाशोधन गृहों की भाँति कुशलता से कार्य कर सकें।

(७) अ० भा० बैंकर्स संघ के कार्यों का विकास—भारत में बैंकों का एक अखिल भारतीय संघ सन् १९४६ में बम्बई में स्थापित हुआ था। यह संघ विभिन्न बैंकों के लिये मिलकर काम करने तथा सुझाव देने का कार्य करता है। इसके कार्यों में विस्तार करने की आवश्यकता है, जिससे वह मुद्रा बाजार के संगठन में महत्त्वपूर्ण योग दे सके।

(८) बिल बाजार का नियोजन—एक सुसंगठित एवं कुशल मुद्रा बाजार की स्थापना के लिये सुसंगठित मुद्रा बाजार का होना आवश्यक है। भारत में इसकी स्थापना के लिये रिजर्व बैंक ने एक योजना सन् १९५२ में चलाई भी थी और उसमें इसे काफी सफलता भी मिली है।

(९) सरकारी बचत प्रोत्साहन नीति—सरकार को लोगों में बचत की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना चाहिये, ताकि बैंकों को अपने कार्यों के लिये धन की कमी न रहे। इस सम्बन्ध में निम्न उपाय किये जायें—(i) छोटी आय वाले वर्गों को तथा ग्रामीण क्षेत्रों में बचत को प्रोत्साहन देने के लिये प्रचार किया जाये, सेविंग बैंकों का विस्तार किया जाय व ब्याज दरों में वृद्धि की जाय। (ii) अधिक आय वाले वर्ग के व्यक्तियों के लिये बचत प्रोत्साहित करने वाली संस्थाओं का तो अभाव नहीं है किन्तु उन्हें उपभोग घटाने और बचत को लाभदायक कार्यों में लगाने को प्रोत्साहित किया जाये, (iii) उद्योगों तथा कम्पनियों की बचत को प्रोत्साहन देने के लिये उनके [illegible] पर लगाये जाने वाले करों में छूट दी जाय, (iv) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की शासन-व्यवस्था में इस प्रकार के सुधार किये जायें जिससे अधिक व्यय समाप्त हो

और व्यय में बचत हो, तथा (v) सप्रभाविक प्रचार द्वारा एवं ब्याज दरों में वृद्धि करके लोगों के असंचित कोषों को तोड़ा जाय, जिससे उनका लाभदायक उपयोग हो सके।

भारत में बिल बाजार

एक सुसंगठित बिल बाजार का महत्व

आधुनिक युग मे साख-पत्रों का प्रयोग दिनों-दिन बढ़ रहा है। इन साखापत्रो में सबसे अधिक महत्व बिलो (Bills of Exchange) का है। 'बिलों के बाजार' से आशय बिलों के क्रेताओं और विक्रेताओं का है, जिनमे प्रतियोगिता पूर्ण सम्बन्ध होते हैं। एक अच्छे बिल बाजार मे बिलो का लेन-देन सुनिश्चित नियमो के अनुसार किया जाता है और बिल भुनाने की पर्याप्त सुविधायें उपलब्ध होती है, जिससे कोष बड़ी सरलता से ट्रान्सफर हो जाते है। बिलो का प्रयोग देशी व्यापार मे तो होता ही है, विदेशी व्यापार में भी इनका बहुत प्रयोग किया जाता है, जैसे—(i) विनिमय बिल की सहायता से एक व्यापारी नगद भुगतान किये बिना माल खरीद लेता है, उसे बेचता है और भुगतान-तिथि आने पर बिक्री-धन में से ही माल का भुगतान कर देता है। इस प्रकार उसे बड़ी सुविधा हो जाती है। (ii) निर्यातकर्त्ताओं को भी विनिमय बिलों से अपने व्यापार मे बड़ी सहायता मिलती है, क्योंकि इन्हें उनके द्वारा अपने देश में ही, अपने माल का, अपनी मुद्रा में मूल्य मिल जाता है। (iii) विनिमय-बिलों के प्रयोग से बहुमूल्य धातुयें हस्तांतरित करने का व्यय भी बच जाता है। (iv) विनियोजकों की दृष्टि से भी बिलों में रुपया लगाना अत्यन्त सुविधाजनक होता है, क्योकि इन्हें इनकी परिपक्वता के पहले कभी भी भुनाया जा सकता है। (v) बिल अपने स्वामी को एक निश्चित रकम, निश्चित स्थान और समय पर प्राप्त करने का अधिकार देते हैं। यदि परिपक्वता के पहले उन्हे रुपयों की आवश्यकता हो, तो वे अपने इस अधिकार को खरीद-बेच सकते है।

भारत में एक अच्छे बिल बाजार का अभाव—इसके कारण

भारत में बिलों का उपयोग कम होने के अनेक कारण हैं, जिन्हे संक्षेप में नीचे समझाया गया है :—

(१) अधिकांश विनियोग परम प्रतिभूतियों में करना—आरम्भ से ही भारतीय बैंकों को जनता की द्रवता-पसन्दगी (Liquidity Preference) की संतुष्टि के लिए अधिक मात्रा मे नगद कोष रखने पड़े है और अधिकाश विनियोग परम-प्रतिभूतियों (Guiltedged Securities) मे ही किया है ताकि तरलता बनी रहे।

(२) निर्गम गृहों का अभाव—निर्गम गृह बिलों को स्वीकार करके लिखने वाले ग्राहक की आर्थिक स्थिति की सही जानकारी दे सकते हैं। किन्तु भारत में ऐसी संस्थाओं का अभाव है, जिससे बैंक बिलों को भुनाने में संकोच करते हैं।

(३) बिलों को पुनः भुनाने वाली संस्था का अभाव—सन् १६३५ से पूर्व बिलो को पुन: भुनाने वाली कोई संस्था न थी। यद्यपि इम्पीरियल बैंक इस कार्य को करता था तथापि अन्य बैंक उसे सन्देह की दृष्टि से देखते थे, क्योंकि वह उनसे प्रतियोगिता किया करता था।

(४) व्यापारिक और अर्थ-बिलों में स्पष्ट भेद का अभाव—भूतकाल व व्यापारिक बिलो और अर्थ-बिलों में कोई स्पष्ट भेद नही था, जिससे बैंकों को बिलों के सही स्वभाव का पता लगाना कठिन होता था। अतः वे बिलों को भुनाने में हिचकिचाते थे।

(५) हुण्डियों में स्थानीय विविधतायें—विभिन्न स्थानों में प्रचलित हुण्डियों की भाषा, रूप और स्वभाव इतना विभिन्न होता है कि बैंक इस उलझन में पड़ जाते हैं कि कौनसी हुण्डी ठीक है और कौनसी नहीं।

(६) नगद ऋण देने की ओर झुकाव—भारतीय बैंक बिलों को भुनाने की बजाय नकद ऋणों का देना अधिक पसन्द करते हैं, क्योंकि ऐसे ऋणों को वे चाहे जब रद्द कर सकते हैं तथा ग्राहकों को भी इन पर कम ब्याज देना पड़ता है।

(७) ट्रेजरी बिलों का निर्गमन—सरकार अपनी वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कोषागार विपत्रों (Treasury Bills) का निर्गमन करती रही है, जिनमें विनियोग अधिक सुरक्षित माना जाता है। फलतः बिलों का प्रयोग कम होता है।

(८) अत्यधिक मुद्रांक कर—बहुत समय तक भारत में मुद्रांक करों की दरें भी बहुत ऊँची रही हैं, जिससे बिलों को भुनाने की लाभदायकता कम हो जाती थी। सन् १९४० के बाद से इन करों में कुछ कमी हो गई है।

भारत में एक अच्छा बिल बाजार विकसित करने के सुझाव

भारत में बिल बाजार विकसित करने के लिये केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (Central Banking Enquiry Committee) ने निम्नलिखित सुझाव दिये थे :—

(१) केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय—यह सुझाव सन् १९३५ में कार्यान्वित हो गया, जबकि देश में केन्द्रीय बैंक के रूप में रिजर्व बैंक की स्थापना हुई।

(२) ऐसी संस्थाओं की स्थापना की जाय, जो कि बैंकों को व्यापारियों की आर्थिक स्थिति का पूर्ण ज्ञान करायें।

(३) बट्टे की दर (Discount Rate) यथासम्भव कम रखी जाय।

(४) राज्यों में बिलों के पारस्परिक भुगतान के लिए समाशोधन गृह (Clearing Houses) स्थापित किये जायें। ये बिलों के भुगतान में उसी प्रकार सहायक होंगे जिस प्रकार से वे चैकों के भुगतान में सहायक होते हैं। आजकल भारत में ६ समाशोधन गृह कार्यशील हैं लेकिन वे बिलों के भुगतान का काम करते हैं। अतः उनसे कोई अधिक लाभ नहीं है।

(५) बिलों पर लगने वाले मुद्रांक-कर में कमी की जाय। सन् १९४० में इस प्रकार की कमी की भी गई थी।

(६) बिल की भाषा व लिपि सम्बन्धी भिन्नताओं को दूर किया जाय। देशी हुण्डियों में भी इस प्रकार का सुधार करना आवश्यक है। अच्छा हो यदि कोई प्रमाणित रूप (Standardised form) घोषित कर दिया जाय।

(७) खड़ी फसलों की प्रतिभूति पर बिलों की स्वीकृति और उनका उपयोग बढ़ाया जाय।

इनके अतिरिक्त, निम्न उपाय भी बहुत लाभदायक होंगे :—

(i) भण्डार गृहों (Warehouse) की स्थापना की जाय। ऐसे गोदामों में जमा किये हुये माल की रसीद बिलों के साथ लगा देने से उनकी साख में वृद्धि हो जायेगी।

(ii) कृषिक वस्तुओं की प्रतिभूति पर लिखे हुये बिलों में भी व्यवसाय चाहिये। यूरोप के अर्थ-बिलों (Finance bills) का उपयोग इस सम्बन्ध में प्रमाणित होगा।

(iii) बिलों के अनादरण पर उनका आलोचन और प्रमापन सरकारी संस्थाओं के बजाय बैंकिंग संघों द्वारा कराया जाय।

रिजर्व बैंक की बिल-बाजार संगठन की योजना

उक्त अनेक सुझावों को रिजर्व बैंक ने मान लिया है। सन् १९५२ में एक बिल बाजार संगठन-योजना का श्रीगणेश किया गया था। इस योजना के अनुसार—(i) रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंकों को उनके ग्राहकों के मियादी बिलों अथवा प्रतिज्ञापत्रों के आधार पर 'माँग-ऋणों' (Demand Loans) के रूप में उधार देता है। (ii) बैंकों को इस बात की अनुमति दी गई है कि वे ऋण, नगद साख और ओवर ड्राफ्ट के रूप में ग्राहकों को दी गई साख को प्रतिज्ञा-पत्रों में परिणित कर लें तथा रिजर्व बैंक से उधार लेने के हेतु वे उन्हें सहायक प्रतिभूतियों के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। (iii) यह व्यवस्था जो आरम्भ में केवल बड़े बैंकों के लिये ही खुली थी, अब सभी बैंकों के लिये खोल दी गई है और इसकी लोकप्रियता दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। (iv) योजना के अन्तर्गत बैंकों को मियादी बिलों पर ऋण देने में रिजर्व बैंक ने ½% ब्याज की छूट दी थी। (v) माँग-बिलों को मियादी बिलों में परिवर्तित करने के आधे मुद्रांक कर को भी उसने स्वयं चुकाना स्वीकार किया।

उक्त योजना ४ वर्ष तक चालू रही और इस अवधि में इसे पर्याप्त सफलता भी मिली। योजना में भाग लेने वालों की संख्या प्रारम्भ में २७ से बढ़ कर ४५ तक पहुँच गई थी, एडवान्सेज की राशि सन् १९५२ में ८१ करोड़ से बढ़कर १९५५ में २२५ करोड़ रु० हो गई, बैंकों के साधन सन् १९५२ में ६०० करोड़ रु० जमा हुआ और ३४९ करोड़ रु० विनियोग से बढ़कर सन् १९५४ में क्रमशः १०७४ करोड़ और ४४४ करोड़ रु० हो गये थे।

मुद्रा बाजार पर रिजर्व बैंक का नियन्त्रण

सन् १९३५ से जबकि केन्द्रीय बैंक के रूप में रिजर्व बैंक ने कार्य संभाला है तब से उसने मुद्रा बाजार के विभिन्न अंगों पर समुचित नियंत्रण रखने की चेष्टा की है। इससे मुद्रा बाजार के अनेक दोषों का निराकरण हो गया है। रिजर्व बैंक के नियन्त्रण से सम्बन्धित प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं :—

(१) सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को असाधारण अधिकार प्राप्त है। इससे देश की सभी बैंकिंग संस्थाओं पर उनकी साख विषयक नीति के बारे में रिजर्व बैंक का पर्याप्त नियन्त्रण हो गया है।

(२) मुद्रा बाजार के संगठित भाग में जब रिजर्व बैंक पूर्ण रूप से क्रियाशील है, वह इस भाग के सदस्यों की कार्यवाही पर नियन्त्रण करने की क्षमता रखता है। बैंक भी व्यस्त मौसमों में रिजर्व बैंक द्वारा दी जाने वाली पुनः कटौती की सुविधाओं पर अधिक निर्भर रहने लगे हैं। उदाहरण के लिये, सन् १९५७ में अनुसूचित बैंकों ने रिजर्व बैंक से कुल ४६३ करोड़ रुपये उधार लिए, जबकि सन् १९३९ में यह रकम केवल २ लाख रुपये थी। इस प्रकार बैंकों पर रिजर्व बैंक का प्रभाव बढ़ता जा रहा है।

(३) रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंकों के हिसाब-किताब का निरीक्षण करता है तथा उनकी ऋण-नीति का मार्ग दर्शन करता है।

(४) अपनी स्थापना के समय से ही रिजर्व बैंक देशी बैंकरों को अपने नियंत्रण में लाने का प्रयास कर रहा है। लेकिन इसमें उसे अधिक सफलता नहीं मिली है, क्योंकि थोड़ी सी सुविधा के लोभ में देशी बैंकर कठिन नियमों में बंधना

पसन्द नहीं करते हैं। अतः जब तक ये बैंकर रिजर्व बैंक के संगठन में सम्मिलित नहीं होते, तब तक मुद्रा बाजार पर उसका नियंत्रण पूर्णतः कायम न हो सकेगा। हर्ष का विषय है कि अब कुछ बड़े देशी बैंकर अपने को ज्वाइन्ट स्टाक बैंकों में परिणित कर रहे हैं तथा अनेक दशी बैंकर व्यापारिक बैंकों से सस्ती दरों पर ऋण-सुविधायें ग्रहण करने लगे हैं। इस सम्बन्ध में सराफ कमेटी (Shroff Committee) ने यह सुझाव दिया था कि रिजर्व बैंक देशी बैंकरों के मियादी बिलों को अनुसूचित बैंकों के द्वारा पुनः कटौती की सुविधायें दें, लेकिन रिजर्व बैंक ने यह सुझाव अस्वीकार कर दिया था।

(५) ब्याज की स्थानीय दरों में भिन्नता को कम करने के लिये रिजर्व बैंक ने देश के विभिन्न भागों में मुद्रा के स्थानान्तरण की सस्ती सुविधायें उपलब्ध कर दी हैं। इससे देश भर में मुद्रा की दरों में बहुत कुछ समानता आ गई। ब्याज दर के मौसमी परिवर्तनों को कम करने के लिये भी रिजर्व बैंक ने बहुत उपयोगी सेवा की है। सन् १६३५ में व्यस्त मौसम अल्पकालीन ऋण की दरों में (Call money rates) में ७% तक वृद्धि हो जाया करती थी और शेष काल में वह १% या ½% तक घट जाती थी। लेकिन अब ये परिवर्तन बहुत मामूली सीमा में अर्थात् ३% से ½% के बीच ही हो पाते हैं।

(६) रिजर्व बैंक ने सन् १६५२ से एक बिल बाजार योजना का भी श्रीगणेश किया, जिसमें उसे काफी सफलता मिली थी। जैसे-जैसे बिल बाजार विकसित होता है वैसे-वैसे मुद्रा की दरों में उथल-पुथल भी कम होने लगी है।

(७) अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वे कमेटी की सिफारिशों पर रिजर्व बैंक ने नेशनल एग्रीकल्चरल (दीर्घकालीन) फण्ड और नेशनल एग्रीकल्चरल (स्थायीकरण) फण्ड की स्थापना कर दी है ताकि कृषि-वित्त के क्षेत्र से अभाव दूर हो जाये। इन फण्डों से सहकारी साख संस्थाओं को अधिक सुविधायें दी जाने लगी हैं।

(८) इम्पीरियल बैंक को स्टेट बैंक में परिणित करना भी एक उपयोगी कदम प्रमाणित हुआ है। स्टेट बैंक सन् १६५५ से कृषि को अधिकाधिक वित्तीय सहायता दे रहा है। इसने पिछले वर्षों में ५०० से अधिक शाखायें अर्ध-शहरी क्षेत्रों में स्थापित कर दी हैं। यह बैंक लघु-उद्योगों को भी पर्याप्त वित्तीय सहायता देता है।

इस प्रकार, भारतीय मुद्रा बाजार के अनेक दोषों का रिजर्व-बैंक बहुत कुछ निराकरण कर चुका है। अब तो इस बैंक के अनुभव में बहुत वृद्धि हो गई है। अतः हम यह आशा कर सकते हैं कि निकट भविष्य में उसका मुद्रा बाजार पर इतना नियंत्रण कायम हो जायेगा कि जो भी मौद्रिक नीति वह निर्धारित करे, मुद्रा बाजार के सभी सदस्यों द्वारा उसका पालन किया जायेगा।

परीक्षा प्रश्न

(१) 'मुद्रा बाजार' से क्या आशय है ? भारतीय मुद्रा बाजार की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिये।

(२) भारत में एक सुगठित बिल बाजार का अभाव क्यों है और इसे विकसित करने के लिये क्या उपाय किये गये हैं ?

(३) भारतीय मुद्रा बाजार के दोषों पर प्रकाश डालिये तथा इन्हें दूर करने के उपाय बताइये।

(४) भारतीय मुद्रा बाजार के मुख्य अंग कौन-कौन से हैं ? रिजर्व बैंक आफ इण्डिया का उन पर कहाँ तक नियंत्रण है ?

SYLLABUS OF INTERMEDIATE BOARD U. P.

Banking—Two papers of three hours and 50 marks each.

Paper I—Money currency and exchange—Money—definition and functions. Value of money. Quantity Theory.

Problem of standard, Silver and Gold standards, Monometallism and Bimetallism, Gold Currency, Gold Exchange, Gold Bullion and Gold Standard, Characteristics of good standard, Monetary standard in India.

Paper money—Merits and demerits of Paper money. Kinds of Paper money, representative Fait, Fiduciary, State and Bank issue. Single and Multiple issue, over issue and under issue. Characteristics of good Paper money. Paper currency in India.

Credit—Definition, origin and development.

Kinds of Credit—Conditions favourable for credit devolopment. Advantages of credit development.

Credit and Capital—Credit *instruments*.

Paper II—Banking—Definition, origin and development, Organization of banking business. Functions of a Bank—Deposits and Loans, and Miscellaneous services. Current Fixed Deposits and Savings Bank Accounts, Cheques, Bills, Promissory Notes and Hundis (detailed study), Bankers, clearance of cheques and bills, Employment of a banker's funds, cash reserve, investments and loans, securities for loans and advances, Bank, Balance-sheet. Banks failure and Banking crisis. Banking crisis in India.

Indian Banking—Progress of Banking in India. Agricultural, Industrial and Commercial finance. Money lenders. indigenous bankers and co-operative credit institutions. Loan officers, Nidhish, Chit Funds and Government Taqavi loans. Land Mortgage Banks. Industrial Banks, Indian Joint Stock Banks. Foreign Exchange Bank, State Bank of India. Reserve Bndk of India, Banking services of the post office.

Indian money market—Its constituents, defects and remedies Regulations of Banking in India.